विभिन्नता

पाश्चात्य सार्वभौमिकता को भारतीय चुनौती

राजीव मल्होत्रा

विभिन्नता

पाश्चात्य सार्वभौमिकता को भारतीय चुनौती

राजीव मल्होत्रा

विभिन्नता
पाश्चात्य सार्वभौमिकता को भारतीय चुनौती

राजीव मल्होत्रा

अनुवादक
देवेन्द्र सिंह, हिन्दी यू.एस.ए.
सुरेश चिपलूनकर

मुख्य निरीक्षक
जगदीश चंद्र पन्त

हार्परकॉलिंस पब्लिशर्स इंडिया

विषय-सूची

लेखक की बात

मैं इस पुस्तक के अंग्रेज़ी संस्करण को मिले अत्यन्त महत्व और सहयोग के लिए आभारी हूँ, जिसके कारण पुस्तक को अन्य भारतीय भाषाओं में प्रकाशित करने की प्रेरणा मिली।

श्री देवेन्द्र सिंह एक असाधारण व्यक्ति हैं और यह मेरा सौभाग्य था कि उन्होंने पुस्तक के हिन्दी संस्करण को अनुवाद कर प्रकाशित करवाना अपनी सर्वोच्च प्राथमिकता बनाया। उन्होंने अपने अथक परिश्रम से बिना उत्साह खोये हुए इस बहुत ही जटिल और बड़ी परियोजना में आईं अनगिनत समस्याओं को हल किया। उनकी प्रतिबद्धता और दृढ़-निश्चय से इस परियोजना को लम्बे समय तक स्फूर्ति मिलती रही। मैं उनकी पूरी टीम का भी आभारी हूँ, विशेष रूप से श्री जे.सी. पन्त का, जिनकी समर्पित मेहनत ने इस सपने को वास्तविकता का रूप दिया। मुझे आशा है कि जो रुचि इस पुस्तक के अंग्रेज़ी संस्करण में उठाये गये मुद्दों और विश्लेषणों ने उत्पन्न की है, हिन्दी संस्करण उसे और आगे बढ़ायेगा। अन्त में मैं हार्परकॉलिंस (Harpercollins) को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इस हिन्दी संस्करण के प्रकाशन में तत्काल रुचि दिखाई और इसे समय पर प्रकाशित करने के लिए प्राथमिकता निर्धारित की। जो पाठक इस पुस्तक में दिये गये विषयों पर चर्चा करना चाहते हैं मैं उनको अपने निम्नलिखित ऑनलाइन चर्चा समूह में सम्मिलित होने के लिए भी आमन्त्रित करता हूँ।

http://beingdifferentbook.com/discuss/

राजीव मल्होत्रा

जून 2013

प्रिय पाठकों

सन् 2011 में न्यू जर्सी में स्थित प्रिंसटन विश्वविद्यालय में श्री राजीव मल्होत्रा जी की "Breaking India" नामक पुस्तक पर एक विमर्श गोष्ठी थी। गोष्ठी सफल रही और एक लम्बे अन्तराल के बाद राजीव जी से मिलने का अवसर मिला। मैं वहाँ से उनकी "Breaking India" और "Being Different" पुस्तकें पढ़ने के लिए ले आया। मैंने जब "Being Different" पढ़नी प्रारम्भ की तो उसे एक पल के लिए भी छोड़ने का मन नहीं करता था।

यूँ तो मैं श्री राजीव मल्होत्रा जी को लगभग 15 वर्षों से जानता हूँ, परन्तु इस पुस्तक ने मेरे हृदय में उनके सम्मान को कई गुना बढ़ा दिया। मैंने अपने जीवन में सैंकड़ों पुस्तकें पढ़ी हैं, परन्तु इस पुस्तक ने मुझे जितना प्रभावित किया है उतना किसी दूसरी पुस्तक ने नहीं किया।

यह पुस्तक राजीव जी की एक लम्बे समय की तपस्या का फल है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता को सही रूप में प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने जो शैक्षणिक व आध्यात्मिक शोध कार्य और सुशिक्षित शास्त्रार्थ किये हैं, उसी मन्थन के परिणामस्वरूप यह अमृत के समान उपयोगी पुस्तक हम सब को उपलब्ध हो पाई है। मैं राजीव मल्होत्रा जी को 21वीं शताब्दी का विवेकानन्द मानता हूँ। इनका 'सादा जीवन उच्च विचार' का दृष्टिकोण उनके जीवन और लेखनी में स्पष्ट झलकता है। जो व्यक्ति 44 वर्ष की अवस्था में अपने सफल व्यवसाय से स्थायी अवकाश ले कर अपना पूरा समय अपनी सभ्यता को दूसरी सभ्यताओं के साथ प्रतिस्पर्धा कर ऊँचा उठाने के प्रयत्न में लगाता है, उसके जीवन का ध्येय उत्कृष्ट ही होगा।

मैं इस पुस्तक को जन-जन तक पहुँचाना चाहता था और जब राजीव जी ने मुझ से ''Being Different'' पुस्तक का अनुवाद हिन्दी में करने के लिए पूछा तो मैं सहर्ष तैयार हो गया। मैं अपनी पत्नी और लगभग 350 कार्यकर्ताओं के साथ मिल कर अमरीका की सबसे बड़ी हिन्दी संस्था, हिन्दी यू.एस.ए. का संचालन करता हूँ। चूँकि मैं हिन्दी के प्रचार-प्रसार एवं लगभग 4,000 युवा विद्यार्थियों को हिन्दी पढ़ाने में अपना योगदान दे रहा हूँ तो मेरे लिए यह सहज था कि Being Different के हिन्दी संस्करण के अनुवाद एवं प्रकाशन में मैं अपना सहयोग दूँ। मैं राजीव जी का कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने मुझे Being Different (विभिन्नता) पुस्तक का हिन्दी अनुवाद करने का अवसर दिया।

आज सारे विश्व और विशेषकर भारत में वैश्वीकरण के नाम पर पाश्चात्य सभ्यता को चारों ओर फैलाने का जो घृणित प्रयास हो रहा है और उसके जो दुष्परिणाम हमारी वर्तमान पीढ़ी झेल रही है वह हमारे सामने हैं। इस पुस्तक को स्वयं पढ़ कर तथा

दूसरों को पढ़ने के लिए प्रेरित करके हम भारतीय समाज में एक नई क्रान्ति और अपनी संस्कृति और सभ्यता के प्रति सम्मान और गौरव की भावना ला सकते हैं।

इस पुस्तक को पढ़ने से आपको पाश्चात्य सभ्यता के बारे में सही जानकारी तो मिलेगी ही और साथ ही अपनी भारतीय सभ्यता का न्यायसंगत और सकारात्मक स्वरूप भी आपके सामने आयेगा। हमें अपनी संस्कृति को बचाने के लिए अपनी भिन्नता पर ज़ोर क्यों देना है, यह आपको पुस्तक पढ़ कर एकदम स्पष्ट हो जायेगा। दूसरी सभ्यताओं से हम भिन्न कैसे हैं, यह समझे बिना हम अपनी सभ्यता का बचाव प्रभावशाली रूप से नहीं कर सकते।

आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने की हमारी सन्निहित पद्धति पश्चिम की इतिहास-केन्द्रिकता से श्रेष्ठ क्यों है अथवा हमारी पद्धति से उत्पन्न हुई अभिन्न एकता पश्चिम की कृत्रिम एकता से अधिक गुणकारी कैसे है, इन प्रश्नों का खुलासा राजीव मल्होत्रा जी ने बहुत ही कुशलतापूर्वक किया है। इनके अतिरिक्त पाठक भारतीय जीवन-प्रणाली के दृष्टिकोण को उचित परिप्रेक्ष्य में समझ पायेंगे और अपनी भाषा, विशेषकर संस्कृत के शब्दों का गलत अनुवाद और प्रयोग करने से बचेंगे।

मैं देहरादून निवासी श्री जगदीश चंद्र पन्त, जो पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य जी के शिष्य रहे हैं, का आभारी हूँ जिन्होंने अनुवाद का बहुत ही बारीकी से अध्ययन करके उसमें सटीक सुधार किये। श्री सुरेश चिपलूनकर ने भी आरम्भिक अनुवाद करके एक कठिन कार्य का श्री गणेश किया। इसके अतिरिक्त श्री सुशील अग्रवाल, श्री पंकज सक्सेना, श्री सुरेंद्र गम्भीर, श्री अभिनव शुक्ल, श्री नरेश शांडिल्य और श्री रतन शारदा ने अनुवाद के निरीक्षण और सुधार में योगदान दिया। प्रिंसटन विश्वविद्यालय के छात्र पार्थ सिंह परिहार ने पुस्तक के रेखाचित्रों को बनाने में सहायता की।

अन्त में मैं हिन्दी यू.एस.ए. का आभारी हूँ जिसने मुझे इस पुस्तक को आप तक पहुँचाने में सक्षम बनाया। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तक को खरीदने और पढ़ने का आपका निर्णय पूर्ण रूप से यथोचित होगा और भारतीय संस्कृति और सभ्यता को उचित प्रकाश में उजागर करने में सहायक होगा।

देवेन्द्र सिंह, अनुवादक

न्यू जर्सी, जून 2013

प्राक्कथन

'मैं केवल भारतीय धार्मिक परिदृश्य का उपयोग करते हुए उस विश्लेषणात्मक अवलोकन को उलट देना चाहता हूँ जो प्राय: पश्चिम से पूर्व की ओर केन्द्रित होता है, और अनजाने में पश्चिम को विशेषाधिकार प्रदान करता है। इसे उलटने से पश्चिमी समस्याओं का मूल्यांकन एक विशिष्ट तरीके से सम्भव हुआ है, जिसके द्वारा उसके कुछ अनदेखे पहलू उजागर हुए हैं। इससे यह देखने में आया है कि भारतीय धार्मिक संस्कृतियाँ कई समस्याओं को, जिनका सामना आज विश्व कर रहा है, सुलझाने और कम करने में कैसे योगदान दे सकती हैं।

भारत को केवल प्राचीन और नवीन के एक पुलिन्दे की तरह नहीं देखा जा सकता, जिसे अप्रत्याशित और असहज रूप से बिना किसी प्राकृतिक एकता के कृत्रिम रूप से जोड़ दिया गया हो। न तो भारत पश्चिमी आधुनिक जीवनशैली के कुछ हिस्सों का केवल एक विचित्र संग्रह मात्र है, और न ही यह वैश्विक पूँजीवादी व्यवस्था में एक कनिष्ठ भागीदार। भारत स्वयं अपनी एक विशिष्ट एवं एकीकृत सभ्यता है, जिसकी गहन मतभेदों का समाधान करने, विभिन्न संस्कृतियों, सम्प्रदायों और दर्शनों के साथ रचनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने तथा मानवता की कई विविध धाराओं को शान्तिपूर्वक समाहित करने की क्षमता सिद्ध हो चुकी है। ये मूल्य देवत्व, ब्रह्माण्ड और मानवता विषयक विचारों पर आधारित हैं, जो पश्चिमी सभ्यता की मौलिक अवधारणाओं के विपरीत हैं। यह पुस्तक उन सिद्धान्तों और अवधारणाओं की खोज करती है।

> ''मैं चाहता हूँ कि विश्व की सभी संस्कृतियाँ मुक्त रूप से मेरे घर के आस-पास प्रवाहित हों, परन्तु मैं किसी के भी द्वारा उड़ा लिए जाने से इंकार करता हूँ।''
>
> **—गाँधी**

यह पुस्तक 'भारत पश्चिम से भिन्न है' के बारे में है। इसका अभिप्राय कुछ चहेती अवधारणाओं, जैसे 'पश्चिमी प्रतिमान सार्वभौमिक हैं' की पूर्वधारणा और भारतीय धार्मिक परम्पराएँ भी 'वही शिक्षा देती हैं,' जैसी कि यहूदी और ईसाई परम्पराएँ, को चुनौती देना है। जहाँ एक ओर वेद यह कहते हैं कि ''सत्य एक है, उस तक पहुँचने के मार्ग अनेक,'' परन्तु उन मार्गों में अन्तर नगण्य नहीं हैं। मैं यह तर्क दूँगा कि भारतीय धार्मिक परम्पराएँ भले ही सर्वांग परिपूर्ण न भी मानी जायें, परन्तु वे ईमानदारी से सही अर्थों में बहुलतावादी सामाजिक व्यवस्था लाने हेतु परिदृश्य एवं तकनीक तथा विभिन्न मतों के बीच पूर्ण एकीकरण की सुविधा प्रदान करती हैं, जिनमें नास्तिकता और विज्ञान भी सम्मिलित हैं। वे पूरे प्राणी जगत हेतु पर्यावरण की निरन्तरता और शिक्षा के नमूने प्रदान करती है जो हमारे आने वाले कल के लिए बहुमूल्य हैं। आशा की जाती है कि यह पुस्तक भारतीय धार्मिक एवं पश्चिमी सभ्यताओं के बीच एक गहरे तथा सुविचारित अन्तर्सम्बन्धों की भूमिका स्थापित करेगी।

इन तर्कों को प्रस्तुत करने के दौरान मुझ पर व्यापक परिभाषाओं, सामान्यीकरण एवं चरम विरोधाभासों के उपयोग का आरोप लग सकता है। जब मैं ''पश्चिम बनाम भारत'' अथवा ''यहूदी-ईसाई पन्थ बनाम भारतीय धार्मिक परम्पराओं'' की बात करूँगा तो मुझे अच्छी तरह पता है कि मैं उस तरह के अनिवार्यतावाद में लिप्त होता दिखाई दूँगा जिसे उत्तर-आधुनिक विचारकों ने सही चुनौती दी है। मैं इस बात से भी अवगत हूँ कि इस प्रकार का वृहद वर्गीकरण विविध परम्पराएँ सम्मिलित किये हुए है जो एक-दूसरे से भिन्न और प्राय: विरोधाभासी भी हैं।[1] मैं इन विवरणों को पारिवारिक समानताओं और मार्गदर्शक के रूप में देखता हूँ, न कि मूर्त या अपरिवर्तनीय इकाईयों की तरह। इसके अतिरिक्त अधिकांश लोग इन्हें विशिष्ट आध्यात्मिक और ब्रह्माण्डीय झुकाव वाली वास्तविक इकाईयों की तरह समझते हैं, भले ही उन्हें एक-दूसरे के विरोधाभासी रूप में ही परिभाषित क्यों न किया जाये। अत: हमारी समझ की गहराई को बढ़ाने के लिए इन विवरणों को वाद-विवाद आरम्भ करने और दोनों पक्षों के बीच अन्तर स्पष्ट करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है।

और स्पष्ट कहा जाये तो इस पुस्तक में 'पश्चिम' शब्द के उपयोग द्वारा उन संस्कृतियों और सभ्यताओं को सन्दर्भित किया गया है, जो प्राचीन इजराइल की बाइबल-आधारित तथा यूनान और रोम की प्राचीन परम्पराओं के जबरन मेल से उत्पन्न हुई हैं। यहाँ मेरा ध्यान अमरीकी इतिहास और संस्कृति पर रहेगा, क्योंकि आज वे ही ''पश्चिमी पहचान'' के सबसे बड़े अगुआ हैं। मैं यूरोपीय इतिहास की जाँच मुख्य रूप से पश्चिम की भारत के प्रति सोच एवं उनकी स्वयं की समझ की जड़ों को उजागर करने के लिए करता हूँ, और मैं भारतीय धर्म के प्रति पश्चिमी दृष्टिकोण को आकार देने में जर्मनी की भूमिका पर विशेष ध्यान देता हूँ।

यहाँ ''भारत'' से आशय एक आधुनिक राष्ट्र एवं जिस सभ्यता से वह उभरा, दोनों से है। उन कारणों की वजह से, जिनकी चर्चा विस्तार से आगे की जायेगी, मैं भारतीय पहचान को उसके अवयवों में विखण्डित करने के प्रचलित चलन का अनुसरण नहीं करता, अर्थात 'भारत को तोड़ना' (ँBreaking India) की प्रक्रिया जिसका वर्णन मैंने अपनी इसी शीर्षक वाली पिछली पुस्तक में विस्तार से किया है।

जहाँ तक ''यहूदी-ईसाई'' शब्द का सम्बन्ध है, यह एक प्रकार का वर्णसंकर है, जो कुछ यहूदियों और ईसाइयों को बेचैन भी करता है, क्योंकि यह अत्यधिक भिन्न और प्राय: स्पष्ट विरोधी पन्थों को एक साथ दिखाता है। जहाँ इनकी भिन्न पहचान महत्व रखती है, वहाँ मैं इस मिश्रण का उपयोग टालता हूँ। फिर भी दोनों के समान पन्थिक प्रतिमानों का उल्लेख करने में यह शब्द उपयोगी है, विशेषकर ऐतिहासिक रहस्योद्घाटन को दिये गये विशेष महत्व के प्रति। (यह प्रतिमान एक अन्य रूप में इस्लाम में भी पाया जाता है, परन्तु इस पुस्तक में मैं इस्लाम पर चर्चा नहीं कर रहा हूँ)।

''धर्म'' को भारतीय आध्यात्मिक परम्पराओं के परिवार से उत्पन्न हुए शब्द की तरह इंगित किया जाता है, जो आज हिन्दू, बौद्ध, जैन और सिख धर्म के रूप में अभिव्यक्त हैं। मैं यह दिखाऊँगा कि धर्म के विभिन्न परिदृश्य और प्रचलित साधनाएँ आध्यात्मिक स्तर पर अन्तर्निहित अभिन्न एकता को प्रदर्शित करते हैं जो उनमें विद्यमान खुलेपन और ग़ैर-आक्रामकता को सुदृढ़ करती है और उनका आधार भी है। ''धर्म'' को परिभाषित करना आसान नहीं है और इस पुस्तक का यथेष्ट भाग इसके कुछ पहलुओं को समझाने के लिए समर्पित किया गया है। ''धर्म'' को प्राय: ''रिलीजन'' (religion), ''पन्थ'' (path), ''नियम'' (law) अथवा ''नीति'' (ethics) के रूप में अनुवादित किया जाता है। ये सभी अर्थ धर्म के मूल रूप को समझाने में असमर्थ हैं। यह कहना पर्याप्त होगा कि पारम्परिक संस्कृत शब्दावलियों में उपलब्ध धर्म के सिद्धान्तों एवं दर्शन-परम्पराओं का अंग्रेजी में कोई खरा अनुवाद नहीं है; धर्म में विविध जीवन शैलियाँ और विचारधाराएँ सम्मिलित हैं जो कई सदियों के दौरान विकसित हुई हैं।

जैसा कि मैंने अभी उल्लेख किया, पश्चिमी मूलभूत अवधारणाएँ और मूल्य एक स्रोत से नहीं बल्कि दो से उत्पन्न हुए हैं — पैग़म्बरों और मसीहाओं द्वारा अभिव्यक्त यहूदी-ईसाई ऐतिहासिक रहस्योद्‌घाटन और अरस्तूवादी तर्क (Aristotelian logic) और अनुभवजन्य ज्ञान पर आधारित ग्रीक तर्कशास्त्र। मैं विस्तार से तर्क दूँगा कि इसके परिणामस्वरूप वह सांस्कृतिक रचना जिसे ''पश्चिम'' कहते हैं, एक अभिन्न एकीकृत इकाई नहीं बल्कि कृत्रिम एकता पर आधारित है। यह गतिशील तो है परन्तु मूलरूप से अस्थिर भी, जिसके परिणामस्वरूप बेचैन, विस्तारवादी और बहुधा आक्रामक ऐतिहासिक परियोजनाएँ जन्म लेती हैं और साथ ही व्यग्रता एवं आन्तरिक हलचल भी। इस अस्थिरता का विनाशकारी प्रभाव न केवल ग़ैर-पश्चिमी लोगों पर बल्कि स्वयं पश्चिमी लोगों पर भी पड़ा। इसके विपरीत भारत की सांस्कृतिक संरचनाएँ अपेक्षाकृत अधिक स्थिर, लचीली तथा कम विस्तारवादी हैं। इसके अतिरिक्त धर्म का आधार (जो तनाव और प्रयोगों के बिना नहीं रहा है) पश्चिम के ऐतिहासिक रहस्योद्‌घाटनों के दावों तथा विज्ञान बनाम धर्म के संघर्षों से दूर रहा है।

जैसा कि स्पष्ट होगा, इन दो भिन्न वैश्विक दृष्टिकोणों की मेरी खोज किसी तटस्थ, उदासीन स्थिति से नहीं उपजी है (जोकि वैसे भी असम्भव होता), बल्कि स्पष्ट रूप से धार्मिक दृष्टिकोण से उपजी है। हालाँकि मैं यह नहीं सुझा रहा हूँ कि हमें उसी प्राचीन काल्पनिक सुनहरे अतीत की ओर वापस लौट जाना चाहिए जिसकी वकालत प्राय: इसी तरह की जाती है। मैं केवल भारतीय धार्मिक परिदृश्य का उपयोग करते हुए उस विश्लेषणात्मक अवलोकन को उलटना चाहता हूँ जो प्राय: पश्चिम से पूर्व की ओर केन्द्रित होता है और अनजाने में पश्चिम को विशेषाधिकार प्रदान करता है। इसे उलटने से पश्चिमी समस्याओं का मूल्यांकन सम्भव हुआ है जिसके द्वारा उसके कुछ अनदेखे पहलू उजागर हुए हैं। इससे यह देखने में आया कि भारतीय धार्मिक संस्कृतियाँ कई

समस्याओं को, जिनका सामना आज विश्व कर रहा है, कैसे कम करने और सुलझाने में योगदान दे सकती हैं।

भारत को केवल प्राचीन और नवीन के एक पुलिन्दे की तरह नहीं देखा जा सकता जिसे अप्रत्याशित और असहज रूप से बिना किसी प्राकृतिक एकता के कृत्रिम रूप से जोड़ दिया गया हो। न तो भारत पश्चिमी आधुनिक जीवनशैली के कुछ हिस्सों का केवल एक विचित्र संग्रह मात्र है और न ही यह वैश्विक पूँजीवादी व्यवस्था में एक कनिष्ठ भागीदार है। भारत स्वयं अपनी एक विशिष्ट एवं एकीकृत सभ्यता है जिसकी गहन मतभेदों का समाधान करने, विभिन्न संस्कृतियों, सम्प्रदायों और दर्शनों के साथ रचनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने तथा मानवता की कई विविध धाराओं को शान्तिपूर्वक समाहित करने की क्षमता सिद्ध हो चुकी है। ये मूल्य दिव्यता, ब्रह्माण्ड और मानवता विषयक विचारों पर आधारित हैं जो पश्चिमी सभ्यता की मौलिक अवधारणाओं के विपरीत हैं। यह पुस्तक उन सिद्धान्तों और अवधारणाओं की खोज करती है।

इस विश्लेषण के कुछ हिस्से अत्यधिक आलोचनात्मक हैं और सम्भवत: न केवल पश्चिमी लोगों बल्कि उन भारतीयों के भी कान खड़े करेंगे जो पश्चिमी संस्कृति से लगाव रखते हैं (जो स्वयं मैं भी रखता हूँ)। वे ज़ोर देंगे कि पश्चिमी संस्कृति की आत्म-आलोचना करने की प्रवृति इसकी विशेषता और तौर-तरीका है। हालाँकि ऐसी आलोचना सदैव पश्चिमी श्रेणियों एवं उनके ज्ञानोत्पादन के संस्थानों की सीमाओं में ही होती है जिसके परिणामस्वरूप वे अपनी बहुत-सी कमियों के प्रति बेख़बर हैं।

भारतीय धर्म की पश्चिम से तुलना करने में मैं दो चरम छोरों से बचना चाहता हूँ। एक ओर, भारतीय धार्मिक ज्ञान और उसके दृष्टान्तों पर अत्यधिक बल देने से उग्रराष्ट्रीयता के पनपने में (जिससे उसी प्रकार की कुछ समस्याएँ उत्पन्न हो सकती हैं जो पश्चिम के अहंकार में हैं) और परिणामस्वरूप अलगाववाद और वैश्विक स्तर पर कार्य की विफलता में भी। दूसरी ओर, यदि धर्म को केवल पृथक विचारों के एक उदार संग्रह के रूप में ही प्रस्तुत किया जाये तो परिवर्तनकारी शक्ति के रूप में कार्य करने हेतु इसके अन्दर आवश्यक सामंजस्य का अभाव रहेगा।

इन चिन्ताओं को ध्यान में रखते हुए मैं भारतीय धार्मिक एवं यहूदी-ईसाई परम्पराओं के बीच प्रमुख अन्तरों को चार क्षेत्रों के रूप में प्रस्तुत करता हूँ।

1) सन्निहित ज्ञान बनाम इतिहास-केन्द्रिकता

2) अभिन्न एकता बनाम कृत्रिम एकता

3) अराजकता के प्रति व्यग्रता बनाम जटिलता एवं अस्पष्टता से सहजता से निपटना

4) संस्कृतियों का पाचन बनाम अनुवाद-अयोग्य संस्कृत शब्द

इन विरोधाभासी क्षेत्रों को संक्षेप में निम्नानुसार प्रस्तुत किया गया है, एवं बाद के अध्यायों में इन पर विस्तार से चर्चा की गयी है।

सन्निहित ज्ञान बनाम इतिहास-केन्द्रिकता

भारतीय धार्मिक और यहूदी-ईसाई परम्पराएँ ईश्वर को समझने के अपने दृष्टिकोणों में मूलत: भिन्न हैं। धर्म परिवार (जिसमे हिन्दू, बौद्ध, सिख और जैन धर्म सम्मिलित हैं) ने देवत्व और चेतना की उच्च स्थितियाँ प्राप्त करने के लिए 'आध्यात्म-विद्या' सम्बन्धी आन्तरिक विज्ञान एवं अनुभवात्मक तकनीकों की एक विस्तृत श्रृंखला विकसित की है। ''आध्यात्म विद्या'' ज्ञान और तकनीकों का वह संग्रह है जिसे सिद्ध साधकों की सदियों से चल रही चेतना की प्रकृति की अनुभवजन्य खोज के परिणामस्वरूप चुना गया और उन्नत साधकों द्वारा अभ्यास में लाया जाता रहा। इन विवरणों और उन सिद्धों को जो इन खोजों में रत रहे हैं, प्रतिष्ठा तो प्राप्त है परन्तु उन्हें कानूनों, मसीहाओं, या विशिष्ट श्रेणी के अविचल सिद्धान्तों में नहीं बाँधा गया। वे न तो नियम-संहिताएँ हैं और न ही पूर्व रहस्योद्घाटनों का कतिपय इतिहास, बल्कि वे गहन अनुभूतियों और उनकी परिवर्तनकारी शक्तियों के पुन: अनुभव और पुन: सम्प्रेषण के मार्गदर्शक हैं। उनके सत्य को प्रत्येक साधक द्वारा फिर से खोजना तथा प्रत्यक्ष अनुभव किया जाना होता है। मैंने सुविधा के लिए इस आन्तरिक विज्ञान और आध्यात्म-विद्या का ''सन्निहित ज्ञान'' के नाम से नामकरण किया है।

इसके विपरीत यहूदी-ईसाई परम्पराएँ पैग़म्बरों के ऐतिहासिक रहस्योद्घाटनों पर निर्भर हैं जो मानव के सामूहिक भाग्य की बात करते हैं। इसके अनुसार मानव के हालात अवज्ञा के कृत्य अथवा ''पाप'' से उत्पन्न होते आ रहे हैं, जो आदम और हव्वा (पूरी मानवता के पूर्वज) द्वारा किये गये ''मूलभूत पाप'' (original sin) से प्रारम्भ हुए। इन मान्यताओं के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का जन्म ''पापी'' के रूप में होता है। इसलिए ईश्वर से मिलने में मानव असमर्थ है (कम-से-कम भारतीय धार्मिक अर्थों में तो नहीं); यहाँ आध्यात्मिक लक्ष्य मुक्ति (Salvation) है जिसे केवल God की आज्ञा के पालन से ही प्राप्त किया जा सकता है और जिसे विशिष्ट पैग़म्बरों और ऐतिहासिक घटनाओं द्वारा ही समझा जा सकता है। इसलिए उस दैवी हस्तक्षेप के ऐतिहासिक दस्तावेज को सँभाल कर रखना आवश्यक है और उसके सत्य को आगे बढ़ाना और आक्रामक तरीके से दूसरों पर थोपना भी अनिवार्य है। इस दस्तावेज का लक्ष्य व्यक्तियों को सामूहिक रूप से एक विशिष्ट 'नियम' का पालन करवाना है। इस इतिहास को सार्वभौमिक माना जायेगा भले ही इसके प्रतिनिधि (व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों) कितने ही विशिष्ट एवं दोष युक्त क्यों न हों। मानवता के सामूहिक भाग्य का निर्धारण और न्याय विश्व के अन्तिम दिन (End of time) किया जायेगा।

इतिहास की ऐसी अविचल स्थिति व्यक्तिगत आध्यात्मिक खोजों के प्रभाव को कमजोर करती है (इसलिए इन परम्पराओं में रहस्यवादियों को सन्देह की दृष्टि से

देखा गया है) और सत्य के प्रतिस्पर्धी दावों का आधार बनती है जिनका समाधान नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त इस परिभाषा के अनुसार जिन्हें ये ऐतिहासिक रहस्योद्‌घाटन सुलभ नहीं हैं, उनको अँधेरे में रहते हुए God से सम्पर्क करवाने वाले मौलिक साधनों से वंचित रहना पड़ेगा। मैंने इतिहास के दौरान खुलासा हुए ईश्वरीय सत्य के विशिष्ट असंगत दावों से आसक्ति को सन्दर्भित करने के लिए ''इतिहास-केन्द्रिकता'' शब्द का नामकरण किया है। मैं इस इतिहास के प्रति आसक्ति को भारतीय धार्मिक और यहूदी-ईसाई मार्गों के बीच सबसे प्रमुख अन्तर मानता हूँ और इसे एक समस्या की तरह देखता हूँ जो अप्रत्याशित मनोवैज्ञानिक, धार्मिक और सामाजिक संघर्ष पैदा कर सकती है।

सन्निहित एकता बनाम कृत्रिम एकता

भारतीय धार्मिक परम्पराओं में अन्तर्निहित एकता की सोच यहूदी-ईसाई परम्पराओं में एकता की समझ से बिलकुल भिन्न है। सभी भारतीय धार्मिक सम्प्रदाय ऐसा मानते हैं कि अन्ततः ब्रह्माण्ड एक एकीकृत इकाई है जिसमें परम सत्य और उसकी सापेक्ष्य अभिव्यक्तियाँ गहराई से जुड़ी हुई हैं। इसके विपरीत पश्चिमी दृष्टिकोण एक ओर तो यहूदी-ईसाई ऐतिहासिक रहस्योद्‌घाटनों की चरम स्थिति तथा दूसरी ओर अत्यधिक द्वैतवादी एवं अणुवादी यूनानी तत्वमीमांसा और अरस्तू के द्वि-आधारी तर्क (Aristotelian binary logic) से निकले हुए ज्ञान के बीच आपसी तनाव द्वारा गढ़े गये हैं। परिणामस्वरूप, पश्चिमी एकता की अवधारणा गहन रूप से संकट में है। पहली समस्या, रहस्योद्‌घाटन एवं तर्क के बीच विभाजन के कारण (यहूदी और यूनानी के बीच, जैसा इस विभाजन को कहीं-कहीं वर्णित किया जाता है) और दूसरी, इस तर्क का अन्तर्निहित बिखरा हुआ गुण और उससे उत्पन्न काल्पनिक यूनानी सोच के कारण उत्पन्न हुई है। मैं अध्याय 3 में चर्चा करूँगा कि भारतीय धार्मिक परम्पराएँ किस तरह अभिन्न एकता की भावना से पोषित होती हैं, जबकि यहूदी-ईसाई परम्पराएँ विभिन्न प्रकार की कृत्रिम एकताओं पर अवलम्बित हो कर अन्तर्निहित रूप से अस्थिर एवं समस्याग्रस्त हैं।

विभिन्न भारतीय धार्मिक सम्प्रदाय भले ही सिद्धान्तों और साधनाओं में कुछ गहन भिन्नताएँ लिये हुए हों, पर सभी एक प्रकार की अभिन्न एकता प्रदर्शित करते हैं। हालाँकि सामान्य लोगों को इसकी अनुभूति कठिनाई से होती है, पर इसका अनुभव पाने के संसाधन विविध आध्यात्मिक साधनाओं में अन्तर्निहित हैं। यहाँ आधारभूत एकता की भावना मजबूत है और इस अनुभव को समझने के लिए बहुत कुछ नया करने की छूट भी रहती है। परिणामस्वरूप, यहाँ बिना किसी अव्यवस्था के डर के साधनाओं व दार्शनिक समझ की अत्यधिक विविधता दिखाई देती है।

पश्चिमी वैश्विक दृष्टिकोण, चाहे वह धार्मिक हो या धर्मनिरपेक्ष, एक अलग भूमिका से आरम्भ होते हैं, जिनके अनुसार ब्रह्माण्ड अन्तर्निहित रूप से अवयवों या अलग

तत्वों का एक जमावड़ा है। यहाँ बहस इन बातों पर नहीं कि विविधता कैसे और क्यों उभरती है, बल्कि इस पर है कि विविधता से एकता कैसे उभर सकती है। ऐसी एकता स्वाभाविक नहीं, बल्कि इसे बार-बार ढूँढ कर न्यायोचित ठहराना पड़ता है और परिणामत: संयोग सदैव अस्थिर ही होता है। यहूदी-ईसाई मत ईश्वर को (कुछ संशोधनों के साथ) गहन रूप से अलग तथा मानव और विश्व से बहुत दूर देखते हुए आरम्भ होते हैं, जहाँ हर विभाजित पक्ष एक-दूसरे से पूर्णतया भिन्न है। पारम्परिक पश्चिमी दर्शन और उससे उपजा विज्ञान (फिर से कुछ संशोधनों के साथ) इस भूमिका से प्रारम्भ होते हैं कि ब्रह्माण्ड आण्विक इकाईयों या अलग मूलभूत खण्डों से बना है। विज्ञान और पन्थ दोनों में ही एकता की खोज अथवा आविष्कार की आवश्यकता महसूस हो रही है, जिसे वे कुछ व्यग्रता और कठिनाई से पा भी लेते हैं। इसके अतिरिक्त पश्चिमी मत और विज्ञान के प्रारम्भिक एवं निर्णायक बिन्दुओं में अत्यधिक आपसी तनाव और विरोधाभास है जो पश्चिमी सभ्यता को अनिवार्य रूप से असंगत मूलभूत इकाईयों का असुरक्षित और अस्थायी जोड़ बना देता है। अध्याय 3 में इस भिन्नता का विस्तार से विश्लेषण किया गया है।

अराजकता के प्रति व्यग्रता बनाम जटिलता — अस्पष्टता से सहजता से निपटना

पश्चिम की तुलना में भारतीय धार्मिक सभ्यताएँ विविधता और अस्पष्टता के प्रति अधिक सहज एवं आश्वस्त हैं। अराजकता को रचनात्मकता एवं गतिशीलता के स्रोत के रूप में देखा जाता है। चूँकि परम सत्य एक अभिन्न एकीकृत सामंजस्य की अवस्था है, इसलिए अराजकता एक सापेक्ष्य तथ्य है जो ब्रह्माण्ड की अन्तर्निहित सम्बद्धता में ख़तरा या अवरोध पैदा नहीं कर सकता। बीसवीं सदी के महान भारतीय योगी और दार्शनिक श्री अरविन्द ने कहा है, 'चूँकि भारतीय धार्मिक परम्पराओं में एकता अपनेपन की भावना में स्थापित है, इसलिए यहाँ विघटन और अराजकता में बिखरने के भय के बिना अत्यधिक विविधता हो सकती है'। वे आगे कहते हैं कि प्रकृति असीम भिन्नता वहन कर सकती है, क्योंकि अनन्त की अन्तर्निहित अपरिवर्तनीयता सदैव अविचिलित रहती है।

पश्चिम में अराजकता को मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दोनों रूपों में एक अन्तहीन ख़तरे की तरह देखा जाता है, जिसे नियन्त्रण अथवा उन्मूलन द्वारा दबाया जाना है। मनोवैज्ञानिक रूप में यह अहम् को सर्वशक्तिमान और नियन्त्रणकारी बनने की ओर प्रेरित करता है। सामाजिक तौर पर यह उन के प्रति आधिपत्य प्रदर्शित करता है जो पश्चिमी लोगों से भिन्न हैं। कृत्रिम और असहज एकता पर आधारित ब्रह्माण्डीय विज्ञान व्यग्रताओं से लिप्त है। इसलिए संस्कृति, नस्ल, लिंग, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध इत्यादि की भिन्नताओं का सामना करने के लिए आदेश थोपना आवश्यक है।

अपने मूलाधार शास्त्रों, महाकाव्यों, आदर्शों और मूल्यों के परिणामस्वरूप भारतीय धार्मिक परम्पराएँ ''व्यवस्था'' और ''अराजकता'' को एक ही परिवार से सम्बन्धित दर्शाती हैं तथा इनकी सहकारी प्रतिद्वंद्विता के विचार के इर्द-गिर्द विविध विवरण उपलब्ध हैं। ''समुद्र-मन्थन'' की लोकप्रिय कथा, जो क्षीरसागर को मथने के बारे में है, इस अवधारणा को प्रदर्शित करती है, जैसा कि हम अध्याय 4 में देखेंगे।

संस्कृतियों का पाचन बनाम अनुवाद-अयोग्य संस्कृत शब्द

सनातन धार्मिक अवधारणाओं तथा दृष्टिकोणों को पश्चिमी विद्वान और पाश्चात्य रंग में रंगे भारतीय पश्चिमी संरचना में ही परिवर्तित और चित्रित करने के आदी हैं और वे उसी पश्चिमी 'मेज़बान' संस्कृति को, जिसमें वे मिल चुके हैं, समृद्ध और सम्भवतः उसका नवीनीकरण भी करते हैं। अध्याय 5 तर्क देगा कि यह दृष्टिकोण अत्यधिक समस्याग्रस्त है। कोई शेर के शिकार के बारे में यह नहीं कह सकता कि शेर और उसके शिकार दोनों में इस पाचन से अच्छा बदलाव आया है, अथवा दो प्रकार के जानवरों ने एक-दूसरे में प्रवाहित हो कर एक बेहतर जानवर को जन्म दिया है। बल्कि शेर का शिकार उसके शरीर का हिस्सा बन जाता है और इस प्रक्रिया में पचाया गया शिकार टुकड़े-टुकड़े हो कर ख़त्म हो जाता है। भारतीय धार्मिक परम्पराएँ और ज्ञान जब धर्म को सही तरीके से प्रस्तुत करने में सर्वथा अक्षम पश्चिमी समतुल्यों से प्रतिस्थापित कर दिये जाते हैं तो वे विकृत हो जाते हैं और यहाँ तक कि ख़त्म ही हो जाते हैं।

यद्यपि यह समस्या उन सभी अन्तर्सभ्यता संघर्षों में एक संकट है, जहाँ राजनैतिक सत्ता का सन्तुलन असमान है, परन्तु यह उस स्थिति में और भी अधिक गम्भीर हो जाती है जब संस्कृत में लिखी गई धार्मिक अवधारणाओं का अनुवाद पश्चिमी भाषाओं में किया जाता है। सभी भाषाओं की तरह संस्कृत भी न केवल विशेष और अद्वितीय सांस्कृतिक अनुभवों और लक्षणों का संकेतीकरण करती है, बल्कि इस विशिष्ट भाषा के निहित स्वरूप, ध्वनि तथा अभिव्यक्ति के प्रभावों को उनके वैचारिक अर्थों से अलग नहीं किया जा सकता।

दिव्य ध्वनियों, जो संस्कृत भाषा के अन्तरंग भाग हैं, को प्राचीन भारतीय ऋषियों द्वारा उनके आतंरिक विज्ञान से खोजा गया था। ये ध्वनियाँ मनमानी धारणाएँ नहीं हैं, बल्कि आध्यात्मिक साधना द्वारा सिद्ध की गई वास्तविकताओं के वे प्रत्यक्ष अनुभव हैं जिनसे वे जुड़ी हुई हैं। इन ध्वनियों के साथ प्रयोग करते हुए बहुत-सी ध्यान प्रणालियाँ विकसित हुईं और इस प्रकार उस आन्तरिक विज्ञान का विकास हुआ जो साधक को चेतना से एकता की मूल अवस्था तक पहुँचने में सक्षम बनाता है। संस्कृत अपने मूल स्रोत तक पहुँचने के लिए एक अनुभवात्मक मार्ग प्रदान करती है। यह केवल एक संचार माध्यम ही नहीं है, बल्कि सन्निहित ज्ञान की संवाहक भी है। संस्कृत कई शताब्दियों तक भारत, दक्षिण-पूर्व एशिया और पूर्व एशिया के

आध्यात्मिक गुरुओं द्वारा भाषा के रूप में प्रयोग होती रही। इसलिए यह सांस्कृतिक प्रणालियों व अनुभवों के एक विशिष्ट परिप्रेक्ष्य को व्यक्त करने का माध्यम बनी।

''संस्कृति'' इसी सांस्कृतिक आवरण के लिए बना एक पारिभाषिक शब्द है। यह दर्शन, कला, वास्तुकला, लोकप्रिय गीत, शास्त्रीय संगीत, नृत्य, रंगमंच, मूर्तिकला, चित्रकारी, साहित्य, तीर्थयात्रा, कर्म-काण्ड और धार्मिक आख्यानों का भण्डार है, जो समूची अखिल भारतीय सांस्कृतिक विशेषताओं को साकार करती है। यह प्राकृतिक विज्ञान एवं तकनीक की सभी शाखाओं को सम्मिलित करती है, जैसे चिकित्सा (पशु चिकित्सा भी), वनस्पति शास्त्र, गणित, अभियान्त्रिकी, वास्तुकला तथा आहार-विद्या इत्यादि।

यद्यपि यहूदी-ईसाई पन्थों की अपनी पवित्र भाषाएँ हैं, जैसे हिब्रू और लैटिन और हालाँकि उनके लिए किये गये दावे कभी-कभी संस्कृत के समान ही रहे हैं, परन्तु ये भाषाएँ सही अर्थों में किन्हीं एकीकृत सभ्यताओं का आधार नहीं बनी हैं। यह अन्तर अध्याय 5 में और स्पष्ट हो जायेगा।

इसके अतिरिक्त ईसाई पन्थ प्रारम्भ से ही किसी पवित्र भाषा के द्वारा नहीं बल्कि एक देशी भाषा के माध्यम से प्रेषित किया गया — पहले अरामैक (Aramaic) द्वारा जिसे यीशु बोलते थे और फिर भू-मध्यसागर इलाके की रोज़मर्रा की कोइने (koine) ग्रीक भाषा द्वारा। नवविधान (New Testament) अपने बहुत से अनुवादों द्वारा परमात्मा के साथ प्रत्यक्ष अनुभव को प्रमाणित नहीं करते, बल्कि उस हस्तक्षेप के शुभ-समाचार (gospel) को प्रचारित करते हैं। यहाँ आग्रह शब्दों के अर्थ तथा उनके ऐतिहासिक वर्णन पर है, न कि उनकी ध्वनि, अनुकम्पन अथवा उनके द्वारा अनुभूत सन्निहित प्रतिक्रिया पर। ईसाई पन्थ में मन्त्रों जैसी आध्यात्मिक परम्परा नहीं है। इसकी ''प्रार्थना'' एक बाहरी देवता के समक्ष याचिका, वार्तालाप या कृतज्ञता ज्ञापन भर है जहाँ ध्वनि अथवा साधक पर रोज़ अनुभवजन्य प्रभावों की अपेक्षा उसके वैचारिक अर्थ पर अधिक महत्व दिया जाता है।

संस्कृत की अनुवाद-अयोग्य प्रकृति और उसके तमाम सन्दर्भ पश्चिम द्वारा भारतीय धार्मिक परम्पराओं और संस्कृति के पाचन से विकृत होते आ रहे हैं। इस पाचन से महत्वपूर्ण विशिष्टताएँ और ज्ञान लुप्त हो रहे हैं, महत्वपूर्ण अनुभवजन्य अनुभूतियाँ अवरुद्ध हो रही हैं तथा भारतीय धार्मिक परम्पराओं के अत्यधिक उर्वर, उपयोगी और दूरदर्शी आयाम नष्ट हो कर प्राचीन काल के अवशेष भर बनते जा रहे हैं।

अध्याय 1

दुस्साहस भिन्नता का

'भिन्नता-जनित व्यग्रता से निपटने का एक तरीका विशेषरूप से ख़तरनाक है, क्योंकि किसी हद तक यह प्राय: दिखाई नहीं देता... मैं एक संस्कृति द्वारा दूसरी के पचाए जाने को, उसे अपने में मिलाए जाने, उसकी भिन्नता को कम करने और समानता के दावे की गुहार लगा कर कम प्रबल संस्कृति को विस्थापित करने जैसा देखता हूँ। लोकप्रिय संस्कृति की सतह पर भारत और पश्चिम बराबर दिखाई दे सकते हैं, लेकिन गहरे स्तरों पर जहाँ किसी सभ्यता की मूल अवधारणाएँ निवास करती हैं, वहाँ कार्य-क्षेत्र एक ओर झुका हुआ है। संस्कृति को अपने में मिलाया जाना समान होने का एक झूठा दिखावा भर है।'

भारतीय धार्मिक सभ्यताओं का सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक परिवेश विलक्षण है। यह पश्चिम से पूर्णतया भिन्न है। परन्तु आज इस विलक्षणता का अस्तित्व संकट में है। यह संकट मात्र धर्महीन एवं अस्थायी विकास के कारण ही नहीं है, अपितु पश्चिम द्वारा हमारी धार्मिक संस्कृति को खण्ड-खण्ड करके उन खण्डों को अपने साँचे में ढालने तथा उसे अपने में विलीन कर लेने जैसे दुराग्रही उद्देश्यों से भी है। वैश्वीकरण के भ्रामक नाम से इस छल को बल प्रदान किया जा रहा है।

समाहित करने की यह प्रक्रिया अच्छे उद्देश्यों के लिए भी हो सकती है और उन लोगों के सहयोग से भी जो स्वयं भारतीय धर्म परम्पराओं के प्रति श्रद्धा रखते हैं। वे तर्क देते हैं—धार्मिक संस्कृति पश्चिम में सम्मिलित क्यों न हो? क्या हम सभी वास्तव में 'एक समान' नहीं हैं? इस वैश्विक दृष्टिकोण में गलत क्या है? क्या भारतीय कला, चिन्तन, विज्ञान, उपचार पद्धति, व्यावसायिक सिद्धान्तों तथा शब्दों का बड़े पैमाने पर पश्चिमी संस्कृति में आत्मसात होना या पचाया जाना एक अच्छी बात नहीं है? क्या हम एक ऐसे विश्व में नहीं रह रहे जो उपनिवेशवाद, नस्ल भेद, तथा रंगभेद को पीछे छोड़ चुका है? क्या यह एक प्रशंसनीय बात नहीं है कि आज लाखों अमरीकी और यूरोपवासी योगाभ्यास कर रहे हैं, और भारतीय खान-पान विश्वव्यापी हो गया है? आज क्या इस आदान-प्रदान में पश्चिम भारत को वैज्ञानिक उन्नति, सामाजिक न्याय, व्यापारिक और राजनैतिक ज्ञान के क्षेत्र में कुछ दे नहीं सकता? इन सभी प्रश्नों का सीधा उत्तर तो ''हाँ'' ही प्रतीत होता है।

अभी तक पश्चिम पर जो स्पष्ट रूप से भारतीय प्रभाव दिखता है वह वास्तव में एक ऐसी प्रक्रिया है जो भारतीय धर्म के स्रोत को क्षीण कर के नष्ट कर रही है। वैश्विक संस्कृति और सर्वमान्यता की चर्चा एक ऐसी उजली छवि खड़ी करती है जिससे प्रतीत होता है कि इस धार्मिक और पाश्चात्य सभ्यताओं का मेल हमेशा अच्छा ही होता है। यह धारणा न केवल पाश्चात्य संस्कृति द्वारा जान-बूझ कर की गयी बहुत-सी

विकृतियों और बिना आभार व्यक्त किये अपने में समाविष्ट करने की चेष्टा है, बल्कि यह अत्यन्त विध्वंसक रूढ़िवादी ईसाइयत, मार्क्सवाद, पूँजीवादी विस्तारवाद एवं अदूरदर्शी या संकीर्ण धर्म-निरपेक्षता को भी अनदेखा कर देती है।

यह सत्य है कि वैश्विक संस्कृति ने विभिन्न राष्ट्रीयताओं, जातियों, प्रजातियों एवं मतों को समीप ला कर उनकी सीमा रेखा को धुँधला कर दिया है। आज उपभोक्तावाद पूरे विश्व के तत्वों का मिश्रण कर के हमारी रुचियों को और जीवन शैली को पुन: परिभाषित कर रहा है। लोगों, वस्तुओं और पूँजी की बढ़ती हुई गतिशीलता ने हमें एक ऐसे विश्व के कगार पर ला खड़ा किया है जहाँ गुणवत्ता पर आधारित समाज सम्भव है। इसे थॉमस फ्राईडमैन (Thomas Friedman) ने फ्लैट वर्ल्ड[1] अर्थात चपटे विश्व की संज्ञा दी है। यह एकीकरण उन स्थानीय ढाँचों को ध्वस्त कर रहा है जो इस में बाधा उत्पन्न करते हैं। युवा पीढ़ी तो ख़ासकर इस नई प्रकार की वैश्विक पहचान को अपनी मूल परम्पराओं की कीमत पर भी शीघ्रता से अपनाती है। इसके साथ ही भारतीय खानपान, शास्त्रीय संगीत, नृत्य और बॉलीवुड इत्यादि के कारण भारतीय संस्कृति के बहुरंगी, आकर्षक एवं नवीन रूपों के प्रति विश्व का रुझान बढ़ रहा है। निरोगी काया एवं स्वस्थ जीवन की इच्छा के कारण भारतीय आध्यात्म निधि का आज विश्व पटल पर एक विशेष स्थान है। इसका प्रमाण है अपने विभिन्न रूपों में योग, ध्यान एवं आयुर्वेद की बढ़ती हुई लोकप्रियता। इसमें कुछ विशेष योग-गुरुओं के प्रभाव का भी योगदान है। सत्य तो यह है कि आज बहुत से अमरीकी एक बहुत बड़ी धनराशि भारतीय मूल की आध्यात्म एवं वैकल्पिक चिकित्सा पद्धतियों पर व्यय कर रहे हैं।

इन सब बातों से बहुत-से लोग यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि संस्कृतियों में परस्पर मूलभूत भिन्नता का अब कोई महत्व नहीं रह गया है। कई ख्याति-प्राप्त आलोचकों का यह आरोप है कि आज जो हिंसा तथा विखण्डता विश्व में अस्थिरता पैदा कर रही है, उसका कारण धार्मिक, साम्प्रदायिक, सांस्कृतिक, जातीय एवं राष्ट्रीय विभाजन है। इनके अनुसार पहचान की विशिष्टता एक संकीर्ण सोच है जो एक जाति समूह के प्रति लगाव दर्शाती है, इसलिए ऐसी भिन्नता को घटाना चाहिए और जो सीमारेखा इन्हें परिभाषित करती है उन्हें मिटाना चाहिए।[2]

इस प्रकार के तर्क कि सभी पृथक संस्कृतियों का किसी एक वैश्विक संस्कृति में विलय हो जाना चाहिए, कई मतों अथवा सिद्धान्तों में दिये गये हैं। ये आधुनिक समाज को 'उत्तर आधुनिक,' 'नस्ल भेद रहित,' 'धर्म रहित' और 'राष्ट्र रहित' देखना चाहते हैं। ये लौकिक मत ऐसी घोषणा करते प्रतीत होते हैं मानो एक ऐसा पन्थ-निरपेक्ष अर्थात फ्लैट विश्व बन गया है जहाँ किसी संग्रहित इतिहास, पहचान एवं धार्मिक विचारों का कोई भेदभाव नहीं है। गत शताब्दी का 'आधुनिकता विरोधी आन्दोलन' (anti-modernity movement) ऐसा ही एक मत था जिसका सर्वोच्च लक्ष्य था पश्चिमी आक्रामकता का बहिष्कार जोकि उपनिवेशवाद, दो विश्व युद्धों, नाजीवाद, नरसंहार

एवं साम्यवाद का मूल कारण था। इस आधुनिकता विरोधी मत के समर्थकों के पास ऐसा कोई विकल्प नहीं था जिसके अन्तर्गत सकारात्मक रूप से अपनी भिन्नता को स्थापित किया जा सके और न ही इतनी समझ थी कि संसार में विविधता का रहना भी कितना मूल्यवान है।

चपटे विश्व की परिकल्पना बड़ी भ्रामक है। सतही रूप से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व की संस्कृतियों के मेल से एक साझी विश्व संस्कृति का निर्माण हो गया है। किन्तु वास्तविकता कुछ और है। वे चालाक संस्थान जो कुछ विशेष गुटों को शक्ति एवं विशेषाधिकार प्रदान करते हैं, पहले से भी कहीं अधिक शक्तिशाली हो गये हैं। वैश्वीकरण को सामान्यत: उन्हीं संरचनाओं एवं धारणाओं में प्रस्तुत किया जाता है जो गत 500 वर्षों के पश्चिमी प्रभुत्व की उपज हैं। ये धारणाएँ उन जीवन मूल्यों पर आधारित हैं जो यूरोप के मूल निवासियों के ऐतिहासिक एवं साम्प्रदायिक अनुभवों का परिणाम हैं। उत्तर आधुनिकतावाद (post modernism) जैसे रंगीन शीर्षक अथवा 'सब एक हैं' और 'मूल रूप से हम सब एक से ही हैं' जैसी अस्पष्ट और अपरिभाषित सोच के अन्तर्गत जब हम सभी सामूहिक पहचानों का त्याग कर देते हैं तथा सभी सीमाओं को चुनौती देते हुए विश्व की कल्पना करते हैं, तो जो परिणाम उभरता है वह एक ऐसे विश्व का नहीं है जहाँ किसी की प्रभुता नहीं है, बल्कि यह एक ऐसा विश्व है जिसमें सबसे शक्तिशाली पहचान और उस से जुड़ी ऐतिहासिक मान्यताएँ और जीवन मूल्य ही चलन में रह जायेंगे।

'वैश्वीकरण का पर्याय पाश्चात्यीकरण ही है,' इस त्रुटिपूर्ण तर्क का खण्डन आधुनिक चीन ने अपने उदाहरण से किया है। उसने अपनी भिन्नता को दृढ़तापूर्वक स्थापित किया है और विश्व के साथ अपने मानदण्डों और अपनी शर्तों पर व्यवहार किया है। (यहाँ मैं चीन का अन्धानुकरण करने का समर्थन नहीं कर रहा हूँ, बल्कि एक उदाहरण दे रहा हूँ कि किस प्रकार एक ग़ैर-पश्चिमी संस्कृति ने स्वयं को वैश्विक संवाद में सफलतापूर्वक और पूर्ण स्वायत्तता से स्थापित किया है)। हार्वर्ड विश्वविद्यालय (Harvard University) के प्राध्यापक वेइमिंग तू (Professor Weiming Tu) मानते हैं कि चीनी सभ्यता के आधुनिकता एवं वैश्वीकरण को ले कर अपने पृथक प्रतिमान हैं और इसमें चीन को पश्चिमीकरण पर निर्भर होने की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में चीन में तो महान चीनी दार्शनिक कन्फ्युशिअन (Confucian) नीति पर आधारित 'कन्फ्युशियन आधुनिकता' का एक बड़ा आन्दोलन-सा चल रहा है। चीनी विचारक ऐसे बहुत से विचारों को मैक्स वेबर (Max Weber) द्वारा स्थापित प्रोटेस्टेंट नैतिकता (Protestant Ethic) पर टिकी आधुनिक पश्चिमी विचारधारा के विकल्प के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं।[3]

इस प्रकार चीन स्वयं को तथा अपनी प्राचीन सभ्यता को पश्चिम के समकक्ष प्रस्तुत करता है। चीन का उदाहरण यह सिद्ध करता है कि अपनी भिन्नता को दर्शाने का अर्थ यह नहीं है कि हम स्वयं को विश्व से विलग कर लें या निराशाजनक ढंग से

किसी पुरातन युग में फँस जायें। चीन का यह दावा कितना और कब तक कायम रहेगा यह तो समय ही तय करेगा, किन्तु वर्तमान में वह अपने लिए जिस सम्मान की आशा कर रहा है वह उसे सभी पाश्चात्य मानदण्डों को माने बिना अपनी ही शर्तों पर प्राप्त हो रहा है। चीन का उदाहरण यह भी सिद्ध करता है कि पश्चिम से भिन्न होने का अर्थ केवल अपने आदर्श अतीत का मज़ा लेना ही नहीं है।

हाल ही में हुए एक सम्मेलन में जब अपनी वार्ता में मैंने भारत की भिन्नता के विषय में बात की तो पश्चिम के एक प्रमुख विद्वान ने मेरी आलोचना करते हुए कहा कि ऐसी किसी भिन्नता को दृढ़ता से कहने का परिणाम यह होगा कि भारत अकेला पड़ जायेगा। इसका भारत के वैश्विक तथा आधुनिकीकरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। मैंने इसके प्रत्युत्तर में कहा कि भिन्नता का अर्थ पृथकतावादी होना नहीं है। उदाहरण के लिए जापान ने अपने सांस्कृतिक आदर्शों और पहचान को जीवित रखा है और साथ ही विश्व की प्रमुख अर्थव्यवस्था वाला देश भी बना हुआ है; इसी प्रकार फ्रांस ने अपनी भाषा पर आधारित भिन्नता को सदा गर्व से दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत किया है। अरब राष्ट्रों ने भी अपनी भिन्न सभ्यता को अधिकारपूर्वक जताया है और आज वे विश्व-पटल पर एक अहम भूमिका भी निभा रहे हैं। मेरा सुझाव था कि उनकी यह वैश्विक सोच यूरोप-केन्द्रित है, जिसके अनुसार केवल पश्चिमी मापदण्ड ही वैश्विकता की राह दिखलाने वाले हो सकते हैं। विडम्बना यह है कि यही विद्वान पश्चिमी शिक्षा संस्थानों में बौद्ध मत का सकारात्मक प्रचार करता है। इसलिए मैंने उनका ध्यान आकृष्ट किया कि बौद्ध मत का प्रसार भारत से हुआ है और इसके लिए न तो कहीं स्थानीय सभ्यताओं अथवा राष्ट्रों को उपनिवेश बनाने की आवश्यकता हुई और न ही किसी पुरातन इतिहास में जाने की।[4]

विचारों में विविधता (Pluralism) के ढोंग को भेदना

अन्तर्साम्प्रदायिक संवाद (interfaith dialogue) एक ऐसा प्रमुख मंच है जहाँ 'सभी एक से हैं' कह कर महत्वपूर्ण भिन्नताओं को धुँधला कर दिया जाता है। मैं अपने अनुभव से कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत करूँगा जो यह दर्शाते हैं कि जिन समस्याओं का उल्लेख मैं कर रहा हूँ उनका कारण मूलभूत साम्प्रदायिक अवधारणाओं और उनसे जुड़ी वैश्विक सोच में छिपा है।

1990 के दशक के अन्तिम वर्षों में प्रो. कारेन जो टोरेसन ने (Karen Jo Torjesen), जो क्लेअर्मोंट स्नातक विश्वविद्यालय (Claremont Graduate University) में धार्मिक शिक्षा की विभागाध्यक्ष हैं, मुझे अपने विश्वविद्यालय में होने वाले एक प्रमुख अन्तर्साम्प्रदायिक सम्मेलन के उद्घाटन पर आमन्त्रित किया। क्लेअर्मोंट ने निर्णय लिया कि इस कार्यक्रम में विश्व के प्रत्येक प्रमुख सम्प्रदाय अथवा धर्म के अनुयायियों के साधक-प्रतिनिधियों को आमन्त्रित किया जायेगा। और साथ ही यहाँ अन्तर्धार्मिक संवादों और विचारों को बढ़ावा दिया जायेगा जिससे विश्व के

विभिन्न मतों के बीच मधुर सम्बन्धों का प्रसार किया जा सके। मुझे हिन्दू धर्म के ऊपर बोलने के लिए निमन्त्रित किया गया था और मुझे इस नये उपक्रम की सलाहकार समिति में भी योगदान देना था। अन्य धर्मों के अनुयायियों के साथ मिल कर कार्य करने के उत्साह में मैंने यह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

उद्घाटन कार्यक्रम अपने आप में एक भव्य समारोह था जिसमें विश्वविद्यालय के प्रमुख अधिकारियों तथा विभिन्न धर्मों और स्थानीय समुदायों के पदाधिकारियों ने भाग लिया। एक विशिष्ट बात यह थी कि सभी प्रतिनिधियों ने अन्तर्धार्मिक तनावों को दूर करने तथा विभिन्न मतों के बीच आपसी तालमेल बढ़ाने के लिए प्रयत्न के लिखित विवरण का सार्वजनिक अनुमोदन किया। सभी प्रतिनिधियों ने उस संकल्प का अनुमोदन किया जिसके अनुसार धार्मिक सहनशीलता (religious tolerance) को बढ़ावा देने की घोषणा थी। जब मेरे उद्‌बोधन का समय आया तो मैंने सलाह दी कि इस संकल्प में 'सहनशीलता' के स्थान पर 'परस्पर सम्मान' (mutual respect) लिखा जाना चाहिए। मेरी इस टिप्पणी पर वैसी ही सराहना हुई जैसी अन्य सभी वक्ताओं के उद्‌बोधन पर हुई थी। तत्पश्चात मैंने इसके महत्व को सविस्तार बताया कि किस प्रकार यह केवल औपचारिकता या शब्दों का हेर-फेर मात्र नहीं है।

मैंने उल्लेख किया कि हम सहन उन्हें करते हैं जो हमारे अनुसार 'हीन' होते हैं, परन्तु हम उनका सम्मान नहीं करते। 'सहन करने' का अर्थ है कि जो हमारे अनुसार व्यवहार नहीं करते हम उन्हें वे सभी अधिकार और विशेषाधिकार प्रदान करने के स्थान पर कुछ अधिकार दे कर उन पर नियन्त्रण रख रहे हैं। एक ऐसा धर्म जिसमें 'नकली भगवानों' की पूजा की जाती है और जिसके अनुयायियों को 'हीथन' (heathens), मूर्तिपूजक या काफ़िर कहा जाता है, को सहन तो किया जा सकता है किन्तु उसे सम्मान नहीं दिया जा सकता। 'सहन करना' एक प्रकार से कृपा करना है जबकि सम्मान देने का अर्थ है उन्हें भी समान रूप से वैध मानना—जोकि कुछ पन्थ सामान्यतया अन्य सम्प्रदायों/धर्मों को नहीं मानते, बल्कि उन्हें 'काफ़िर,' 'मूर्तिपूजक' इत्यादि कह कर सम्बोधित करते हैं।

मैंने अपनी आशंका व्यक्त की कि क्या कुछ समय उपरान्त किये जाने वाले प्रीतिभोज में किसी को यह सुनना प्रीतिकर लगेगा कि उसे वहाँ 'सहन' किया जा रहा है। कोई पति अथवा पत्नी यह सुन कर प्रसन्न नहीं हो सकती कि उसकी घर में उपस्थिति केवल 'सहन' की जा रही है। कोई भी स्वाभिमानी कार्यकर्ता अपने सहकर्मियों की ऐसी सोच को स्वीकार नहीं करेगा। मैंने इंगित किया है कि सहनशीलता की यह अवधारणा उन सम्प्रदायों की उपज है जो केवल अपने को विशिष्ट तथा अन्य धर्म-परम्पराओं को छद्म/झूठी मानते हैं। इसलिए अपने विशिष्ट स्वत्व का अवमूल्यन किये बिना वे अधिक से अधिक उन्हें 'सहन' कर सकते हैं।

यूरोप में शताब्दियों तक ईसाई सम्प्रदाय के विभिन्न गुटों में चले धार्मिक युद्धों के उपरान्त साम्प्रदायिक 'सहनशीलता' की वकालत होने लगी थी। कई यूरोपीय देशों में

चर्चों का धार्मिक एकाधिकार था जिसके अनुसार मात्र किसी 'गलत' धर्म का पालन करना अपराध माना जाता था। ईसाई मतों की परस्पर साम्प्रदायिक हिंसा, जो यूरोप में सदियों तक व्याप्त रही, को देखते हुए 'सहनशीलता' एक सकारात्मक प्रयास था, किन्तु इसने कोई ऐसा सच्चा आधार प्रदान नहीं किया जिससे कि एकता और सहयोग वास्तविक एवं स्थायी हो सकें। इसलिए यह एकता खण्डित होती रही है।[5]

मेरी बातों का श्रोताओं ने अच्छा समर्थन किया, किन्तु मैंने पाया कि जिन वक्ताओं ने 'सहनशीलता' की दलील दी थी वे तनिक उदासीन से हो गये थे। कैरन जो टोरेसन ने निजी रूप से यह कहते हुए मेरी सराहना की कि 'मैंने एक महत्वपूर्ण विषय को उठाया है जोकि इस सिद्धान्त विषयक वातावरण के उपयुक्त है'। अगले दिन कारेन ने उत्साहपूर्वक मेरा आभार व्यक्त किया और कहा कि मैंने एक 'सनसनी' को जन्म दिया है और यह भी कहा कि 'हालाँकि सभी इस महान विचार से सहमत नहीं थे' परन्तु वह स्वयं इससे पूर्णतया सहमत थीं। तब मुझे आभास हुआ कि सम्भवत: मैंने यहूदी-ईसाई सम्प्रदाय के प्रतिनिधियों की किसी दुखती रग को छू दिया है। मैंने निर्णय किया कि मैं अपने आगामी उद्‌बोधनों एवं वार्ताओं में इस बहुचर्चित 'सहनशीलता' के स्थान पर 'परस्पर सम्मान' करने के विचार का परीक्षण करके देखूँगा।

1990 के दशक के अन्त में जब कॉर्नेल विश्वविद्यालय (Cornell University) के धार्मिक शिक्षा विभाग की अध्यक्षा प्राध्यापिका जेन मेरी लॉ (Jane Marie Law) ने धार्मिक हिंसा का समाधान करने के लिए मेरी संस्था से एक विश्वस्तरीय सम्मेलन को प्रायोजित करने के लिए सम्पर्क किया तो यह मेरे लिए परस्पर सम्मान का पक्ष रखने के लिए दूसरा प्रमुख अवसर था। प्रत्येक धर्म का प्रतिनिधित्व उस मत के प्रमुख व्यक्ति को करना था, जैसे बौद्ध मत का प्रतिनिधित्व दलाई लामा द्वारा तथा विभिन्न ईसाई सम्प्रदायों के प्रमुख अधिकारियों को अपने-अपने सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करना था। सम्मेलन के कार्यकारी प्रारूप के अनुसार सम्मेलन का प्रयोजन था धार्मिक हिंसा की सामूहिक एवं कड़े शब्दों में आलोचना करना और इस हिंसा से उत्पन्न होने वाले तनावों को मिटाने का प्रयत्न करना। (ऐसी महत्वाकांक्षाएँ अन्तर्धार्मिक बैठकों में एक साधारण विषय है)

जब मैंने इस प्रारूप में अंकित धार्मिक तनाव के विभिन्न उदाहरणों को देखा तो मुझे प्रतीत हुआ कि शायद 'पीड़ित' तथा 'दोषी' सम्प्रदायों की जो सूची बनायी गयी है वह प्रक्रिया एकांगी है। मैंने पाया कि इस्लाम को एक राष्ट्र में पीड़ित दर्शाया गया है, किन्तु कहीं भी उसे आक्रान्ता नहीं दर्शाया गया। इसी प्रकार ईसाई सम्प्रदाय के अनुयायियों ने अन्य मतों के विरुद्ध पूर्वी तिमोर जैसे स्थानों पर अपना शोषण होते हुए दिखलाया है, किन्तु जहाँ ईसाइयत ने आक्रामक अभियान चला रखा है उनके प्रति वे चुप हैं। तत्पश्चात मुझे आभास हुआ कि इस प्रकार के विषम प्रस्तुतीकरण के उदाहरण शैक्षणिक संस्थानों में कोई असामान्य घटना नहीं है। मैंने प्रो. लॉ को प्रस्ताव दिया कि हमें धार्मिक हिंसा के मूलभूत कारणों को समझने के लिए सम्मेलन से पहले कुछ पूर्व

तैयारी और अनुसन्धान करना चाहिए। मेरी धारणा थी कि सभी धार्मिक विचारधाराओं की निष्पक्ष रूप से जाँच-पड़ताल होनी चाहिए।

मेरी संस्था ने ऐसी एक-वर्षीय परियोजना को प्रायोजित करने का प्रस्ताव दिया जिसमें कोर्नेल विश्वविद्यालय के स्नातक विद्यार्थी सभी प्रमुख सम्प्रदायों एवं धर्मों की मुख्य पुस्तकों का सूक्ष्मता से निरीक्षण करेंगे। वे उन सभी वाक्यों अथवा वक्तव्यों को चिह्नांकित करेंगे जो उस मत में विश्वास न करने वालों के साथ-साथ महिलाओं, गुलामों, विदेशियों इत्यादि के लिए निन्दा सूचक, घृणा सूचक अथवा असहनशील शब्दों का प्रयोग करते हैं। सम्मेलन में इन अपमानजनक और सन्देहास्पद वाक्यों की गणना का प्रयास करने के बाद उनके विरुद्ध एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जायेगा, क्योंकि धार्मिक हिंसा का मूल स्रोत इन्हीं घृणा सूचक अंशों में है। ये वाक्य उस सामग्री में सम्मिलित हैं जिनको सम्प्रदाय के अनुयायी सम्माननीय मानते हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दू पुस्तकों में जहाँ भी 'निम्न वर्ण' के लिए अपमानजनक शब्द हैं उन्हें इस सूची में सम्मिलित किया जायेगा। इस समूची प्रक्रिया में प्रत्येक धर्म के प्रतिनिधि मण्डल को अपने सुझाव, विचार, टिप्पणियाँ तथा असहमति की स्थिति में सुधार का अवसर प्रदान किया जायेगा। मेरा विश्वास था कि साम्प्रदायिक हिंसा की रोकथाम के लिए यह एक ऐतिहासिक अवसर होगा, यदि विभिन्न धर्म इन अपमानजनक निर्देशों को रोकने पर सहमत हो जाते हैं।

प्रो. लॉ मेरे इस प्रस्ताव से सहमत तो थीं किन्तु आशंकित थीं कि अन्य धार्मिक समूह इस पर क्या प्रतिक्रिया करेंगे। उनकी प्रतिक्रिया जानने के लिए उन्होंने सभी से वार्ता प्रारम्भ की। कुछ सप्ताह पश्चात उन्होंने मुझे बताया कि कुछ धार्मिक प्रमुख (जिनका नाम उन्होंने मुझे नहीं बताया) तो मात्र मेरे इस सुझाव पर ही क्रोध से भड़क गये। वे किसी बाहरी लोगों द्वारा उनके धार्मिक मूलग्रन्थों में हस्तक्षेप के विचार को 'सहन' नहीं कर पा रहे थे। ये मूलग्रन्थ आखिरकार कभी भी बदले नहीं जा सकते या किसी भी तरह अमान्य घोषित नहीं किये जा सकते, क्योंकि ये तो उनके 'गॉड' के शब्द हैं।

मुझे इस परियोजना के रुक जाने से निराशा हुई और मैंने प्रो. लॉ को एक विकल्प सुझाया कि यदि उन अंशों का हटाना एक प्रकार का हस्तक्षेप प्रतीत होता है तो हम प्रतिनिधियों से आग्रह करेंगे कि इन्हें हटाया न जाये, किन्तु सभी केवल यह घोषणा करें कि वे स्वयं और उनके अनुयायी इनका उपदेश और प्रचार बन्द कर देंगे। इस प्रकार किसी के धर्मग्रन्थों में कोई हस्तक्षेप भी नहीं होगा और सम्प्रदाय की शिक्षा का एक कम नकारात्मक और अधिक गरिमामय पक्ष प्रस्तुत होगा। निश्चित रूप से 'गॉड' भी नहीं चाहता कि उसके शब्द किसी हिंसा का कारण बनें।

प्रो. लॉ ने इंगित किया कि धार्मिक प्रमुखों को यह भी अस्वीकार्य है, विशेषत: अब्राहमी पन्थों के प्रमुखों को, क्योंकि उनके अनुसार मूल पाठ का पुन: व्याख्यान

ग्रन्थों के समर्थन की सुदृढ़ता के लिए तो किया जा सकता है, किन्तु उनमें कोई त्रुटि निकालने के लिए नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य यह था कि यह मंच उन राजनैतिक वाक्पटु पक्षों का वर्चस्व कायम रखने वाला था जो अपनी विवादास्पद मान्यताओं पर तो कोई बहस और परिचर्चा नहीं चाहते, किन्तु दूसरों पर उँगलियाँ उठाने के इच्छुक थे। मैंने इस सम्मेलन से अपने हाथ खींच लिए क्योंकि मेरे विचार से यहाँ सभी के लिए समान अवसर नहीं थे। अन्तत: वह सम्मेलन हुआ ही नहीं।

इसी बीच अमरीका में जहाँ भी मेरे भाषण थे, मैंने 'सहनशीलता' के स्थान पर 'परस्पर सम्मान' और घृणा सूचक शिक्षाओं को मन्द करने के अपने प्रयासों की चर्चा आरम्भ की। शीघ्र ही कई हिन्दू आध्यात्मिक प्रमुखों ने अन्तर्साम्प्रदायिक सम्मेलनों में सहनशीलता के स्थान पर परस्पर सम्मान की चर्चा प्रारम्भ कर दी।

मुझे अपने इस दृष्टिकोण को परखने का अवसर सन् 2000 के संयुक्त राष्ट्र के 'सहस्राब्दी धार्मिक शिखर सम्मेलन' (UN Millennium Religion Summit) में मिला। इस प्रमुख अवसर पर न्यू यॉर्क नगर में विभिन्न धर्मों के सैंकड़ों प्रमुख भाग लेने वाले थे। इसका प्रचार एक ऐसे निर्णायक सम्मेलन के रूप में किया गया था कि यह आने वाली सहस्राब्दी में सभी सम्प्रदायों में परस्पर सौहार्द का सूचक होगा। अपने इस लक्ष्य की आंशिक पूर्ति के लिए यहाँ इस विषय पर एक प्रस्ताव पारित किया जाना था। सब कुछ ठीक लग रहा था, किन्तु एक दिन न्यू यॉर्क टाइम्स (New York Times) में एक समाचार प्रकाशित हुआ कि पारित किये जाने वाले प्रस्ताव की निर्णायक भाषा को ले कर गहन मतभेद उठ खड़े हुए हैं। कुछ दिनों बाद जब ऐसा प्रतीत होने लगा कि शिखर सम्मेलन किसी प्रस्ताव के अभाव में ध्वस्त होने की कगार पर है तो संयुक्त राष्ट्र के शीर्ष अधिकारियों ने गतिरोध को टालने के लिए मध्यस्थता की।

हिन्दू धर्म-आचार्य सभा के प्रमुख, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने, जो हिन्दू प्रतिनिधि-मण्डल का नेतृत्व कर रहे थे, बलपूर्वक आग्रह किया कि इस प्रस्ताव में 'सहनशीलता' के स्थान पर 'परस्पर सम्मान' लिखा जाये। किन्तु वैटिकन के प्रतिनिधि कार्डिनल जोजफ रैटज़िंगर (Cardinal Joseph Ratzinger), जो हाल ही में पोप बेनेडिक्ट (Pope Benedict) पद से सेवानिवृत्त हुए हैं, इस वाक्यांश के विरोध में अड़े हुए थे। यदि उन धर्मों को ही आधिकारिक रूप से सम्मान दे दिया जाये जिन्हें 'मूर्तिपूजक' कहा जाता है तो उनके अनुयायियों को ईसाई बनाने का औचित्व ही नष्ट हो जायेगा। इससे चर्च एवं ईसाइयत का अपने आप को विशिष्ट कहने का दावा ही समाप्त हो जायेगा जोकि चर्च के बड़े पैमाने पर किये जा रहे धर्मांतरण अभियान का औचित्य है।

सम्मेलन का विषय संकटपूर्ण अवस्था में पहुँच गया था। मीडिया ने रहस्योद्घाटन किया कि दो पक्षों में प्रस्ताव की पृथक शब्दावली को ले कर घमासान युद्ध छिड़ गया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती पर दबाव पड़ने लगा और उन्हें चेताया गया कि उनके हठ के कारण यह उच्चस्तरीय सम्मेलन ध्वस्त हो सकता है। उन्होंने बलपूर्वक अपना पक्ष रखा कि समय आ गया है कि यहूदी-ईसाई सम्प्रदाय, जिन्हें 'अहले किताब' अथवा 'पुस्तकीय सम्प्रदाय' (तीन अब्राहमी सम्प्रदाय) कहा जाता है, अन्य मतों एवं धर्मों को सहन करने की अपेक्षा बराबरी जैसा आदर प्रदान करें। अन्ततः वैटिकन ने इसे स्वीकार कर लिया। कार्डिनल रैटज़िंगर ने भी उस प्रस्ताव को स्वीकार किया जिसके अनुसार सभी धर्म एक दूसरे को सम्मान देने के लिए सहमत हैं। यह परिवर्तन अपने आप में बहुत बड़ा समाचार था और सभी ग़ैर-अब्राहमी मतों ने इसका बड़े स्तर पर प्रचार किया।

परन्तु बात यहीं समाप्त नहीं हुई। सहस्राब्दी शिखर सम्मेलन के पश्चात् एक माह के भीतर ही सम्भवतः संयुक्त राष्ट्र से सम्बद्ध प्रस्ताव का आन्तरिक विश्लेषण और उसके परिणामों पर विचार करने के पश्चात वैटिकन ने अकस्मात् एक घोषणा कर दी जिसे सुन कर उदारवादी कैथोलिक मत के विशेषज्ञ भी स्तब्ध रह गये।

वैटिकन का जो कार्यालय कैथोलिक सम्प्रदाय के आधिकारिक सिद्धातों को प्रतिपादित एवं नियमों में ढालने के लिए उत्तरदायी है, वह है कोंग्रेगेशन फ़ॉर द डॉकट्राइन ऑफ़ द फ़ेथ — Congragation for the Doctrine of the Faith (यह वही कार्यालय है जिसे इन्कुइजिशन कहा जाता था)। इस कार्यालय ने धार्मिक विविधता के प्रति अपनी नई नीति की घोषणा की। डॉमिनस जीसस नामक यह नीति-पत्र चर्च के विशेषाधिकार और पूर्वकालिक मिशन और सिद्धान्त का समर्थन करता है।[6] इस नीति-पत्र का अनुच्छेद 4 कहता है कि 'सापेक्षकीय विचारधाराएँ जो धार्मिक विविधता को उचित ठहराने में लगी हैं, चर्च के लिए ख़तरनाक हैं'। अनुच्छेद 22 इस अवधारणा को नकारता है कि कोई एक धर्म दूसरे के समकक्ष हो सकता है। इसके अनुसार 'अन्य मतों के अनुयायी दैवी अनुग्रह के पात्र तो हो सकते हैं लेकिन निष्पक्षता से विचारने पर यह भी निश्चित है कि पूर्ण मुक्ति के सन्दर्भ में उनकी स्थिति अत्यन्त हीन है, क्योंकि इसके सम्पूर्ण साधन केवल चर्च में निहित हैं'। कई मत-विशेषज्ञों ने, जिनमें कई विविधता के पक्षधर उदारवादी ईसाई भी सम्मिलित हैं, इस नीति की निन्दा यह कहते हुए की है कि यह धार्मिक तालमेल को बढ़ाने की मेहनत के विपरीत उठाया गया कदम है।

अपने परस्पर सम्मान के प्रयोगों में मैंने उदारवादी मुसलमानों को भी सम्मिलित किया है। 11 सितम्बर 2001 की घटना के पश्चात अमरीका में भारतीय उपमहाद्वीप के हिन्दू और मुसलमान अमरीकियों में सौहार्द-भावना में वृद्धि हुई थी। जब मैं डलास (Dallas) में एक यात्रा पर था तो मुझे एक रेडियो पर साप्ताहिक कार्यक्रम चलाने वाले पाकिस्तानी ने साक्षात्कार के लिए आमन्त्रित किया। मैंने इस अवसर का सदुपयोग

करते हुए बताया कि धर्मों में 'परस्पर सम्मान' वर्तमान में प्रचलित 'सहनशीलता' का बेहतर विकल्प है। मेरे वक्तव्य के पश्चात श्रोताओं को फ़ोन पर प्रश्न पूछने के लिए आमन्त्रित किया गया। फ़ोन करने वालों में एक पाकिस्तानी महिला थी जिसने मुझे बधाई दी और मेरे विचारों से सहमति जताते हुए कहा 'राजीव जी, हम मुसलमान इससे पूर्णतया सहमत हैं और आप जिस परस्पर सम्मान की बात कर रहे हैं उससे हमें हर्ष और सम्मान का अनुभव हो रहा है।'

मुझे यह सुन कर हर्ष हुआ किन्तु मैं आश्वस्त होना चाहता था कि वह केवल औपचारिकतावश तो नहीं कह रही थी, इसलिए मैंने उसे सविस्तार अपने धर्म की मान्यताओं और रीतियों के विषय में बतलाया जिन्हें उसने सहर्ष सम्मान देना स्वीकार किया था। मैंने उसे बताया कि हिन्दू धर्म में देव आराधना के लिए मूर्ति-पूजा का कोई निषेध नहीं है (जिसे इब्राहमी सम्प्रदाय अनुचित रूप से 'idolatry' अथवा 'बुत परस्ती' कह कर निन्दा करते हैं)। सच तो यह है कि मैं स्वयं अपनी आध्यात्मिक क्रिया में मूर्तियों का उपयोग करता हूँ और हर्षित हूँ कि उसने इसे सम्मान देने में सहमति जताई है। मैंने उस महिला को बताया कि यह प्रणाली किसी पर थोपी नहीं जाती है। परस्पर सम्मान का अर्थ है कि मैं अपनी मान्यताओं के लिए सम्मानित हूँ और किसी अन्य को इसका अनुसरण करने की अथवा अपनाने की आवश्यकता नहीं है। यही नहीं, एक हिन्दू की मान्यता के अनुसार दैवीय स्वरूप स्त्रीलिंग भी हो सकता है और मृत्यु के उपरान्त पुनर्जन्म होता है, न कि किसी स्वर्ग अथवा नरक में अनन्त काल के लिए रहना पड़ता है। इस प्रकार मैं उसे स्पष्ट कर रहा था कि जिसे उसने परस्पर सम्मान के रूप में स्वीकारोक्ति दी है उसका आशय क्या है। उसने फ़ोन काट दिया।

मैंने यह पाया है कि जो लोग यहूदी-ईसाई मतों का प्रतिनिधित्व करते हैं वे भी प्राय: परस्पर सम्मान के सिद्धान्त को सार्वजनिक रूप से नकारने में कतराते हैं, किन्तु जब उन्हें ग़ैर-यहूदी-ईसाई धर्मों के सन्दर्भ में स्पष्टता से बताया जाता है तो वे असहज हो जाते हैं, क्योंकि अन्तर्मन में कहीं वे जानते हैं कि उनका सम्प्रदाय न केवल विधर्मियों में प्रचलित इस प्रकार की पूजा-पद्धतियों को अस्वीकार करता है बल्कि उन्हें पूर्णतया नष्ट करने में भी विश्वास रखता है।

2007 के आरम्भ में मुझे दिल्ली में एक कार्यक्रम में आमन्त्रित किया गया जहाँ अमरीका के एमोरी विश्वविद्यालय (Emory University) से आया एक प्रतिनिधि मण्डल अपने नवगठित अन्तर्धार्मिक सभा का प्रचार कर रहा था।[7] यह एक सुव्यवस्थित तथा व्यावसायिक प्रस्तुतीकरण था जिसमें बहुप्रचलित सकारात्मक शब्दावली का भरपूर उपयोग किया गया था कि किस प्रकार यह मंच धार्मिक तालमेल लाने में सहायक होगा। ऐमरी से आये ये लोग प्रियकर, मैत्रीपूर्ण और अच्छी मंशा वाले प्रतीत होते थे। सभा में आये श्रोताओं एवं प्रतिभागियों ने विचारों का ऐसा कोई योगदान नहीं दिया जिससे कि वार्ता में राजनैतिक औपचारिकता से बढ़ कर

कुछ गहनता आ सके, इसलिए मैंने उन विषयों पर चर्चा छेड़ी जो इस मंच के उद्देश्यों का केन्द्र बिन्दु थे। मेरा पहला प्रश्न था कि ऐमरी के गिरजाघर और साम्प्रदायिक जीवन की अध्यक्षा, सूजन हेनरी-क्रो (Dean, Susan Henry-Crowe) जो स्वयं एक लुथेरन सम्प्रदाय की चुनी हुई पादरी हैं,[8] यह घोषणा कैसे कर सकती हैं कि 'धर्मों में परस्पर कोई अन्तर नहीं है'। क्या इस धारणा का कारण प्रचलित धार्मिक मतभेदों के समाधान को ले कर उनके मन की व्यग्रता है?

मैं जानना चाहता था कि क्या एक-पक्षीय समानता की वकालत वह श्रोताओं में उपस्थित हिन्दुओं के लिए कर रही थीं, ताकि वे अपने धर्म को सामान्य/वैश्विक परिप्रेक्ष्य में देखें अथवा यह समानता पारस्परिक है जो अध्यक्षा के अपने लुथेरन मत के लिए भी मान्य होगी। मैंने उनसे पूछा कि क्या इस अन्तर्धार्मिक सभा में उनका कार्य उनके द्वारा एक लुथेरन पादरी के रूप में दी जाने वाली शिक्षा के अनुकूल है। अध्यक्षा ने विश्वास से इसके उत्तर के रूप में हामी भरी। इस पर मैंने अपना प्रश्न और स्पष्ट रूप से पूछा—'क्या लुथेरन सिद्धान्त अन्य सम्प्रदायों को 'सहन' करने का है अथवा उन्हें 'सम्मान' देने का है और यहाँ सम्मान से मेरा अभिप्राय उन्हें भी ईश्वर प्राप्ति के वैध मार्ग के अनुयायी मानने से है?' उसने उत्तर दिया कि यह एक 'महत्वपूर्ण प्रश्न है,' एक ऐसा प्रश्न जिसके विषय में वे 'सोचती रही हैं,' किन्तु जिसका कोई 'सरल उत्तर' नहीं है। दूसरे शब्दों में, उनकी दबी हुई व्यग्रता को व्यक्त कराने के मेरे सतत् प्रयासों के बावजूद भी वे वास्तविक विषय को टालती रहीं।

इस गोष्ठी में भाग लेने के लिए मैंने जो तैयारी की थी उसके अन्तर्गत मैंने लुथेरन चर्च की आधिकारिक नीति का अनुसन्धान किया था। क्योंकि यह तो सम्भव नहीं था कि अच्छी मंशा होते हुए वे चर्च में कुछ और शिक्षा देती हों और भारतवासियों में उसके विपरीत प्रचार कर रही हों! मैंने पाया कि लुथेरन मत के अनुयायियों के लिए यह अनिवार्य है कि वे इस पर विश्वास करें कि बाइबल ही सारे दैवीय ज्ञान का स्रोत है और विश्वास तथा नीतियों के सन्दर्भ में केवल बाइबल (sola scriptura) ही निर्णायक ग्रन्थ है। इतना ही नहीं, सभी लुथेरन पादरियों के लिए यह अनिवार्य है कि वे यह प्रवचन दें कि आस्था एवं पूजा-प्रथा के लिए केवल बाइबल ही एकमात्र विश्वसनीय मार्गदर्शक है। लुथेरन सम्प्रदाय का सदस्य होने के लिए अनिवार्य है कि आदम और हव्वा की कहानी पर विश्वास किया जाये और इस पर भी कि आदम और हव्वा ने भगवान के आदेश की अवहेलना की थी जिसके परिणामस्वरूप सभी व्यक्ति इस 'ओरिजिनल सिन' अर्थात मूल-पाप का बोझ ढो रहे हैं। इसलिए विश्व के सभी व्यक्ति जन्म से ही पापी हैं और उनमें इतनी योग्यता नहीं है कि वे पापमय कार्यों से बच सकें। लुथेरनों का मत है कि यही 'ओरिजिनल सिन' मुख्य पाप है और सभी वास्तविक पापों की जड़ है। यह शिक्षा सन 1577 के फ़ॉर्मूला ऑफ़ कोंकोर्ड — Formula of Concord में अंकित है जिसे आज तक लुथेरन मत का आधिकारिक वक्तव्य माना जाता है। लुथेरन मत के अनुसार कोई भी व्यक्ति भगवान की कृपा न होने पर ऐसे शुभ

कर्म करने के योग्य नहीं है जो भगवान की न्याय-प्रक्रिया के अनुरूप हो, क्योंकि वह जो भी कर ले, ओरिजिनल सिन के कारण, उसके विचार और कर्म सदा पाप और पापमय मंशा से दूषित ही रहेंगे। इस कारण सम्पूर्ण मानव जाति सदा के लिए नरक की पात्र है—केवल उन्हें छोड़ कर जिन्हें यीशु द्वारा बचा लिया गया है। लुथेरन मानते हैं कि मानव का बचाव अथवा उसकी मुक्ति का सम्भव होना केवल यीशु के जन्म, जीवन, कष्ट, मृत्यु और मृत्यु के पश्चात पुनरुत्थान में निहित भगवान की कृपा से ही सम्भव है।[9]

इससे स्पष्ट है कि चर्च में प्रचलित शिक्षाओं के चलते अध्यक्षा के लिए हिन्दू धर्म को सम्मान देना असम्भव था। मैं आश्चर्यचकित था कि किस प्रकार अपने आपको धार्मिक तालमेल के लिए शूरवीर बताने वाली स्नेहशील अध्यक्षा ईसाइयत में निहित एकमात्रता के विषय को, जोकि धार्मिक वैमनस्य के मुख्य कारणों में से एक है, कितनी सरलता से मुस्कुराते हुए टाल रही थीं। एक ओर तो यह विचारधारा कि ईसाइयत ही मुक्ति का एकमात्र मार्ग है और दूसरी ओर तथाकथित 'झूठे' मतों से सामंजस्य बैठाने की इच्छा क्या सचमुच में सम्भव है, अध्यक्षा ऐसी ही दुविधा से ग्रसित दिखीं। अन्तर्धार्मिक स्थितियों में इन अन्तर्निहित एवं आधारभूत अन्तर्विरोधों के निदान का एकमात्र उपाय है कि ईसाइयत की इन मूल भिन्नताओं को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया जाये। पन्थ-शिक्षा सम्बन्धित इन विषयों का अधिकांश हिन्दुओं को या तो ज्ञान नहीं होता अथवा वे इतने भीरू होते हैं कि इन पर प्रश्न नहीं उठाते। इसलिए वे 'सभी धर्म समान हैं' के तर्क से आसानी से प्रभावित हो जाते हैं। हो सकता है कि लुथेरन प्रतिनिधि मण्डल का उद्देश्य छल-कपट से पूर्ण न हो, किन्तु यह भी सत्य है कि भारत में बहुत से कपटी पादरी समानता के इस आडम्बर की चाल चल कर पहले तो लोगों से समीपता बढ़ाते हैं और फिर उनका धर्म परिवर्तन करते हैं।

मैं उनसे अपने प्रश्न पूछता रहा—''एक लुथेरन पादरी के रूप में आप हिन्दू मूर्तियों के विषय में क्या अर्थ लगाती हैं, जिन्हें चर्च 'idols' (मूर्तियाँ) कहती है और क्या आपके आधिकारिक आदेश में इन का निषेध नहीं किया गया है'' 'क्या आप श्री कृष्ण तथा शिव को भी भगवान मानती हैं या उन्हें बाइबल में निन्दित 'झूठे गॉड' मानती हैं?' ''आपका हिन्दू देवियों के सम्बन्ध में क्या मत है, क्योंकि चर्च का कहना है कि भगवान एक नर है?'' ''चर्च की मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति एक 'गिरा हुआ पापी है'। इसको ध्यान में रखते हुए आप का इस हिन्दू मान्यता कि आत्मा 'सत्-चित्-आनन्द' रूप है, क्या कहना है?'' ऐमरी विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि मण्डल ने इन सभी प्रश्नों से चतुरता-पूर्वक कन्नी काट ली।[10]

सम्प्रदायों के युगों पुराने एवं जटिल मतभेद एवं असामंजस्यों का हल ऐसे सार्वजनिक मंच कभी नहीं कर पायेंगे (यदि समाधान इतना सरल होता तो बहुत पहले खोज लिया गया होता), किन्तु हम इनमें भाग लेने वालों से, जोकि सम्भवत: गम्भीर विचारक हैं, इतनी माँग तो करें कि वे भिन्नता को छिपाने का आडम्बर न करके मूल

कारणों का सीधा सामना करें। आज राजनीतिक औपचारिकता, अज्ञान और कई स्थानों पर कपटता के कारण एक पूरा आन्दोलन इस तथाकथित समानता की धारणा पर निर्मित है। हमें इनमें से अधिकतम अन्तर्सम्प्रदायी वार्ताओं के मुखौटों के पीछे छिपे वास्तविक कारणों को सुलझाना चाहिए। समानता एक-पक्षीय नहीं हो सकती—यदि 'क' 'ख' के समान है तो 'ख' भी तो 'क' के समान ही होना चाहिए। परन्तु कितने चर्च श्री कृष्ण और शिव की आराधना उसी सर्वव्यापी भगवान के रूप में करने के लिए तैयार हैं जिसका विवरण बाइबल में किया गया है? इससे हमें हर अवस्था में समानता के दावे को परखने का व्यावहारिक तरीका मिल जायेगा।

ऐमरी द्वारा दिल्ली में दी जा रही इस प्रस्तुति में उपस्थित भारतीयों की प्रतिक्रिया ऐसी सभी सभाओं में उपस्थित श्रोताओं जैसी थी—गम्भीर मामलों के परीक्षण में अरुचि, जो बोलने का साहस करे उसके उद्देश्य पर सन्देह और अन्तर्साम्प्रदायिक एकता के पक्षधरों का अन्ध समर्थन। इस तथा इस जैसी अन्य अन्तर्साम्प्रदायिक बैठकों में, जहाँ मैंने भाग लिया है, यही समस्या होती है। सभी वक्ता औपचारिकतावश 'परस्पर सम्मान' और 'मूलभूत समानता' का दिखावटी प्रेम प्रस्तुत करते हैं, जबकि या तो वे समझ ही नहीं पाते अथवा यह समझने से मना कर देते हैं कि उनकी अपनी आस्था एवं विश्वास पर इन विचारों का क्या परिणाम हो सकता है। परिणामस्वरूप बहुत से हिन्दू धर्मगुरु सरलता से इस झाँसे में आ जाते हैं कि वास्तविक सम्मान और एकता का विचार-विमर्श सम्भव है (एक ऐसा प्रस्ताव जिसे वे ठुकरा नहीं सकते)।

जब कभी अन्तर्पंथीय वार्तालाप में प्रत्यक्ष रूप से ईसाई समानता की चर्चा नहीं कर रहे होते तो भी वे हिन्दू वक्ताओं को प्रोत्साहित करते हैं कि वे समानता की सरल धारणा के आधार पर हिस्सा लें। वे कभी भी उन विचारों को उजागर नहीं करते जो विवादपूर्ण होते हैं। वे विश्व में बढ़ती संघर्षरत परिस्थितियों में (विशेषकर इब्राहमी सम्प्रदायों में) ईसाई साम्प्रदायिक परम्पराओं में तालमेल और सहनशीलता की आवश्यकता को तो स्वीकार करने लगे हैं, चाहे विश्व कल्याण को बढ़ाने की अपनी प्रतिबद्धता की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए ही सही। परन्तु यह प्रवृति अधिकतर ऐसे सम्प्रदायों के धर्म-परिवर्तन के उद्देश्य के साथ-साथ चलती है, विशेष रूप से जब किसी वर्ग-विशेष को अपने मैत्रीपूर्ण व्यवहार की सहायता से धर्मांतरण के लिए निहत्था कर दिया गया हो।

ऐसे ईसाइयों की संख्या बहुत कम है जो परस्पर सम्मान को पूर्णतया समझते हुए इसके पक्षधर हैं। उनमें से एक है जेनेट हाग (Janet Haag) जोकि सेक्रेड जर्नी (Sacred Journey) नामक एक पत्रिका की सम्पादिका हैं। यह पत्रिका प्रिंसटन (Princeton) स्थित एक ऐसी संस्था द्वारा संचालित है जो प्रार्थना द्वारा विभिन्न सम्प्रदायों के एकीकरण की इच्छुक है। 2008 में जब एक अन्तर्साम्प्रदायिक आयोजन के लिए जेनेट ने मेरा सहयोग माँगा तो मैंने अपना प्रिय प्रश्न पूछा—'धर्मों की विविधता को ले कर आपकी क्या नीति है'—उन्होंने पूर्वानुमानित उत्तर दिया : 'हम

सभी मतों के प्रति सहनशील हैं'। तत्पश्चात इसके स्थान पर परस्पर सम्मान की आवश्यकता के विषय में चर्चा की गई। बिना टाल-मटोल या रक्षात्मक हुए जेनेट ने संकेत दिया कि यह विचार उनके कार्य को एक महत्वपूर्ण आयाम दे सकता है। हमारा यह संवाद उनकी पत्रिका के अगले अंक के सम्पादकीय का मूल विषय बना।

उन्होंने लिखा : 'हमारे अन्तर्साम्प्रदायिक सद्भाव को प्रभावी बनाने के उद्देश्य पर चल रही चर्चा में उन्होंने (राजीव मल्होत्रा) इंगित किया कि जब हम परस्पर सम्मान के स्थान पर सहनशीलता तक ही सीमित रहते हैं तब हम वास्तविक शान्ति और सहमति के प्रयासों में कमजोर पड़ जाते हैं। उनकी इस टिप्पणी ने मुझे सहनशीलता और सम्मान के विशिष्ट अन्तर और इनमें छिपे जीवन-मूल्यों के अर्थ पर सोचने के लिए विवश कर दिया। जेनेट ने सविस्तार बताया कि 'सहनशीलता' का लैटिन उद्गम बर्दाश्त करने की ओर इंगित करता है जोकि भले ही एक प्रशंसनीय धारणा है किन्तु यह परस्पर समर्थन अथवा सहयोग की ओर संकेत नहीं करता। अव्यक्त रूप से यह परस्पर सम्बन्धों में शक्ति के असन्तुलन को बतलाता है जिसमें एक पक्ष ऐसी स्थिति में प्रतीत होता है मानो वह दूसरे पक्ष को अपनी इच्छानुसार स्वीकृति दे या न दे। उन्होंने आगे बताया कि सम्मान का अर्थ है दूसरे को आदर से देखना और यह शब्द इंगित करता है कि हम सम्मान के बराबर हकदार हैं। परस्पर सम्मान में दम्भ और अनन्यता के लिए कोई स्थान नहीं है। जो मैंने उनसे कहा था, उन्होंने उसे संक्षेप में बता कर उसकी पुष्टि की।[11]

भिन्नता-जनित व्यग्रता अथवा परस्पर सम्मान?

भारतीय और पश्चिमी लोग दोनों ही भिन्नता को वाँछनीय और सकारात्मक दृष्टिकोण से समग्रता से देखने के सुझाव के प्रति प्राय: उदासीन रहते हैं। मैं इस उदासीनता को 'भिन्नता-जनित व्यग्रता' की संज्ञा देता हूँ। इस विवरण का लक्ष्य वह मानसिक बेचैनी है जो भिन्नता के प्रत्यक्ष ज्ञान और इस भिन्नता को छिपाने, मिटाने अथवा कम करने की इच्छा से उपजती है। भिन्नता की यह व्यग्रता साम्प्रदायिक और सांस्कृतिक सन्दर्भों में प्राय: देखने को मिलती है।

इस तरह की व्यग्रता सामान्य समाज में विचारों, मतों और पहचान आदि में सापेक्षिक समानता का आश्वासन खोजती है। यह व्यग्रता प्राकृतिक जगत की उस भिन्नता के प्रतिकूल है जो ब्रह्माण्ड में हम किसी भी स्तर पर देखें तो यह भिन्नता एवं विविधता स्वाभाविक रूप से पशुओं, पौधों, ऋतुओं, चट्टानों अथवा फूलों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। मैं तर्क करूँगा कि हमें भिन्नता को सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिए और उसकी सराहना करनी चाहिए, न कि उसे मिटाने का प्रयास करना चाहिए। किन्तु ऐसा करने से पहले उसे स्वीकारना और परिभाषित करना होगा।

भिन्नता का समाधान करने की जो पश्चिमी शैली है, वह है अन्य सभ्यताओं के अवयवों को पृथक करके उनकी अपनी बनाई हुई वैचारिक श्रेणियों के अनुसार उन्हें विभाजित करना — जैसे 'ईसाइयों,' 'गोरों' अथवा तथाकथित नस्ल द्वारा प्रतिपादित श्रेणियों के अनुसार। यह पुन: वर्गीकरण पश्चिमी दृष्टिकोण को स्वत: ही विशेषाधिकार देता है और इसे विश्वव्यापी आदर्श के रूप में दूसरों को अनुकरण करने के लिए समर्थ घोषित करता है। इस प्रकार पश्चिमी दृष्टिकोण को वैश्विक दृष्टिकोण घोषित कर दिया जाता है। यह पश्चिमी जगत की नियन्त्रण रखने की स्थापित प्रणाली है। दूसरी ओर, भारत के बहुत से लोग जो धार्मिक विचारधारा में पले बढ़े हैं, उन्हें अपने 'गोरे,' 'पश्चिमी,' 'ईसाई' न होने जैसी कई हीनता की व्यग्रताएँ बुरी तरह प्रभावित करती हैं। वे अपनी पहचान को उपनिवेशकों के बनाए परिप्रेक्ष्य में देखने में ही गर्व का अनुभव करते हैं। जिस पल कोई अपने आप को उपनिवेशकों के परिप्रेक्ष्य में 'वैश्विक इतिहास,' 'वैश्विक विचार,' भाषा, कथानकों और सौन्दर्य-शास्त्र आदि के मापदण्डों के अनुसार आँकने लगता है, उसी पल वह मानसिक रूप से दासता स्वीकार कर लेता है।

उच्चता के दृष्टिकोण से भिन्नता को विशिष्ट रूप से दर्शाने की न तो आवश्यकता है और न ही यह वाँछनीय है। यह चलन पृथकतावादी होना ही नहीं चाहिए। यह सरलतापूर्वक, ताल-मेल और सृजनात्मक विकास के आधार को बचाते हुए एक-दूसरे से सीखने का एक तरीका होना चाहिए। एक सभ्यता के दूसरी में समा जाने से कहीं उत्तम है उनमें परस्पर दीर्घकालीन आदान-प्रदान। भारतीय सभ्यता का मौलिक विचार है कि विविधता एवं भिन्नता कोई समस्या नहीं है जिसे सुलझाने की आवश्यकता हो, क्योंकि भिन्नता के साथ परस्पर सम्मान इसमें निहित है। धार्मिक दृष्टिकोण के अनुसार संशय, अव्यवस्था और अनगिनत जटिलताएँ जीवन के स्वभाविक अंग हैं और क्योंकि भिन्नता प्रकृति का स्वरूप है इसलिए धार्मिक विचारधाराएँ इसे सहजता से स्वीकार करती हैं।

जब भिन्नता-जनित व्यग्रता किसी अधिकार के दृष्टिकोण से प्रकट होती है तो शक्तिशाली सभ्यता के लिए अपने से कम शक्तिशाली सभ्यता पर प्रभुत्व जमाने, उसे हड़पने अथवा नष्ट करने के लिए वह एक प्रेरक का कार्य करती है। जहाँ यह व्यग्रता हीनता से प्रकट होती है वहाँ पर प्रभावशाली सभ्यता की नकल करने का मनोवैज्ञानिक दबाव पड़ता है और अपने आप को प्रभावशाली सभ्यता की श्रेणी में देखने की चेष्टा आरम्भ हो जाती है।

भिन्नता-जनित व्यग्रता : 'दम्भ' से

पश्चिम का इतिहास ऐसी घटनाओं से भरा पड़ा है जिनमें उसने अपनी सम्प्रदाय, नस्ल अथवा अर्थ-आधारित श्रेष्ठता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। प्रभुत्व के प्रति इस सनक के बीज और कारण छिपे हैं उसके यहूदी-ईसाई मतों में और उस व्यापक

व्यग्रता और खालीपन में जो पाश्चात्य सभ्यता में सदियों से व्याप्त है। सबसे पहले मैं यह दर्शाना चाहता हूँ कि जब-जब पश्चिम की इस प्रभुता का प्रतिरोध हुआ है तब-तब उसकी प्रतिक्रिया उसके लिए अत्यन्त क्लेशमयी रही है। यह क्लेशमयी प्रतिक्रिया इतनी तीव्र होती है कि यह ग़ैर-पश्चिमी लोगों के प्रति हर प्रकार के अनैतिक और धूर्ततापूर्ण व्यवहारों को प्रोत्साहन देती है। यह क्लेश अथवा व्यग्रता मुख्यत: तीन प्रकार से प्रकट होती है :

- अन्य सभ्यताओं का बेहिचक हिंसा अथवा बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन से विनाश।
- अन्यों को मुख्य धारा से अलग कर देना ताकि वे अब और कोई समस्या उत्पन्न न कर सकें।
- अन्य सभ्यताओं में घुसपैठ करके उनकी स्वाभाविक सहज भिन्नता को शनै: शनै: इच्छानुसार टुकड़ों में तोड़ कर एक के बाद दूसरी पीढ़ी में क्षीण करना और अन्तत: उन्हें अपने में हड़प लेना।

ईसाई मत का केन्द्र बिन्दु यह दावा करता है कि बाइबल में अंकित विभिन्न पैग़म्बरों के सन्देश विशिष्ट हैं और 'गॉड' द्वारा भेजे गये हैं तथा यीशु का व्यक्तित्व विशिष्ट रूप से देव-तुल्य है। इन सन्देशों को कालक्रमानुसार एक पुस्तक में अंकित किये जाने का परिणाम है एक मान्य पुस्तक और एक ही बचाने वाला (मसीहा)। वह 'अन्यों' की तुलना में 'हम श्रेष्ठ हैं' की सोच को महत्व और बढ़ावा देता है। इस सोच की उपज है एक ऐसी निर्देशात्मक स्थापित कार्यप्रणाली की व्यवस्था, जहाँ विश्वासों और मतों की व्याख्या और कार्यांवयन एक शक्तिशाली चर्च करती है, द्वारा की जाती है। इस ईसाई परियोजना को, जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण विश्व में साम्प्रदायिक समरूपता लाना है, एक ऐसे विशेषाधिकार के रूप में देखा जाता है जिसका आदेश स्वयं 'गॉड' ने दिया हो। भिन्नता-जनित इस विशाल स्तर की व्यग्रता पश्चिमी समाज को सभी दूसरी सभ्यताओं के समूल विनाश करने की ओर ले जाती रही है।[12]

किन्तु यह विनाश तो भिन्नता के प्रति इस व्यग्रता की एक नाटकीय और प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है जो भारत के परिप्रेक्ष्य से सीधा सरोकार नहीं रखता। इस व्यग्रता की अन्य अभिव्यक्तियाँ अधिक धूर्ततापूर्ण हैं। उदाहरण के रूप में अलगाव, जिसमें प्रत्यक्षत: तो पश्चिमी व्यक्ति सहनशीलता दर्शाते हैं अथवा उसे सम्मान देने का ढोंग भी करते हैं, किन्तु उससे किसी भी प्रकार का सम्पर्क रखने से इंकार कर देते हैं। इस प्रकार जीते-जागते और क्रियाशील लोगों और सभ्यताओं को विचित्र, पुरातन या साधारण की उपाधि दे कर तिरस्कृत कर दिया जाता है। इन सभ्यताओं को, जो वैश्विक सभ्यता को समृद्ध बना सकती हैं, किसी संग्रहालय की प्रदर्शनी के लिए ही उपयुक्त माना जाता है।

इस भिन्नता की व्यग्रता का एक विशेष उदाहरण हमें अमरीकी दार्शनिक रिचर्ड रोर्टी—Richard Rorty (1931-2007) के आचार-विचार में मिलता है। रोर्टी जोकि 'उत्तर आधुनिकतावाद' के एक प्रमुख प्रतिनिधि थे, एक विशेष प्रकार के जातिवाद और दूसरों को नीचा दिखाने की प्रवृति के एक ज्वलन्त उदाहरण हैं जो मेरे मतानुसार भिन्नता के प्रति दबी हुई व्यग्रता से उत्पन्न होती है। रोर्टी के अनुसार भारत और उसकी धार्मिक विचारधारा से उपजी परम्परा तथा आध्यात्मिक समीक्षा पश्चिमी विचारों से मौलिक रूप में इतनी भिन्न है कि वह किसी पश्चिमी व्यक्ति की समझ से परे है (और इस कारण सभी गम्भीर दार्शनिकों और आधुनिक वैज्ञानिकों की समझ से भी परे है)।[13]

भारतीय दार्शनिक अनिन्दिता बल्स्लेव (Anindita Balslev) ने अपनी पुस्तक 'कल्चरल अदरनेस : कॉरेस्पोंडेंस विद रिचर्ड रोर्टी' (Cultural Otherness: Correspondence with Richard Rorty)[14] में रोर्टी से विभिन्न संस्कृतियों के विषय पर वार्तालाप करने की सतत् चेष्टा की है। अनिन्दिता की धारणा है कि भारतीय संस्कृति पश्चिम से भिन्न भी है और पश्चिम के समकक्ष भी। किन्तु रोर्टी इस मत से असहमत हैं। उनके अनुसार भारतीय विचारों का अध्ययन पश्चिम के लिए व्यर्थ है। वे अपनी इस धारणा को 'व्यवहारिक' ठहराते हुए कहते हैं कि इस प्रकार का अध्ययन 'व्यर्थ है, क्योंकि हम क्या करते हैं इस पर ऐसे अध्ययन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता'।[15]

रोर्टी के अनुसार ग़ैर-पश्चिम विचारधाराओं का दृष्टिकोण पश्चिम से इतना पृथक है कि पश्चिम उनको समझ ही नहीं सकता। इसलिए भारत के वे पक्ष जो उसकी भिन्नता को दर्शाते हैं, उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए। भारत और पश्चिम के बीच किसी भी प्रकार का वैचारिक आदान-प्रदान दोषपूर्ण होगा, क्योंकि इनके सोचने के ढाँचे पारस्परिक रूप से अलग हैं और एक विश्वसनीय वार्तालाप के लिए उनके विचारों का कोई एक समान वर्गीकरण भी नहीं हो सकता।

इसी वार्तालाप में रोर्टी का सुझाव है कि इस भिन्नता से 'दूरी बना कर' इसे सहन करना चाहिए। यह व्यवहार पश्चिमी विचारधारा को ही विश्व-व्यापक एकाधिकार प्रदान करने की चेष्टा है (इसकी चर्चा इसी पुस्तक में आगे करूँगा)। यह एक ऐसी स्थिति है जोकि भारतीय विचारों की विश्वस्तरीय श्रेष्ठता की उपेक्षा करती है। रोर्टी के अनुसार भारतीय दर्शन 'प्रसंग सापेक्ष' (आगे चर्चा करेंगे) है, जबकि 'ईसाई-वैज्ञानिक-तकनीकी विचारधारा' (अपने आप में एक शंकास्पद मिश्रण) वैश्विक है। रोर्टी का कथन है कि पश्चिमी दार्शनिक भारतीय दर्शन को गम्भीरता से नहीं ले सकते, क्योंकि 'ईसाई-वैज्ञानिक-तकनीकयुक्त पश्चिम' के पास आवश्यक रूप से वैसी योग्यता वाले व्यक्ति नहीं हैं, अर्थात 'ऐसे व्यक्ति जिन्हें उन सामाजिक व्यवस्थाओं का ज्ञान हो जिनमें इन दर्शन-ग्रन्थों की रचना की गयी थी...'।

ऐसे विचार केवल रोर्टी के ही हों ऐसा कतई नहीं है, पर सम्भवत: वह इस विषय में दूसरों से अधिक स्पष्टवादी है। इस नीचा दिखाने वाली स्पष्ट पश्चिमी प्रवृति ने

भारतीय सभ्यता को शिक्षण संस्थानों में 'दक्षिण एशियाई अध्ययन' (South Asian Studies) जैसे वर्गों में रखा है, जिसमें सामान्यत: उपेक्षित समूहों को रखा जाता है।[16]

ऐसा करते समय रोर्टी ये भूल जाते हैं कि बहुत से इन तथाकथित पश्चिमी विचारों का मूल स्रोत भारतीय है। उदाहरण के रूप में आधुनिक गणित के बहुत से अंश जिनका पश्चिमी विज्ञान में उपयोग होता है।[17] यह एक अच्छी तरह से समझी गई भारतीय विद्या है जिसे पश्चिम ने आत्मसात कर लिया है। भारतीय गणित की अनन्तता, अतिसूक्ष्मता तथा अंकों की अनन्त श्रृंखला जैसे सिद्धान्तों को यूरोप में एक सदी से भी अधिक समय तक प्रतिबन्धित रखा गया था, क्योंकि ये अप्रामाणिक और बाइबल के सीमित और नियन्त्रित विश्व के लिए ख़तरा थे। भारतीय सभ्यता के अवयवों को चुन-चुन कर पश्चिमी सभ्यता द्वारा हड़प लिए जाने के ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें जब किसी सभ्यता का पाचन पूरा हो जाता है तो एक के बाद एक आने वाले पश्चिमी बुद्धिजीवी इनके मूल भारतीय स्रोत को भुला देते हैं। जब रोर्टी को यह बताया गया तो उसने केवल इतना कहा कि जो आधार-बिन्दु सभी सभ्यताओं में समान हैं, वे इतने साधारण हैं कि उनके उल्लेख का कोई प्रयोजन नहीं है। जबकि सैद्धान्तिक रूप से रोर्टी यह स्वीकार करते हैं कि अन्य सभ्यताओं से वार्तालाप होना चाहिए, तब भी वह इस तरह के संवाद की उपयोगिता पर प्रश्न उठा देते हैं।[18]

रोर्टी की परेशानी यह है कि वे भारतीय अवयवों को पश्चिमी वैश्विकता में समाहित करने में असमर्थ हैं और वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि न मिट पाने वाला यह अन्तर ही उनकी इस व्याकुलता का कारण है। उनकी धारणा है कि पश्चिमी दर्शन तो वैश्विक है लेकिन भारतीय धार्मिक विचारधारा केवल कुछ विचित्र और असंगत व्यक्तियों तक ही सीमित है, जिस कारण वास्तव में उनसे वार्तालाप सम्भव नहीं है। भारतीय सभ्यता को समझ के बाहर घोषित करने की उनकी चाल यह है कि वे भारतीयों की भिन्नता के सन्दर्भ में संवाद को टाल दें। ऐसा लगता है मानो वे कह रहे हों—''मुझे तुम्हारी भाषा और लहजा अथवा दृष्टिकोण समझ नहीं आ रहा, इसलिए मैं तुम्हारी उपेक्षा ही करूँगा।''

रोर्टी उस श्रेणी के व्यक्तियों का स्पष्ट उदाहरण हैं जो भिन्नता पर चलने वाले विचार विनिमय को ही त्याग देते हैं। इस तरह की बहस में प्रभावशाली पक्ष का दूसरों के साथ बात करने से मना करने का अघोषित एकाधिकार हो जाता है। ऐसा कोई अधिकार उन लोगों को उपलब्ध नहीं है जिन्हें पश्चिमी वैश्विकता के दावे को स्वीकारने के लिए कहा जाता है। उन्हें पश्चिम द्वारा स्थापित बहस की शर्तों को स्वीकार करना ही होता है, अन्यथा उन्हें उपेक्षित किया जाता है।

भिन्नता से निपटने का एक इससे भी धूर्तता-पूर्ण तरीका प्रयोग में लाया जाता है। इसमें जो अधिक शक्तिशाली पक्ष है वह ऐसा आडम्बर करता है कि वह दूसरे पक्ष के तौर-तरीके व शैली को अपना रहा है, किन्तु इसका प्रयोजन केवल दूसरे को निहत्था करके झुकाना और अपनी इच्छानुसार चलाना होता है। जीत और दूसरे के धर्मांतरण

के लिए इस कूटनीति का उपयोग ईसाई मत के इतिहास में अनेक बार किया गया है। ज़्वेतन टोडोरोव (Tzvetan Todorov) अपनी पुस्तक द कोंकुएस्ट ऑफ अमेरिका (The Conquest of America) में विवरण देते हैं कि किस प्रकार अभियान पर भेजा गया हर्नान कोर्तेज़ (Hernan Cortes) मूल निवासियों की भिन्नता को नष्ट करने के लिए उन का अध्ययन करता था—

> योजना के अनुसार इस व्यवहार के दो चरण हैं। प्रथम, उनसे कोई समानुभूति और अस्थायी पहचान जता कर उनमें रुचि दिखाई जाती थी। कोर्तेज उन्हीं जैसा वेश अपना लेता था...इस प्रकार वह उनकी भाषा और राजनैतिक संरचना की सटीक सूझ-बूझ प्राप्त कर लेता था... किन्तु ऐसा करते समय वह कभी भी अपनी श्रेष्ठता के आभास को नहीं छोड़ता था; बल्कि दूसरों को समझने की उसकी क्षमता उसके इस विचार को और सुदृढ़ करती थी। इसके पश्चात दूसरा चरण आरम्भ होता था, जिसमें वह न केवल अपनी पहचान को दृढ़तापूर्वक रखता था (जो उसने कभी त्यागी ही नहीं थी) बल्कि मूल निवासियों को अपने अनुरूप आत्मसात भी कर लेता था।[19]

इस प्रकार के उदाहरणों में सतही रूप से तथ्यों का अन्तर हो सकता है, किन्तु सभी के मूल में भिन्नता-जनित व्यग्रता ही छिपी रहती है।

इस प्रक्रिया का एक थोड़ा-सा भिन्न किन्तु अधिक विकसित और आधुनिक रूप में प्रयोग रोमन कैथोलिक चर्च द्वारा 'इन्कल्चरेशन' (Inculturation) के नाम से किया जाता है। इस शब्द का सर्वप्रथम उपयोग तब किया गया था जब जेरूसलेम-रोम की सीमा के बाहर धर्मांतरण के अभियान को चित्रित किया गया था। एक जीवन शैली को दूसरी से बदलने का ख़तरा मोल लेने के बदले मिशनरियों ने चालाकी से स्थानीय लोगों की सांस्कृतिक पहचान और परम्पराओं को ज्यों का त्यों रहने दिया, किन्तु उनके इष्ट देवी देवताओं के स्थान पर यीशु को स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया और साथ ही यह दावा किया कि आध्यात्म सम्बन्धी विषयों में चर्च का अधिकार सर्वोपरि है। कैथोलिक परम्परा में ग़ैर-पश्चिमी स्थानों में ईसाई मत की स्थापना के लिए इन्कल्चरेशन को एक चाल के रूप में मान्यता प्राप्त है। इसके अन्तर्गत स्थानीय परम्पराओं को केवल ईसाइयत के प्रचार के लिए ही स्वीकृत किया जाता है, न कि उनकी भिन्नता के प्रति किसी सच्चे सम्मान के कारण। कैथोलिक चर्च इस प्रक्रिया का प्रयोग लैटिन अमरीका में मूल निवासियों का मत बदलने के लिए करती रही है और उसने इसका उपयोग अफ्रीका और भारत में भी सफलतापूर्वक किया है।[20] यह भिन्नता को 'सहन' करने का प्रकट रूप में एक ऐसा ढंग है जो बाद में धर्मांतरण के द्वारा इस भिन्नता को समूल नष्ट करने का मार्ग प्रशस्त कर देता है।

सदियों से चर्च के विशेषज्ञों और अधिकारियों ने उत्साही मिशनरियों द्वारा लैटिन अमरीका, अफ्रीका तथा एशिया में विशिष्ट इन्कल्चरेशन के सैंकड़ों प्रकरणों का

अध्ययन और उन पर बहस और निरीक्षण करके फैसला सुनाया है। इसके पश्चात उन्होंने यह निर्धारित किया कि इनमें से किन पर प्रतिबन्ध लगाया जाये और किन्हें चलने दिया जाये। ये निर्णय आधिकारिक रूप से लिए गये और समझने के लिए महत्वपूर्ण हैं कि किस प्रकार ईसाई सम्प्रदाय अपनी चाल में क्रमिक सुधार कर अथवा परिस्थिति के अनुसार अधिक से अधिक 'मार्किट शेयर' अथवा भागीदारी के लिए परस्पर प्रतिद्वंद्विता करते हैं।[21]

इन्कल्चरेशन की यह प्रणाली कई चरणों में कार्य करती है। प्रथम चरण में मिशनरी द्वारा मूल अथवा स्थानीय सभ्यता का सम्मान किया जाता है। स्थानीय परम्परा के कुछ चिह्नों का सम्मान करके उन्हें सतही रूप में अपनाया जाता है, जिससे उन्हें गर्व होने लगे कि उनकी सभ्यता का सम्मान हो रहा है। इसका तात्कालिक उद्देश्य होता है कि ईसाइयत पूर्णतया विदेशी न प्रतीत हो और वह मूल निवासियों को आकर्षक लगने लगे। इसका दीर्घकालिक परिणाम हालाँकि यह होता है कि धीरे-धीरे स्थानीय निवासियों को उनके मूल धर्म के मुख्य तत्वों से दूर कर दिया जाता है। उनकी परम्परागत पहचान धीरे-धीरे क्षीण हो जाती है, उन में निहित मूल्य ईसाइयत की छवि में परिवर्तित होने लगते हैं। जब नया सदस्य इस अस्पष्ट अथवा दोगले सम्प्रदाय में फँस जाता है तो वह चर्च पर निर्भर हो कर अपनी मूल परम्परा से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है। मुहावरे में कहा जाये तो 'घोंपा हुआ छुरा घुमा दिया जाता है'। यदि प्रकरण हिन्दू धर्म से सम्बद्ध हो तो हिन्दू पक्ष के महत्व को कम कर दिया जाता है और ईसाई पक्ष को प्रमुख बना दिया जाता है। यह अत्यन्त सावधानीपूर्वक किया जाता है और करने से पूर्व सुनिश्चित कर लिया जाता है कि हिन्दू धर्म से उनका सम्बन्ध पर्याप्त सीमा तक क्षीण हो चुका है और वे मिशनरियों पर आश्रित हो गये हैं। इस चरण में हिन्दू धर्म की खुले तौर पर आलोचना नहीं की जाती, बल्कि इसे जातिवाद, दहेज प्रथा, महिलाओं की दुर्दशा और 'पिछड़ेपन' के अन्य उदाहरणों के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया जाता है। अन्तिम चरण में हिन्दू धर्म की खुले तौर पर आलोचना की जाती है और व्यक्ति को एक दृढ़ ईसाई बना दिया जाता है। इस तरह का धोखा तभी प्रकाश में आता है जब इस रूपान्तरण के तरीकों के दीर्घकालीन तात्पर्यों का विश्लेषण किया जाता है।

टस्कन (Tuscan) से आये जेसुइट मिशनरी रॉबर्ट डि नोबिली — Robert de Nobili(1577-1656) को इन्कल्चरेशन का अग्रणी और महत्वपूर्ण उदाहरण माना जाता है जो 1608 में दक्षिण भारत में आया था। वह गर्व से लिखता है कि उसने अपने आप को एक साधु के रूप में प्रस्तुत किया, किन्तु जब उसे आभास हुआ कि इस स्वाँग से वह लोगों के घर पर उन्मुक्त हो कर नहीं जा सकता तो उसने लोगों का विश्वास अर्जित करने के लिए अपने आप को क्षत्रिय के रूप में अंगीकृत करा लिया। कई प्रकार के छद्म वेश धारण करने के उपरान्त उसने अपने लिए सबसे उचित समझ कर एक ब्राह्मण का स्वाँग धारण किया। इसके लिए उसने जनेऊ भी धारण किया

और इसके तीन धागों को वह ईसाइयत की त्रिमूर्ति (trinity)बताने लगा! उसने परिश्रम से संस्कृत और तमिल का अध्ययन किया, ब्राह्मण संन्यासी की भाँति परिशुद्ध एवं सरल जीवन शैली अपनाई और ईसाई शिक्षा (gospel) का उपदेश देने लगा। इसके लिए वह ईसाइयत से मिलते-जुलते हिन्दू शब्दों का उपयोग करता था। परिणामस्वरूप वह कई हिन्दुओं का धर्मांतरण करने में सफल रहा जिसमें कई उच्च वर्ण के शिक्षित व्यक्ति भी सम्मिलित थे। उसके इन प्रयासों को विशुद्ध ईसाइयत के विरुद्ध मान कर वैटिकन ने नोबिली के जीवनकाल में उसका समर्थन नहीं किया और उसके क्रियाकलापों पर अपनी पैनी दृष्टि रखी। किन्तु आज उसके कार्य को चर्च के द्वारा इन्कल्चरेशन के आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, जबकि उसमें स्पष्ट रूप से कपट सम्मिलित था।[22]

हिन्दुओं के मन में सरलता से घर करने के लिए उसने ब्राह्मणों की भाँति सिर मुंडा कर चोटी रख ली, चर्म के जूते त्याग कर खड़ाऊँ धारण कर लिए, शाकाहारी बन गया और लोटे का उपयोग करने लगा। जब वह 'रोमन ब्राह्मण' के रूप में प्रसिद्ध हो गया तो उसने अपनी एक झूठी वंशावली भी बेहिचक बना डाली, जिसके अनुसार उसने स्वयं को सीधे ब्रह्मा का वंशज कहना आरम्भ कर दिया! यहाँ तक कि उसने एक आधिकारिक पाँचवाँ वेद भी बना डाला जिसमें उसके अनुसार ईसाइयत के सत्य थे। इस प्रकार हिन्दू धर्म के ईसाईकरण को उसने उपनिवेशकों की तथाकथित बेहतर सभ्यता से जोड़ कर यह जताने का प्रयास किया कि मानो वे अपनी स्थानीय परम्पराओं का एक संशोधित या बेहतर रूप अपना रहे हों। आज दक्षिण भारत में, विशेषत: तमिलनाडू और आन्ध्रप्रदेश में, कैथोलिक जो हिन्दू नामों एवं शब्दावली का प्रयोग कर रहे हैं, उसका श्रेय रॉबर्ट डि नोबिली को ही जाता है। उसने चर्च को कोविल (मन्दिर), कम्युनियन (communion) को प्रसादम, कैथोलिक फ़ादरों को अईय्यर (शैव ब्राह्मण), बाइबल को वेदम् (वेद), मास (Mass) को पूजा का नाम दे दिया। यीशु के बारह प्रमुख शिष्यों (एपोस्ट्लों) का अनुकरण करते हुए उसने कहना प्रारम्भ कर दिया कि उसने बारह प्रमुख ब्राह्मणों को अपना शिष्य बना लिया है। अन्तत: केवल एक ही बाधा रह गयी थी, वह थी उसका गोरा रंग।[23]

समय के साथ-साथ कैथोलिक चर्च ने अपनी इन्कल्चरेशन की विधा को बढ़ा कर न केवल ग़ैर-ईसाई सभ्यता के चिह्नों को समायोजित करना आरम्भ कर दिया, बल्कि उनके धार्मिक विचारों का भी समायोजन होने लगा। दृष्टान्त के रूप में 1939 में कई समय से चली आ रही पूर्वजों को पूजने की चीनी-ईसाई परम्परा से निषेधाज्ञा हटाते हुए पोप पाइय्स (Pope Pius) XII ने घोषित किया कि यह अन्धविश्वास नहीं है, अपितु अपने पूर्वजों के स्मरण का एक सम्मानजनक ढंग है। इस प्रकार का इन्कल्चरेशन अन्य आस्थाओं को सम्मान देने का छल करती है, जबकि यह उन्हें धर्मांतरण के लिए तैयार करने की भूमिका मात्र होती है।

द्वितीय वैटिकन सभा (1962-65) में अपनी इन्कल्चरेशन की नीति को संशोधित करते हुए भारतीय ईसाइयों को प्रोत्साहित किया गया कि वे स्थानीय आस्थाओं और विश्वास के प्रति निष्ठा का ढोंग करें और 'छिपे हुए यीशु' की घोषणा ऐसे समय करें जब मूर्तिपूजक ('हीथन') धर्मांतरण के लिए तत्पर दिखें। यहाँ तक कि इस इन्कल्चरेशन की विधि के फलस्वरूप हिन्दू मन्दिर जैसी दिखने वाली चर्चों का निर्माण किया गया और उनमें हिन्दू चिह्नों और वस्तुओं का उपयोग किया गया। ईसाई पादरी भारतीय साधुओं के वेश में घूमते दिखाई पड़ते थे।

जब साठ और सत्तर के दशकों में पश्चिमी देशों में भारतीय धर्म का प्रभाव व्याप्त होने लगा तो कुछ कट्टरपन्थी अमरीकियों का मत था (जो आज भी है) कि योग और ध्यान ईसाई मत के विरुद्ध हैं, किन्तु कुछ ईसाइयों की प्रतिक्रिया अधिक अवसरवादी थी। इनका उद्देश्य था कि स्थानीय अमरीकी 'मार्केट' के लिए उन तत्वों को अपने में समाहित करके हड़प लिया जाये जो ईसाइयत की उदारवादी छवि को बढ़ावा दे सकें, जिसका वास्तविक अर्थ था कि भारतीय आध्यात्म को बाइबल से उपजे सम्प्रदायों के मानचित्र में दर्शा दिया जाये। यह मूर्तिपूजकों को पालतू बनाने की विधि है ताकि वे एक ख़तरा न बन जायें। रोमन कैथोलिक चर्च द्वारा 2008 में प्रकाशित 'इंडियन बाइबल' में कम-से-कम सौ उक्तियाँ वेदों, योग सूत्रों और उपनिषदों में से ली गयी हैं।[24] कष्ट भोगते हुए यीशु को न दिखाते हुए इस भारतीय यीशु को कृष्ण भगवान की त्रिभंगी मुद्रा में मुरली बजाते हुए दर्शाया गया है। उस के मुख पर वेदना नहीं है अपितु वह आनन्द और उल्लास है जो श्री कृष्ण, चैतन्य महाप्रभु अथवा नटराज के मुख पर देखा जाता है। यीशु के चारों ओर वे वाद्य यन्त्र हैं जिनका प्रयोग भजनों में किया जाता है और उसके पैरों के समीप तबला और मजीरा पड़े हैं। सामने के पृष्ठ पर लिखा है 'वह आनन्द से झूम रहा है'। इस प्रकार का निरूपण भारतीय ईसाइयों में अपनायी हुई सभ्यता के प्रति गर्व की भावना उत्पन्न करता है। व्यवहारिक स्तर पर देखें तो यह उन्हें अपने हिन्दू मित्रों, प्रियजनों और पड़ोसियों के साथ सम्बन्धों को एक निरन्तरता भी प्रदान करता है।

इस ईसाई इन्कल्चरेशन की भारत में एक प्रमुख समस्या यह है कि यह हिन्दू धर्म से उन गुणों को विलग करना चाहती है जिसे यह अपने लिए एक बाधा समझती है। परिणामतः हमारी पहचान को धर्मनिरपेक्ष (सेक्युलर) बनाना चाहती है। यह दृष्टिकोण इस तथ्य को नहीं समझता कि हिन्दू धर्म में ऐसे बहुत से प्रचलन, प्रथाएँ, आकृतियाँ, चिह्न, अनुष्ठान और अभिवृत्तियाँ हैं जिन्हें उनके मूल आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रकाश में ही समझा जा सकता है। इस विलगावकारी प्रवृत्ति का एक अत्यन्त पीड़ा-कारक उदाहरण भरतनाट्यम को उसकी मूल हिन्दू पहचान से विलग करने के लिए किये जा रहे व्यवस्थित प्रयासों में देखा जा सकता है। इसके पीछे मंशा है कि भरतनाट्यम के अति विकसित संकेतात्मक सौंदर्य शास्त्र को ईसाई धर्मांतरण के लिए प्रयुक्त किया जा सके।[25]

भिन्नता-जनित व्यग्रता : 'हीनता' से

ऐसा नहीं है कि सामाजिक अथवा राजनैतिक व्यवहार में भिन्नता के प्रति यह व्यग्रता केवल प्रभावी पक्ष में ही पायी जाती हो। कम शक्तिशाली समूह के सदस्य जिन्हें जाने अनजाने ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी सामाजिक छवि इसलिए हीन है कि वे अपेक्षाकृत कम प्रभावशाली सभ्यता के सदस्य हैं। वे अपने आप को कम अनोखा, कम हीन दिखाने का या 'प्रभावी पक्ष के मापदण्डों के अनुरूप' दिखने का हर सम्भव प्रयास करते हैं। इसके लिए वे अपनी भिन्नता के सभी सूचकों को मिटाने का प्रयास करते हैं।

इस प्रकार के कुछ व्यवहार लगभग सभी समाजों में समान हैं और भारत में तो यह व्यग्रता व्यापक रूप से दिखती है। उदाहरण के लिए कार्यालयों में निम्न स्तर के कर्मचारी अपने से ऊपर वालों की व्यवहार शैली और पहनावे का अनुकरण करने का प्रयास करते हैं, परन्तु यह आचरण कभी उल्टी ओर नहीं होता। गाँव से नगर में प्रवास कर रहा घरेलू नौकर स्वयं को मध्यम वर्ग की भाषा, व्यवहार और बातचीत से भिन्न देख कर व्यग्रता से ग्रसित हो जाता है और अपने मालिक का अनुकरण करने लगता है। नगर से गाँव जाने पर मालिक की स्थिति ऐसी नहीं होती है। जब भारतीय उच्च वर्ग अवकाश के लिए गाँव में जाता है तो वह अपनी पहचान और श्रेष्ठता की छवि में सुरक्षित होता है और केवल एक अल्पकालिक अनुभव के लिए जाता है। उन्हें देहाती बनने की कोई व्यग्रता नहीं सताती।

सम्प्रदाय सम्बन्धी भिन्नता से उपजी व्यग्रता का प्रभाव अन्य मतभेदों में भी देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, जिनका ईसाई मतान्तरण हो चुका होता है या जो इसके लिए सरल शिकार हैं, वे पाश्चात्य सभ्यता की शैली के प्रति अधिक आसक्त हो जाते हैं। परिणामत: कई भारतीय इसमें गर्व अनुभव करते हैं कि वे पश्चिमी परिवेश में सहजता से समा जाते हैं। वे गोरे समाज में ऊपर उठने के लिए उसकी नकल कर के अपनी भिन्नता को मिटा देते हैं। अमरीका में लुइज़िआना (Louisiana)प्रान्त के राज्यपाल बॉबी जिन्दल (वास्तविक हिन्दू नाम पीयूष जिन्दल) और दक्षिण कैरोलीना (South Carolina) की निकी हेली - Nikki Haley (वास्तविक सिख नाम निम्रता रंधावा) उन प्रमुख भारतीय अमरीकियों के उदाहरण हैं जो ईसाई बन गये हैं। इससे उन्होंने मुख्य धारा के गोरे समाज (और मतदाताओं) से अपनी भिन्नता को कम कर लिया है, जिसका उन्हें वांछित लाभ मिला है। इससे एक सन्देश जाता है कि यदि अमरीकी राजनीति में आगे बढ़ना है तो यही एक रास्ता है। अमरीका में बहुत से भारतीयों ने अपनी भिन्नता को क्षीण कर दिया है, ताकि वे पश्चिमी समाज में कम अनोखे लगें। यह प्रभुत्व-सम्पन्न वर्ग से समानता दर्शाने की इच्छा, गहरे और सतही दोनों स्तरों पर काम करती है—भाषा, बोलचाल और अपनी विशिष्टता प्रस्तुत करने में, विशेष रूप से व्यापार जगत में इस अन्तर को मिटाने का प्रयास और राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक क्षेत्र में पाश्चात्य शैली में सोचने, लिखने, और बोलते समय

स्पष्ट देखा जाता है। इस श्रेणी के व्यक्तियों को इस पुस्तक में की गयी समीक्षा परेशान कर सकती है, क्योंकि यह कदाचित उनकी भिन्नता-जनित व्यग्रता अथवा सामाजिक हीन भावना को उजागर करेगी।[26]

भारत भर में खुल रहे 'मॉडलिंग स्कूल' इसी व्यग्रता का एक उदाहरण हैं, जो छोटे नगरों की लड़कियों को बिना भारतीय उच्चारण के अंग्रेज़ी बोलने तथा वेशभूषा और अन्य क्रिया कलापों में कम भारतीय लगने का प्रशिक्षण दे रहे हैं। इस प्रशिक्षण के विज्ञापनों का आशय होता है कि इससे उनके विवाह और आजीविका सम्बन्धी अवसरों में वृद्धि होगी। भारतीय समाचार-पत्रों के विवाह सम्बन्धी विज्ञापनों के विवरण में अक्सर 'गोरा रंग' अथवा 'गेहुआ' रंग पढ़ने को मिलता है। 'ब्यूटी क्रीम' गोरेपन के दावे पर बेची जाती हैं। भारतीय 'कॉल सेंटर' अपने कर्मचारियों को पश्चिमी नाम रखने और भारतीय लहजे, नाम और पहचान छिपाने का विशेष प्रशिक्षण देते हैं। कुछ को तो अमरीकी रुचि को ग्रहण करने के निर्देश भी दिये जाते हैं, जैसे उन्हें सिखलाया जाता है कि वो स्वयं को 'डैलास' (Dallas) की फुटबॉल टीम का 'फैन' बतलायें।

अधिकतर लोग इससे सहमत होंगे कि व्यवहार से न सही तो अपनी सोच से विभिन्न सभ्यताओं के बीच सौंदर्य-विषयक तनाव किसी आन्तरिक या पूर्ण श्रेष्ठता पर आधारित नहीं होता है, बल्कि इसका निर्णय तत्कालीन समाज में व्याप्त शक्ति के सन्तुलन द्वारा निर्धारित होता है। अजन्ता की गुफाओं के भित्ति चित्रों में श्वेत वर्णीय और श्याम वर्णीय लोगों को एक साथ दर्शाया गया है और उनमें कोई वरीयता अथवा श्रेष्ठता/न्यूनता का आभास नहीं होता। इनमें निहित सन्देश है कि सौंदर्य के कोई निर्णायक मापदण्ड नहीं हैं। इसी प्रकार यूरोप के मध्ययुगीन चित्रों में भरे और कान्तिहीन शरीर वाली महिलाओं को चित्रित किया गया है। वे आज के प्रचलन के अनुरूप छरहरे शरीर (जिन्हें सफलता का द्योतक माना जाता है) की महिलाओं जितनी आकर्षक नहीं लगतीं।

पश्चिमी समाज में एक भारतीय अपने हाथों से भोजन करते हुए व्यग्रता का अनुभव कर सकता है, किन्तु कोई पश्चिमी व्यक्ति भारतीय परिवेश में छुरी काँटे का प्रयोग करते हुए उतनी व्यग्रता का अनुभव नहीं करेगा। इसी प्रकार गले में टाई लगाने का उचित ढंग क्या है अथवा किस प्रकार महँगे भोजनालय में वेटर को खाने का 'आर्डर' देना है, यह सब बातें पश्चिमी परिदृश्य से अपरिचित एक भारतीय को व्यग्र कर सकती हैं, किन्तु आत्मविश्वास से भरा पश्चिमी व्यक्ति भारतीय परम्परागत परिदृश्य में अपेक्षाकृत कम व्यग्रता का अनुभव करेगा। किसी पश्चिमी व्यक्ति का भारतीयों के बीच भिन्न होना किसी असहजता को जन्म नहीं देता (यह भी सम्भव है कि उसकी भिन्नता उसे कुछ विशेषाधिकार प्रदान कर दे), किन्तु यदि कोई भारतीय किसी पश्चिमी परिदृश्य में भिन्न दिखता है या व्यवहार करता है तो यह उसके लिए गहन व्यग्रता का कारण हो सकता है। स्थिति को सहज या अनौपचारिक बनाने की पहल यदि कोई

पाश्चिमी व्यक्ति करेगा तो भारतीय उसका अनुकरण तो कर लेंगे किन्तु कभी पहल नहीं करेंगे।

हीनता से उठने वाली व्यग्रता का एक उदाहरण हमें हिन्दू धर्म गुरुओं में देखने को मिलता है जो प्राय: नकल करके अपनी परम्परागत शैली को क्षीण करते हुए 'वैश्विक' हो गये हैं जिससे वे व्यापक रूप में आकर्षक बन जायें। वे यह कहने लगे हैं कि सभी मत एक से हैं, जबकि कहना यह चाहिए की सभी मत समकक्ष तो हैं किन्तु भिन्न हैं। विशेष रूप से इस यहूदी-ईसाइयत की कार्य-प्रणाली का अनुकरण करने की प्रवृत्ति का जन्म तब हुआ था जब हम परतन्त्र थे। उस समय यूरोपीय भावनाओं को ध्यान में रखते हुए हिन्दू नेताओं ने अपनी परम्पराओं को विकृत और परिवर्तित कर ईसाई-यहूदी परम्परा का अनुसरण करना आरम्भ कर दिया था। इस पर आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।

वे श्वेत अमरीकी जो अपने आप को हिन्दू कहते हैं, उन्हें भिन्नता से जन्मी दोहरी व्यग्रता का सामना करना पड़ता है। दुर्भाग्य से भारतीय हिन्दू उन्हें अनोखा समझते हैं, जबकि इनमें से अधिकाँश अपने प्रयासों में गम्भीर होते हैं और हिन्दू धर्म को बड़े स्तर पर समझाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। इन्हें इनके अपने साथी भी विचित्र समझते हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि वे 'देसी' बन गये हैं। इस प्रकार वे अपने जैसों से घिरे हुए आश्रम से बाहर निकलते ही भिन्नता की व्यग्रता का अनुभव करने लगते हैं। इन व्यग्रताओं का परिणाम होता है कि उन्हें लगने लगता है कि अपनी यहूदी-ईसाई पहचान में लौट जाना चाहिए। ऐसा होने पर न केवल उनका अपने अनुभवों के लिए हिन्दू स्रोतों के प्रति आभार अस्पष्ट हो जाता है, बल्कि यह अनुभव या तो नकारा जाता है या फिर धूमिल हो जाता है।

हम देखते हैं कि बहुत से विदेशी भारतीय परिधान पहनते हैं और भारतीय भोजन का आनन्द भी लेते हैं, किन्तु ऐसा करने में उनकी अपनी सभ्यता की पहचान के प्रति हीन भावना नहीं होती और न ही वे इससे अपनी सामाजिक स्थिति को उठाने का प्रयास कर रहे होते हैं। जब अमरीकी युवाओं ने मोहॉक स्टाइल (दोनों ओर के बाल काट कर मध्य के बालों को खड़ा करना) अपनाया था तो वह केवल एक 'फैशन' था। वह मोहॉक सभ्यता की किसी हीन भावना का समाधान करने से प्रेरित नहीं था। और न ही उसका उद्देश्य किसी मोहॉक को प्रभावित करके नौकरी, वीजा या आर्थिक सहायता प्राप्त करना था। अमरीकी खेलों की टीम जब अपना नाम किसी मूल अमरीकी सभ्यता के नाम से रखती है (जैसे वाशिंगटन रेडस्किन अथवा क्लीवलैंड इंडियन) तो इसमें उस सभ्यता के प्रति कोई प्रेम अथवा सम्मान नहीं होता बल्कि उन्हें एक आभूषण या अलंकार के रूप में प्रयोग किया जा रहा होता है।

इसे ठीक से समझने के लिए हम एक परिदृश्य की कल्पना करते हैं जिसमें चीन एक आर्थिक और सामाजिक महाशक्ति बन चुका है। अब कल्पना करें कि पश्चिमी सभ्यता के लोग भिन्नता की व्यग्रता के चलते न केवल चीनी भाषा सीखने लगते हैं,

बल्कि अंग्रेज़ी में बात करते पाये जाने पर लज्जित अनुभव कर रहे हैं। इतना ही नहीं वे अपने आचार-व्यवहार में भी चीनियों का अनुकरण करने लगते हैं, बल्कि 'उन जैसा' दिखने के लिए प्लास्टिक सर्जरी भी करवाने लग जाते हैं।

हड़पना और आत्मसात करना

इस भिन्नताजनित व्यग्रता से निपटने की एक और प्रक्रिया है जो प्रत्यक्ष नहीं दिखती, इसलिए यह विशेष रूप से भयंकर है। इस प्रक्रिया के बहुत से पक्ष ऊपर दी गयी चालों से मिलते हैं और यह प्रक्रिया एक प्रकार से उन्हीं का परिणाम है। कम प्रभावी सभ्यता को आत्मसात करने, उससे भिन्नता को कम करने और 'एक समान' होने का दावा करने को हड़पने की संज्ञा दी गयी है। लोकप्रियता के सन्दर्भ में भारतीय और पश्चिमी सभ्यता एक ही स्तर पर हो सकती हैं, किन्तु आन्तरिक स्तर पर जहाँ आधारभूत धारणाओं का प्रश्न आता है, ये स्तर एक समान नहीं है। धार्मिक संस्कृति के पश्चिम द्वारा अपहरण से समानता का एक भ्रम उत्पन्न होता है। कम प्रभावशाली संस्कृति को अधिक प्रभावशाली सभ्यता द्वारा इस प्रकार आत्मसात किया जाता है कि—

1. प्रभावी सभ्यता दूसरी सभ्यता के टुकड़े करके उन भागों को चुन लेती है जिसे वह अपने लिए उपयुक्त समझती है;
2. इन अपहृत अवयवों को प्रभावी सभ्यता अपने इतिहास और दृष्टिकोण का भाग दिखाने के लिए अपनी भाषा और सामाजिक संस्थानों में चित्रित कर लेती है और उनके परम्परागत स्रोतों को नष्ट कर देती है;
3. जिस संस्कृति से उनका दोहन कर लिया गया है उस संस्कृति की सांस्कृतिक और सामाजिक पूँजी क्षीण हो जाती है, क्योंकि अब उन अवयवों को प्रभावी सभ्यता के इतिहास के रूप में स्थापित कर दिया गया होता है और यह दर्शाया जाता है कि या तो वे अवयव उस मूल संस्कृति के हैं ही नहीं या मूल संस्कृति के विरोधाभासी हैं;
4. क्षीण संस्कृति किसी मृत सभ्यता के रूप में संग्रहालयों की शोभा के लिए बच जाती है जो अब प्रभावी सभ्यता के लिए कोई चुनौती प्रस्तुत नहीं करती।

इस प्रकार हड़प लिये जाने के पश्चात इस सभ्यता का जो सत्वहीन भाग बच जाता है उसे नष्ट कर दिया जाता है। उसकी भिन्नता को नष्ट किया जाना ही किसी सभ्यता को एक बलहीन शिकार बनाता है ताकि उसे शिकारी सभ्यता की आनुवांशिकी में चित्रित किया जा सके।[27] इसके पश्चात प्रभावी सभ्यता अपनी सुन्दरता, भाषा, दर्शन, दृष्टिकोण और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को वैश्विक दृष्टिकोण के रूप में प्रस्तुत कर देती

है। इसके साथ ही कम प्रभावी सभ्यता की भाषा, इतिहास, चिह्न और आकृतियाँ निश्चित विकृतियों के साथ प्रभावी सभ्यता का अंश बन जाती हैं।

इस प्रवृत्ति को उचित ठहराने के लिए एक कुतर्क दिया जाता है कि इस आत्मसात करने की प्रक्रिया में प्रभावी सभ्यता (प्रस्तुत प्रकरण में पश्चिमी) में भी तो परिवर्तन होता है।[28] इसके अन्तर्गत, शिकारी सभ्यता के समृद्ध होने और शिकार सभ्यता के क्षीण होने को कई इतिहासकार विश्व सभ्यता के विकास की उपाधि देते हैं। इसमें पश्चिम को सभ्यता का केन्द्र-बिन्दु और मूल शक्ति के रूप में स्थापित किया जाता है।[29] अन्य सभ्यताओं को या तो पश्चिम के स्रोत के रूप में प्रासंगिक माना जाता है ('हमारे इतिहास' का भाग), या विश्व रंगमंच पर ('हम ने सभ्य बनाया' का भाग) अथवा पश्चिम के लिए एक चुनौती के रूप में ('हमारे मोर्चे' का भाग)। जिन सभ्यताओं को हड़प लिया जाता है, उनकी पहचान और उनके हितों से फिर कोई सरोकार नहीं रह जाता है।[30]

इस कुतर्क में छिपे नस्लभेद की प्रवृति के अतिरिक्त मनुष्य जाति की विविधता के लिए भी यह प्रवृति एक विपत्ति है। पश्चिम ने जिन अन्य सभ्यताओं के फल खाये हैं उनकी जड़ों को भी नष्ट कर दिया है, जिससे उन सभ्यताओं में जो प्रचुर फल प्रदान करने की सामर्थ्य थी वह भी समाप्त हो गयी। जिन अवयवों को पचा लिया जाता है वे प्राय: नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि पचाई हुई सभ्यता के अवशेष अस्थिपंजर कोई सकारात्मक सृजन करने और योगदान देने में असमर्थ हो जाते हैं। आज हमारे विश्व में ग़ैर-पश्चिमी सभ्यताओं द्वारा धरोहर के रूप में दिया गया बहुत कुछ है (हालाँकि आज उसे पश्चिमी सभ्यता के इतिहास और विकास के अंग के रूप में दर्शाया जा रहा है) लेकिन यदि वे सभ्यताएँ, जिन्हें पचा लिया गया है, आज जीवित होतीं तो विश्व कहीं अधिक सम्पन्न होता।

हमने देखा है कि जिस प्रकार एक माँसाहारी अपने शिकार को पचा जाता है, उसी प्रकार प्रभावी पक्ष अपनी भिन्नता-जनित व्यग्रता को मिटाने के लिए अन्य सभ्यताओं को पचा जाता है। नीचे दिया रेखाचित्र इस प्रक्रिया के विभिन्न पक्षों को दर्शाता है। हड़पने की यह प्रक्रिया भोजन करने के समान है। जो उपयोगी सामग्री है उसे खाने वाले द्वारा पचा लिया जाता है और जो उसकी संरचना के योग्य नहीं होती उसे मल के रूप में त्याग दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि भोजन की भाँति मूल स्रोत सदा के लिए नष्ट हो जाता है और ग्रहण करने वाला (पश्चिम) पहले से अधिक शक्तिशाली हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप सांस्कृतिक विविधता कम हो जाती है, क्योंकि मूल सांस्कृतिक स्रोत के नष्ट होने से समरूपता आ जाती है।

भिन्नता से उत्पन्न व्यग्रता
पाचन
आवश्यक तत्वों को आत्मसात करना
अनावश्यक तत्वों को अस्वीकार करना
सांस्कृतिक विकार का विध्वंस
अपनी संस्कृति को मजबूत करना
समरसता
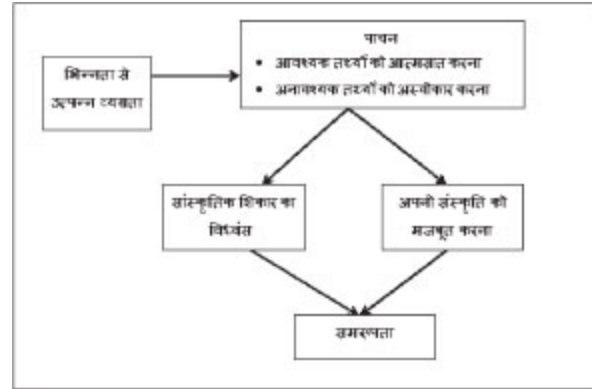
धर्म और समानता/समरूपता

बहुत से भारतीयों के मन में यह भावना घर कर गई है कि भिन्नता के कारण हिंसा होती है और इसलिए पश्चिम से अपनी भिन्नता के प्रति उनमें ग्लानि का भाव रहता है। वे साम्प्रदायिक हिंसा के विरोध में 'समानता' या 'एकरूपता' के पक्षधर बन जाते हैं और अपनी पहचान को क्षीण करने का प्रयास करने लगते हैं। भारतीय उच्च वर्ग पश्चिम द्वारा परोसे गये उस हिन्दू धर्म में सहजता अनुभव करते हैं जिसे समानता के ढाँचे में प्रस्तुत किया जाता है (जैसा उपनिवेशवाद के काल में होता था)।

दार्शनिक और आध्यात्मिक स्तर पर ऐसी बहुत-सी धार्मिक परम्पराएँ हैं जो ऊपर से देखने में समानता की अवधारणा का समर्थन करती हैं।[31] उदाहरण के लिए वेदान्त की अवधारणा 'एकम् सत्' ने इस धारणा की ओर आकृष्ट होने वालों को कुछ भ्रमित कर दिया है। 'एकत्ववाद' का बखान इस प्रकार किया जाता है मानो यह सभी प्रकार की भिन्नता को नकार रहा हो, जबकि वेदान्त दर्शन के अनुसार 'एक' और उस 'एक के अनेक रूप' इस ब्रह्माण्ड को अनन्त विविधता प्रदान करते हैं। निस्सन्देह अन्तिम अथवा परम सत्य तो एक ही है, किन्तु उसका एक आन्तरिक ढाँचा है जिसके अनुसार ही सापेक्ष्य यथार्थ को समझा जा सकता है। यह सापेक्ष्य यथार्थ अलग से विद्यमान नहीं है और इसका अपना अस्तित्व उस परम एक पर निर्भर करता है। किन्तु यह कह कर कि 'इसका कोई अस्तित्व ही नहीं है' इस यथार्थ को नकारा नहीं जा सकता। धर्म और कर्म (और उनके फल) का अस्तित्व और उन की अभिव्यक्ति इसी सापेक्ष्य यथार्थ में होती है। यह सापेक्ष्य यथार्थ केवल एक दृष्टिभ्रम नहीं है। दोनों स्तरों की वास्तविकता का अपना महत्व है और व्यक्ति अपने जीवन के नैतिक और राजनैतिक निर्णय इसी सापेक्ष्य सत्य के अनुसार लेता है।

यह कहना कि जगत तो मिथ्या है और इसकी कोई परम सत्ता नहीं है, इसलिए इसमें जो घटित होता है उसका कोई महत्व नहीं है वेदान्त दर्शन की त्रुटिपूर्ण व्याख्या है। भारतीय धर्म की कोई शाखा इस सापेक्ष्य संसार से पलायन की बात नहीं करती, बल्कि सभी शाखाएँ फल की इच्छा के बिना नैतिक कर्म करने की प्रेरणा देती हैं। धर्म के सबसे पवित्र ग्रन्थों में से एक भगवद्गीता में श्री कृष्ण अर्जुन को यही सीख देते हैं कि इस सापेक्ष्य संसार में अपने दायित्व के निर्वाह से भागना नहीं चाहिए। यदि सापेक्ष्य संसार में भिन्नता या अन्तर कोई महत्व न रखता तो किसी नैतिकता की आवश्यकता ही न होती, क्योंकि धर्म और अधर्म (नैतिक और अनैतिक व्यवहार) को उदासीन भाव से देखा जाता। इस सापेक्ष्य संसार में विभिन्न प्रकार के आचार-व्यवहार का आँकलन उनकी श्रेष्ठता के आधार पर होता है, उन्हें निश्चित ही समान

नहीं माना जाता। इसलिए समानता का यह बचकाना सिद्धान्त धर्म की शिक्षाओं के विरुद्ध है जो सत् और असत्, दैविक और आसुरी को स्पष्ट रूप से भिन्न बताता है।

धर्म की इस त्रुटिपूर्ण अवधारणा की आड़ वे हिन्दू लेते हैं जो भिन्नता-जनित व्यग्रता से ग्रसित होते हैं या जिन्हें धर्म का ज्ञान नहीं है। इस का प्रयोग वे भी करते हैं जो राजनैतिक औपचारिकता निभा रहे होते हैं अथवा 'कट्टर हिन्दूवाद' के ठप्पे से डरते हैं। ऐसे हिन्दू सोचते हैं कि भिन्नता वास्तविक नहीं है और यह कोई गम्भीर समस्या भी नहीं है, इसलिए इसकी उपेक्षा की जा सकती है। वस्तुत: ऐसी निष्क्रियता का परिणाम होता है उनके धर्म का क्षीण होना, विकृत होना और अन्तत: पचा लिया जाना।

जो भारतीय वेदान्त दर्शन को नहीं समझते वे ईसाइयों के मिशन, इन्कल्चरेशन और सहनशीलता को हिन्दू धर्म के प्रति सम्मान समझ कर उसे सच मान लेने की भूल करते हैं। जब कोई ईसाई हिन्दू का वेश धर कर हिन्दुओं के समीप आता है तो हिन्दू इसे समानता की सच्ची अभिस्वीकृति मान कर उससे उन्मुक्त व्यवहार करते हैं और अपने साथ सदियों से हुए छल से दण्डित होने के बावजूद असावधान हो जाते हैं। हिन्दुओं का इस प्रकार झाँसे में आ जाना और मान लेना कि कोई प्रतिद्वंद्विता की भावना नहीं है, सबसे बड़ा ख़तरा है।

किसी ईसाई प्रचारक का हिन्दू वेश परिधान, संस्कृत के शब्दों का उपयोग, हिन्दू आचार व्यवहार और चिह्नों का उपयोग देख कर हिन्दू यह मान बैठते हैं कि वह ईसाई भी श्री कृष्ण, शिव और देवी को उस सर्वशक्तिमान के रूप में स्वीकार कर रहा है। हिन्दू अपनी सरलता में यह समझ बैठते हैं कि वह ईसाई बाइबल की प्रार्थना की ही भान्ति हिन्दू पूजा को भी मान्यता देता है, मूर्तियों को पवित्र मानता है और गुरुओं को केवल 'बुद्धिमान शिक्षक' नहीं बल्कि सिद्ध पुरुष मानता है। किन्तु कटु सत्य तो यह है कि अधिकतम ईसाई सम्प्रदाय तो यहूदी और इस्लाम सम्प्रदाय को भी वैध मानने की अनुमति नहीं देते, हिन्दू अथवा बौद्ध धर्म तो दूर की बात है।

दूसरी बातों के अतिरिक्त, हिन्दू धर्म के साथ समानता का अनुमोदन करना ईसाई मत की आधारभूत निषेधाज्ञाओं का उल्लंघन होगा, जिनमें मूर्तिपूजा और 'झूठे देवता' (false Gods) की पूजा का निषेध है। ये वे निषेधाज्ञायें हैं जो ख़ासकर प्रमुख ईसाई सम्प्रदायों में सदस्यता पाने के लिए अनिवार्य हैं। इसलिए समानता का अनुमोदन करने का उनका तात्पर्य होगा कई मौलिक प्रकार के अन्य संशोधन करना, जिसमें सम्मिलित होगा धर्मांतरण और उसके लिए प्रचार तथा जिसे मैंने 'इतिहास-केन्द्रिकरण' का नाम दिया है (अध्याय 2 में वर्णित)। ऐसा अनुमोदन चर्च के आधारभूत आदेशों को दुर्बल कर देगा, जैसे कि यीशु को 'गॉड' का एकमात्र बेटा मानना, आदम और हव्वा के 'प्रथम पाप' (Original Sin), 'जिसने सम्पूर्ण मानव जाति को अनन्त नरक में दण्डित किया है' में विश्वास करना, पूरे विश्व को ईसाई बनाने का ध्येय और सभी अन्य धर्मों की प्रतिमाओं को वीभत्स बताना।

ईसाई प्रचारक इन्कल्चरेशन का ढोंग समानता दिखाने के लिए करते हैं, जबकि उनका विश्वास है कि भारतीय धार्मिक परम्पराएँ अवैध हैं। यदि वे सच में सभ्यताओं की समानता में विश्वास करते तो उन्हें धर्मांतरण की आवश्यकता ही नहीं होती, क्योंकि इसका अर्थ होगा कि हिन्दू, बौद्ध और जैन अब मूर्तिपूजक होने के नाते निन्दनीय नहीं हैं। किन्तु ऐसा करने से ईसाइयत की राजनैतिक शक्ति क्षीण हो जायेगी और संगठित ईसाइयत का अस्तित्व ही ख़तरे में पड़ जायेगा। यह ईसाइयों के लिए भारत की धार्मिक परम्परा को अपनाने के मार्ग को अधिकृत रूप से खोल देगा क्योंकि आज ईसाइयत में जितने भी मूल्यवान आध्यात्मिक पद्धतियाँ और आत्मिक सिद्धान्त हैं, उन सब के समतुल्य तत्व भारतीय धार्मिक सभ्यताओं में उपस्थित हैं। इससे चर्च का यह दावा कि उसे ईसाइयत के अलौकिक इतिहास पर एकाधिकार है और विश्व में सभी के ईसाइकरण का दायित्व प्राप्त है जिसके उपरान्त यीशु पुन: पृथ्वी पर आयेगा, का आधार समाप्त हो जायेगा।

हिन्दू अस्पष्ट समानता का दावा कि 'सभी धर्म बराबर हैं, ऐसी ख़तरनाक दिशा का मार्ग खोलती है जिसमें भारतीय धार्मिक परम्पराओं का क्षीण होना और उनका पचाया जाना अवश्यम्भावी हो जाता है और इसके परिणामस्वरूप हो सकता है कि संगठित ईसाई सम्प्रदायों के बढ़ते हुए पेट में उन्हें पचा लिया जाये। इसका एक उदाहरण देता हूँ (इसका सविस्तार वर्णन मैं अपनी आगामी पुस्तक U-टर्न थ्योरी' में करूँगा)—पातंजलि योगसूत्र वह मौलिक प्राचीन ग्रन्थ है जिस पर योग विज्ञान आधारित है। इसमें दर्शन और मनोविज्ञान का गूढ़ ज्ञान निहित है। अब इसका प्रयोग 'गॉस्पेल ऑफ़ जॉन' (Gospel of John) में पाद-टिप्पणी (फुटनोट) के रूप में किया जाने लगा है और कई स्थानों पर उसे पश्चिमी मनोविज्ञान की एक प्राचीन पद्धति के रूप में दर्शाया जा रहा है।

जब कोई पश्चिम से खोज करते हुए भारतीय आध्यात्म विद्या के क्षेत्र में प्रवेश करता है तो वह भी वेदान्त दर्शन की पूर्ववर्णित व बहुचर्चित किन्तु भ्रामक रूप से समझी गई समानता की अवधारणा से भ्रमित हो जाता है और सरलता से उसमें निहित सच्ची और मूल्यवान भिन्नताओं के पक्ष की उपेक्षा कर देता है। किन्तु उस पश्चिमी अन्वेषक का स्मृति-पटल कोरा नहीं होता; उसमें उसकी अपनी एक सामूहिक पहचान होती है जो यहूदी-ईसाई अथवा पन्थ-निरपेक्ष संस्कारों पर आधारित हो सकती है। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है। पश्चिमी व्यक्ति की मानसिक संरचना कुछ विशेष प्रकार के जीवन मूल्यों, धारणाओं और वर्गीकरणों के अनुसार बनी हुई होती है। इसलिए जिसे 'वैश्विक' माना जाता है वह मुख्यत: पश्चिम का ही मुखौटा होता है। हम देखेंगे कि किस प्रकार इस वैश्विक सोच से विभिन्न सभ्यताओं में अन्तर्विरोध और दुराग्रह उपजते हैं।

उत्तर आधुनिकतावाद (Post-modernism) का टालमटोल

भिन्नता और समानता का उल्लेख उत्तर आधुनिकतावाद की चर्चाओं में भी आता है और पश्चिमी शैक्षिक क्षेत्र की इस दार्शनिक विचारधारा से पन्थ-निरपेक्ष और आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले भारतीय बुद्धिजीवी दोनों ही आकृष्ट होते हैं।

उत्तर आधुनिकतावाद की धारणा के प्रभाव में आ कर वैश्विक सोच में एक नया फ़ैशन चल निकला है जिसका कहना है कि सभी प्रकार का गौरवशाली इतिहास पश्चिमी विकास की कहानियाँ मात्र हैं, जिसे पश्चिम ने अन्य समूहों के प्रति हिंसा अथवा उनका दमन करके प्राप्त किया है। इस मत के समर्थकों के अनुसार सभी प्रकार की विशिष्ट पहचान को नष्ट अथवा धूमिल कर देना चाहिए और निश्चित रूप से ऐसी सभ्यताओं को अन्य दुर्बल अथवा कम प्रभावी सभ्यताओं के दमनकर्ता की दृष्टि से देखना चाहिए।

प्रथम दृष्टया तो यह विचार उचित जान पड़ता है, विशेषतया यदि इसे हम उत्तर औपनिवेशिक (post colonial) या पराधीन व्यक्तियों के चश्मे से देखें। किन्तु यह एक ऐसी व्यापक दोषदृष्टि और अविश्वासपूर्ण संकीर्णता का मार्ग प्रशस्त करता है जिसके अन्तर्गत कला, राजनीति अथवा दार्शनिक क्षेत्र में कोई विकल्प नहीं रह जाते हैं। पश्चिमी उत्तर आधुनिकतावाद इस पहचान से वंचित रखने का दुराग्रह सभी ग़ैर पश्चिमी सभ्यताओं के द्वारा दोहन की सम्भावना को बढ़ा कर उन्हें विलुप्तता की ओर धकेलता है, क्योंकि उन्हें उनकी भिन्नता संचित रखने की सुरक्षा से वंचित रखा जाता है जोकि वास्तविक और बचाने योग्य हैं। उत्तर-आधुनिकतावाद इन सभ्यताओं की उन वास्तविकताओं को दुर्बल करने का प्रयास करता है जिनके विकास, संरक्षण और स्थापन की आवश्यकता है। जिस भारतीय भिन्नता का उल्लेख मैं करने जा रहा हूँ उस पर उत्तर-आधुनिकतावाद की सोच का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, क्योंकि (1) यह किसी साम्प्रदायिक अथवा किसी और प्रकार की ऐतिहासिक विशिष्टता अथवा श्रेष्ठता पर आधारित नहीं है (2) इसमें ज्ञान की सम्पूर्णता का कोई दावा नहीं किया गया है (3) यह भिन्नता दूसरों पर अपने मत को थोपने का प्रयत्न नहीं करती।

कई प्रसिद्ध लेखकों ने उत्तर-आधुनिकतावाद के इस सिद्धान्त को अपना लिया है और यह मान बैठे हैं कि आज अमरीका एक ऐसा समाज बन गया है जहाँ की मिश्रित संस्कृति सभी पहचानों को धूमिल करके उनकी सीमाओं को मिटा रही है। इस मत के अनुसार अमरीका एक ऐसी सभ्यता के निर्माण की ओर अग्रसर है जिसमें भिन्नता की कोई व्यग्रता नहीं होगी, क्योंकि यह समाज किसी भी प्रकार के उग्र राष्ट्रवाद से भरी गौरवशाली गाथा से मुक्त होगा।

किन्तु इस लोकप्रिय सभ्यता की सतह के नीचे विराजमान यहूदी-ईसाई जड़ों, जो इसका वास्तविक आधार हैं, में मुख्य रूप से कोई परिवर्तन नहीं है। वे पश्चिमी संस्थाएँ जिनमें शक्ति केन्द्रित है, उनमें सीमाओं के मिटने के कोई प्रमाण नहीं मिलते। उदाहरण के रूप में अमरीकी प्रशासन की विदेश नीति अपनी श्रेष्ठता और अपने स्वार्थों की पूर्ति के आधार पर बनाई गई है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपने निवेशकों के

लाभ और अपनी भागीदारी को बढ़ाने के लिए परस्पर उसी प्रकार लड़ती हैं जिस प्रकार किसी भी प्रतिस्पर्धा में खिलाड़ी लड़ते हैं। विभिन्न ईसाई चर्च जीवात्माओं की हिस्सेदारी के लिए आपस में तो लड़ती ही हैं परन्तु मूर्तिपूजकों के धर्मांतरण के लिए उनकी लड़ाई और भी ख़ूँख़ार होती है। उत्तर-आधुनिकतावाद के विशेषज्ञों को चाहिए कि वे लोकप्रिय प्रचलित संस्कृति (pop culture) के सतही लक्षणों की परत के नीचे देखें। वहाँ देखने पर वे पायेंगे कि शासन, व्यापार जगत और ईसाइयत की पश्चिमी संस्थाओं का दमनकारी ढाँचा, जो उनका शक्ति-केन्द्र है, ज्यों का त्यों विद्यमान है। प्रारम्भ से ही अमरीकी सामाजिक-राजनैतिक एकता स्थापित करने के लिए एक ऐसी सीमान्त मानसिकता की आवश्यकता रही है जिसे किसी बाहरी शत्रु सभ्यता को पचा कर उसे समाप्त करना होता है।[32]

अमरीका के सामाजिक रूप से मिले-जुले परिवेश (मेल्टिंग पॉट) ने मनुष्य को एक ऐसी आर्थिक इकाई में परिवर्तित कर दिया है जो स्वेच्छा से किसी भी सांस्कृतिक पहचान को अपना सकता है, त्याग अथवा परिवर्तित कर सकता है। यह 'मेल्टिंग पॉट' कम प्रभावी सांस्कृतिक समूह के व्यक्तियों को उनकी पहचान खो कर अपने में सम्मिलित होने के लिए आकृष्ट करता है जिससे कि वे आधिपत्य स्थापित रखने वाले सत्ता-लोलुप समूहों के समक्ष और अधिक हीन हो जाते हैं। वास्तव में जब व्यक्तियों को उनकी जड़ों से काट कर अकेला और आत्मकेन्द्रित कर दिया जाता है तो अपने प्रभुत्व के लिए समर्पित शक्तिशाली समूह, जैसे कि धर्मांतरण करने वाली संस्थाएं अथवा उच्च वर्ग के आर्थिक हितों के पक्षधर समूह उन्हें दिशा देने के लिए आ जाते हैं। अपने आप को बहुसांस्कृतिक विचारों के पक्षधर बताने वाले इन समूहों का अमरीकी घरेलू और विदेश नीति पर जबर्दस्त प्रभाव है। लन्दन स्थित सांस्कृतिक आलोचक ज़िआउद्दीन सरदार के अनुसार उत्तर-आधुनिकतावाद के अन्तर्गत राष्ट्र-राज्यों और उनकी पहचानों की जो आलोचना की जाती है वह इन राष्ट्रों को एक-पक्षीय रूप से अपनी विशिष्टता खोने के लिए प्रेरित करती है। परिणामस्वरूप वे शिकारी साम्राज्यों के सरल शिकार बन जाते हैं। इसका कारण यह है कि पश्चिम जो दूसरों से करने के लिए कहता है वह स्वयं नहीं करता। विकसित देशों द्वारा खड़ा किया हुआ बुद्धिजीवियों का मकड़जाल विकासशील देशों को अपनी पहचान खोने के लिए प्रेरित करता है।[33]

उत्तर-आधुनिकतावाद के विचारकों के अनुसार कोई भी सांस्कृतिक परम्परा बहुत-सी परम्पराओं में से एक होती है, इसलिए उनका अपनी वैश्विकता का दावा करना एक संकीर्ण और घमण्डी विचार है। कैसा विरोधाभास है कि पश्चिम अपनी पहचान को महिमामण्डित करने और यथावत रखने के लिए अपने इतिहास को नये सिरे से प्रखर रूप में श्रेष्ठ बताते हुए पुनः लिख रहा है मानो यह एक लम्बी अतिश्रेष्ठ दार्शनिक यात्रा का अन्तिम और उत्तम स्वरूप है।

ये आलोचक बिना किसी बाहरी मूल्यांकन के पश्चिमी मानसिकता की आलोचना करने का दम तो भरते हैं, लेकिन अपनी इस प्रक्रिया को वे एक ऐसी नवचेतना बतलाते हैं जिसके नेता और प्रतिनिधि भी पश्चिम वाले ही हैं। अपने इन नवीनतम सिद्धान्तों को वापस उसी पश्चिम के बौद्धिक इतिहास में स्थापित कर परिणामत: वे उस सामूहिक पश्चिमी पहचान को क्षीण करने की अपेक्षा और अधिक सशक्त बना रहे होते हैं। हालाँकि उत्तर-आधुनिकता किसी भी प्रकार की पहचान की आलोचना तो करती है, किन्तु वास्तविकता यह है कि वह स्वयं एक ऐसे इतिहास की उपज है जिसका भिन्नता के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण भारतीय परम्पराओं की उपेक्षा करता रहा है।

पश्चिम के उदारवादी उत्तर-आधुनिक विशेषज्ञों की मुख्य धारा से कटी हुई इन गतिविधियों का अमरीका और यूरोपीय संघ के शक्ति-केन्द्रों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इसे एक विडम्बना ही कहेंगे कि बाज़ार के प्रलोभनों और वामपन्थ द्वारा अपेक्षित बलिदानों की विफलता को देखते हुए फ्रांस और अमरीका के बहुत से 'उग्र वामपन्थी' अब 'निओ कन्सर्वेटिव' अर्थात 'नव रूढ़िवादी' बन गये हैं। कुछ वर्षों तक हड़तालें, युद्ध-विरोधी प्रदर्शन और मानवीय अधिकारों के लिए रैलियाँ करने वाले ये उग्र सुधारवादी आजकल यहूदी-ईसाई सभ्यता के बचाव और कुछ विशेष देशों के प्रति मानवतावादी उग्र हस्तक्षेप की वकालत करने का पक्ष लेते देखे जाते हैं। चिली और ईराक जैसे कई देशों में आन्तरिक क्लेश को भड़काने के लिए अमरीकी सेना ने इन उदारवादी समाजशास्त्रियों का उपयोग किया है। ये समाजशास्त्री जो विदेशों का 'क्षेत्रीय अध्ययन' करते हैं, उसका वास्तविक लाभ पश्चिमी राष्ट्र, चर्च अथवा दोनों उठाते हैं।[34] दूसरी ओर पश्चिम अपनी पहचान और इतिहास के प्रति आश्वस्त है, क्योंकि उत्तर-आधुनिकतावाद का पश्चिम पर प्रभाव केवल शैक्षिक वाद-विवाद और उथली संस्कृति (pop culture) तक ही सीमित है।

भारत के उत्तर-आधुनिकतावादियों को, जिन्हें अपनी पश्चिमी पहुँच और प्रशिक्षण बघारने में आनन्द आता है, भारतीय छवि मिटाने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। इसके लिए भारतीय सभ्यता को पिछड़े समूहों के अभिशाप का कारण बताया जाता है। भारतीय विचारकों के माध्यम से ही किया जाने वाला भारत का विखण्डन एक अस्थिरता को जन्म देता है जो एक नये प्रकार के उपनिवेशवाद का मार्ग प्रशस्त कर रहा है। पिछड़े (नीचे से आए—from below) समूहों की भिन्नता दिखा कर उनका पक्षधर दिखना भारतीय उत्तर-आधुनिकतावादियों में प्रचलित आज का सबसे बड़ा फ़ैशन है। किन्तु इनमें से बहुत से पिछड़े अल्पसंख्यक हितों पर विश्वस्तरीय गुटों का एकाधिकार हो गया है (इनमें विभिन्न चर्च, चीनी माओवादी और इस्लामवादी प्रमुख हैं) जिसके परिणामस्वरूप यह कोई स्वायत्त अथवा आत्मनिर्भर ईकाइयाँ न हो कर भारत में एक नये प्रकार के उपनिवेशवाद के द्वीप बनते जा रहे हैं जिनका संचालन बाहर से ('रिमोट' द्वारा) किया जाता है। इस प्रकार उत्तर-आधुनिकतावाद का प्रभाव

उससे ठीक विपरीत है जिसका यह अपने आप को समर्थक बताता है। इस भिन्नता के दिखावे से स्थानीय संस्कृतियाँ साम्राज्यवाद द्वारा हड़पे जाने से धीरे-धीरे दुर्बल बनाई जा रही हैं। यह अपने आप में एक गम्भीर विषय है और इस पुस्तक के अभिप्राय से बाहर है जिसकी चर्चा मैंने अपनी पुस्तक 'ब्रेकिंग इण्डिया' में की है।[35]

उत्तर-आधुनिकतावाद भारतीय धर्म को बिना किसी क्रम के और असम्बद्ध छोटे-छोटे टुकड़ों में तोड़ कर पश्चिम द्वारा पचाये जाने हेतु तैयार कर रहा है। ठीक वैसे ही जैसे कम्प्यूटर में इधर-उधर के चित्रों को किसी लेख में उपयोग के अनुसार जोड़ने के पश्चात वह लेख उस लेखक की सम्पत्ति कहा जाता है। कुछ विशेषज्ञ इन घटकों को पृथक करते समय ऐसा दर्शाने का प्रयास करते हैं मानो उनका कोई धार्मिक सन्दर्भ है ही नहीं, इसलिए उन्हें हड़पा अथवा अपनी इच्छानुसार नष्ट किया जा सकता है। 'भारतीय सभ्यता जैसे शब्दों का कोई औचित्य नहीं है' क्योंकि 'भारतीयता तो अंग्रेजों द्वारा निर्मित विचार है' जैसे तर्कों को प्रोत्साहित करके पश्चिम उसके द्वारा भारतीय सभ्यता के पचाये जाने की प्रक्रिया को शक्ति प्रदान कर रहा है।[36]

उत्तर-आधुनिकतावाद कई तरीकों से भारतीय दर्शन-शास्त्र से मिलता-जुलता है। इसका एक उदाहरण यह है कि दोनों का दार्शनिक ढाँचा मौलिक पहचान का विखण्डन करता है। दोनों में एक और समानता है कि दोनों के अनुसार सभी धारणाएँ अपने आप में मानसिक कृतियाँ हैं, जो अन्तत: निरर्थक हैं और उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। बहुत से उत्तर-आधुनिक विचारकों पर इन भारतीय परम्पराओं का प्रभाव पड़ा है। किन्तु इन दोनों में एक मुख्य अन्तर है कि जहाँ धार्मिक विचारधारा व्यक्तिगत अहंकार को ध्वस्त करती है वहीं उत्तर आधुनिकतावाद भारतीय संस्कृति की सामूहिक पहचान को ध्वस्त करता है। दूसरा विशेष अन्तर यह है कि भारतीय धार्मिक परम्परा में उपलब्ध योगदर्शन और क्रियाएँ एक ऐसी अन्त:चेतना प्रदान करते हैं जिसके अनुभव से भिन्नता का अतिक्रमण स्वत: हो जाता है, जबकि ऐसा कोई साधन उत्तर-आधुनिकतावाद को उपलब्ध नहीं है। विखण्डन की यह प्रक्रिया इतनी सरल नहीं है कि कुछ बुद्धिजीवी बैठ कर इसे केवल तार्किक वाद-विवाद से सम्पन्न कर सकें। उत्तर-आधुनिकता द्वारा किये जाने वाले सभ्यताओं के विखण्डन की परिणति एक शून्यवाद अथवा उदासीनता की अवस्था की ओर ले जाती है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो एक प्रभावशाली सभ्यता की भव्य गाथा के विध्वंस के पश्चात उसकी जगह पर कुछ रखने का कोई विकल्प इसके पास नहीं है, जबकि 'पूर्व पक्ष' (अगले भाग में चर्चा) की भारतीय पद्धति एक धार्मिक परम्परा पर आधारित व्यवस्था है जो सबको एक चेतन अस्तित्व का सकारात्मक धरातल प्रदान करती है। भारतीय धार्मिक परम्पराओं की प्रामाणिक क्षमता के उपयोग से पश्चिमी धारणाओं को चुनौती देते हुए उदासीनता और शून्यवाद के इस गर्त में जाने से बचा जा सकता है।

यहूदी-ईसाई, पन्थ-निरपेक्ष और भारतीय धार्मिक नेताओं से चर्चा करते हुए जो विषय मुझे प्रमुख लगे उनके प्रति अपनी प्रतिक्रिया का मैंने नीचे दी गयी तालिका में

उल्लेख किया है।

भिन्नता-जनित व्यग्रता पर आधारित मत	**मेरा प्रतिवादी तर्क**
केवल मेरा सम्प्रदाय सच्चा है और सभी को इसका अनुयायी बनना चाहिए	यह सोच यहूदी-ईसाई सम्प्रदाय में निहित 'एकमात्रता' का परिणाम है। जबकि भारतीय आध्यात्म का आधार ही विविधता है
साम्प्रदायिक सहनशीलता दर्शाती है कि हम अन्य सम्प्रदायों के प्रति कितनी सद्भावना रखते हैं	सहनशीलता दूसरे के सम्प्रदाय को अनुचित ठहराने का छद्म आवरण है। यह कृपालुता केवल राजनैतिक दबाव का ही परिणाम है। आवश्यकता है परस्पर सम्मान की जो यह स्थापित करता है कि हम दूसरों के मत का सम्मान करते हैं, क्योंकि हम उसे उसके अनुयायियों के लिए वैध मानते हैं
इन्कल्चरेशन भी स्थानीय भारतीय सभ्यता के सम्मान का प्रतीक है	यह अपने आप को स्वीकार करवाने के लिए किया गया धोखा है और इस कपट का उद्देश्य स्थानीय सभ्यता और संस्कृति को नष्ट करना है
भारतीय विचार पश्चिम में समझ नहीं आते, इसलिए ये बेकार और उपेक्षा योग्य हैं	इस झूठी अवधारणा का उद्देश्य पश्चिमी मत का प्रभाव बनाए रखना है
समानता के लिए आवश्यक है कि हम सभी भिन्नताओं को मिटा दें	भिन्नताओं का सम्मान ही समानता का परिचायक है। भारतीयों द्वारा गोरों/पश्चिमियों का अनुकरण समानता नहीं अपितु चापलूसी दर्शाता है
भिन्न रहने से वैश्वीकरण के लाभों से वंचित रहना पड़ सकता है	लोग भिन्न होते हुए भी सकारात्मक रूप से व्यवहार कर सकते हैं, जिसका उदाहरण है विभिन्न प्रकार के खानपान, महिला सशक्तीकरण और अमरीका में काले लोगों की सभ्यता
भिन्नता से तनाव उत्पन्न होता है, इसलिए हमें तनाव दूर करना है तो एक होना	सौहार्द और अनेकता में एकता पर आधारित भिन्नता तनाव उत्पन्न नहीं

चाहिए	करती, परन्तु श्रेष्ठता पर आधारित भिन्नता तनाव उत्पन्न करती है
भिन्नता से सापेक्ष्य नैतिकता और पलायनवाद का जन्म होता है	आगे के अध्याय में वर्णन है कि किस प्रकार भिन्नता का सम्मान करते हुए भी सन्दर्भ-संगत नीति कारगर हो सकती है
विभिन्न सभ्यताओं का आदान प्रदान और घुल मिल जाना अच्छी बात है, इसीलिए एक वैश्विक सभ्यता में विलीन हो जाना तो प्राकृतिक नियम है	विविधता से उपजा आदान-प्रदान गहन होता है और दीर्घायु होता है। यदि यह भिन्नता नष्ट कर दी गयी तो अमरीका की मूल सभ्यताओं की भाँति ही भारतीय सभ्यता भी केवल संग्रहालयों की शोभा की वस्तु रह जायेगी और दीर्घकालिक आदान प्रदान का अन्त हो जायेगा
अद्वैत सिद्धान्त कहता है कि सभी एक हैं, तो इन भिन्नताओं की चिन्ता क्यों करें?	वेदान्त अपने उत्तरदायित्व को छोड़ कर इस प्रकार के पलायनवाद का समर्थन नहीं करता, क्योंकि हमारे कर्म और अस्तित्व इसी सापेक्ष्य भिन्नता पर आधारित हैं
पश्चिमी उदारवाद ने तो पहले ही भिन्नता को अंगीकार कर लिया है	पश्चिमी उदारवाद ने साम्प्रदायिक भिन्नता को वह स्तर प्रदान नहीं किया जो उसने नस्ल और लिंग आधारित भिन्नता को प्रदान किया है। साम्प्रदायिक सहनशीलता भिन्नता का अनादर करती है और सभी सम्प्रदायों को एक-सा कहने वाली नीति भी भिन्नता को क्षीण करती है
पश्चिमी प्रगति में सेक्युलरवाद को विकास का प्रतीक माना जाता है	पश्चिम के अनुभव पूरे विश्व का प्रतिनिधित्व नहीं करते, इसलिए सभी सभ्यताओं को पश्चिम का अनुकरण करने के लिए कहना मानवता को अन्य सभी अनुभवों से वंचित करना है
हिन्दुत्व की विचारधारा भी तो भिन्नता के दावे का भारतीय रूप है	इसने भी कुछ पश्चिमी धारणाओं को अपना लिया है, जैसे कि एक विशिष्ट इतिहास पर बल देना। इसमें राजनैतिक और प्रतिक्रियात्मक पक्ष भी है

पूर्वपक्ष: विपरीत/प्रतिलोम अवलोकन

जब यहूदी-ईसाई मत का व्यक्ति विश्व का अवलोकन करता है तो वह उसे पश्चिम द्वारा स्थापित मानदण्डों के अनुसार देखता है, अर्थात पश्चिमी दृष्टि से देखता है। ऐसा करने से पश्चिमी दृष्टिकोण को वैश्विक होने का मानो एक स्वयंसिद्ध अधिकार मिल जाता है और इस दृष्टि से जब किसी भी अन्य सभ्यता का अवलोकन किया जाता है तो वह सापेक्ष्य दृष्टि से होता है और वह सभ्यता वैश्विक नहीं मानी जाती। जिन समस्याओं पर हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं उनके अतिरिक्त अपने आप को दूसरों के दृष्टिकोण से न देख पाने की इस असमर्थता का ही परिणाम है कि पश्चिमी वैश्वीकरण के पक्षधर (जिसकी चर्चा मैंने विस्तार से अध्याय 6 में की है) अपनी कमियों, विफलताओं, सनक और विचित्रताओं के प्रति अनभिज्ञ हैं। जब कोई अपनी प्रभावशाली स्थिति से दूसरों का निरीक्षण करता है, किन्तु स्वयं उसका अवलोकन नहीं करता, तो उसकी धारणा बन जाती है कि उसी का दृष्टिकोण वैश्विक हो सकता है।

मेरा मत है कि इस समस्या का निवारण भारत की ‘पूर्वपक्ष’ नामक पुरातन और शक्तिशाली परम्परा में छिपा है। अपनी प्रतिद्वन्द्वी विचारधाराओं के प्रति यह एक धार्मिक परम्परा है। इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत विरोधी पक्ष की विचारधारा का अध्ययन और अनुसन्धान करने के उपरान्त अपने सिद्धान्तों के आधार पर उसका खण्डन किया जाता है। पूर्वपक्ष की इस परम्परा के अनुसार अपना सिद्धान्त स्थापित करने के लिए पहले अपने विरोधी पक्ष के दृष्टिकोण का पक्ष लेते हुए तर्क-वितर्क करना होता है जिससे कि उसे अपनी कमियों को समझने का अवसर मिल सके। विरोधी मत को समझने के पश्चात ही उसके खण्डन की योग्यता प्राप्त हो सकती है। ऐसे तर्क-वितर्क से एक सत्यनिष्ठ और लचीली मानसिकता को भी प्रोत्साहन मिलता है। इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में व्यक्ति शास्त्रार्थ अपने अहंकार की तुष्टि के लिए नहीं अपितु अपने मत के सत्यापन के लिए करता है। इस खोज एवं अध्ययन से व्यक्ति में चिरस्थायी परिवर्तन भी होता है।

पूर्वपक्ष के लिए अपने विरोधी से सीधे किन्तु सम्मानपूर्वक शास्त्रार्थ की आवश्यकता होती है। इस प्रक्रिया में मूलभूत भेदों को अनदेखा करते हुए समानता का आडम्बर नहीं किया जाता, बल्कि उन्हें बिना व्यग्रता के स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है। यह प्रक्रिया इतनी सरल नहीं है जितनी प्रतीत होती है। इसके लिए दृढ़ निश्चय, भरपूर अहंकार रहित आत्मनियन्त्रण और विषय की गम्भीरता के प्रति सजगता की नितान्त आवश्यकता होती है। पूर्वपक्ष की यह प्रक्रिया पीड़ा विहीन नहीं है, इसमें विरोध का भी सामना करना पड़ता है।

हिन्दू, बौद्ध तथा जैन धर्म में इस प्रक्रिया का भरपूर प्रयोग किया गया था। इस प्रकार के उत्तेजक शास्त्रार्थ धार्मिक परम्पराओं की धरोहर हैं और इनके आलेखों से

सैंकड़ों पुस्तकें भरी पड़ी हैं। इन शास्त्राथों का गहन अध्ययन भारतीय दर्शन शास्त्र का एक आवश्यक अंग रहा है क्योंकि इन्हीं के आधार पर इन धर्मों ने अपने आप को विकसित और प्रखर किया है।

दुर्भाग्यवश जब भारत में इस्लाम, ईसाइयत और यूरोपीय प्रबोधन ने पदार्पण किया, उस समय यह प्रक्रिया कार्यरूप में नहीं थी। भारतीय धार्मिक दार्शनिकों ने इस्लाम और ईसाइयत का सामना करने की अपेक्षा इन विदेशी मतों की या तो उपेक्षा की या पूर्वपक्ष करने के स्थान पर 'सभी एक सामान हैं' कह कर टाल दिया। यही व्यवहार उन्होंने मार्क्सवाद और सेक्युलरवाद के लिए किया। भारतीय धार्मिक मत के विपरीत अपनाई गयी इस उपेक्षा की मुद्रा ने पूर्वपक्ष से बचने का उन्हें एक सहजसा बहाना प्रदान कर दिया कि जब कोई भिन्नता ही नहीं है तो अवलोकन करने की क्या आवश्यकता है। पूर्वपक्ष की प्रक्रिया के उपयोग का परिणाम सहानुभूति मिलना भी हो सकता है और उपेक्षा भी, सहमति भी मिल सकती है और आलोचना भी। किन्तु इसके लिए जो आवश्यक गुण आजकल प्राय: नहीं मिलते, वे हैं—सीधा सामना करने का साहस, भिन्नताओं का स्पष्टीकरण और समानता की अवधारणा। पूर्वपक्ष के लिए आवश्यक है कि इसे जितना हो सके एक निष्पक्ष वातावरण और मंच पर किया जाये, जिससे कि यह दोनों पक्षों के लिए लाभप्रद हो। इसकी आधारशिला में यह स्वीकार्यता होनी चाहिए कि विचारों में परिवर्तन लाभदायक और आवश्यक है।

अवलोकन की दिशा को पलटने की इस प्रक्रिया के पीछे 'जैसे को तैसा' अथवा 'उल्टे बाँस बरेली को' जैसी मानसिकता नहीं होनी चाहिए। इसे पश्चिम द्वारा की जाने वाली अपनी आन्तरिक आलोचना के समकक्ष भी नहीं रखना चाहिए — जिसे करने वालों की पश्चिम में भरमार है, किन्तु जो पश्चिम के अपने बनाये मानदण्डों पर अथवा पश्चिम के निहित स्वार्थों की सिद्धि के लिए ही की जाती है। यहाँ विषय पश्चिम की विशेषताओं और दोषों का नहीं है, परन्तु इसका है कि उनकी समीक्षा किस तरह के अवलोकन को व्यवहार में ला कर की जाये। चीन, भारत और बृहत इस्लाम के उदय ने विश्व के आर्थिक और राजनैतिक शक्ति समीकरणों को हिला कर पश्चिम के प्रभुत्व और आत्मसम्मान को चुनौती दी है। यह क्रम अभी थमने वाला नहीं है, इसलिए जिस प्रतिपक्षीय अवलोकन और दृष्टिकोण के विस्तारों की चर्चा मैं कर रहा हूँ, उनकी आवश्यकता और भी बढ़ जाती है।

हर पक्ष की अपनी शक्तियाँ और सीमाएँ होती हैं जिन्हें दूसरों की दृष्टि से देखे बिना समझा नहीं जा सकता। यह दृष्टि जितनी स्पष्ट और सीधी होगी उतना ही अच्छा होगा। यदि भिन्नताएँ ठीक से समझ ली जायें तो सांस्कृतिक आदान-प्रदान अधिक फलदायक, सात्विक और लाभदायक हो पायेगा। मेरे मतानुसार, ऐसे किसी भी उपक्रम के लिए आवश्यक है कि—

- दोनों ओर से भिन्नता-जनित व्यग्रता को पहचान कर उसे कम करने का प्रयास किया जाए;
- दार्शनिक/साम्प्रदायिक स्तर पर और कार्यप्रणाली में जो आधारभूत भिन्नताएँ हैं, उन्हें समझने और स्पष्ट रूप से व्यक्त करने की इच्छाशक्ति हो;
- पश्चिम की इतिहास-केन्द्रिकता, एकमात्रता और आक्रामक धर्मांतरण की प्रवृति जैसे पेचीदा विषयों पर वार्ता की जाये;
- भारतीय धार्मिक कार्य करने वालों का भौतिक जगत की समस्याओं और साम्प्रदायिक भिन्नता के प्रति कम निष्क्रिय दृष्टिकोण और पश्चिमी मतों से आधारभूत भिन्नताओं के प्रति सीधा स्पष्ट व्यवहार हो; तथा
- स्व-सशक्तीकरण में रत और स्व-निर्देशात्मक संस्थाओं के प्रचलित तन्त्र की त्रुटिपूर्ण प्रचार सामग्री में सुधार लाने की आवश्यकता को पहचानना, जो सांस्कृतिक विश्लेषण करते हैं तथा जिनमें शैक्षणिक संस्थाएँ, प्रकाशक, संचार माध्यम और संस्थान सम्मिलित हैं।

दार्शनिक अथवा सामाजिक पूर्वपक्ष में जिस स्पष्ट और सम्मानपूर्वक विरोध की अपेक्षा होती है उसमें कुछ अभूतपूर्व नहीं है। अन्य सभ्यताओं ने अपने दृष्टिकोण से जिस प्रकार प्रतिपक्षीय अवलोकन का उपयोग पश्चिम के प्रति करने का प्रयास किया है उससे भारतीय धर्म के विद्वान बहुत कुछ सीख सकते हैं। उदाहरण के लिये 1950 के दशक में जब अल्जीरिया अपने आप को औपनिवेशिक शासन से स्वतन्त्र कराने के लिए लड़ रहा था, उस समय फ्रैंज फैनन Franz Fannon (1925-61) नामक एक अल्जीरियाई ने बृहत अफ्रीकी चेतना को दर्शाने के लिए 'द रेच्ड ऑफ द अर्थ' (The Wrethched of the Earth) नामक एक प्रभावशाली पुस्तक लिखी थी। इसमें उसने लिखा कि 'उपनिवेशक पूँजीपति वर्ग ने गुलाम बुद्धिजीवियों की मानसिकता में यह गहराई से बैठा दिया है कि लोग कितनी भी भूलें करते रहें किन्तु उनके मौलिक गुण सर्वकालिक ही रहते हैं। निस्सन्देह ये मौलिक गुण पश्चिमी ही हैं'। जब अस्तित्ववाद के विख्यात फ्रांसीसी दार्शनिक जीन पॉल सार्त्र (Jean-Paul Sartre) ने फैनन की पुस्तक को पढ़ा और इसकी समीक्षा की, तो वह इस प्रतिपक्षीय अवलोकन और इसके प्रभाव को पहचान गये थे।

अपनी पुस्तक ओरिएंटलिस्म (Orientalism) में जब एडवर्ड सइड (Edward Said) ने वर्णन किया कि किस प्रकार आधुनिक पश्चिम की बनावटी पहचान अन्य सभ्यताओं, विशेषत: अरबी और इस्लामी सभ्यता, के अध्ययन पर आधारित है तो वह भी एक प्रकार का पूर्वपक्ष ही था।[37] 1978 में प्रकाशित इस विवादास्पद पुस्तक ने उत्तर-उपनिवेशवाद के रूप में एक नई शिक्षा धारा को जन्म दिया जिसके अन्तर्गत विकासशील देशों के बहुत से विशेषज्ञों ने अपने गोरे सहयोगियों के साथ मिल कर

पश्चिम का प्रतिपक्षीय अवलोकन प्रारम्भ किया। इसी प्रकार चीनी भी सदियों से पश्चिम का प्रतिपक्षीय अवलोकन कर रहे हैं और इस परिप्रेक्ष्य के अनुसार चीनी भाषा में लिखा साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। चीनी सम्राटों और शासन-तन्त्र ने सदियों तक यूरोपीय विचारकों के लेखों को चीनी विचारों के अनुसार समझने के लिए उसके मैंडरिन में अनुवाद को आर्थिक सहायता देते हुए प्रोत्साहित किया।

वहीं भारतीयों ने व्यापक स्तर पर पश्चिम के अध्ययन का कोई उपक्रम नहीं किया। मुग़ल युग में जब व्यापार के लिए थोड़ी मात्रा में यूरोपीय भारत आने लगे थे, भारत के पास पर्याप्त सैनिक और आर्थिक शक्ति थी कि वह यूरोपीय विचारों का अध्ययन कर सकते थे। उस समय के भारतीय इतिहास से सम्बन्धित विभिन्न कारणों से, जो इस पुस्तक का विषय नहीं हैं, भारतीय शासकों ने अपनी दृष्टि से अपने परिवेश में यूरोपीयों के अध्ययन का कोई गम्भीर विचार नहीं किया। इसके विपरीत जब उन्होंने स्वयं को यूरोपीय अध्ययनों का विषय पाया तो उन्हें इस पर गर्व होने लगा कि मानो श्रेष्ठ लोगों द्वारा भारतीयों का अध्ययन किया जा रहा है, जैसे मानो भारतीय पश्चिम की निगाह में महत्वपूर्ण हो गये हों। पश्चिम द्वारा अपने अध्ययन में भारतीय जिस गौरव का अनुभव करते हैं वह आज भी देखने को मिलता है। वे मान लेते हैं कि उन्हें यह महत्व उनकी उदारता, विकासवाद, धर्मनिरपेक्षता इत्यादि के कारण दिया जा रहा है।

अन्य सभ्यताओं के प्रति पश्चिमी दृष्टिकोण को चुनौती देना भारतीयों के लिए और भारतीय धर्म का प्रतिनिधित्व करने वालों के लिए दोहरा महत्व रखता है। पहला, धार्मिक मान्यताओं को अपने दृष्टिकोण के अनुसार समझना और तत्पश्चात् पश्चिम का उस दृष्टिकोण के अनुसार अध्ययन करना। हालाँकि इस पद्धति में कुछ निहित असमरूपता हो सकती है क्योंकि इस प्रतिपक्षीय अवलोकन में हम धार्मिक पक्ष में उपलब्ध साधनों में से सर्वोत्तम संसाधनों की सहायता से दूसरे पक्ष की मूलभूत समस्याओं का अध्ययन करते हैं। तो भी ऐसा करना लाभप्रद है क्योंकि यह भारतीय धार्मिक मार्ग से सम्बन्धित मौलिक भ्रान्तियों (भारतीयों के लिए भी) को ही दूर नहीं करेगा, बल्कि पश्चिमी मानसिकता के अवचेतन में दबी धारणाओं को उजागर करके उन्हें चुनौती भी देगा।

भारतीय मानदण्डों के अनुसार पश्चिम से होड़ ले कर उसका अवलोकन करने के प्रयास यदा कदा होते रहे हैं, हालाँकि पूर्वपक्ष की जिस पद्धति का मैं उल्लेख कर रहा हूँ, वे उसके अनुसार नहीं थे। उदाहरण के लिए, मानवशास्त्री मेक्किम मेरियट (McKim Marriott) ने शिक्षा सम्मेलन के अपने संकलन में सामाजिक विचार और अध्ययन का विकास करने के लिए भारतीय विचारधारा में वर्गीकरण की व्यवस्था को महत्व देने का पक्ष लिया है। उसके अनुसार ऐसा करने से न केवल उपमहाद्वीप को समझने में सहायता मिलेगी, बल्कि विभिन्न सभ्यताओं का अध्ययन जिस संकीर्ण सोच से किया जा रहा है उससे भी मुक्ति मिलेगी।[38] यह दर्शाने के लिए कि पश्चिमी वैश्विकता कितनी सीमित और विकृत हो सकती है, मेरियट ने पश्चिम में प्रचलित भिन्नता की धारणा के

उदाहरण के रूप में मार्क्स की 'भौतिकवादी आधार और ऊपरी रचना' (material base and superstructure) तथा दुर्खीम (Durkheim) की पवित्र और दूषित (sacred and profane) अवधारणा का उदाहरण दिया और कहा कि यह भारतीय धार्मिक सभ्यताओं में उपस्थित जटिल और प्रवाहमान वास्तविकताओं को समझ नहीं सकतीं। उसने कहा कि पश्चिम एक ऐसी मृग-मारीचिका रूपी स्थिरता का इच्छुक है जिसकी मौलिक अवधारणा है कि सभी समाज राजनैतिक और सामाजिक पहचान के प्रवाहशील वर्गीकरण की अपेक्षा यूरोप और अमरीकी स्थिरता की अवधारणा को स्वीकारने के लिए तत्पर हैं।

ऐसा ही एक और उदाहरण हमें अ.क. रामानुजन से मिलता है।[39] रामानुजन ने भारतीय मूल्यों के आधार पर पश्चिमी नैतिकता की सीमाओं को दर्शाया है। यदि मनु (भारतीय नीति-शास्त्र के रचयिता) के दृष्टिकोण से हम इमैनुयल कान्त Immanuel Kant (जर्मनी के प्रबोधन दार्शनिक) को देखते हैं तो कान्त की 'श्रेणीगत अनिवार्यता' (categorical imperative) की अव्यवहारिकता स्पष्ट दिखाई पड़ती है। यही स्थिति पश्चिम की नैतिकता की भी है जो सन्दर्भ रहित रहने का प्रयास करती है (विस्तृत चर्चा अध्याय 4 में है)। रोनाल्ड इण्डेन (Ronald Inden) की प्रसिद्ध पुस्तक इमेजिनिंग इंडिया—Imagining India(1990) भी समर्थन करती है कि भारत की व्याख्या करने के लिए जिन विचारों का और जिस शब्दावली का प्रयोग साधारणतया किया जाता है, वे उपनिवेशवाद की उपज हैं और भारतीय बुद्धिजीवी उसी राह पर चलते हुए उन्हीं पश्चिमी सिद्धान्तों को आयात करके उनका प्रयोग भारत पर कर रहे हैं।

इसी सन्दर्भ में और भी दृष्टान्त दिये जा सकते हैं, किन्तु यहाँ सावधान रहने की आवश्यकता है। पश्चिमी मानवशास्त्रियों को मैंने एक प्रकार का पूर्वपक्ष करते हुए पाया है जिसमें वे अस्थायी रूप से अपने भिन्नता के दृष्टिकोण को स्थगित करके ग़ैर-पश्चिमी संस्कृति में, चाहे अस्थाई रूप से ही सही, डूब जाते हैं (या कम-से-कम इसका ढोंग करते हैं)। ऐसा करने से उन्हें दूसरों को भीतर से समझने का अवसर मिलता है। किन्तु सामान्यतया यह सब गहन विश्वास और पहुँच बनाने के लिए किया जाता है जिसके पश्चात् वे फिर से पश्चिमी धारणाओं और श्रेणियों में लौट जाते हैं। आँकड़े एकत्रित करते समय उस अनुसन्धानकर्ता की भिन्नता-जनित व्यग्रता मानो विलीन हो जाती है, किन्तु जब पश्चिमी श्रोताओं के समक्ष वह अपनी सूचनाओं के निष्कर्षों को प्रस्तुत करता है तो यह व्यग्रता प्रकट हो जाती है।

मैंने पाया है कि जब ऐसे किसी प्रयास का उद्देश्य भारतीय समाज के वर्णन को यूरोप-केन्द्रित व्याख्या से बचाना भर ही होता है तो भी वह अत्यन्त सुरक्षात्मक होता है। वह पश्चिम का आँकलन भारतीय दृष्टिकोण से करने की उपेक्षा कर देता है। परिणाम यह होता है कि पश्चिम की अपने आप को वैश्विक सभ्यता स्थापित करने की छवि ज्यों की त्यों बनी रहती है। इस कार्यप्रणाली से कभी परिवर्तन नहीं आने वाला। इसके लिए अवलोकन की दिशा पलट कर सीधे पश्चिम पर केन्द्रित करनी होगी।

भारतीय धार्मिक संस्कृति के बुद्धिजीवी वर्ग की एक सामान्य प्रतिक्रिया होती है कि 'हमें केवल अपने अन्दर झाँकना चाहिए और अपने सत्य की चिन्ता करनी चाहिए,' इसलिए 'और लोग क्या करते हैं उससे हमें क्या लेना है'? मेरा प्रत्युत्तर है कि पूर्वपक्ष न करके अन्तर्मुखी होने से भारतीय धार्मिक विचारधारा विश्व सन्दर्भ से विलग हो कर एक कोने में अकेली रह जायेगी। प्रतिपक्षीय दृष्टि साहसिक होनी चाहिए और इसे आसानी से नकारा नहीं जा सकता। प्रस्तुत पुस्तक पश्चिम पर धार्मिक पूर्वपक्षीय अध्ययन प्रारम्भ करने का एक प्रयास है।[40] इस प्रयास में मैं भारतीय धार्मिक परम्परा को एक दर्पण की भाँति प्रयोग कर रहा हूँ जिसमें पहले तो वर्षों से जमी हुई झूठ और विकृतियों की धूल को हटाने का प्रयास होगा और उसके पश्चात यह दर्पण पश्चिमी सभ्यता को, विशेषत: उसके साम्प्रदायिक और आध्यात्मिक आधार को उसकी छवि दिखायेगा।

अध्याय 2

योग — इतिहास से मुक्ति

यहूदी-ईसाई परम्पराओं के अनुसार ब्रह्माण्ड का प्रत्येक रहस्योद्घाटन ''ऊपर से'' आता है। यह केवल ईश्वर द्वारा ही किया जाता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि मानव ग्रहणशील हो, परन्तु केवल यही पर्याप्त नहीं है। भगवान सर्वोपरि हैं और मनुष्य की विचार-शक्ति एवं सत्य जानने की प्रक्रिया में उनका व्यक्तिगत रूप से ऐतिहासिक हस्तक्षेप आवश्यक है। इन धर्मों का आधार ऐसी ही ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। इन ऐतिहासिक विवरणों का अध्ययन एवं संकलन एक तरह का जुनून उत्पन्न करता है जिसे मैं ''इतिहास-केन्द्रिक'' (History centrism) कह कर सम्बोधित करता हूँ।

इसके विपरीत भारतीय धार्मिक परम्पराओं के अनुसार मनुष्य का जन्म किसी ''पाप'' के तहत नहीं हुआ है, बल्कि वह तो अपने पूर्वजन्म के कर्मों का प्रारब्ध लिए यहाँ आता है, इसलिए वह अपनी प्रकृति से अनभिज्ञ है। सौभाग्य से हर मनुष्य की क्षमता इतनी है कि वह साधना से सहज ही अपने रूप में इस ''सत्-चित्-आनन्द'' को प्राप्त कर सकता है। प्रकृति की वास्तविकता के सत्य को जानने समझने के लिए अनुभव प्राप्त करना होता है जोकि साधक साधना द्वारा अन्य साधकों तक आगे बढ़ाता है तथा परमात्मा का यह अनुभव विविधतापूर्ण होता है और सम्भवत: ज्ञान के एक से ज़्यादा स्रोत सही हो सकते हैं। सच्चाई की इसी खोज और संचरण की अवधारणा को मैं 'स्वानुभूत ज्ञान' या 'सन्निहित ज्ञान' के नाम से सम्बोधित करता हूँ।

परमेश्वर को समझने (जानने) के दो मार्ग

विश्व की प्रत्येक संस्कृति और सभ्यता मानव के अस्तित्व के बारे में यह प्रश्न पूछती है कि हम कौन हैं? हम इस संसार में क्यों हैं? मृत्यु के पश्चात क्या होता है? क्या हम मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकते हैं, यदि हाँ तो कैसे? जीवन का परम सत्य क्या है और हम उस तक कैसे पहुँच सकते हैं? ऐसे प्रश्नों एवं इनके उत्तरों के प्रति भारतीय और पश्चिमी दृष्टिकोण के बीच का अन्तर अधिकांश लोग जितना समझते हैं वह उससे कहीं अधिक जटिल है। अब मैं पूर्वपक्ष की परम्परा के द्वारा बिना किसी लाग-लपेट और वाक्चातुर्य के सीधे इन भिन्नताओं एवं मतभेदों की असंगतता एवं विरोधाभासों का वर्णन करूँगा।

यहूदी-ईसाई परम्पराओं के अनुसार ब्रह्माण्ड का प्रत्येक रहस्योद्घाटन ''ऊपर से'' आता है। यह मात्र ईश्वर द्वारा ही दिया जाता है और उसी के द्वारा प्रदत्त है। इस परम्परा के अनुसार मानव की ग्रहणशीलता तो आवश्यक है परन्तु केवल यही पर्याप्त नहीं है। भगवान सर्वोपरि हैं और मनुष्य की विचार-शक्ति एवं सत्य जानने की प्रक्रिया में उनका व्यक्तिगत रूप से ऐतिहासिक हस्तक्षेप करना आवश्यक है। इन धर्मों का आधार-स्तम्भ ऐसी ही ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। इन ऐतिहासिक विवरणों का अध्ययन एवं

संकलन एक तरह का जुनून उत्पन्न करता है, जिसे मैं ''इतिहास-केन्द्रेक'' कह कर सम्बोधित करता हूँ।

सनातन धार्मिक विश्वास एवं मान्यताएँ यहूदी-ईसाई पन्थ की तरह अथवा उसके समानान्तर किसी ऐतिहासिक घटनाक्रम पर आधारित नहीं हैं। इन धार्मिक परम्पराओं की मान्यता है कि वास्तविक सत्य 'कहीं बाहर' दूसरे स्वर्ग में स्थित नहीं है और न ही यह सत्य किसी अवतार या भविष्यवक्ताओं के हस्तक्षेप पर निर्भर है, बल्कि संसार में स्थित प्रत्येक मनुष्य, जीव, पौधे एवं लघुतम कण में अविभाज्य रूप में विद्यमान है। ईश्वरवादी धर्म परम्पराओं जैसे हिन्दू धर्म में मानवता भगवान की ही एक अभिव्यक्ति है एवं ग़ैर-ईश्वरवादी परम्पराओं जैसे बौद्ध एवं जैनियों में मानवता के आत्म-बोध को चैतन्य की उच्चतम वास्तविकता के रूप में स्वीकार किया गया है। इस जीवन में पूर्ण क्षमता के साथ ''सत्-चित्-आनन्द'' की अवस्था का अनुभव प्राप्त करने तथा ईश्वर के साथ एकाकार होने के लिए कोई भी मनुष्य स्व-विवेक एवं पूर्ण स्वायत्तता के साथ स्वयं के अस्तित्व का अर्थ समझने की क्षमता रखता है। योग के रूप में स्वाध्याय एवं साधना के द्वारा किसी भी साधक की सहायता हेतु ऐतिहासिक भव्य आख्यानों अथवा किसी संस्थागत अधिकारी की अनुमति के बिना साधन उपलब्ध हैं। सन्निहित ज्ञान प्राप्ति का रास्ता इसी उदात्त विचार के साथ आरम्भ होता है कि मानव जाति अपने आप में पवित्र है और यह विचार समूची मानवता को भारतीय संस्कृति का एक अनुपम उपहार है।

धार्मिक परम्पराएँ

यहूदी-ईसाई परम्पराओं की तरह सनातन धार्मिक परम्पराएँ एक सामूहिक एवं ऐतिहासिक पहचान के माध्यम से ज्ञान, संस्कारों एवं अनुभव का प्रसारण नहीं करतीं, बल्कि इसमें ज्ञान का आकांक्षी व्यक्ति अपनी क्षमतानुसार परम सत्य की खोज में किसी भी बिन्दु से अपनी खोज आरम्भ करने के लिए स्वतन्त्र है। उदाहरण के लिए बीसवीं सदी के एक हिन्दू सिद्ध-पुरुष श्री रमण महर्षि अपने आत्मज्ञान प्राप्ति के लिए किसी अध्ययन या ऐतिहासिक घटना पर निर्भर नहीं थे। जब वेदान्त दार्शनिक आदि शंकर द्वारा लिखे गये दर्शन ग्रन्थ उन्हें दिखाये गये तो उन्होंने कहा कि ये मात्र उनकी आध्यात्मिक यात्रा के दौरान की गई सत्य की खोज की पुष्टि ही करते हैं। सभी सनातन धार्मिक परम्पराएँ इस परम सत्य को जानने के लिए इस ग़ैर-ऐतिहासिक एवं प्रत्यक्ष मार्ग का अनुकरण करती हैं। श्री महर्षि अरविन्द ने भी पाया कि उनके द्वारा किये गये आध्यात्मिक अनुभव वेदों के अध्ययन से पुष्ट हुए थे। उन्होंने कहा कि लम्बे समय के पश्चात् जब मैंने पाँडिचेरी में वेदों को पढ़ना प्रारम्भ किया तो निश्चित रूप से मेरे अनुभवों की पुष्टि हुई, न कि वे मेरी साधना में कोई सहायक बने।[1]

प्रत्येक मनुष्य में ''सत्-चित्-आनन्द'' के अनुभव की सम्भावना मौजूद है एवं सभी युगों और सभ्यताओं में इसे आदर्श पुरुषों ने कभी कभार साकार किया है। अत:

सनातन धार्मिक परम्पराएँ किसी विशेष इतिहास के प्रति अनुचित चिन्ता किये बिना बहुत से आध्यात्मिक गुरुओं की परम्पराओं द्वारा सिखाये गये ज्ञान पर भरोसा करके ही विकसित और पल्लवित हुई हैं। उनके द्वारा किये गये अथक प्रयासों के कारण ही साधकों के लिए ज्ञान का एक अतुलनीय विशाल स्रोत उपलब्ध हुआ है। यह स्रोत अन्य शिक्षकों एवं मार्गदर्शकों के लिए एक विकेन्द्रित पुस्तकालय के रूप में उपलब्ध है, जिससे वे शिक्षक एवं सहायक बन कर दूसरों की सहायता कर सकते हैं। अत: धार्मिक साधकों एवं शिष्यों के लिए यीशु को एक पवित्र अवतार के रूप में स्वीकार करना तो आसान है लेकिन यीशु अद्वितीय नहीं हैं, क्योंकि उनके समान समकक्ष स्थिति सभी मनुष्य प्राप्त कर सकते हैं।

इतिहास पर निर्भर पश्चिमी विचार एवं सनातन धार्मिक परम्पराओं के बीच महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि धार्मिक परम्पराएँ मनुष्य को ध्यान-प्रक्रिया द्वारा आत्मज्ञान और परम सत्य पर छाये हुए अँधेरे को परत-दर-परत समाप्त कर उच्चतम सत्य की खोज करने हेतु प्रेरित करती हैं, जबकि पश्चिमी विचारधारा में ऐसा करने हेतु वैचारिक एवं तकनीकी दोनों विधाओं का नितान्त अभाव है। यहाँ तक कि यदि सभी ऐतिहासिक साक्ष्य खो जायें, ऐतिहासिक स्मृतियाँ मिटा दी जायें और प्रत्येक पवित्र स्थल को नष्ट भी कर दिया जाये, तब भी भारतीय धार्मिक-आध्यात्मिक परम्पराओं द्वारा साधारण मनुष्य उस परम ईश्वरीय सत्य को प्राप्त करने में सक्षम है।

हिन्दू एवं बौद्ध धर्म अपने अद्वितीय इतिहास को दूसरों पर नहीं थोपते और न ही पूरी दुनिया में अपनी ऐतिहासिक और आध्यात्मिक सम्प्रभुता का दावा करते हैं। दूसरों के आध्यात्मिक और ऐतिहासिक दावों के बारे में ये धर्म बहुत ही सहज हैं, क्योंकि किसी विशेष समय अथवा स्थान पर या किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा एकाधिकार के रूप से परमात्मा तक पहुँचने का प्रस्ताव किया ही नहीं जा सकता। ईश्वरत्व को पाने की आकांक्षा सभी रख सकते हैं और सम्भवत: उसे प्राप्त भी कर सकते हैं। सनातन धार्मिक मान्यताओं के महत्वपूर्ण आख्यान उदाहरण और सहायक के रूप में उपलब्ध रहते हैं।[2]

रिचर्ड लेनॉय (Richard Lannoy) नामक विद्वान धार्मिक परम्पराओं के इतिहास के प्रति उदासीन भाव को व्यक्त करते हैं और मेरे इस विषय में विचारों एवं स्थिति को सार-रूप में पेश करते हुए कहते हैं कि,

> ''इस्लामी एवं यहूदी-ईसाई परम्पराओं के विपरीत हिन्दू या बौद्ध धर्म में इतिहास का कोई आध्यात्मिक महत्व नहीं है। मानव जीवन का उच्चतम आदर्श बिन्दु है ''जीवन-मुक्ति,'' अर्थात् काल के बन्धन से मुक्त जीवन। भारतीय दर्शन के अनुसार मनुष्य को इस संसार में किसी भी कीमत पर इस इतिहास और असांसारिक मार्ग को खोजना चाहिए।[3]

यहूदी-ईसाइ पन्थ

सनातन धार्मिक परम्पराएँ व्यक्ति-विशेष में विद्यमान दिव्य क्षमताओं को महत्व देती हैं, जबकि यहूदी-ईसाई परम्परा का बल ''पाप से मुक्ति'' पर अधिक होता है। इस धार्मिक दृष्टिकोण से यहूदी-ईसाई परम्परा में इतिहास से असाधारण आसक्ति बेतुकी नहीं तो कम-से-कम विचित्र अवश्य है। जैसा कि श्री अरविन्द कहते हैं—

> ''यूरोप में ईसा मसीह की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में जो विवाद उत्पन्न हुए एवं उससे ईसाइयों में जो नाराज़गी हुई, वह भारतीयों की आध्यात्मिक बुद्धि की दृष्टि में समय का अपव्यय ही था। एक भारतीय इसके विशेष ऐतिहासिक महत्व को तो स्वीकार करेगा, परन्तु धार्मिक महत्व को नहीं क्योंकि अन्त में इस से क्या अन्तर पड़ता है कि क्या यीशु (जो कि एक बढ़ई जोसेफ़ के बेटे थे) वास्तव में बेथलेहम में पैदा हुए, उन्होंने वहाँ निवास किया और पढ़ाया? उन पर लगे राजद्रोह के आरोप सत्य थे अथवा गढ़े हुए जिनके कारण उनकी हत्या की गई? यदि हम अपने आध्यात्मिक अनुभव से आन्तरिक यीशु को जान सकते हैं, उसके ज्ञान के प्रकाश में अपना जीवन जी सकते हैं और उस मनुष्य की भाँति भगवान से प्रायश्चित करके अपने आप को प्राकृतिक दासता से छुड़ा सकते हैं। यदि यीशु भगवान के द्वारा बनाया मनुष्य हमारे आध्यात्मिक अस्तित्व में रहता है तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि वह मैरी के पुत्र के रूप में जन्मा, सताया गया और उसका अन्त हुआ या नहीं। इसी प्रकार हमारे लिए भी श्री कृष्ण ईश्वर के शाश्वत् अवतार हैं न कि केवल कोई ऐतिहासिक शिक्षक या नेता।''[4]

यहूदी-ईसाई धार्मिक मान्यताओं के अनुसार मनुष्य का जन्म मूलत: पाप के अन्तर्गत हुआ है, इसलिए वह इस धरती पर योग एवं अन्य धार्मिक पद्धतियों की मदद से भगवान के साथ एकीकरण की सम्भावना का अनुभव नहीं कर सकता है। ईसाइयत के अनुसार परमात्मा से मिलन का एकमात्र रास्ता यीशु ने क्रॉस पर चढ़ कर खोला है, अत: ईसाई सिद्धान्त की अवधारणा उसी एकमात्र ऐतिहासिक घटना पर निर्भर है।

ईसाई मत उस मोक्ष के इतिहास का समर्थन करता है जिसका विस्तार कम-से-कम दो युगों में फैला है। इनकी पहली कहानी है इजराइलियों की, जो स्वयं को ''भगवान द्वारा चुने हुए मनुष्य'' के रूप में निरूपित करते हैं और जो मानते हैं कि दुनिया में न्याय और शान्ति का आरम्भ करने वाले तथा विभिन्न राष्ट्रों के लिए प्रकाश-पुंज के रूप में एकमात्र वे ही हैं। इतिहास ने इज़राइल के इस विश्वास के प्रति उसकी प्रतिबद्धता अथवा विश्वासघात दोनों को ही दर्शा दिया है। उनकी प्रतिबद्धता ने उन्हें झूठे भगवानों के बन्धन से मुक्त किया है और कन्नान की भूमि पर कब्जे से पुरस्कृत किया है (इसमें

वर्तमान फ़िलीस्तीन की जमीन भी सम्मिलित है)। जबकि उनके विश्वासघात के लिए उन्हें पाप के बन्धन और मातृभूमि से निर्वासन के रूप में दण्डित किया है।

बाद में ईसाई चर्च ने 'ईश्वर के लोगों' की विरासत ले कर और इज़राइल के, विशेषकर यीशु मसीह के प्रकाश को अन्य राष्ट्रों तक पहुँचाने का दायित्व लिया। उस आह्वान के प्रति निष्ठा का इतिहास ही चर्च के इतिहास के रूप में वर्णित किया जाता है जिसमें पुरस्कार के रूप में अनन्त जीवन तो है ही, साथ ही सिर्फ़ कन्नान ही नहीं बल्कि समूची पृथ्वी पर शासन करने का वचन भी दिया गया, जबकि अनास्थावादियों अर्थात नास्तिकों के लिए एक नरक एवं पृथ्वी के विनाश का दण्ड निर्धारित किया गया है।

इस प्रकार की आस्थाओं का निर्माण करके ईसाइयत को अन्य संस्कृतियों एवं सभ्यताओं को सुधारने (कभी-कभार ज़ोर-ज़बरदस्ती से भी) की अनुमति देने के औचित्य को भी सिद्ध किया गया। हालाँकि सभी ईसाई एवं यहूदी इस परियोजना का समर्थन नहीं करते और बाइबल के नये एवं पुराने टेस्टामेण्ट्स में ऐसे विचार हैं जो आदर्श उदाहरणों से नेतृत्व का निर्धारण करने की माँग करते हैं, न कि जोर-जबरदस्ती से। बहरहाल ईसाई मिशन की इस भावना के कारण संसार भर में विभिन्न आक्रामक सरकारों द्वारा ईसाई मत के विस्तार का आयोजन किया गया। परिणामत: हिंसा द्वारा स्थानीय और मूल संस्कृतियों का विनाश कर दिया गया। इसके अतिरिक्त धर्म-परिवर्तित लोग ईसाई समुदाय के विश्वासों को अपनाने के बाद न केवल अपनों से दूर हो गये, बल्कि अपने स्वयं के पूर्वजों और उनकी परम्पराओं का अपमान करने लगे।

इन परम्पराओं में दावा किया गया है कि ईश्वर ने अपने विशेष प्रिय मनुष्यों को ही चुना है। ऊपर दिये गये दोनों उदाहरणों के अनुसार केवल एक सामूहिक ईकाई, अर्थात ''इज़राइल और फिर चर्च'' को ही भगवान ने अपनी कृपा के लिए चुना है। इस विश्वास के अनुसार ईश्वर ने अपने विचारों और विशिष्ट योजनाओं का खुलासा विशिष्ट एवं नाटकीय ऐतिहासिक अवसरों द्वारा करने के लिए चुने हुए नबियों का सहारा लिया, जो कुछ विशेष समुदायों से थे। इन तथाकथित नबियों द्वारा लिखित विचारों को न केवल उन समुदायों के लिए एक परम धार्मिक सत्ता के रूप में मान लिया गया, बल्कि समूची मानवता पर हमेशा के लिए थोप दिया गया। इस प्रकार समूची पृथ्वी के भाग्य को इन्हीं लिखित विचारों पर निर्भर कर दिया गया। यह संगठित पन्थ एक तरह के ''इतिहास क्लब'' की तरह है जो इन नबियों की शिक्षाओं और निर्देशों की सुविधानुसार सही व्याख्या करने में लगा हुआ है। इस लिखित दृष्टिकोण में स्थित विभिन्न सन्देहों और अनुचित व्याख्याओं के बारे में किसी भी प्रश्नकर्ता की चर्च के सत्ताधीशों द्वारा न केवल विश्वासघाती कह कर निन्दा की जाती है, बल्कि प्रश्नकर्ता को कठोर परिणाम भुगतने सम्बन्धी प्रताड़ना भी दी जाती है। इस प्रकार मानव-मात्र का उद्धार करने वाले इस सामूहिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण के विपरीत भारतीय सनातन धर्म व्यक्तिगत धार्मिक दृष्टिकोण एवं ज्ञान पर बल देता है।

(दूसरी ओर सनातन धार्मिक साधकों में राजनैतिक चेतना की कमी स्पष्ट दिखती है। इसका एक कारण यह भी है कि इनमें ऐसे संस्थानों एवं संगठनों की कमी है जो सामूहिक एवं ऐतिहासिक रूप से सनातन धार्मिक पहचान को बढ़ावा देते हों)।

ऐतिहासिक साक्ष्यों पर ही पूरी तरह निर्भर रहने की कई गम्भीर समस्याएँ हैं, जो सत्य को जानने एवं परम सत्य को समझने में बाधक हैं। यह लिखित वचन न केवल अवैज्ञानिक एवं अतार्किक हैं (इनके महत्वपूर्ण दावे पुनरावृति अथवा प्रमाणीकरण के योग्य नहीं हैं), बल्कि इन घटनाओं के विरोधाभासी दावों की वजह से इस पन्थ के भीतर एवं इसके प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदायों के बीच संघर्ष होता रहता है। इन ग्रन्थों में विद्यमान शाब्दिक रूप से ग़ैर-समझौतावादी अटल इतिहास अपने कुछ शाब्दिक अर्थों को ले कर कुख्यात रूप से अपारदर्शी हैं जो वास्तव में विनाशकारी परिणाम देने में अग्रणी हैं।

उदाहरण के लिए ईसाई ज़ायोनिस्ट (Christian Zionists) — जोकि एवेंजेलिकल प्रोटेस्टेण्ट एवं अमरीका के दक्षिण पन्थी धार्मिक अधिकार प्राप्त प्रभावशाली वर्ग का एक उपसमूह है, का मानना है कि जब डेविड के प्रमुख यहूदी मन्दिर को उसके मूल स्थान पर भव्य स्वरूप में खड़ा किया जायेगा तब यीशु धरती पर पुन: वापस आयेंगे (अर्थात् दूसरा जन्म लेंगे)। परन्तु जिस स्थान पर यह मूल मन्दिर कभी था वहाँ स्थित मस्जिद आज इस्लाम की सबसे पवित्र मस्जिदों में एक है। मुसलमानों का मानना है कि पैग़म्बर मोहम्मद ने स्वयं उसी स्थान पर महत्वपूर्ण और सर्वोत्कृष्ट रहस्योद्घाटन किया था। अत: उन्होंने ठान लिया है कि उस स्थान का सम्मान वहाँ पर स्थित मस्जिद को वहीं बनाये रख कर ही होगा। दोनों पक्षों के दावे समझौता करने की स्थिति में नहीं हैं तथा एक का मत दूसरे के लिए विनाशकारी है। इस प्रकार यह दोनों ओर के आधिकारिक इतिहासों का संघर्ष है जिसे मध्य-पूर्व के देशों में ‘‘सभ्यताओं के संघर्ष’’ (clash of civilizations) का नाम दिया गया है। ज़ायोनिस्ट ईसाइयों की मान्यता है कि ईश्वर-आदेशित उनके ऐतिहासिक कर्तव्य को पूर्ण करने के लिए इस मस्जिद का ढहाया जाना अति-आवश्यक है।

पश्चिमी श्रोताओं के लिए धर्म की व्याख्या

पश्चिमी लोगों के लिए उत्तेजक प्रश्न

मेरी इस परा-सांस्कृतिक खोज यात्रा में एक ऐतिहासिक दिन तब आया जब मेरे मस्तिष्क में संस्कृतियों की भिन्नताओं के बारे में मेरे निष्कर्ष स्पष्ट हुए। कुछ वर्ष पहले की बात है, मुझे न्यू जर्सी में हिन्दू धर्म पर वहाँ के ऐसे वरिष्ठ अधिकारियों के समक्ष अनौपचारिक व्याख्यान देने हेतु आमन्त्रित किया गया था जिनका हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में ज्ञान अत्यन्त सतही था।[5] मैंने अपने व्याख्यान का आरम्भ उन श्रोताओं से कुछ प्रश्न पूछ कर किया कि ‘‘मान लो यदि आपके समस्त ऐतिहासिक तथ्य गलत

साबित हो जायें, अथवा खो जायें तब आपके धार्मिक जीवन में क्या बचेगा? मान लीजिये कि यदि ऐसा हो कि ईश्वर की ओर से पैग़म्बर के माध्यम से दिये हुए ऐतिहासिक घटनाओं के ज्ञान से आपको वंचित होना पड़े तो आप क्या करेंगे? आप किस प्रमाण से अपना धार्मिक जीवन जियेंगे? दूसरे शब्दों में कहूँ तो क्या आप बिना ऐतिहासिक स्रोतों पर निर्भर हुए आध्यात्मिक सत्य की खोज स्वयं के बलबूते पर कर सकेंगे? या फिर उन ऐतिहासिक स्रोतों के न होने पर आप किसी आध्यात्मिक शून्य में खो जायेंगे?

मुझे आश्चर्य हुआ जब यहूदियों और ईसाइयों का वह समूह इन प्रश्नों से हैरान, परेशान एवं कुछ मामलों में तो एकदम भौंचक्का रह गया। अधिकांश ने कहा कि ऐसी परिस्थिति में उनके लिए धार्मिक होना लगभग असम्भव हो जायेगा और आगे यह भी कहा कि उन ऐतिहासिक पैग़म्बरों के बिना मानव प्रजाति उस ईश्वरीय इच्छा शक्ति को जानने में अक्षम सिद्ध होगी। कुछ दूसरों ने कहा कि यीशु के विशिष्ट व्यक्तिगत बलिदान (अर्थात अद्वितीय ऐतिहासिक घटना) के कारण ही मानवता के लिए मुक्ति सम्भव हो सकी है। उस समूह में कुछ लोग इस चर्चा से परेशान भी दिखे। इन्हीं में से एक व्यक्ति ने बाद में मुझसे कहा कि मुझे इस तरह उनके इतिहास का खण्डन करने का कोई अधिकार नहीं है।

मेरे इन प्रश्नों ने उनकी धार्मिक मान्यताओं के आधार को ही खिसका दिया था। उनकी बेचैन प्रतिक्रियाएँ यह दर्शाने के लिए पर्याप्त थीं कि यहूदी और ईसाई दोनों ही समुदाय अपनी ऐतिहासिक मान्यताओं को कितना महत्व देते हैं, हालाँकि अलग-अलग कारणों से ही सही। यहूदियों के लिए आध्यात्मिक मुक्ति व्यक्तिगत नहीं बल्कि सामूहिक होती है एवं इज़राइल की उत्पत्ति के इतिहास में भगवान के पवित्र हस्तक्षेप द्वारा उसके उद्धार का गहरा संकेत है। उस ऐतिहासिक घटना के बिना वे ईश्वर की इच्छा समझने में असफ़ल होते और मोक्ष की ओर ले जाने वाला वह पथ उनके लिए दुर्गम हो जाता। मिस्र से इज़राइलियों के पलायन को बाइबल में एक महत्वपूर्ण घटना कहा गया है। यह तथ्य सामूहिक मोक्ष की अवधारणा में यहूदियों के मुख्य विश्वास का आधार है।

ईसाइयों का कहना है कि उनकी आध्यात्मिक मुक्ति तीन ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित है—यीशु का अवतार, उनका बलिदान एवं पुनर्जीवित होना। ईसाई एवं यहूदी अपनी परम्पराओं के अनुसार वास्तविक ऐतिहासिक विवरण की आलोचना कुछ हद तक सहन कर लेते हैं, परन्तु पूरी तरह से मोक्ष प्राप्त करने के लिए उन्हें कुछ ख़ास ऐतिहासिक घटनाओं की नितान्त आवश्यकता है। जहाँ यहूदियों के लिए यह घटना आमतौर पर भारी संख्या में पलायन (Passover में उसे याद किया जाता है) की स्मृति के रूप में आता है, वहीं दूसरी ओर ईसाइयों के लिए यह यीशु के पुनर्जन्म (ईस्टर) के रूप में आता है।

मैंने उन श्रोताओं के समक्ष अपने व्याख्यान को बढ़ाते हुए कहा कि भारतीय सनातन धर्म बिना किसी ऐतिहासिक लेखन अथवा घटना के भी जीवित रह सकता है। उदाहरण के लिए योगसूत्र के रचयिता पतंजलि के जीवन इतिहास को अलग रखते हुए भी योग तकनीकों एवं विधियों के माध्यम से आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त की जा सकती है। इन योगसूत्रों की शिक्षा में कोई भी ऐतिहासिक सन्दर्भ नहीं हैं।

धर्म और प्रत्यक्ष अनुभव

धार्मिक परम्पराओं में ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रत्यक्ष अनुभव एवं उसके पुष्टिकरण के लिए प्रायोगिक परीक्षण अधिक महत्वपूर्ण हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्तर पर सत्य की खोज एवं उसका पुन: परीक्षण करने का अधिकार है। अत: यह उसके अपने आन्तरिक एवं बाह्य प्रयासों के माध्यम से ही होना चाहिए। इसलिए सनातन धार्मिक परम्परा का पूरा ध्यान आत्म-अनुशासन की तकनीकों, उनके प्रसारण की विधियों, जीवन की विभिन्न परिस्थितियों एवं व्यक्तियों के स्वभावों के अनुकूल उन्हें बनाने के प्रयोगों पर तथा विशिष्ट परम्पराओं के न्यायसंगत बचाव पर आधारित होता है, न कि केवल बुद्धि-विलास के लिए ही।

तन्त्र की साधनाएँ किसी हिन्दू सन्त अथवा देवताओं के निजी जीवन पर आधारित नहीं हैं। भजन एवं भक्तिगीत भी इतिहास केन्द्रिक नहीं हैं और न ही ये भजन उन सन्तों के जीवन-विचार पर निर्भर हैं जिन्होंने इन भजनों की रचना की। अन्त में देवताओं को भी ऐतिहासिक व्यक्तियों के रूप में नहीं देखा जाता, बल्कि उन्हें बल और बुद्धि के सर्वकालिक प्रतीकों के रूप में माना जाता है जैसे कि गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को।

एक सनातन धार्मिक व्यक्ति के लिए इतिहास सम्बन्धी चेतना एक श्रेष्ठ दिशानिर्देश की तरह तो अवश्य है, विशेषकर उस व्यक्ति के लिए जो अपने स्वयं के आध्यात्मिक अनुभवों से सीख कर प्रगति नहीं कर पाया हो। इसलिए हिन्दू एवं बौद्ध प्राय: विशिष्ट सम्प्रदाय परम्परा अथवा भगवान के अवतार के इतिहास पर बल तो देते हैं, परन्तु अन्तत: उनका लक्ष्य अतीत की घटनाओं की बैसाखियों के बिना आत्मज्ञान की स्थिति को प्राप्त करना होता है। मेरा मानना है कि हर व्यक्ति में ऋषि अथवा योगी बनने की प्रबल सम्भावना निहित होती है, क्योंकि यह तथ्य सर्वविदित है कि समय-समय पर दुनिया की विभिन्न संस्कृतियों में असंख्य सन्तों ने स्वाध्याय से आत्मबोध प्राप्त किया है। अर्थात इतिहास बोध एवं जागरूकता होना अच्छी बात तो है, लेकिन ईश्वरीय दिव्य चेतना की सन्निहित स्वानुभूत अवस्था प्राप्त करने के लिए यह ''अति-आवश्यक'' तो कतई नहीं।[6]

इसके विपरीत चर्च में सिखाई जाने वाली प्रार्थनाओं और तकनीकों का समस्त प्रभाव यीशु पर आधारित विशेष घटनाओं पर निर्भर है, जैसे कि उनकी मृत्यु कैसे हुई

और मरने के बाद वे कैसे जी उठे। न्यूजर्सी के मेरे वे उदार और पढ़े-लिखे श्रोता मेरी वार्ता सुन कर अन्दर से हिले हुए थे और मैं यह जानने के लिए उत्सुक था कि क्या मैंने धर्म में इतिहास की आवश्यकता तथा इतिहास पर उनकी स्वयं की निर्भरता सम्बन्धी उनके मन में छिपे हुए गम्भीर सन्देहों पर प्रकाश डाला था? मैं सोच रहा था कि क्या मेरे प्रश्नों ने उन्हें इतिहास पर उनकी निर्भरता से वंचित करना प्रारम्भ कर दिया था और क्या कुछ सीमा तक मेरे व्याख्यान से उनके अन्दर रिक्तता के लक्षण सक्रिय हो गये थे? आखिर उनकी धार्मिकता इतनी आकस्मिक और कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक प्रसंगों पर ही निर्भर क्यों है? क्या समूचे संस्थागत यहूदी-ईसाई धर्म सम्प्रदाय इतिहास के बन्धन में जकड़े हुए हैं? इस विचार से मेरे इस शोध-प्रबन्ध की एक निश्चित रूपरेखा निर्धारित हुई कि इतिहास-केन्द्रिक होना ही यहूदी-ईसाई परम्पराओं एवं सनातन धार्मिक परम्पराओं के बीच प्रमुख भिन्नता है।

यह महत्वपूर्ण है कि इस प्रकार के वैचारिक संवाद में सबसे पहले हमें धर्म की स्पष्ट परिभाषा प्रतिपादित करनी होगी, जिस हेतु मैंने नीचे दिये हुए रेखा-चित्र द्वारा हिन्दू धर्म को संक्षेप में प्रदर्शित किया है।
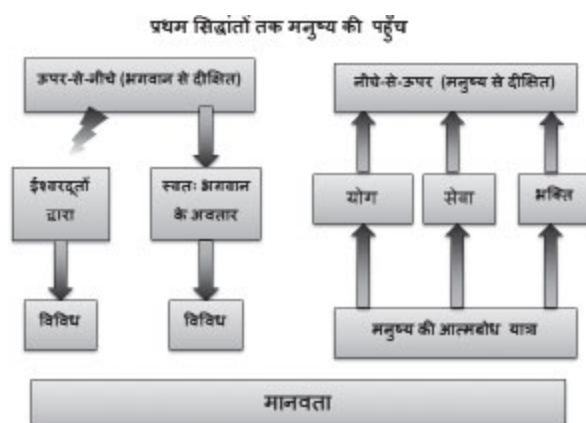
चित्र का बाँया हिस्सा ईश्वर द्वारा प्रतिपादित सत्य के आरम्भ एवं प्रसार को प्रदर्शित करता है जिसमें इस कार्य के लिए यीशु अथवा पैग़म्बर जैसे अवतारी बिचौलियों की मदद ली गई थी। ईसाइयों के मत के अनुसार ईश्वर केवल एक बार यीशु के रूप में अवतरित हुए थे, हालाँकि यहूदियों और मुसलमानों का इस बात पर विश्वास नहीं है कि ऐसा कोई अवतार कभी हुआ भी था। हिन्दू धर्म में अवतारों की न तो कोई मानक सूची है जो बन्द हो चुकी हो और न ही भगवान ने अपने को किसी विशेष अवतार तक सीमित किया है।

चित्र का दाँया भाग दर्शाता है कि सनातन धार्मिक परम्पराएँ किस तरह यहूदी-ईसाई परम्पराओं से नाटकीय रूप से भिन्न हैं। यह आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए मानव द्वारा स्थापित रास्तों को दर्शाता है। कई युगों से विभिन्न सन्तों-योगियों ने सत्य

के मार्ग की इस प्रक्रिया को खोजा, परन्तु उनमें से किसी ने भी इस बात का दावा नहीं किया कि उनके द्वारा दिखाया गया मार्ग ही ''प्रमुख या अन्तिम'' है या केवल उनकी पद्धति ही ''एकमात्र सही'' है या सभी मानवों के लिए यही मार्ग ''सर्वश्रेष्ठ'' है। न ही भारत के धार्मिक साधक यह मानते हैं कि उनके द्वारा अब तक सभी सम्भावित रास्तों को खोज लिया गया है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो आध्यात्मिक खोज के लिए प्रत्येक नये दृष्टिकोण का रास्ता सदैव खुला है।[7]

इतिहास वास्तव में इतिहास (History) एवं मिथक के साथ और भी बहुत कुछ है

धार्मिक परम्पराएँ अपने अतीत को ''इतिहास'' के माध्यम से जोड़ती हैं। यह संस्कृत भाषा का एक शब्द है जिसका अनुवाद कभी-कभी ''मिथक'' या ''कथा'' के रूप में भी किया जाता है। यह महत्वपूर्ण है कि ''इतिहास'' और ''मिथक'' शब्दों के उपयोग को यहाँ स्पष्ट किया जाये। सामान्यत: पश्चिम में श्री राम एवं श्री कृष्ण से जुड़ी सभी कथाओं को ''मिथक'' कह कर उल्लेख किया जाता है। पश्चिम की जनलोकप्रिय भाषा में ''मिथ'' शब्द का उपयोग काल्पनिक, विलक्षण, कथात्मक, यहाँ तक कि अंधविश्वासपूर्ण, आदिमयुगीन एवं झूठ दर्शाने के सन्दर्भ में भी किया जाता है। महत्वपूर्ण यह है कि पश्चिम में इस शब्द को ''सत्य'' का विपरीतार्थी माना जाता है। असल में यूरोपीय विद्वानों ने ग्रीको-रोमन तथा ईसा-पूर्व रचे गये साहित्य का अध्ययन कर उसे एक मानक बनाया एवं उन्हीं परिभाषाओं को विभिन्न लोगों एवं स्थानों का वर्णन करने के लिए उपयोग करने लगे, जोकि पश्चिम के उपनिवेशों के रूप में उनके अधीनस्थ थे, उनके द्वारा शासित थे या जो ईसाई धर्म की परिधि से बाहर थे। पश्चिमी विद्वानों ने ''मिथक'' शब्द को जादुई देवी-देवताओं, आत्माओं एवं राक्षसों की छवि के रूप में आच्छादित किया जिसकी झलक हमें 'इण्डियाना जोंस'' (Indiana Jones) जैसी फ़िल्मों की कोरी कल्पना में दिखाई देती है। यह काल्पनिक परिभाषा सुनने में भले ही मनोरंजक, आकर्षक एवं सुन्दर प्रतीत होती है, परन्तु यह सत्य की विश्वसनीयता से कोसों दूर है।

इतिहास बनाम मिथक

पश्चिमी विचार कि '' 'इतिहास' और 'मिथक' पारस्परिक रूप से अलग हैं,'' की जड़ें यहूदी-ईसाई परम्पराओं में ही हैं। नये टेस्टामेण्ट में प्राचीन काल में ईसाई सभाओं को भेजे गये एक पत्र के द्वारा अधिकारपूर्वक यह दावा करने का उल्लेख है कि ''जब हमने यीशु मसीह की शक्तियों और उनके आगमन के बारे में आपको बताया, तो हमने चतुराईपूर्वक सोची कल्पित कथाओं का अनुकरण नहीं किया था, बल्कि हम उनकी महिमा के आँखों देखे साक्षी थे'' (2 Peter 1:16)[8]

यूरोपीय ज्ञानोदय के पहले बाइबल के साहित्य को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में व्यापक तौर पर स्वीकार किया जाता था। आज जबकि बाइबल के शोधार्थी बाइबल को कुछ हद तक कविताओं, पौराणिक कथाओं, शास्त्रों तथा सामाजिक संस्कृति के भण्डार के रूप में देखते हैं, वहीं जो कथाएँ ईसाई मत के लिए महत्वपूर्ण हैं उन्हें निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्यों के रूप में देखा जाता है।

पश्चिम की निगाह में अन्य संस्कृतियों के धार्मिक आख्यान ''मिथक'' (शालीनता से कहा जाये तो ''पवित्र कथाएँ'') हैं, जबकि उनके स्वयं के आख्यानों को वे ''ऐतिहासिक रूप से सत्य'' कहते हैं। अन्य संस्कृतियों के आख्यानों को वे कोरी कल्पनाओं की तरह चित्रित करते हैं और यह प्राय: उन संस्कृतियों के प्रति गलत दृष्टिकोण का आधार बनते हैं। माना जाता है कि अन्य सभी सभ्यताएँ पश्चिम की प्राचीन एवं भविष्य में सफलतापूर्वक रहने वाली अखण्डित निरन्तरता जैसी क्षमता नहीं रखतीं। कई वर्ष पहले अमरीका में पत्रकारिता के एक प्रोफ़ेसर ने मुझे बताया था कि उनके कॉलेज में विश्व की पौराणिक कथाओं के पाठ्यक्रम में बाकी विश्व की सभ्यताओं को उनके मिथकों के दर्पण से समझाया गया था, जबकि उस विश्लेषण में स्वयं पश्चिम को अलग रखा गया। जब उसने इस की शिकायत की तो एक प्राध्यापक द्वारा उसे बताया गया कि पश्चिमी विचारों को ''मिथकों'' द्वारा नहीं अपितु ''इतिहास'' द्वारा पढ़ाया जाता है। इस समस्या को उन्होंने जब उच्चाधिकारियों के समक्ष उठाया तो उन्हें कहा गया कि उस प्राध्यापक को पाठ्यक्रम को पढ़ाने की वैसी शैक्षिक स्वतन्त्रता है जैसा उन्हें उचित लगता हो। पत्रकारिता के इस प्राध्यापक ने अपना स्वयं का पाठ्यक्रम प्रस्तावित किया जिसमें उन्होंने बाइबल सहित विभिन्न पश्चिमी कथानकों की उनके मिथकों के अनुसार व्याख्या की थी। इसके पश्चात् इस प्राध्यापक को यह सुझाव दिया गया कि उनके इस पाठ्यक्रम से छात्र अपनी ''धार्मिक पहचान'' के बारे में परेशान एवं भ्रमित हो सकते हैं जो कि अनुचित है। अन्तत: प्रोफ़ेसर साहब ने अपना यह प्रस्ताव वापस ले लिया और उन्होंने दूसरे विश्वविद्यालय में जाना उचित समझा।

पश्चिमी सभ्यता में औपचारिक शिक्षा एवं बच्चों का पालन-पोषण उनकी विशिष्ट ऐतिहासिक पहचान को स्थापित करते हुए ही किया जाता है। विशेषकर अमरीका में तो यही सच है जहाँ इतिहास की हज़ारों संस्थाएँ अपने-अपने स्थानीय इतिहास-बोध की विशिष्टता स्थापित करने का काम कर रही हैं। इन्हें अत्यधिक सम्माननीय नागरिक संगठन माना जाता है। इन पर बड़ी मात्रा में सार्वजनिक धन खर्च किया जाता है तथा ये लोग करों में छूट भी प्राप्त करते हैं। न केवल प्रत्येक छात्र के पाठ्यक्रम में अमरीका के निर्माण-कर्ता पूर्वजों के बारे में बताया गया है, बल्कि झण्डे को भी ऐसे पूजा जाता है जैसे वह एक देवता हो। साथ ही इसे तह कर रखने एवं साथ ले जाने के भी कई औपचारिक नियम-कायदे हैं।

निस्सन्देह भारतीय धार्मिक सभ्यताओं के भी अपने ऐतिहासिक अभिलेख हैं तथा भारतीयों की अपनी ऐतिहासिक स्मृतियों की एक लम्बी परम्परा है, यद्यपि यहाँ धर्म को इतिहास पर निर्भर नहीं माना गया है।[9] पश्चिम को पता है कि धार्मिक संस्कृतियों में शाब्दिक इतिहास पर अधिक ज़ोर नहीं दिया जाता, इसीलिए वे इस बात पर अड़े रहते हैं कि भारत के धार्मिक आख्यानों में कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं हैं एवं ये पूरी तरह से काल्पनिक हैं। उदाहरण के लिए वेदों में प्रमुखता से सरस्वती नदी का उल्लेख किया गया है एवं अब विभिन्न उपग्रह चित्रों तथा आधुनिक भूविज्ञान से इसके अस्तित्व को सिद्ध भी किया जा चुका है तथा गुजरात के तट पर स्थित भगवान श्री कृष्ण की द्वारका को भी खोज लिया गया है। इन्हें अब भी पश्चिम के शोध अध्ययनों में भारतीय परम्पराओं के विवरण की कल्पित कथाओं के रूप में वर्गीकृत किया जाता है।[10] यहाँ पर यह बात महत्वपूर्ण है कि इन दोनों ही खोजों का मानव-शास्त्र (Anthropology) के अनुसार तो महत्व है, परन्तु सनातन धार्मिक-आध्यात्मिक साधनाएँ इन पर निर्भर नहीं हैं।

इतिहास

सनातन धार्मिक सभ्यताओं में अतीत की अवधारणाएँ पूरी तरह से किसी मिथक अथवा केवल किसी विवरण मात्र के माध्यम से नहीं बनाई गईं हैं। बल्कि इन्हें समग्र इतिहास द्वारा, जिसमें सम्मिलित है ''पुराकल्प'' (अर्थात अतीत की कथा) एवं जीवन के सभी पहलुओं के बारे में दी जाने वाली सलाह, प्रतिस्थापित किया गया है।

इतिहास में मात्र विवरण नहीं बल्कि सत्य का भी ध्यान रखा गया है। इतिहास को पुराणों के आख्यानों के साथ जोड़ा गया है जिसमें विवरण व मिथक दोनों शामिल हैं तथा इनके विभिन्न दृष्टिकोणों के कारण वे शाब्दिक वर्णन से कहीं अधिक खुले और मुक्त हैं। सत्य इतिहास पर निर्भर नहीं है, बल्कि वह तो इतिहास की एक अभिव्यक्ति है। भारतीय धार्मिक परम्पराओं में इतिहास व मिथक के बीच अन्तर्सम्बन्ध की तुलना में पश्चिमी विचारधारा के अन्तर्गत सत्य और मिथक के सम्बन्ध बिल्कुल भिन्न हैं।

भारतीय धार्मिक ग्रन्थों में विभिन्न दृष्टान्त अथवा उदाहरण प्रचुर मात्रा में दिये गये हैं। यह मात्र शिक्षा प्रदान करने के लिए ही हैं, न कि पश्चिम की तरह ऐतिहासिक घटनाओं के सटीक प्रमाणों के दावों के समान। मन्दिरों में हिन्दू अनुष्ठानों में भाग लेते हैं एवं इस प्रक्रिया का अधिकांश भाग वे अपनी संहिताबद्ध परम्परा का पालन करने में करते हैं और कुछ तो अपने धार्मिक आख्यानों के विवरण पर अति-विश्वास के आधार पर उनका उत्सव मना कर भी करते हैं। अधिकांश हिन्दुओं के लिए अपनी परम्पराओं में ऐतिहासिक घटनाओं को देखने का ढंग बहुत ही लचीला है। इतिहास एक अन्तहीन समय चक्र है जो लगातार बदलता है। हालाँकि हिन्दू इस बात को समझते हैं कि आध्यात्मिक यात्रा का आरम्भ करने वाले के लिए इतिहास की सोच मूल्यवान होती है, परन्तु एक निश्चित स्थिति तक पहुँचने के बाद उसकी आवश्यकता

नहीं रहती। धर्म का निष्ठावान साधक अपने भीतर बदलाव लाने की स्पष्ट इच्छा के लिए इतिहास पढ़ता है तथा उसमें निहित गुणों पर बल देता है, न कि उसके विवरणात्मक तथ्यों पर। श्री राम और श्री कृष्ण भावना के मूर्तिमान अवतार हैं एवं उनकी ऐतिहासिकता का महत्व उनके द्वारा स्थापित आदर्शों व नैतिकता द्वारा प्रतिस्थापित हो जाता है। श्री अरविन्द भारतीय आख्यानों की शाश्वतता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इन आख्यानों को भौतिक अतीत की घटनाओं के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए, जैसे वृन्दावन में गोपियों की लीला की संकल्पना दिव्य गोकुल में लगातार घटित हो रही है जो वास्तव में भौतिक वृन्दावन में अन्तरात्मा के स्तर पर उनके अर्थ सहित अनुभव की जा सकती है।[11] यद्यपि श्री अरविन्द ने भगवान श्री कृष्ण की ऐतिहासिकता को स्वीकार किया है, परन्तु यह भी स्पष्ट किया है कि इस ऐतिहासिकता पर कुछ भी निर्भर नहीं है।[12]

मूलत: इतिहास अपने आप में ही बहुलतावादी (pluralistic) है, जिसके आमतौर पर कई संस्करण होते हैं। नवनिर्मित अथवा नये संस्करण की कथा सामने आने पर पुराना अमान्य नहीं हो जाता। पिछले संस्करणों को मिटाने के लिए कोई पुरानी पुस्तकें नहीं जला देता। बल्कि जिस कथानक या इतिहास को अस्वीकृत कर दिया जाता है अथवा नज़र-अन्दाज़ किया जाता है, वह बाद में सम्भवत: एक निश्चित समय पर प्रासंगिक होने पर पुनर्जीवित भी हो सकता है। इसलिए भारत में प्राचीन परम्पराएँ अभी भी वर्तमान रिवाजों के साथ-साथ अस्तित्व में हैं। एक मुक्त अतीत भविष्य की पीढ़ियों के लिए एक रचनात्मक संसाधन का काम करता है जिससे लोग नये रास्तों की खोज कर सकें। जबकि दूसरी ओर पश्चिम के इतिहास का अनावरण अन्य समानान्तर विचारधाराओं को पनपने ही नहीं देता, उनसे भयभीत होता है और मानता है कि उन्हें संग्रहालय में प्रदर्शित करना अधिक सुरक्षित है (जीवित परम्पराओं की तरह नहीं, बल्कि मृत परम्पराओं की तरह)। परन्तु सभी विभिन्नताओं को नष्ट करके किसी एकपक्षीय इतिहास में समाहित करने से वह एकपक्षीय संस्कृति को ही बढ़ावा देता रहता है। इस प्रकार की समझ और अन्तर्दृष्टि के न होने से इतिहास को गलत समझा जाता है और उसे एक तथाकथित वास्तविकता बताते हुए एक मिथक के रूप में पेश किया जाता है।[13]

पश्चिमी देश यह माँग करते हैं कि उनके मिथकों को इतिहास के रूप में देखा जाये, ताकि उन्हें सत्य होने का अधिकार मिल सके। भारतीयों पर इस प्रकार का कोई इतिहास-केन्द्रित बोझ नहीं है, इसलिए वे अपने मिथकों को इतिहास के रूप में प्रस्तुत करने के दबाव में नहीं हैं।

बल्कि वहाँ कई अलग-अलग हिस्सेदार हैं जो अतीत के विषय में अपने-अपने संस्करणों की स्वीकृति के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं। इतिहास के निर्माण में शक्ति का प्रयोग हमेशा कार्यरत रहता है। (जैसे कि एक लोकप्रिय कहावत है कि ''इतिहास विजेताओं द्वारा ही लिखा जाता है'')। बहुधा यह देखा जा चुका है कि इतिहास

एकपक्षीय होता है, कि उसमें क्या समाविष्ट हो और क्या नहीं हो, क्या और किसे महत्व दिया जाये, किसके दृष्टिकोण को विशेषाधिकार मिले, किन मान्यताओं को थोपा जाये इत्यादि कई विचार काम करते हैं। पश्चिम में इतिहास को प्रस्तुत करने के लिए एक शक्तिशाली तन्त्र और विस्तृत प्रक्रिया विकसित की गई है तथा पश्चिमी मानविकी तन्त्र पश्चिमी मिथकों को तथ्यों में परिवर्तित करने में तन्मयता से लगा हुआ है।[14]

पश्चिमी अवलोकन

दुनिया की उत्पत्ति का कोई अभिलेख नहीं है और यह प्रागैतिहासिक काल की धुँध में डूबा हुआ है। हालाँकि मिथक वह वर्णन कर सकते हैं जो इतिहास नहीं कर सकता। एक समकालीन विचारक मैग्डा किंग (Magda King) लिखते हैं—''मिथक'' तथ्य छिपाता है और वह कह डालता है जो होता ही नहीं। मिथक वह आरम्भ देते हैं जिसका आरम्भ कभी हुआ ही नहीं था तथा ''किसी समय की बात को'' मिथक सार्वभौमिक और समकालीन गौरव प्रदान करते हैं। सच को व्यक्त करने के लिए मिथकीय कल्पनाओं का उपयोग किया जाता है।[15]

पश्चिम के विद्वानों की प्रवृत्ति भारतीय इतिहास के विभिन्न प्रस्तुतिकरणों का सामना करने में असमर्थ होने के कारण उन्हें मिथक एवं केवल मिथक के रूप में ही वर्गीकृत करने की रही है। जैसा कि पहले कहा गया है, उनके अपने मिथकों को वे इतिहास के रूप में याद रखते हैं। भारतीय आध्यात्मिक ग्रन्थों को वे जिन व्याख्यात्मक विधियों से तौलते हैं वे यहूदियों एवं ईसाई पन्थ की कहानियों के अध्ययन से बिलकुल भिन्न हैं। उदाहरण के लिए पश्चिम के अध्ययन के लिए समाजशास्त्रीय विधियों एवं युक्तियों का उपयोग होता है, जबकि तथाकथित आदिम सभ्यताएँ मुख्य रूप से मानवशास्त्र एवं लोकगीतों के माध्यम से अध्ययन की जाती हैं। यूरोपीय एवं अमरीकी सामाजिक इकाईयों को उन्होंने सदैव समुदाय के रूप में वर्णन किया है, जनजातियों के रूप में कभी नहीं।

पश्चिम में धार्मिक एवं धर्मनिरपेक्ष दोनों ही इतिहासों में प्रमुख बदलाव सामान्यत: हिंसायुक्त हुआ है। क्रमिक विकास के विभिन्न सोपानों ने पिछले चरण को भयाक्रान्त हो कर देखा है, इसलिए या तो उसे पूरी तरह पचा कर अथवा उसका हिंसक रूप से समूल नाश कर दिया गया है। इसलिए आधुनिक युग ने स्वयं को स्थापित और मजबूत करने के लिए पिछले मध्ययुगीन अथवा आदिमयुगीन चरणों से पूरी तरह से छुटकारा पाना है। परिणामस्वरूप एक बेचैनी और असन्तुलित से परिणाम दिखाई देते हैं।[16]

पश्चिम की श्रेष्ठताबोध की मान्यताएँ सार्वभौमिक इतिहास के साँचे के रूप में उभरीं, इसीलिए उनकी दूसरों पर विजय प्राप्त करने, उन्हें सभ्य बनाने एवं बलपूर्वक

उन पर अपना नेतृत्व थोपने की नीति स्पष्ट दिखाई देती है। जबकि कोई भी भारतीय जाति (सामाजिक समूह) अपने अतीत को ऐसा सार्वभौमिक नहीं मानती कि जिससे अन्य सभी समुदायों को गुज़रना ही पड़े। संसार पर शासन स्थापित करने का भारतीयों में कोई विधि-सम्मत भाव नहीं होता है। किसी भारतीय जाति (उदाहरण के लिए पंजाबी) में ऐसी कोई धारणा नहीं है कि उसके इतिहास की घटनाएँ एवं कालखण्ड केन्द्रीय रूप से विश्व के सभी समुदायों को परिभाषित करें। इतिहास निर्माण करने की गर्वीली ''भारतीय विस्तारवाद'' सरीखी कोई महत्वपूर्ण परियोजना कभी नहीं थी, जैसा कि पश्चिम में हुआ है।

इतिहास एवं भारतीय अतीत के विवरणों का आपसी सम्बन्ध कहीं अधिक जटिल एवं कई परतों में रहा है तथा भारत के परम्परागत दृष्टिकोण ने कभी भी अतीत को बदलने अथवा नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया है। इतिहास के विभिन्न चरण भारत में एक साथ घुल-मिल कर उपस्थित रहते हैं।

रामायण एवं महाभारत

भारतीय इतिहास में विवरण एवं मिथक दोनों उपस्थित रहते हैं तथा ये कथाओं के भण्डार के रूप में एक से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित होते रहते हैं। भारतीय महाकाव्य रामायण एवं महाभारत इस शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं जिन्हें सैकड़ों संस्करणों और विविधताओं में फिर से बताया गया है। प्राचीन काल में ''महाभारत'' का सबसे पहला संस्करण वैदिक विद्वान एवं गुरु श्री वेदव्यास द्वारा मौखिक रूप से सस्वर पाठ के रूप में लिपिबद्ध किया गया था। कथावाचन की भारतीय परम्परा आपसी सहभागिता की है, अर्थात् कथावाचक अपने श्रोताओं की रुचि को ध्यान में रख कर आरम्भ से ले कर अन्त तक उनसे जुड़ा रहता है। वार्ताकार अपने श्रोताओं की ओर से एक घटना, एक व्यक्ति, कोई नैतिक या आध्यात्मिक विषय रखता है जिसके चारों ओर कथाओं का अगला चरण बुना जाता है। यहाँ आश्चर्य एवं ज्ञान कथा में ऐसे गुँथे हुए होते हैं कि अतीत के साथ मनोरंजन होता हुआ प्रतीत होता है। एक बार सुनी हुई कथा जब कई बार दोहराई जाती है तब भी वह ऐसी प्रतीत होती है मानो पहले कभी सुनी न गई हो।

श्री राम की अक्षरशः कथा कभी दोहराई नहीं जा सकती, हर बार उसमें कथाकार द्वारा दिये जाने वाले तथ्य, उसके द्वारा पुनर्कथन (प्रायः बातचीत के रूप में) तथा श्रोताओं-दर्शकों की बदलती हुई रुचि एवं धारणा संयोजित रहती है। इस प्रकार इतिहास प्रचलित सर्वसम्मति के अनुसार बदलते और विकसित होते हैं एवं परिस्थितियों के अनुरूप ढल भी जाते हैं।

ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने भारतीय अतीत को अपने इतिहास की संकल्पना के अनुरूप इस तरह ढाला ताकि वह भारत को सदा के लिए एक अधीनस्थ और शासित

के रूप में विश्व-मंच पर उपयोगी साबित कर सकें। इतिहासकार रंजीत गुहा ने टिप्पणी की है कि पश्चिम में राज्य एवं इतिहास लेखन के बीच विश्व-इतिहास नाम का एक रणनीतिक गठबन्धन बनाया गया। उस कूटनीति के अनुसार भूतकाल पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि इतिहास के रूप में जो कथा थी उसे नागरिक सभ्य समाज से उखाड़ कर राज्य के सुपुर्द कर दिया गया।[17] धीरे-धीरे भारतीयों ने इस कथित विश्व-इतिहास को इस तरह स्वीकार करना आरम्भ कर दिया जैसे कि यूरोपीय अर्थ के अनुसार ही उनका भी एक अतीत है। विश्व-इतिहास का हिस्सा बन कर वे आशा करने लगे कि मिथक और कल्पना को छोड़ कर वे यथार्थ में आ गये हैं। भ्रम की यह स्थिति शासकों द्वारा की गई मानसिक हिंसा दर्शाती है, अर्थात् मूल निवासी उस सामाजिक सोच को स्वीकार कर अपना लेते हैं जो उनकी स्वयं की परम्पराओं के प्रतिकूल है और जो उनकी संस्कृति को गलत रूप में दिखाती है। यह केवल नकल करके उपनिवेशियों को प्रभावित करने के लिए किया जाता है।

सर्वनाशी सोच

बाइबल में उल्लिखित शाब्दिक दावों एवं घटनाओं के अनुसार इस संसार का अन्त हिंसा से एवं एक विराट दुर्घटना से होने वाला है। ईसाई पन्थ के इतिहास में इस तरह की सोच सदा से व्याप्त है और यह बाइबल के रहस्योद्घाटन की एक व्याख्या पर आधारित है।[18] यह आपदाओं की एक पूरी श्रृंखला की भविष्यवाणी करती है—यीशु मसीह का पुन: प्रकट होना तथा उस दौरान आस्तिकों के लिए मुक्ति एवं नास्तिकों हेतु नरकदण्ड तथा ईसा मसीह विरोधियों हेतु प्रलय का दिवस इत्यादि। पश्चिम के समूचे इतिहास में ईसाइयों द्वारा विचित्र-सी व्याख्याएँ की गई हैं (बल्कि गढ़ी गई हैं) जिनमें कुछ प्रतीकात्मक हैं। रहस्य के परदे में एवं भविष्यवाणियाँ करने वाली इस पुस्तक (Book of Revelation) को स्वयं के चश्मे के माध्यम से देख कर विरोधाभास भी उत्पन्न किया गया है। सभ्यता के अन्त की इन घोषणाओं को परलोक सिद्धान्त कहा जाता है। इनका इतिहास न केवल एक परिभाषित आरम्भ है बल्कि परिभाषित अन्त भी है, जब ईसा मसीह सभी राष्ट्रों और जातियों का न्याय करेंगे।

इस प्रकार इस इतिहास की भव्य कथा भविष्य में वहाँ समाप्त होती है जोकि निश्चित है। कुछ वर्ष पहले ''टाइम'' (Time) पत्रिका ने इसी विचार को अपने मुख्य लेख के रूप में समर्पित किया था जिसमें यह कहा गया था कि ''सभ्यता और इतिहास के अन्त की जो दैवीय-निर्देशित धारणा व्यक्त की गई है, वह उतनी ही पुरानी है जितना कि पश्चिमी मत...।'' ये मत यहूदी बाइबल में सबसे पहले दिखाई देते हैं अन्तत: यहूदियों का ईश्वर के शासन की पुनर्स्थापना का उग्र आकर्षण धीरे-धीरे धूमिल हो गया, परन्तु इसे ईसाई मत के द्वारा अपना लिया गया।[19] अधिकांश नेताओं

द्वारा संयुक्त राज्य अमरीका को सदा से ही इस लेख में वर्णित भव्य वृत्तान्त के प्रकाश में देखा और चित्रित किया गया—

> "17वीं सदी से ही कई लोग दुनिया के अन्तिम समय के आशावादी परिदृश्य में नई दुनिया (यानी अमरीका) को एक धुरी के रूप में देखते थे। इसके पहले के आस्तिकों के विपरीत जो सोचते थे कि वे ईश्वर की ब्रह्माण्ड सम्बन्धी योजनाओं के सामने असहाय हैं, उन्होंने सोचा था कि वे अमरीका को पवित्र कर एवं सुधार कर ईसा की सहस्त्राब्दी को आरम्भ करने में उत्प्रेरक हो सकते हैं। पादरियों ने अमरीका को रहस्योद्घाटन के एक नये यरूशलम के रूप में प्रचारित किया। कई उपनिवेशवादियों ने इस क्रान्ति को ईसा सहस्त्राब्दी के मामले में जॉर्ज तृतीय को ईसा मसीह विरोधी के रूप में देखा। इससे जो सबसे अधिक सहमत थे (जिन्हें अब हम ईसाई मत प्रचारक कहेंगे), उन्होंने देश की नागरिक संस्कृति के चलन को आकार देना आरम्भ कर दिया, जिसमें द्वन्द्वयुद्ध, शराब, गुलामी प्रथा जैसे पापों को आन्दोलनों द्वारा समाप्त किया गया। 18वीं सदी के मध्य तक कुछ लोगों ने बड़े विश्वास से यह घोषणा करना आरम्भ कर दी थी कि सहस्त्राब्दी वर्ष अब मात्र तीन वर्ष दूर है।[20]

हाल के वर्षों में प्रलय (दुनिया के अन्त) के प्रति अमरीका में यह जुनून एक नई ऊँचाई पर पहुँच गया है जहाँ कई ईसाई मत प्रचारक मानो भविष्य को देख रहे हों — विशेषकर इज़राइल-फ़िलीस्तीन युद्ध हो या 9/11 की आतंकी घटना हो, वे इसे विश्व के अन्त की पूर्व शर्त मान बैठे हैं।

सन्निहित (स्वानुभूत) ज्ञान की साधना-पद्धति

धार्मिक परम्पराओं के अनुसार मनुष्य मूलत: जन्म से "पापी" नहीं है, बल्कि वह तो अपने पूर्व-जन्म के कर्मों का बोझ लिए यहाँ आता है जो उसे उसकी सच्ची प्रकृति से अनभिज्ञ रखता है। सौभाग्य से मनुष्य में यह सहज क्षमता होती है कि वह इस स्थिति को पार करके स्वयं की "सच्चिदानन्द" अवस्था को प्राप्त कर सके। प्रकृति की वास्तविकता का सत्य अनुभव से समझा जाता है तथा यह सत्य एक साधक से दूसरे साधक तक पहुँचता है एवं यह पवित्र अनुभूति इतनी विविधतापूर्ण हो सकती है जहाँ एक से अधिक साधना के पन्थ सत्य की खोज कर सकते हैं। विभिन्न व्यक्तिगत अभ्यासों व अनुभव से प्राप्त ज्ञान आगे प्रसारित होता है या फिर एक स्वयंसिद्ध गुरु के साथ सीधे सम्पर्क से भी। सत्य के इसी उद्गम और प्रसारण को जानने-समझने की अवधारणा को मैं पश्चिम की समझ के लिए सन्निहित (स्वानुभूत) ज्ञान की संज्ञा देता हूँ।

एक प्रमुख बौद्ध विद्वान रॉबर्ट थर्मन (Robert Thurman) अपनी पुस्तक "इनर रिवोल्यूशन" (Inner Revolution) में लिखते हैं कि पश्चिम में एक मिथक प्रचलित है

कि केवल स्पष्ट विज्ञान ही ज्ञान का उद्देश्य हो सकता है, जिसमें वैज्ञानिक अपने प्रयोगों का निरीक्षण कर एवं उससे प्राप्त निष्कर्षों को एक निष्पक्ष एवं तटस्थ रिपोर्ट के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसके विपरीत अध्ययन के विषय जैसे मनोविज्ञान, दर्शन, चेतना विषयक अध्ययन, नैतिकता आदि व्यक्तिपरक हैं, क्योंकि वे व्यक्तिगत एवं आन्तरिक अनुभवों से सम्बन्ध रखते हैं। पश्चिम के अनुसार योग, ध्यान एवं अन्य आध्यात्मिक तकनीकें उनकी रहस्यमयी प्रकृति की वजह से और भी सन्दिग्ध हैं। यह द्वैतवाद पहले से ही मान लेता है कि आन्तरिक अनुभव मूल कारणों का पूर्वानुमेय मार्ग नहीं अपनाते, जबकि बाहरी संसार ऐसा करता है। इस धारणा के अनुसार आन्तरिक धरातल का वैज्ञानिक अध्ययन करना असम्भव है, जिसमें प्रयोगों के निरीक्षण को दूसरों द्वारा विश्वसनीय, पुनरुत्पादनीय, और प्रमाणित घोषित किया जा सके। इस प्रचलित पश्चिमी मिथक के अनुसार केवल बाहरी अनुभवों से ही इतिहास को आकार दिया जा सकता है, जिन्होंने पश्चिम को मुक्त करके आधुनिकता के दौर में प्रवेश कराया है। जबकि आन्तरिक ज्ञान एवं अनुभव व्यक्तिपरक या ज़्यादा से ज़्यादा अच्छे उद्देश्य के लिए हो सकते हैं, पर दूसरी ओर निरे अँधविश्वासी और एकपक्षीय भी। वे पारलौकिक चिन्तन करते हैं तथा हमें और अच्छा आभास करवाने के अतिरिक्त इस भौतिक एवं सामाजिक दुनिया को कोई विशेष लाभ प्रस्तुत नहीं करते।[21]

लेखक थर्मन इस मिथक से दृढ़तापूर्वक असहमति दर्शाते हैं। वे इंगित करते हैं कि वैज्ञानिक केवल संसार के भौतिक स्वरूप का अध्ययन करने तक सीमित हैं तथा भूल से इसे निष्पक्षता का नाम देते हैं। इसके विपरीत धार्मिक विचारकों एवं साधकों ने बहुत पहले से ही वस्तु/विषय, धारणा/अवधारणा, शरीर/मन, स्वयं/अन्य, समाज/व्यक्ति, अनुभव/मान्यता, प्रतीक/चिह्न इत्यादि के बीच पारस्परिक निर्भरता को पहचाना है और उनके पास वैज्ञानिक प्रक्रिया प्रयोग किये जाने का तर्कसंगत दावा है। सनातन धर्म में यह आन्तरिक विज्ञान वाला दृष्टिकोण निरीक्षणों, विभिन्न प्रयोगों, महत्वपूर्ण जाँचों तथा बहस-विवाद के माध्यम से विकसित किया गया है, इसलिए इसे यहूदी-ईसाई शैली की मान्यताओं के समकक्ष रखना असंगत होगा। इस प्रकार आन्तरिक एवं बाहरी दोनों अध्ययन वैज्ञानिक हो सकते हैं। आन्तरिक आध्यात्मिक विज्ञान का भारत, तिब्बत एवं चीन जैसे देशों में एक लम्बा इतिहास रहा है, पर उन्होंने कभी भी बाहरी भौतिक विज्ञान को नकारा नहीं है। जैसा संघर्ष पश्चिमी धर्मों एवं विज्ञान में हुआ, वैसा संघर्ष इन देशों में धर्म एवं विज्ञान के बीच कभी भी नहीं हुआ है। थर्मन बताते हैं—

> आत्मज्ञान की इस परम्परा को सूक्ष्म एवं स्थूल स्वरूपों में दो हज़ार वर्ष पहले ही खोज लिया गया था एवं इसमें मनुष्य की आन्तरिक दृष्टि की छठी इन्द्रियों को दृढ़ करने के लिए परिष्कृत विचारशील पद्धतियों का उपयोग किया गया था। इसका दायरा प्रकृति की संकीर्ण परिभाषा के सन्दर्भ में ही अलौकिक है। यह रहस्यमयी तभी तक है जब तक इसके विश्लेषणात्मक प्रयोग पूरे नहीं

किये जाते। यह जादू तभी तक है जब तक इसे परिभाषित करने वाली तकनीक को समझ नहीं लिया जाता।[22]

आध्यात्म विद्या : एक प्रत्यक्ष अनुभव-वाद

आध्यात्म-विद्या स्वयं एवं परिवेश को जानने की एक अनुशासित और व्यवस्थित साधना पद्धति है जो सटीक आत्म-निरीक्षण तथा गम्भीर तर्क-वितर्क से की जाती है। यह माना जा सकता है कि सत्य का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जाना सम्भव है जिससे जीवन और मृत्यु की परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करके आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। यह आगे ऐसा दावा करता है कि यह ज्ञान दूसरों को भी सिखाया जा सकता है। यह पद्धति किसी मत के प्रति अंधविश्वास अथवा हठधर्मिता की माँग नहीं करती, बल्कि विचारकों, विद्वानों एवं साधकों से इन विश्वासों तथा विचारों की समीक्षा का आग्रह करती है। आन्तरिक निरीक्षण की पद्धति से अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने हेतु मन एवं बुद्धि का उपयोग यन्त्र की भाँति किया जाता है। इस आन्तरिक ज्ञान-विज्ञान के प्रयोगों की विधि की क्षमता अथवा उसके परिणामों की उपयोगिता किसी भी ऐतिहासिक साक्ष्य पर निर्भर नहीं है।[23]

इस प्रकार के आन्तरिक निरीक्षण के परिणामस्वरूप जो पहली प्रमुख खोज है वह यह है कि हमारे मस्तिष्क से आने वाली अज्ञात ध्वनियों में से एक भी मूलभूत रूप से ‘‘हमारी अपनी’’ नहीं होती।[24] अधिकांश धार्मिक प्रणालियों में माना जाता है कि स्वयं को तथा संसार को ठीक से समझने में की गई भूल ‘‘अविद्या’’ (मिथ्या ज्ञान) के कारण है, एवं यह अविद्या ही उन अनर्थकारी विचारों को जन्म देती है जिससे विनाशकारी एवं व्यसनी आदतों (क्लेश) को बढ़ावा मिलता है और जो समस्त दुखों का मूल कारण हैं। अपने अनुभवों को रचने के लिए जब मन के पूर्व अनुबन्धनों और सन्दर्भों को अपने ऊपर थोपा जाता है तो उसे ‘‘नाम-रूप’’ कह कर सन्दर्भित किया जाता है। नाम-रूप मनुष्य की स्मृति-अवशेषों के ही परिणाम (अर्थात संस्कार) हैं जो कि स्वयं की इच्छा से किये गये पिछले कर्मों के ही प्रतिफल हैं।

स्वयं की पसन्द से ही व्यक्ति के संस्कार बनते हैं जो कि आगे चल कर उसकी धारणा बनाने का कार्य करते हैं। परिणामस्वरूप एक काल्पनिक एवं भ्रामक संसार (माया) निर्मित होता है। यह सिद्धान्त हिन्दू, बौद्ध एवं जैन परम्पराओं का सामूहिक आधार है जो इस स्थिति से पार पाने का रास्ता बताता है (इसे आगे अध्याय 3 एवं परिशिष्ट ‘क’ में विस्तार से परिभाषित किया गया है)।[25]

इसलिए निर्धारित अनुक्रम इस प्रकार होता है :-

विकल्प/कर्म → संस्कार/अवशेष → नामरूप → वासना/लत

आन्तरिक अनुसन्धान के उपकरणों जैसे मन, बुद्धि, स्मृति एवं अन्य सम्बन्धित क्षमताओं को शुद्ध करके मनुष्य के मन की अनुभूतियों पर विजय प्राप्त की जा सकती

है। परिणामस्वरूप जो मनःस्थिति प्राप्त होती है वह नामरूप जैसी विधियों की मध्यस्थता से मुक्त होगी।

श्री अरविन्द स्पष्ट करते हैं कि 'ज्ञान' का अनुभव (उच्च बुद्धिमत्तापूर्ण ज्ञान) किसी मनुष्य को पूर्णता के उजाले में सापेक्ष्य दृष्टि रखना सम्भव बनाता है। वह देखता है, छूता है, अनुभव करता है एवं अनन्त को अपने अनुभवों से सीखता है। ''सापेक्षता की सीमाओं के पार जाया जा सकता है''—इस असाधारण विश्वास के कारण सनातन धार्मिक परम्पराओं और किसी वैज्ञानिक अन्वेषण के बीच आपस में कोई तनाव नहीं होता।

एक योगी आन्तरिक वैज्ञानिक के रूप में स्वयं निरीक्षण/अनुभव का यन्त्र भी होता है जिसे संस्कृत में 'अन्तःकरण' कहा गया है।[26] एलन वॉलेस (Alan Wallace) जिन्होंने संज्ञानात्मक विज्ञान की दृष्टि से धार्मिक परम्पराओं में योग-ध्यान की भूमिका का अध्ययन किया है, बताते हैं कि वैज्ञानिक किसी भी प्रकार के निरीक्षण के लिए मानव मन-बुद्धि को ही प्राथमिक साधन बनाते हैं। इसलिए मन-बुद्धि को ही मुख्य रूप से यन्त्र के रूप में ठीक करना पड़ेगा। अप्रशिक्षित मन-बुद्धि, जो उत्तेजना और शिथिलता के बीच झूलती रहती है, किसी भी वस्तु का निरीक्षण करने के लिए अविश्वसनीय एवं अपर्याप्त साधन है। इसे वैज्ञानिक अन्वेषण करने हेतु उचित साधन में बदलने के लिए ध्यान की स्थिरता और जीवन्तता को बहुत ऊँचे स्तर तक विकसित करना पड़ेगा।[27]

यही योग का वैज्ञानिक महत्व है कि वह ध्यान, कुंडलिनी जागरण, तन्त्र एवं अन्य धार्मिक विधियों से चेतना को उच्च स्तर पर ले जाने और शरीर के परिष्कृत विकास के लिए उपयोगी है। ये स्थितियाँ सत्य की खोज से सम्बन्धित गहन परतों को उघाड़ने में शुद्ध संज्ञानात्मक उपकरण के रूप में कार्य करती हैं।

> पिछली तीन सहस्त्राब्दियों से भारतीय परम्पराओं ने ध्यान को और अधिक परिष्कृत करने की कठिन विधियों का विकास किया है एवं इसे व्यावहारिक जगत में मनुष्य चेतना की उत्पत्ति, प्रकृति, एवं विकास की खोज में लगा दिया है। गौतम बुद्ध जैसे महान मननशील भारतीय सन्तों द्वारा इस प्रकार की अनुभवजन्य एवं तर्कसंगत अनुसन्धानों और खोजों ने पश्चिम की कई मान्यताओं को, विशेषकर वैज्ञानिक भौतिकतावाद के सिद्धान्त को, गम्भीर चुनौती दी है।[28]

इस प्रकार के मननशील वैज्ञानिक (अर्थात ऋषि, योगी एवं बुद्ध) एक तरह की चलती-फ़िरती मानव प्रयोगशाला थे जिन्होंने आन्तरिक वैज्ञानिक क्षमताओं को विकसित और शुद्ध करने के लिए कई तकनीकों और पद्धतियों का प्रयोग किया। महान ऋषि पतंजलि ने प्रसिद्ध योगसूत्रों को संकलित किया ताकि मनुष्य अपनी चेतना के सर्वोच्च स्तर की क्षमता स्वयं विकसित कर सके। शैव परम्परा ने शिव भक्ति के आस्तिक विकल्प के साथ ''ध्यान'' की शक्तिशाली प्रक्रिया विकसित की, जिसके

परिणामस्वरूप भगवान शिव के साथ सम्पूर्ण भक्तियुक्त विलय सम्भव है। शिव स्वयं कोई ईश्वरदूत नहीं हैं और ईसाइयत के अर्थ में कोई भगवान भी नहीं, परन्तु वह अवर्णनीय अन्तिम अवस्था हैं जो सब कुछ है और जिसमें सब कुछ समाहित है।

ऐसा कहा जा सकता है कि ऋषियों ने विभिन्न प्रयोगात्मक घटनाओं में गहन अनुसन्धान का पथ प्रशस्त किया। ऋषियों ने इस बात की खोज की कि मनुष्य के अन्तर्मन के निरीक्षण एवं उसकी प्रखरता को बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि जीवन शैली सरल हो जो मानसिक बेचौनी एवं विकर्षण को कम करे। व्यक्ति जितना ही अपनी मानसिक अवधारणाओं एवं इच्छाओं को पुष्ट करता जाता है वह उतना ही व्यवहारिक मन को दृढ़ करते हुए सत्य के प्रकाश की राह में आने वाली बाधाओं को बढ़ाता जाता है। अर्थात् मनुष्य की शान्त मानसिक स्थिति एक स्वच्छ प्रयोगशाला के समान है।

स्वयं को एक मार्गदर्शक एवं खोजकर्ता के रूप में रख कर इन ऋषि-मुनियों अर्थात् आन्तरिक वैज्ञानिकों ने आन्तरिक परीक्षण की प्रक्रिया को विकसित किया, उसकी जाँच की और उसे उत्कृष्ट बनाया। योग-ध्यान सम्बन्धी ग्रन्थों को उपलब्ध परिणामों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए दिशानिर्देश के रूप में प्रयोग किया एवं इसी तरह लगातार नई-नई खोजों से इसे और आगे बढ़ाया गया। इनमें से कुछ खोजें दूसरों की तुलना में अधिक पूर्ण थीं, कुछ बेहतर पद्धति से लिखित एवं संप्रेषित की गईं, जबकि कुछ अन्वेषणों को ज्ञान के अधिक स्पष्ट और तीक्ष्ण उपकरण के रूप में देखा गया। ये प्रयोग एवं परिणाम विभिन्न क्षेत्रों के 'खोजी उपकरण' के रूप में उपलब्ध रहे जोकि आमतौर पर हमारे लिए सुलभ नहीं रहते। कई परम्पराएँ विकसित हुईं जिन्होंने आध्यात्मिक (आन्तरिक) प्रयोगों को कई पीढ़ियों तक अनवरत सक्रिय रखा। फलस्वरूप समय के साथ-साथ इनसे अत्याधुनिक वैचारिक प्रतिमानों और ज्ञानमीमांसा का विकास हुआ।

इस सम्बन्ध में जो दावे किये गये उन पर तीव्र वाद-विवाद किये गये जिनमें से अधिकांश अच्छी तरह से प्रलेखित हैं। इस प्रकार के शास्त्रार्थ ने विभिन्न 'दर्शन' (दृष्टिकोण/दर्शन प्रणाली) के शास्त्रों की नींव रखी। यह पद्धति आधुनिक वैज्ञानिक अनुभव-वाद के मानकों पर खरी उतरती है। स्वाभाविक रूप से इस प्रकार की मध्यस्थताविहीन ज्ञान-पद्धति के दावे को पश्चिम के किसी गढ़े गये सामाजिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक विश्लेषण और आधुनिक मानवशास्त्र के बल पर नकारा नहीं जा सकता।

सारांश में कहा जाये तो यह आन्तरिक विज्ञान सीधे आत्म-अवलोकन एवं ज्ञान-योग (यौगिक ज्ञान) के सम्मिलन से सही जानकारी और प्रत्यक्ष ज्ञान देने के लिए है जिससे अनुभूति और मुक्ति के द्वार खुलते हैं। इस तरह की प्रणालियों को धर्म की तरह नहीं बल्कि चिकित्सा पद्धति के रूप में ही सटीक व्याख्यायित किया जा सकता है। इस धरती पर मानव जीवन में सटीक समझ एवं धारणा का निर्माण करना सम्भव है।

यही सनातन धार्मिक परम्पराओं वाली सोच की विशिष्टता है जिसमें एक स्पष्ट दार्शनिक 'विचार' का विकास होता है, जो पश्चिम की आध्यात्मिक अटकलों से कहीं दूर है और जो सच्ची उन्मुक्तता एवं आनन्द के लिए न केवल सम्भव है बल्कि आवश्यक भी है। इसी प्रकार आधुनिक आध्यात्मिक गुरु जिन्होंने बिना किसी शाब्दिक हठधर्मिता अथवा किसी भविष्यवाणी या ऐतिहासिक घटना-क्रमों का सन्दर्भ दिये आत्मज्ञान करवाया, उनमें रमण महर्षि, जे. कृष्णमूर्ति, श्री अरविन्द तथा आनन्दमयी माँ शामिल हैं। उन्होंने सभी प्रकार के व्यक्तिगत एवं सामूहिक पहचानों वाले सभी सन्दर्भों तथा आख्यानों को खण्डित करने पर बल दिया है।

धार्मिक परम्पराओं में प्रभुत्व

जहाँ एक ओर पश्चिम का इतिहास-केन्द्रिक दृष्टिकोण पवित्र ग्रन्थों की केन्द्रीय प्रभुता का दावा करता है वहीं आमतौर पर भारतीय दृष्टिकोण सामान्यत: आध्यात्मिक प्रभुत्व किसी आध्यात्मिक गुरु में खोजता है। इसका अर्थ सन्निहित (स्वानुभूत) संचार से है जो सामान्यत: प्रत्यक्ष परस्पर सम्पर्क से होता है और जो पश्चिम के उस दृष्टिकोण से बिलकुल भिन्न है जिसमें कथित ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा अमूर्त सत्य के संचार पर ज़ोर दिया जाता है।[29] सन्निहित (स्वानुभूत) ज्ञान पर बल दिये जाने के कारण धार्मिक परम्पराओं में जीवित आध्यात्मिक गुरु ही महत्वपूर्ण होता है।[30]

सन्निहित (स्वानुभूत) आध्यात्मिक गुरु कई प्रकार के हैं और उनके प्रभुत्व की विभिन्न श्रेणियाँ हैं। इनमें सबसे प्रमुख ऋषि, मुनि एवं गुरु हैं। ऋग्वेद में इन प्रमुख ऋषियों (जिनमें महिलाएँ व पुरुष दोनों ही हैं) के दर्जनों सन्दर्भ दिये गये हैं। अपनी योग-शक्तियों के परिणामस्वरूप ऋषियों ने वास्तव में परम तत्व के साक्षात 'दर्शन' किये एवं इस 'दर्शन' को मौखिक रूप से चार वेदों के रूप में संचारित किया।[31] जबकि पारम्परिक रूप से मुनिगण यत्र-तत्र भ्रमण करने वाले तपस्वी थे जो प्राय: मौनव्रत रखते थे। मुनि को 'श्रमण' भी कहा जाता है जो स्वयं की अथक एवं कठोर साधना से स्वयं की मुक्ति के लिए काम करता है एवं परिणामस्वरूप असाधारण योग-शक्तियों को प्राप्त करता है। श्रमण अथवा मुनियों की परम्परा के महान उदाहरण हैं बुद्ध एवं महावीर। जबकि 'गुरु' एक विलक्षण योगी एवं शिक्षक होता है जो अपने शिष्यों को दीक्षा दे कर आत्मज्ञान के लिए तैयार करता है। धर्म के प्रसारण हेतु गुरु-शिष्य सम्बन्ध अति-आवश्यक है एवं धार्मिक परम्पराओं में आत्म-ज्ञान की सन्निहित प्रकृति को समझने की यह एक अभिव्यक्ति है।

आजकल पश्चिम में 'गुरु' शब्द का व्यापक लेकिन त्रुटिपूर्ण रूप से प्रयोग किया जा रहा है। 'गुरु' केवल किसी एक क्षेत्र विशेष के विशेषज्ञ या ईश्वरदूत नहीं होते हैं। गुरु दूसरों को जो सिखाता है उसका स्वयं आदर्श रूप होता है। गुरु का ज्ञान पश्चिम की तरह मात्र ऐतिहासिक घटनाओं अथवा रहस्योद्घाटन पर आधारित नहीं होता, बल्कि वह साधक में अनुभवजन्य ज्ञान पैदा करने के लिए एक विशिष्ट प्रकार की

तकनीक एवं समझ को जगाता है। गुरु एवं शिष्य का सम्बन्ध किसी साधारण शिक्षक एवं छात्र के बीच होने वाले सम्बन्ध से कहीं अधिक गहरा होता है।[32]

जहाँ-जहाँ भारतीय धार्मिक परम्पराओं का विस्तार हुआ वहाँ-वहाँ इस प्रकार के विविधतापूर्ण आध्यात्मिक गुरु देखे गये जिन्होंने ज्ञान के उच्च स्तर को प्राप्त किया एवं उसे दूसरों को सिखाया। उनके ऐसे प्रबल प्रयासों से अनेक मिसालें सतत् उभर रही हैं। परिणामस्वरूप धार्मिक परिप्रेक्ष्य में ऐसे स्थानीय उदाहरणों और सन्दर्भ-बिन्दुओं की बहुतायत रही है, न कि पश्चिम की सार्वभौमिकता का दावा करने वाले एकल सन्दर्भ-बिन्दुओं की।

अत: सनातन धार्मिक परम्पराएँ किसी नबी या पैग़म्बर, या सन्तों अथवा यीशु जैसे परमात्मा के किसी एकमात्र अवतार पर निर्भर नहीं हैं। भारतीय धार्मिक परम्पराएँ ईश्वर के अनेक अवतारों की कथाओं के साथ अति सहज हैं जिनमें से कोई भी भगवान का बेटा अथवा बेटी होने के शाब्दिक अर्थ की तरह नहीं देखा जाता। किसी एक विशेष अवतार अथवा (बोधिसत्व) को प्राथमिकता देने को अन्य अवतारों की अस्वीकृति के रूप में नहीं देखा जाता और न ही उन्हें पूर्व के अवतारों के लिए संकट के रूप में देखा जाता है। इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि धार्मिक परम्परा में अनिवार्य रूप में किसी 'एकल और एकमात्र सही' मानव इतिहास के संस्करण को ही प्रमाण के तौर पर स्थापित करने का प्रयास नहीं हुआ, जैसे कि बाइबल के अध्ययनकर्ता सिद्ध करने में व्यस्त रहते हैं।

महात्मा बुद्ध ने यह स्पष्ट किया कि उनके द्वारा खोजी गई विधियाँ एवं परिणाम मनुष्य के लिए ज्ञानार्जन का 'एकमात्र उपलब्ध मार्ग' नहीं हैं, क्योंकि यह न तो उनका विशेषाधिकार है और न ही उनके सन्देशों का। बुद्ध कहते हैं कि तुम्हें यदि कोई सन्देह अथवा अनिश्चितता लग रही है तो यह सोचना तुम्हारा अधिकार है। वे आगे कहते हैं —

> ''किसी भी कथ्य को मात्र इसलिए स्वीकार मत करो कि वह किसी रहस्योद्घाटन या परम्परा पर आधारित है या किसी तर्क-वितर्क का परिणाम है अथवा इसलिए कि वह किसी दृष्टिकोण से सच है या तथ्यों के सतही आकलन पर आधारित है या किसी की पहले से बनाई हुई धारणाओं के अनुरूप है अथवा यह कोई आधिकारिक तथ्य है या फिर यह तुम्हारे शिक्षक की प्रतिष्ठा से जुड़ा हुआ है।''[33]

उनका यह आलोचनात्मक रवैया स्वयं बौद्ध धर्म पर लागू है—

> बुद्ध कहते हैं, ''यदि कोई मेरे बारे में बुरी बात कहता है अथवा मेरे सिद्धान्तों व उपदेशों की आलोचना करता है तो उसके प्रति दुर्भावना न रखो, न ही परेशान हो और न ही दिल को दुखी करो, क्योंकि यदि आप ऐसा करते हैं तो यह अकारण आपको ही नुकसान पहुँचायेगा। इसी प्रकार यदि कोई मेरे बारे में

बहुत अच्छा कहता है, मेरे सिद्धान्तों व उपदेशों की प्रशंसा करता है तो अधिक खुश अथवा प्रफुल्लित होने की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यदि आप ऐसा करते हैं तो यह उस यथार्थवादी धारणा के बनने में बाधा उत्पन्न करेगा कि हमारे जिन गुणों को सराहा गया है क्या वे वास्तविक हैं और सचमुच हमारे अन्दर हैं।[34]

सिख पन्थ भी किसी नबी अथवा पैग़म्बर पर निर्भर नहीं है। इस धर्म के संस्थापक श्री गुरु नानकदेव ने कभी भी यह दावा नहीं किया कि वे अवतार हैं अथवा भगवान या ईश्वर के पुत्र या पैग़म्बर हैं। उन्होंने इस विचार को प्रतिपादित किया कि देवत्व की प्राप्ति न किसी कट्टरपन्थी विचार, हठधर्मिता अथवा किसी ऐतिहासिक वृत्तान्त के सहारे से बल्कि ईश्वर की भक्ति एवं समर्पण से ही होगी। उनकी शिक्षाओं के अनुसार यही खोज प्रत्येक मानव की प्रतीक्षा कर रही है।

मानव शरीर (मन एवं ज्ञानेन्द्रियाँ) के माध्यम से ईश्वरीय सत्य की अनुभूति की तकनीकें भारतीय धार्मिक परम्पराओं में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। यह स्थिति प्राप्त करने के लिए पतंजलि के योगसूत्र एक शास्त्रीय दर्शन एवं संसाधन के रूप में उपलब्ध हैं। इस तरह के ग्रन्थों में व्यक्ति की आध्यात्मिक साधना, दर्शन एवं धर्मशास्त्र से अविभाज्य है।[35]

हिन्दू धर्म में शास्त्रीय नृत्य को एक भली-भाँति विकसित किये गये अभ्यास के रूप में स्थापित किया गया है। नर्तक के शरीर में नृत्य में अंग संचालन, ध्वनियों, भावनाओं के प्रकटीकरण को विधिवत ब्रह्माण्ड विज्ञान एवं ज्ञान मीमांसा के रूप में पिरोया गया है। यह संसार का एकमात्र प्रमुख धर्म है जो शरीर के माध्यम से इतने लम्बे समय तक सफ़लतापूर्वक संचारित एवं सम्प्रेषित किया गया है। इसमें शिव के नटराज रूप में चित्रण का उदाहरण दिया जा सकता है जहाँ भगवान शिव को इस पवित्र नृत्य के तपस्वी योग-गुरु के रूप में स्थापित किया गया है। इसी प्रकार श्री कृष्ण द्वारा दिये गये आख्यानों एवं शास्त्रीय तत्वों को उनके भक्तों के साथ नृत्य के चित्रण के दृष्टान्त से बताया जाता है जिसके द्वारा भक्तों में ''भक्ति-रस'' के संचार के साथ-साथ वे अपने ''इष्टदेवता'' के साथ आन्तरिक रूप से एकजुट होने का प्रयास करते हैं। इस तरह की अभिव्यक्तिपूर्ण भक्तिभावना किसी आध्यात्मिक व्यक्तित्व-विशेष के लिए आरक्षित नहीं होती, बल्कि यह भाव समूची संस्कृति में फैलता है तथा इन्हें लोकगाथाओं के माध्यम से प्रत्येक हिन्दू जानता-समझता है।

जैसा कि हम अध्याय 5 में और गहराई से देखेंगे, मन्त्रों के उच्चारण से शरीर में एक आन्तरिक पवित्र कम्पन उत्पन्न होता है जिससे शरीर की आन्तरिक ऊर्जा एवं बौद्धिक क्षमताएँ प्रकट होती हैं। ऐसी तकनीकों से व्यक्ति के आन्तरिक सत्यों को व्यक्ति के अन्दर ही अनुभव किया जाता है, न कि उसके बाहर। यह विचार मात्र प्रतीकात्मक नहीं है, बल्कि यह माना जाता है कि जगत की सृष्टि ध्वनि-नाद से हुई है। इस प्रकार इन विशिष्ट अन्तर्ध्वनियाँ जिनको युगों से अभ्यास और निरीक्षण द्वारा खोजा और

परिष्कृत किया गया, हमें बाहरी ब्रह्माण्ड के साथ एकरूप होने और उसे समझने की अवस्था तक पहुँचाती हैं।

योग के विभिन्न रूपों जैसे ''हठयोग'' (योगासन) का उद्देश्य है कि साधक के शारीरिक अभ्यास अथवा साधना के द्वारा उसे उच्च ज्ञान की प्राप्ति हेतु तैयार किया जाये। परम सत्य के स्वरूप में विभिन्न ग्रन्थ, अवधारणाएँ, प्रतीक, अनुष्ठान आदि साधक को केवल प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने में सहायक अथवा पथ-प्रदर्शक के रूप में होते हैं। ये संकेतक मात्र हैं। उच्च ज्ञान को शरीर में ही अनुभव किया जाता है। साधक विभिन्न योग-पद्धतियों का अभ्यास करते हैं जो उनके शरीर को ज्ञान प्राप्त करने के यन्त्र के रूप में परिवर्तित करने के लिए बनाई गई हैं। पश्चिम की संस्कृति में यह सब असम्भव है क्योंकि उनकी परम्परागत संरचना के अनुसार मानव शरीर तो स्वाभाविक रूप से पाप, नैतिक गिरावट एवं प्रलोभन का स्रोत माना जाता है।[36]

भारतीय धार्मिक सन्निहित (स्वानुभूत) प्रथाओं में कोई 'ऊपर से आया हुआ' कानून नहीं है और न ही परम्पराएँ किसी धर्मविधान की सीमा में बन्द हैं। यहाँ पर ज्ञान के संचय को 'श्रुति' से परिभाषित किया गया है जोकि सार्वभौम एवं शाश्वत है तथा सन्दर्भों के प्रति संवेदनशील यह ज्ञान 'स्मृति' के रूप में विभिन्न व्याख्याओं द्वारा संचालित है जिसे किन्हीं धार्मिक सीमाओं अथवा 'ऊपरी' आदेशों की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। अत: शिष्य से यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वह आँखें बन्द करके विश्वास कर ले, बल्कि उसे स्वयं अपनी चेतना के स्तर एवं विभिन्न व्यक्तिगत अनुभवों की सहायता से ज्ञान प्राप्त कर संवाद करने की अपेक्षा की जाती है। पश्चिमी दर्शन के विपरीत, जोकि तर्क-वितर्क की सहायता से बिना योग अथवा ध्यान के माध्यम से चेतना के स्तर पर किसी भी आन्तरिक परिवर्तन की अपेक्षा किये बिना ही उसे समझते हैं, भारतीय दार्शनिक प्रणाली गहन रूप से आध्यात्मिक अभ्यास के साथ गुँथी हुई है।

यहाँ तक कि 'बुरी तरह बदनाम की गई' 'मनुस्मृति' (जिसे सामान्यत: पश्चिम में मनु ऋषि के नियम के रूप में जाना जाता है) को भी कभी व्यापक रूप से हिन्दुओं के या ईश्वरीय नियम के रूप में लागू नहीं किया गया, परन्तु अंग्रेज़ों ने यह दर्शाने के लिए कि उपनिवेशवादी शासक 'हिन्दू क़ानून' के अनुसार शासन करते हैं, इसे बलात् लागू किया (जबकि इस क़ानून को उन्होंने ही बनाया था)। इसके अतिरिक्त मनुस्मृति संहिता में यह स्पष्ट कहा गया है कि यह सार्वभौमिक नहीं है, विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप इसमें समयानुसार अद्यतन, संशोधन एवं पुनर्लेखन किये जा सकते हैं (अध्याय 4 में इस पर आगे विस्तार से चर्चा की गई है)। इस दृष्टिकोण को देखते हुए धार्मिक कट्टरवाद (असहिष्णुता अथवा अनन्यता) की धारणा भारतीयों के लिए बनाना विरोधाभास ही है। आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो व्यक्तिगत प्रतिबद्धता योगशास्त्र की दो प्रमुख शाखाओं (यम और नियम) द्वारा प्रेरित एवं सुदृढ़ होती है उसके पथभ्रष्ट होने की सम्भावना पश्चिम की तरह उन दिव्य व्यवस्थाओं से

कम है, क्योंकि इनमें सामाजिक एकता के नाम पर नैतिकता उचित ठहराई जाती है और उसके नियमों को व्यक्ति पर लादा जाता है।

हालाँकि ज़्यादातर साधारण धार्मिक साधकों का जीवन, समूह के नियमों, कर्मकाण्डों एवं अन्य साम्प्रदायिक गतिविधियों द्वारा संचालित होता है, परन्तु इनमें बहुलता सुनिश्चित करती है कि वह सन्दर्भों के प्रति संवेदनशील हो, उसमें व्यक्तिगत पसन्द/नापसन्द की सम्भावना हो तथा वह मतभेदों के प्रति सहनशील भी हो।[37] भगवद्गीता (17.3) के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार अपनी श्रद्धा विकसित करता है। आत्मज्ञान की अनुभूति हेतु व्यक्ति द्वारा सामाजिक संहिताओं का उल्लंघन सम्भव है जोकि सामान्यत: सामाजिक व्यवस्था के आधार माने जाते हैं। इसलिए तन्त्र विद्या में जानबूझ कर धार्मिक प्रथाओं का उल्लंघन होता है, सामाजिक सन्दर्भों के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार होता है, अन्य प्रथाओं के प्रति नवीन दृष्टिकोण अपनाया जाता है एवं दूसरी बहुत-सी आध्यात्मिक विधाओं में तात्कालिक परिवर्तन होते हैं।[38]

भारतीय धार्मिक परम्पराएँ उन हठधर्मी एवं इतिहास के स्थिर सिद्धान्तों से बहुत दूर हैं जो सन्दर्भों से मुक्त एवं 'निरंकुश आज्ञाओं' से बने हैं। आध्यात्मिक विधियों में यह लचीलापन ही प्राय: नैतिक सापेक्ष्यवाद के आरोपों को जन्म देता है। हालाँकि धार्मिक परम्पराओं में सिद्धान्तत: ऐसे कई सुरक्षा उपाय बनाये गये हैं जो नैतिक पतन एवं सापेक्षतावाद को रोकने में सहायक हैं। इनमें से कुछ की चर्चा चौथे अध्याय में की गई है।

धार्मिक परम्पराओं में सम्प्रेषण

ज्ञान को हम निर्जीव उस समय कह सकते हैं जब उसकी संकल्पित श्रेणियों पर सन्निहित (स्वानुभूत) अनुभवों के बिना ही चर्चा हो। हालाँकि धार्मिक परम्पराओं ने अत्यधिक परिष्कृत, तर्कपूर्ण एवं संकल्पित प्रणाली के संवादों को विकसित किया है, तो भी 'सन्निहित-स्वानुभूत ज्ञान' को मात्र कोरी दार्शनिक बौद्धिकता एवं नाम-रूप भाषाई सीमाओं की तुलना में उच्च माना जाता है। इसलिए ऋषियों एवं योगियों को हिन्दू धार्मिक चलन में पण्डितों (पुरोहितों) से ऊँचा स्थान प्राप्त है।

उदाहरण के लिए हिन्दू एवं बौद्ध धर्मों में मन्त्रों अथवा पवित्र ऋचाएँ, जोकि परम्परा की बहुत-सी महत्वपूर्ण समझ का सम्प्रेषण करती हैं, बच्चों को उनका अर्थ समझने से पहले ही सिखा दी जाती हैं। बिना समझे ही इन मन्त्रों के जाप को भी अत्यधिक प्रभावकारी माना जाता है। इन मन्त्रों के उच्चारण में निहित कम्पन शरीर से ले कर कोशिकाओं और सूक्ष्म स्तर पर भी सीधा असर डालते हैं एवं शरीर में आत्मसात हो कर ये मौलिक परिवर्तन करने में सक्षम होते हैं। इन मन्त्रों के सम्बन्ध में अध्याय पाँच में विस्तार से आगे चर्चा की गई है।

प्राचीन धर्मशास्त्रों को स्मृतिबद्ध करके उनका पाठ करना कई मायनों में लिखित शब्दों से सीखने की तुलना में अधिक सटीक पद्धति है, क्योंकि सस्वर पाठ करते समय की गई गलती तुरन्त ठीक की जा सकती है जबकि ऐसा हो सकता है कि लिखे हुए धर्मशास्त्रों की किसी भी त्रुटि की ओर सदियों तक ध्यान न जाये।[39] पश्चिम की सोच के अनुसार ज्ञान का मौखिक संचरण एक आदिम एवं अक्षम पद्धति है जिसका स्थान बुद्धिमानी से लेखन के आविष्कार ने व्यापक रूप से ले लिया। हालाँकि लेखन पद्धति ने वाकई संचार के माध्यम में एक क्रान्तिकारी बदलाव किया है, परन्तु भारतीय वाचिक परम्परा आध्यात्मिक ऊर्जा की शक्ति लिए हुए एक गहरा अर्थ रखती है (जोकि पश्चिम में बहुत पहले लुप्त हो चुकी है)। यह समझ और जानकारी न केवल मन्त्रों में बल्कि भजनों एवं धार्मिक गीतों में भी परिलक्षित होती है।

'उच्चारित शब्द' के महत्व से हमें गुरु की भौतिक उपस्थिति एवं निकटता की आवश्यकता को समझने में सहायता मिलती है, क्योंकि कुछ ज्ञान एवं आध्यात्मिक तत्व गुरु से शिष्य की ओर मौन रूप से मात्र तरंगों द्वारा ही प्रेषित कर दिये जाते हैं। इस प्रकार की विद्या किसी बाहरी व्याख्यात्मक (लगभग निष्क्रिय) पुस्तक से प्राप्त नहीं की जा सकती, चाहे वह बाहरी तन्त्र से कितनी भी समर्थित हो। अत: साधक का शरीर ही लिखित पुस्तक है।[40] 'आस्था' की ईसाई अवधारणा के स्थान पर धार्मिक परम्परा में विभिन्न साधना एवं योग आसनों द्वारा मानव मन एवं शरीर की विशिष्ट आन्तरिक स्थितियों को प्राप्त करने पर ज़ोर दिया जाता है जिनकी दूसरों द्वारा पूर्ण पहचान के पश्चात् उसे उनके साथ बाँटा जाता है। पश्चिम में संगीतकार और नर्तक इस सन्निहित-स्वानुभूत परम्परा को कलाकारों एवं प्रशंसकों के दृष्टिकोण से सराहते हैं।[41]

किसी समुदाय द्वारा भी मूर्त रूप में सामूहिक अनुभव प्राप्त किया जाता है, उदाहरण स्वरूप 'वार्षिक रामलीला।' रामायण की इस मूल कहानी को पुनः पुनः लोकप्रिय सामूहिक मूर्तरूप में प्रतिवर्ष सार्वजनिक रंगमंचों पर खेला जाता है। इस प्रकार के अनुष्ठानों में आमन्त्रित कलाकारों द्वारा विभिन्न भूमिकाओं का अभिनय करवा कर समुदाय की भावना का पोषण किया जाता है। दुर्भाग्य से इस परम्परा को बहुत हद तक आज के टी.वी. आधारित रामायण ने विस्थापित कर दिया है जो निष्क्रिय और निर्जीव है एवं किसी स्थान विशेष एवं समय के लिए सन्दर्भ-रहित भी।

जीवित गुरुओं और उनके प्रत्यक्ष सम्प्रेषण के महत्व के कारण धर्मग्रन्थों के लिखित सिद्धान्त (जो आधिकारिक स्रोतों द्वारा पवित्रता के दावे के लिखित ग्रन्थ होते हैं) कम प्रभावशाली होते हैं। उदाहरण के लिए वैदिक मन्त्रों को ऐतिहासिक ज्ञान की तरह नहीं माना जाता तथा उपनिषद इतिहास-निरपेक्ष दार्शनिक प्रवचन हेतु आधिकारिक ग्रन्थ हैं। हालाँकि पुराण ऐतिहासिक विवरणों एवं घटनाओं का धार्मिक दृष्टातों एवं धर्म की शिक्षा देने के लिए शिक्षाप्रद कथानकों की तरह प्रयोग करते हैं, न कि अनिवार्य रूप से किसी प्रमुख बाध्यता की तरह। इसलिए जब सनातन धार्मिक परम्पराएँ अन्य संस्कृतियों के सम्पर्क में आती हैं तब वे हमेशा स्थानीय आध्यात्मिक परम्पराओं एवं शिक्षकों का सम्मान करती हैं। आध्यात्मिक ज्ञान के प्रसारण की ऐसी विकेन्द्रित पद्धति प्रत्येक उप-संस्कृति को स्थानीय नियन्त्रण प्रदान करती है जोकि किसी एक संस्था द्वारा नियन्त्रित कोई विशेष धर्मविधान की तरह बिल्कुल नहीं है।[42]

कुछ लोगों का कहना है कि 'गुरु' शब्द केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए उपयोग किया जाता है जो पूर्ण ज्ञानी हों, जबकि अन्य लोग इस शब्द का उपयोग अधिक खुले तौर पर करते हैं जबकि यह शब्द पैग़म्बरों और नबियों की अवधारणाओं से प्रभावित सभ्यताओं के लिए अलग अर्थ रखता है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी परिवेश में प्रायः 'व्यक्तिवाद' पर अधिक बल दिये जाने के कारण गुरु-शिष्य सम्बन्धों की संरचना में बाधाएँ उत्पन्न होती हैं।

जिस तरह आधुनिक विज्ञान में नये सिद्धान्तों के परीक्षण हेतु बाहरी निरीक्षित तथ्यों को आधार बनाया जाता है, उसी प्रकार आध्यात्म-विद्या में मानव के आन्तरिक अनुभूत तथ्यों को आधार बनाया जाता है। आज आध्यात्मिक अनुसन्धान हेतु स्थापित कई उत्कृष्ट गुरुकुल हैं। ये सभी अपने-अपने गुरु-जनों के मार्गदर्शन में अपने सिद्धान्तों एवं पद्धतियों में शिक्षा प्रदान करते हैं। यदि किसी गुरु के बहुसंख्यक अनुयायी गुरु जैसी ही अवस्था प्राप्त कर लेते हैं तो उनके बाद उस मार्ग को मान्यता मिल जाती है, अन्यथा सत्य का वह दावा खुले बाज़ार के प्रतिस्पर्धी दावों के समक्ष अपने आप समाप्त हो जाता है। यदि किसी पन्थ के अनुयायी मिलने दुर्लभ हो जायें और धीरे-धीरे विलुप्त हो जायें तो स्वाभाविक रूप से वह गुरुकुल कमज़ोर पड़ जायेगा। ऐसे में पुस्तकों को जलाना अथवा उस गुरुकुल पर हिंसक आरोप लगा कर नकार देना अनुचित है।

यह ठीक उस भारतीय संगीत गुरु की विधि के समान है जो अपने गायन एवं उसकी पुनरावृत्तियों के सहारे शिष्यों को संगीत सिखाता है जोकि गीत सम्बन्धी लिखित तानों से भिन्न है। इसी तरह एक हठयोगी, बिना किसी रहस्यमयी ग्रन्थों की ऐतिहासिक व्याख्याओं के, केवल अपने शरीर के माध्यम से अपने शिष्यों को आसन सिखाता है। यहाँ तक कि भक्ति परम्पराओं में होने वाला संवाद परमात्मा के प्रति प्रेम के विविध अनुभवों, उन अनुभवों को उचित रीति से परिभाषित करने तथा ईश्वर से भक्त की निकटता पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए होता है। किसी व्याख्यान, धर्मोपदेश अथवा प्रवचन में जो ज्ञान दिया जायेगा वह तुलनात्मक रूप में सन्निहित ज्ञान साधना के उच्च स्तर का नहीं होगा।

शिक्षक अपने अनुभव के अनुसार ग्रन्थों के कथ्य को सम्प्रेषित करता है, परन्तु शिष्य-गण अपने समय, स्थान एवं सन्दर्भों के अनुसार स्वयं की अन्तर्दृष्टि उत्पन्न कर उस तत्व ज्ञान को आत्मसात कर नये ग्रन्थों का निर्माण भी कर सकते हैं। महान मध्ययुगीन दार्शनिक एवं सांस्कृतिक विचारक अभिनवगुप्त ने प्रामाणिक स्रोत के रूप में धार्मिक परम्पराओं की प्रकृति एवं वैधता सम्बन्धी अपनी एक व्यापक चर्चा में स्पष्ट कहा है कि वे सभी सन्निहित-स्वानुभूत ज्ञान से प्रतिष्ठित होती हैं और स्थान, समय एवं अन्य विभिन्न कारकों के द्वारा संचालित होती हैं।[43]

इस प्रकार के ज्ञान ने लोगों को नई सोच की शुरुआत करने तथा उत्तरोत्तर अधिक रचनात्मक अनुसन्धान एवं विकास हेतु प्रोत्साहित किया है। यहाँ पिटी हुई लीक से हटने की अनुमति है। वास्तव में साधु को आध्यात्मिक प्रतिमान इसलिए माना जाता है क्योंकि उसने अपने आप को किसी ढर्रे पर चलने की आवश्यकता से अलग रखा है।[44]

कई पश्चिमी लोगों में यह धारणा है कि सनातन धार्मिक सभ्यताएँ वैचारिक रूप से जड़ हैं तथा उनमें परिवर्तन एवं आत्म-अनुसन्धान की क्षमता नहीं है—उनका ज्ञान सतत् हो रहे रहस्योद्घाटन और चिन्तन के बिना असंशोधित ग्रन्थों में स्थिर है। उनकी यह धारणा अंशत: धार्मिक परम्पराओं के इतिहास-निरपेक्ष होने से हुई है। ऐसा इसलिए भी हो सकता है क्योंकि सनातन धर्म के परिदृश्य में परिवर्तन कभी भी हिंसा से नहीं हुआ और न ही अधिक्रमण एवं विस्थापन द्वारा ऐसा हुआ है और न ही इसको युगों या काल-खण्डों में विभाजित किया गया है। (कम-से-कम पश्चिमी अर्थों में तो नहीं)[45]

वास्तविकता यह है कि धार्मिक ग्रन्थों में विविध प्रयोग किये गये हैं तथा वे जड़ होने से कोसों दूर हैं। उदाहरण के लिए उपनिषद् जो कि वेदों के बाद आये, उन्होंने भी धार्मिक परम्पराओं में नये बौद्धिक दृष्टिकोण जोड़ने में सहायता की। रामायण ने विस्तारपूर्वक विभिन्न पारस्परिक मानवीय सम्बन्धों एवं भूमिकाओं में आदर्श आचरण की व्याख्या की है। इसके बाद समयानुरूप अवसरों की माँग के अनुसार महाभारत में सामाजिक तथा राजनैतिक संघर्षों में धर्म की भूमिका स्पष्ट की गई है। जब बौद्ध धर्म

भारत के जनमानस में बहुत गहरे व्याप्त हो गया तब प्रतिक्रियास्वरूप आदिशंकर ने उन प्राचीन ग्रन्थों की बौद्ध शैली से पुनर्व्याख्या की, जिससे अद्वैत-वेदान्त (अद्वैतवाद) की क्रान्ति हुई। विगत हज़ार वर्षों के अन्तर्गत भक्ति आन्दोलन ने हिन्दू धर्म के भीतर की विशिष्ट पुरातनपन्थी अवधारणा को अपने ही सिद्धान्तों के अनुसार चुनौती दी जिससे यह और भी समृद्ध हुआ।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि सनातन धार्मिक परम्पराओं के इतने लम्बे इतिहास में कभी भी नवीनता (नवाचार) के कारण आपसी टकराव नहीं हुआ। इन परम्पराओं में कट्टरपन्थी विस्थापन का उद्देश्य कभी भी नहीं रहा। एक युग से दूसरे युग में बहुत बदलाव हुए, परन्तु प्रचलित विचारों में ऐसे वैचारिक परिवर्तन प्राचीन विचारों के पुनर्स्थापन अथवा उस प्राचीन स्थापित सत्य की और अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए ही हुए।

पश्चिम में बदलाव की प्रवृत्ति बाइबल में उल्लिखित ईश्वर के राज्य में विश्वास से प्रभावित है। नये सत्यों को स्थापित करने के क्रम में प्राचीन सत्यों का सामना करके उन्हें हटाना होता है। ऐसा होने पर परिवर्तन और उसका अनुभव अत्यधिक मूल्यवान एवं नाटकीय हो जाते हैं। स्वयं यीशु ने कहा है कि — ''कोई व्यक्ति पुरानी बोतल में नई शराब नहीं डालता ... (मैथ्यू 9:17)।'' सनातन धार्मिक परम्पराओं में नवीनता सत्य के मापदण्ड की तरह नहीं पूजी जाती और न ही उसके मौलिकता के दावों को ही ठीक माना जाता है। कभी भी जानबूझ कर दूसरों का विश्वास तोड़ना और सभ्यताओं का विनाश किसी भी नवीन विचार के लिए उचित नहीं ठहराया गया।

धार्मिक सनातन सभ्यताओं में अतीत और वर्तमान के सम्बन्धों में निरन्तरता एवं बदलाव दोनों देखे जा सकते हैं। वे परम्पराएँ प्रभावशाली एवं प्रासंगिक तथा जीवित रहती हैं जो अगली पीढ़ी के बदलते दौर में हस्तान्तरित हो जाती हैं। जो ऐसा नहीं कर पाती हैं वे अशक्त हो कर समाप्त हो जाती हैं। उदाहरण के लिए जिसे पश्चिम पूर्व-आधुनिक, आधुनिक अथवा उत्तर-आधुनिक जैसे विशेषण देता है वह भारतीय समाज में साथ-साथ प्रदर्शित होते हैं। यहाँ परिवर्तन धार्मिक परम्परा को खण्डित नहीं करता और न ही यह पूर्व-स्थापित संस्थानों को पराजित करता है।

धार्मिक परम्पराओं की सामान्य प्रकृति अन्तर्मुखी तथा खुले मस्तिष्क वाली दोनों ही हैं। इन परम्पराओं की प्राथमिकता बाहरी भौतिक संसार पर विजय प्राप्ति के बजाय आन्तरिक आध्यात्मिक खोज है। श्रेष्ठ धार्मिक साधकों में से बहुतों ने अपने जीवन के सर्वोत्तम काल का उपयोग ध्यान की तकनीक सुधारने में बिताया। यह सिद्ध करता है कि आखिर क्यों सनातन धार्मिक सभ्यताओं में किसी वाचाल सत्ता के केन्द्रीकरण का स्पष्ट ढाँचा नहीं है, कैसे इनके साधक आधुनिक विज्ञान एवं अन्य बौद्धिक चुनौतियों का सामना आसानी से करते हैं तथा क्यों इनमें दूसरों पर शासन करने की राजनैतिक इच्छाशक्ति एवं दुष्प्रचार की कमी है।

अन्य के रहस्योद्‌घाटनों के रूप में ईसाई पन्थ

पश्चिमी विचारधारा यह तो मानती है कि ज्ञान की प्राप्ति के लिए कुछ मानवीय सीमाएँ हैं, लेकिन इन सीमाओं की बाधा दूर करने की तकनीकों एवं तरीकों की सूचियाँ विकसित करने में वह असफ़ल रही है। बाइबल के अनुसार परमात्मा ने मनुष्य के ज्ञान की सीमाएँ तय की हैं जिन्हें प्रतीकात्मक रूप से अच्छाई और बुराई के ज्ञानरूपी वृक्ष से फल न खाने की दैवीय निषेधाज्ञा के रूप में दिखाया गया है।

विज्ञान एवं दर्शन के क्षेत्र में आधुनिक पश्चिमी धर्मनिरपेक्ष व्यवस्थाएँ भी प्राय: विभिन्न विषयों की ज्ञानप्राप्ति में मानस की सीमाओं का दावा करती हैं।[46] इन सीमाओं के अतिक्रमण करने हेतु पश्चिम ने आध्यात्म-विद्या जैसा कोई व्यवस्थित विज्ञान विकसित नहीं किया है।

विज्ञान एवं धर्म क्षेत्र के एक विद्वान एलेन वॉलेस ने इस कमी को महसूस किया, वे लिखते हैं—

> “…किसी भी प्रकार के विज्ञान को विकसित करने का पहला चरण होता है उन साधनों को विकसित एवं परिष्कृत करना जो प्रयोगकर्ता द्वारा अनुसन्धान किये जाने वाले घटनाक्रम के निरीक्षण को सुगम और तथ्यों के परीक्षण को सम्भव बनाते हैं। मानसिक हलचल का प्रत्यक्ष निरीक्षण करने में हमें सक्षम बनाने हेतु हमारे पास एकमात्र साधन हमारा मनबुद्धि ही है। लेकिन अरस्तू के समय से ले कर अब तक पश्चिम ने मानसिक हलचलों के परीक्षण के लिए एक विश्वसनीय यन्त्र के रूप इस शक्ति के विकास एवं उसे परिष्कृत करने में बहुत ही कम उन्नति की है। और तो और… आज भी पश्चिम में ऐसे अनुभवजन्य आध्यात्मिक विज्ञान के विकास का बहुत विरोध हो रहा है।[47]

ईसाई मानसिकता में इस प्रतिरोध के मूल कारण बहुत गहरे बैठे हुए हैं। मध्ययुग में कई प्रमुख यूरोपीय विचारकों का मानना था कि असाधारण मानसिक क्षमताओं तथा अनुभव के प्रमाणीकरण पर निर्भरता, मूर्तिपूजकों (pagan) के द्वारा तर्क-वितर्क ग्रीक विचार के उन्नयन से प्रभावित है, इसलिए अन्ततः वह “शैतानी प्रभाव” से प्रेरित है। चेतना के उच्च स्तर को इस प्रकार शैतानी मान कर उसके मुक्त, उत्साहपूर्ण खोज कार्य की प्रौद्यौगिकी के विकास को रोका गया। यूरोपीय अँधविश्वासों ने आध्यात्म विद्या को एक व्यवस्थित आधार दे सकने वाली स्वतन्त्रता की मानो हत्या ही कर दी। शास्त्रीय एवं मूर्तिपूजक (pagan) संस्कृति के जो अवशेष बचे थे, पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक वे भी ईसाई साम्प्रदायिक प्रभुत्व के कारण नष्ट हो गये।

वॉलेस ने अपने शोध में दर्शाया कि किस तरह ईसाई रहस्यवादियों ने भी मानवी क्षमता पर गम्भीर बेड़ियाँ जकड़ दीं।[48] अन्य बातों के अतिरिक्त उनमें से कुछ रहस्यवादी आध्यात्मिक स्थितियों को सुसंगत रूप से स्थिर, परिष्कृत एवं वर्गीकृत करने में सक्षम थे। वे आगे लिखते हैं—ऐसा लगता है कि ईसाई रहस्यवादियों के बीच एक व्यापक सहमति बन गई थी कि—

> मनुष्य के ध्यान की उच्चतम स्थिति अवश्यमेव क्षणभंगुर है जोकि सामान्यत: आधे घण्टे से ज्यादा नहीं रह सकती। इस रहस्यवादी मिलन की क्षणभंगुर प्रकृति पर विश्वास का आरम्भ हुआ ''ऑगस्टीन'' (Augustine) से तथा लगभग एक सहस्त्राब्दी पश्चात मीस्टर एकहार्ट (Meister Eckhart) के लेखन में यही परिलक्षित होता है, जिन्होंने इस बात पर बल दिया कि ध्यान में अत्यधिक हर्ष के आवेश की स्थिति अवश्य ही क्षणिक होती है, जिसका अवशेष प्रभाव तीन दिनों से अधिक नहीं रहता।[49]

दूसरे शब्दों में पश्चिमी विचार 'समाधि' अर्थात चेतना की वह स्थिति जिसमें मन-बुद्धि अबाधित रूप से ध्यान में लीन रहते हैं, उस अवधारणा को नकार देता है। इसके अतिरिक्त पश्चिम में मनीषियों एवं हठधर्मी मठाधीशों के बीच हुए संघर्ष में सदैव मनीषियों की ही हार हुई है। ईसाई प्रभुत्व ने हमेशा ऋषि अथवा बुद्धत्व जैसी अवस्था को अपनी ऐतिहासिकता के लिए ख़तरे के रूप में देखा है। उन्होंने सिद्धों के आध्यात्मिकता के दावों को 'मानव-निर्मित धर्म' तथा पृथ्वी पर मनुष्य की श्रेष्ठता को चर्च के परिप्रेक्ष्य में मत भ्रष्ट करने वाले विधर्मी कृत्य के रूप में देखा और उसकी निन्दा की। चौदहवीं सदी की सिएना (Siena) की एक ईसाई विद्वान सेंट कैथरीन (St. Catherine) की कहानी यही दर्शाती है। हालाँकि बाद में उसे सन्त तथा 'डॉक्टर ऑफ़ द चर्च' भी घोषित किया गया, परन्तु उसके जीवनकाल में उसे न केवल अपनी साधना का अभ्यास करने से रोका गया बल्कि उसे सताया भी गया, क्योंकि वह मुख्य रूप से युवाओं को प्रभावित करने लगी थी। इस प्रकार के प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभव के उदाहरणों के प्रति शंका जिनमें कभी-कभी उन रहस्यवादियों द्वारा प्रदर्शित विशेष शक्तियों को, जो उनके देहान्त के बाद भी दिखती हैं, बाद में बलपूर्वक वापस लेने को कहा गया जोकि ईसाई रहस्यवाद में असामान्य नहीं है।

हालाँकि किसी हद तक प्रोटेस्टैंट मत का रवैया वैज्ञानिक पड़ताल के प्रति मित्रतापूर्ण रहा, परन्तु वॉलेस कहते हैं कि इसने पश्चिमी मस्तिष्कों द्वारा मानव की आन्तरिक खोज के लिए गम्भीर प्रयासों का रास्ता और भी बन्द कर दिया।

> प्रोटेस्टेण्टों द्वारा धर्म के प्रति कट्टर आग्रहों तथा वैज्ञानिक क्रान्ति के चलते ईसाइयों द्वारा चेतना की प्रकृति के मननशील अनुसन्धान में तेज़ी से गिरावट आई। प्रोटेस्टेण्टों में ऑगस्टिनियन सोच को देखते हुए, जिसमें जीवात्मा की अनिवार्य अधर्मिता एवं मुक्त होने में मानव की असमर्थता अथवा विश्वास के बिना ईश्वर को न समझ सकना, इस अनुसन्धान के लिए कोई शास्त्र-सम्मत

उत्साह नहीं रह गया। मुक्ति को अधिकारपूर्वक ईश्वर की मानव को एक अयोग्य भेंट के रूप में प्रस्तुत किया गया।[50]

धर्म के अतिरिक्त भी यूरोपीय विज्ञान केवल बाह्य लोक तक ही सीमित रहा और उन्होंने 'योग' जैसी आन्तरिक तकनीक को अपने दार्शनिक चिन्तन में सम्मिलित नहीं किया। साथ ही रेने डेस्कार्टेस — Rene Descartes (1596-1650) के भव्य प्रभाव ने मामले को और बदतर बना दिया। यद्यपि आरम्भ में ऐसा लगा था कि वह एक आन्तरिक प्रायोगिक निरीक्षण की दिशा में बढ़ रहा है — Cogito Ergo Sum (मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ), परन्तु उसने आध्यात्मिक विद्या की तुलना में एक दूसरी कट्टर दिशा पकड़ी। पुन: एलन वॉलेस अपनी बात बेहतरीन तरीके से रखते हुए कहते हैं—

''डेस्कार्टेस, जिसका वैज्ञानिक क्रान्ति पर अत्यधिक वैचारिक प्रभाव निर्विवाद है, गम्भीर रूप से मन-बुद्धि के आत्मपरीक्षण हेतु प्रतिबद्ध था। लेकिन अपने यूनानी एवं ईसाई पूर्ववर्तियों की तरह उसने ध्यान की प्रक्रिया के केन्द्रीयकरण की विधि नहीं बनाई जिससे मानसिक हलचल का विश्वसनीय रूप से निरीक्षण किया जा सके। इसके अतिरिक्त एक आध्यात्मिक कदम के रूप में, जिसने मानव मन-बुद्धि को प्राकृतिक विश्व से प्रभावी रूप से दूर कर दिया, डेसकार्टेस ने अपना निष्कर्ष सुनाया कि जीवात्मा शरीर के भीतर ही होती है जहाँ वह शीर्षग्रन्थि (pineal gland) के माध्यम से समूचे शरीर पर अपना प्रभाव डालती है। मोटे रूप में शायद यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के दार्शनिक रुख के कारण डेसकार्टेस के बाद दो शताब्दियों से भी अधिक समय तक मानव मनबुद्धि का अन्वेषण पश्चिमी विज्ञान द्वारा आरम्भ ही नहीं हो पाया।[51]

इसी तरह की सीमित सोच पश्चिमी धार्मिक मनोविज्ञान के अग्रणी लेखक जिन्हें स्वयं ही इसके अनुभवजन्य खोज के यन्त्र उपलब्ध नहीं थे, विलियम जेम्स — William James (1842-1910) के लेखन में भी दिखाई देती है। वॉलेस के अनुसार, ''जेम्स को इस प्रकार के स्वैच्छिक ध्यान को निरन्तर विकसित करने के महत्व के बारे में जानकारी थी, परन्तु उसने स्वयं ही स्वीकार किया है कि वह नहीं जानता कि इसे कैसे प्राप्त किया जाता है।[52]

अन्तत: पश्चिमी पद्धति में आध्यात्मिक विद्या की कमी को वॉलेस ने संक्षेप में बताया है—

''...संक्षेप में कहा जाये तो देखने से यह प्रतीत होता है कि पश्चिमी विज्ञान की यात्रा कोपरनिकस (Copernicus) से ले कर आधुनिक समय तक ईसाई मध्ययुगीन ब्रह्माण्डीय सोच से प्रभावित है। जैसे कि इस सोच के अनुसार पृथ्वी के केन्द्र में नरक है और स्वर्ग की अवधारणा इस ब्रह्माण्ड की सबसे

> बाहरी कक्षा में रखी गइ। इसी प्रकार मानव के व्यक्तिपरक संसार को सदा दुष्टता के ठिकाने के रूप में चित्रित किया गया जबकि बाह्य संसार को इन नैतिक प्रदूषणों से मुक्त माना गया। अन्ततः बीसवीं सदी के समापन वर्षों में ही पश्चिम के वैज्ञानिक समुदाय ने मानव चेतना को एक वैध वैज्ञानिक अन्वेषण का विषय मानना आरम्भ किया। मनोविज्ञान को चेतना की प्रकृति की व्याख्या करने में एक शताब्दी से अधिक समय क्यों लगा जबकि वह उभर कर तब आई थी जब पश्चिमी वैज्ञानिकों को यह अनुभव हुआ कि उन्होंने इस ब्रह्माण्ड के सभी प्रमुख सिद्धान्तों को खोज लिया है।[53]

आज के अधिकांश शैक्षिक विद्वानों में ऐसी अनुभूतिजन्य बुनियाद ही नहीं है जिससे वे सनातन धर्म की ज्ञानमीमांसा को समझ सकें।

यहूदी एवं ईसाई धर्मशास्त्री उतनी ही गम्भीरता के साथ अपने प्राचीन सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं जितना वकीलों की सेना किसी जटिल व्यापारी अनुबन्ध को पढ़ने में लगाती है। वे ईश्वर की ओर से कथित रूप से जारी गहन संशोधनों की, जो विभिन्न सूत्रों द्वारा प्रतिपादित होते रहते हैं, जाँच करते हैं, उनमें संलग्न विभिन्न धाराओं को देखने के लिए उपबन्ध ढूँढते हैं, आपात स्थिति में बच निकलने के लिए विशिष्ट धाराएँ खोजते हैं इत्यादि... अर्थात् ईसाई धर्मशास्त्रियों के बीच होने वाली धार्मिक चर्चा प्रायः निजी कम्पनियों के नामी वकीलों के बीच होने वाली बहस के समान होती है। धर्मशास्त्र के इस दृष्टिकोण के समर्थन हेतु विद्वान लोग ईश्वर और मानवता के मध्य निहित अन्तर्सम्बन्धों के पुनर्निर्माण का प्रमाण ढूँढ़ते हैं। इसलिए इन मतों के अध्ययन पर न्यायशास्त्र तथा ऐतिहासिक विश्लेषणों का प्रभुत्व बहुत प्रबल होता है। अर्थात् इस प्रकार के धार्मिक संस्थान मनमाने तरीकों से सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं, उनको झूठे दावों एवं ख़तरों से बचाने के लिए उन पर नियन्त्रण स्थापित करते हैं तथा अन्त में अपने विस्तारवादी अभियानों में एक हथियार के रूप में इन सबका लाभ उठाते हैं।

प्रत्येक इब्राहमी मत में उनके परमेश्वर ने किसी विशिष्ट समूह के साथ सामूहिक रूप से सौदेबाजी की है। यहूदी ईश्वर द्वारा 'चुने' हुए लोग हैं जबकि ईसाई परमेश्वर के पुत्र के बलिदान द्वारा लाभार्थी हैं, वहीं उम्मा द्वारा संगठित मुसलमानों के लिए ईश्वर द्वारा भेजे गये आख़िरी पैग़म्बर के शब्द ही अन्तिम और पूर्ण सत्य हैं। इसलिए (जैसा कि उनके संस्थानों द्वारा व्यक्त किया जाता है) उनका ध्यान प्रायः बाहर की ओर ही रहा। पश्चिमी विचार के महत्वपूर्ण सिद्धान्त अधिकांशतः व्यक्तिगत आध्यात्मिकता के लिए नहीं बल्कि सामूहिक उद्धार के लिए हैं और 'नास्तिकों' (काफ़िरों) पर विजय प्राप्ति के लिए समाज और राजनीति को संगठित करने के लिए हैं। व्यक्तिगत मुक्ति का अनुभव केवल मृत्यु के पश्चात स्वर्ग में ही है। धरती पर सफलता का मापदण्ड अधिकतर व्यवस्थित मतों द्वारा सामूहिक सामाजिक-राजनैतिक सक्रियता के रूप में रहा है।

भारतीय सनातन धार्मिक साधकों को यह सब अजीब और अप्रासंगिक लगता है जो यह समझ नहीं पाते कि इन सब बातों का आध्यात्मिकता से क्या सम्बन्ध है। धार्मिक परम्पराओं की विशेषता है कि वे समय और स्थान के एक से दूसरे छोर तक लगातार जीवन्त आध्यात्मिक गुरु तैयार कर उनकी लगातार सफलता सुनिश्चित करती हैं ताकि वे अपनी विशिष्ट शिक्षाओं के द्वारा निर्धारित समुदायों को लाभान्वित कर सकें। तात्पर्य यह है कि सन्निहित आत्मज्ञान प्राप्त करने के तरीके अधिक महत्वपूर्ण हैं, न कि इस प्रक्रिया से सम्बन्धित इतिहास।

विभिन्न इब्राहमी मतों के बीच कितनी भी समानता हो परन्तु यह उनके ग़ैर समझौतावादी इतिहास और उसकी मालिकाना भव्य कहानी द्वारा उत्पन्न संघर्षों का समाधान नहीं कर सकता। यह मान भी लिया जाये कि विभिन्न पश्चिमी मतों के कर्मकाण्ड एक जैसे हो जायें, उनके पूजाघर व देवालय एक समान दिखने लगें, वेशभूषा के नियम एक जैसे बन जायें आदि, तब भी निश्चित रूप से इनमें टकराव होता रहेगा।

पैग़म्बर परम्परा में प्रभुत्ववाद

जैसा कि हमने देखा है, यहूदी-ईसाई परम्पराओं में रहस्योद्घाटन का अनोखा भविष्यवक्ता इतिहास ही मनुष्य का परमात्मा को समझने के लिए सबसे अधिक सशक्त मार्ग है। यहाँ पर आध्यात्मिक ज्ञान जानने की लालसा मुख्य रूप से आत्म-ज्ञान के लिए नहीं बल्कि धरा पर समाज और व्यक्ति के लिए परमेश्वर की इच्छा जानने के लिए है। यह समझना बहुत आवश्यक है कि इन मतों के ऐतिहासिक एवं सामाजिक आयामों का कोई विकल्प नहीं है, ये सदा ही हावी रहते हैं। इन मतों के सभी पहलुओं में इतिहास-केन्द्रिकता गहराई से समाई हुई है।

इस विश्वदृष्टि के अनुसार मनुष्य मूल रूप से पापी होते हैं तथा उनके लिए अपनी आन्तरिक क्षमता की सीमाओं के बाहर जाना सम्भव नहीं है। ईश्वर इतिहास में हस्तक्षेप करते हैं ताकि मनुष्य अपनी पाप-वृत्ति पर विजय प्राप्त कर सके, परन्तु उससे पार होने की क्षमता फिर भी सीमित है—मनुष्य न तो कभी भगवान बन सकते हैं और न ही भगवान जैसे। इसके अतिरिक्त भगवान के हस्तक्षेप अनोखे और बेजोड़ हैं तथा उनकी पुनरावृत्ति सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए ईसाइयों द्वारा माना जाता है कि यीशु परमेश्वर के साक्षात् एकात्म रूप हैं, परन्तु यह भी माना जाता है कि अब कोई भी कभी भी यीशु के समान अवतारी परिपूर्णता प्राप्त कर ही नहीं सकता। वास्तव में यह सारी सोच रूढ़िवादी ईसाइयों की है जिसमें आस्तिकों की प्रमुख रीति यूकेरिस्ट (Eucharist) के अनुसार वे शराब (wine) की एक घूँट के साथ रोटी का एक निवाला खा कर यीशु के पवित्र शरीर के साथ ख़ुद का सम्बन्ध स्थापित हुआ मानते हैं। इनकी मान्यता है कि यीशु का शरीर एवं रक्त अनोखे हैं, अत: यही एकमात्र यूकेरिस्टिक रीति कैथोलिक एवं रूढ़िवादी ईसाइयों को यीशु के अवतार के अनुभव में सहायक होगी।

इसका अर्थ यह भी है कि 'चर्च' ही उस परिवर्तन को अधिकृत करेगी तथा उसकी वास्तविकता की गारण्टी देगी, साथ ही इस बात पर भी नियन्त्रण रखेगी कि कौन ईश्वर के साथ ऐसा भौतिक सम्पर्क रख सकता है और कौन नहीं।

यहाँ सर्वाधिक व्यापक रूप से जो सिद्धान्त लागू किया जाता है (जिसे प्राय: 'वैकल्पिक दण्डात्मक प्रायश्चित' अथवा 'काल्पनिक प्रायश्चित' कहा जाता है) उसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य को जानबूझ कर की गई परमेश्वर की अवज्ञा के परिणामस्वरूप उसका पूर्व काल में उठाया गया ऋण चुकाना ही होगा। क्योंकि मनुष्य के इस ऋण को चुकाने की शर्तें भी केवल ईश्वर ही बना सकते हैं इसलिए उन्होंने अपने एकमात्र पुत्र को धरती पर इसकी व्यवस्था हेतु एवं सब कुछ ठीक करने के लिए भेजा था। यीशु मानवता के पापों का बोझ एवं दण्ड की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेते हैं और इस तरह मानवता पर परमेश्वर के प्रकोप को ख़त्म कर देते हैं। अर्थात् जिन पापों के अपराध का दण्ड हमें आज मिलना है उसे भगवान ने पहले ही यीशु को हस्तान्तरित कर दिया था और उन्होंने वह दण्ड भुगता। इसीलिए हम यीशु से प्रेम करते हैं व उसकी पूजा करते हैं, क्योंकि उन्होंने हमारे लिए स्वयं को बलिदान कर दिया। इस विचारधारा का केन्द्रीय घटक तत्व यह है कि हमारे आज के प्रायश्चित के लिए विकल्प के रूप में यीशु ने ख़ुद को सूली पर चढ़ाने का निर्णय किया।[54]

इन परम्पराओं में मानव हमेशा ईश्वर के अधीनस्थ रहेगा और यद्यपि असाधारण व्यक्ति अथवा भविष्यवक्ता परमात्मा से सीधा सम्पर्क कर सकते हैं, पर हमेशा वह स्थिति परमात्मा द्वारा बाहर से आरम्भ की जाती है, न कि व्यक्ति के अपने आध्यात्मिक अभ्यास एवं अनुशासन द्वारा। ईसाइयों के लिए यीशु का अवतार एक अद्वितीय एवं बेजोड़ ऐतिहासिक घटना है, वही टोराह (Torah) की पवित्र देन यहूदियों के लिए है जबकि पैग़म्बर मोहम्मद को दिया गया कुरान का श्रुतलेखन मुसलमानों के लिए है। क्योंकि भविष्यवक्ता अथवा पैग़म्बर ही ईश्वर की इच्छा को जानने-समझने का एकमात्र माध्यम हैं। मनुष्य जाति तब तक अज्ञान के अँधेरे में ही भटकती रहेगी जब तक वह इन नबियों के इतिहास का अध्ययन नहीं कर लेती।[55]

हालाँकि उक्त पैग़म्बर वर्षों पहले रहे थे, परन्तु अब हमें उनके निर्जीव इतिहास द्वारा दी गई एकमात्र निर्देशक शिक्षा का बोझ उठाने के लिए छोड़ दिया गया है। महत्वपूर्ण बात यह है कि ईसाइयों को केवल यीशु के सन्दर्भ में पैग़म्बर का सिद्धान्त स्वीकार करने को कहा जाता है, परन्तु उनसे यह नहीं कहा जाता कि वे स्वयं ठीक इस पैग़म्बर के प्रतीक की तरह बनने या वैसा व्यवहार करने का प्रयास करें। 'यीशु जैसा बनने' का अर्थ यह होगा कि अपने आध्यात्मिक प्रयासों से कई मनुष्य यीशु जैसी पवित्र स्थिति को प्राप्त कर लेंगे और इससे यीशु की विशिष्टता और साथ ही उस विशिष्टता पर आधारित चर्च की महत्ता भी कम हो जायेगी। इस प्रकार उन ऐतिहासिक सन्दर्भों और घटनाओं को खोना, जिन्होंने पैग़म्बरी रहस्योद्‌घाटनों को स्थापित किया था, विनाशकरी होगा।[56] पैग़म्बरों एवं उनके सन्देशों के गहन अध्ययन पर यहूदी-ईसाई

बल तो देते हैं परन्तु अनेक प्रयासों के बाद भी धर्मशास्त्री इन निहित सिद्धान्तों एवं प्रथाओं के मामलों का उचित निपटारा करने में असमर्थ रहे हैं। इन भविष्यवाणियों एवं शास्त्रों की ऐतिहासिक जानकारी को सत्यापित करना लगभग असम्भव ही है।

इतिहास-केन्द्रिक मतों में पैग़म्बरों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे स्वयं उच्चतम आध्यात्मिक चेतना के धनी हों, बल्कि पैग़म्बर बनने के लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि वे ईश्वरीय इच्छाओं के प्रेषक बनने पर सहमत हों। बाइबल में भी स्वीकार किया गया है कि उनके नबी बोधात्मक अवस्था की सीमा से परे नहीं हैं। चर्च दावा करती है कि वह भगवान का अवतार है, परन्तु अभी तक यह जानकारी नहीं है कि चर्च के धर्मशास्त्रियों ने ही सन्निहित आत्मज्ञान को प्राप्त किया (या अगर प्राप्त किया भी है तो निश्चित रूप से उसे महत्व नहीं दिया है)। बाइबल प्रत्यक्ष ज्ञान (श्रुति) के बजाय एक सांस्कृतिक आख्यान (स्मृति) अधिक है।

इसके विपरीत गीता का तर्क है कि द्वैतवाद से मुक्त ज्ञान ही संसार के सभी प्राणियों में अविभाजित आध्यात्मिक प्रकृति के दर्शन कराने में सक्षम है। वह ज्ञान जो सभी प्राणियों को उनकी अन्तर्निहित एकता के बिना अलग-अलग देखता है, निचले स्तर का है। इस प्रकार केवल सिद्ध गुरु परम्पराएँ ही ज्ञान को प्रामाणिक रूप से हस्तान्तरित कर सकती हैं।

एक नबी या पैग़म्बर के सन्देश का प्रभुत्व उसकी उग्रता के साथ बढ़ता दिखता है, विशेषकर यदि उस सन्देश में किसी काफ़िर के लिए कठोर परिणामों की चेतावनी दी गई हो। इस प्रकार के पैग़म्बरी अभियानों को चलाए रखने का आधार 'डर' होता है जिसमें अतीत को भयंकर घोषित कर उसका उन्मूलन करना और पुस्तकों को जलाना, 'झूठे देवताओं' की मूर्तियाँ खण्डित करना एवं विधर्मियों का विनाश करने हेतु न्यायिक जाँच का ढोंग करना भी सम्मिलित होता है।

दूसरी ओर वैज्ञानिक ज्ञान इतिहास-केन्द्रिक नहीं होता है। विज्ञान का अपना एक गौरवशाली इतिहास है, परन्तु ईसाइयत में इतिहास की भूमिका के उपयोग से यह बिलकुल भिन्न है। उदाहरण के लिए सर आइजैक न्यूटन—Sir Isaac Newton (1642-1727) का एक निजी इतिहास है, लेकिन गुरुत्वाकर्षण की खोज उनके जीवन की घटनाओं का परिणाम नहीं है। उन्होंने जिस बात की खोज की वह तो पहले से ही उपस्थित थी। यहाँ तक कि यदि कोई यह साबित कर दे कि न्यूटन कभी थे ही नहीं या कि वह एक धोखेबाज थे, तब भी भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त नहीं मिटेंगे और कोई भी दूसरा व्यक्ति उनका स्वतन्त्र रूप से पुनः पता लगा सकता है। जो भी हो, ईसाई मत के अनुसार यीशु के जीवन की घटनाएँ इस बात का आश्वासन देती हैं कि भगवान ने मनुष्य को यह क्षमता दी है कि वह अनन्त नरकवास से बच सके। ईश्वर के अद्वितीय हस्तक्षेप द्वारा नई शर्तें बनाई गईं हैं जो पहले वाली वाचाओं का स्थान ले सकें। न्यूटोनियन भौतिकी इतिहास-केन्द्रिक नहीं है और कोई भी गुरुत्वाकर्षण के मूल सिद्धान्त को झूठा सिद्ध नहीं कर सकता, चाहे कोई इसे झूठ भी ठहरा दे कि

न्यूटन एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में कभी अस्तित्व में थे ही नहीं, अथवा उनके व्यक्तिगत जीवन के विवरण को ही झुठला दे।[57]

यीशु के लिए किये गये चमत्कार सम्बन्धी दावों के विपरीत गौतम बुद्ध ने इस बात पर बल दिया कि निर्वाण उपलब्धि केवल वास्तविकता की खोज है जोकि हमेशा से ही विद्यमान थी। वे परमेश्वर की ओर से कोई आदेश ले कर नहीं आये। गौतम बुद्ध ने कहा कि न तो वह स्वयं परमेश्वर हैं और न ही उनकी ओर से भेजे गये कोई दूत हैं तथा उन्होंने जो भी खोजा उसे उनकी प्रक्रिया का पालन करके प्रत्येक मनुष्य स्वयं प्राप्त कर सकता है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि वास्तव में 'निर्वाण' प्राप्त करने वाले न तो वे पहले व्यक्ति हैं और न ही अन्तिम। बुद्ध के सिद्धान्तों को साकार करने के लिए हमें बुद्ध के जीवन-इतिहास का ज्ञान होना आवश्यक नहीं है।[58]

यहूदी और ईसाई मत अपनी इतिहास-केन्द्रिक मान्यताओं से कोई समझौता नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसा करना उनका वह दावा छोड़ने के समान होगा कि 'परमात्मा की इच्छा के ज्ञान' का एकमात्र रास्ता उन्हीं के पास है। ऐसा होने पर परमात्मा और मनुष्य के सम्बन्ध का यह सिद्धान्त कि मनुष्य के लिए इस तरह का विशिष्ट ज्ञान केवल 'ऊपर से' किसी विशेष समय में ईश्वरीय हस्तक्षेप के रूप में ही आ सकता है, अपने-आप खारिज हो जायेगा। सनातन धार्मिक परम्पराओं के लोगों को यह पश्चिमी विचार इतना कट्टर और असहज प्रतीत होता है कि वे ईसाइयों के साथ अपने धर्म-सम्बन्धी वैचारिक आदान-प्रदान में इसे अनदेखा तक कर देते हैं और आपसी बातचीत में एक मामूली बाधा मानते हैं, जबकि यह समस्या इतनी सरल नहीं है।

यहूदी और ईसाई परम्पराओं में उनकी धार्मिक संस्थाएँ अपने निर्धारित नियमों, कानूनी संहिताओं तथा अपरिवर्तनीय नियन्त्रक ग्रन्थों द्वारा चलती हैं और वही यह सुनिश्चित एवं नियन्त्रित करती हैं कि उनकी विचारधाराओं के अनुसार क्या प्रामाणिक रहेगा और क्या नहीं। अन्य सभी प्रतिस्पर्धियों को गौण दर्जा दे कर पीछे धकेल दिया जाता है। अन्य धर्मों के प्रति समानता एवं सम्मान की भावना कभी प्रस्तुत नहीं की जाती। अन्तर्धार्मिक वैचारिक आदान-प्रदान भी मात्र 'एक कुल जोड़ शून्य-परिणाम' वाला खेल भर रह गया है।

यह सुनिश्चित करने के लिए कि ईश्वरीय आदेश प्रबल रहे, अधिनियमों के प्रामाणिक ग्रन्थों का गठन होता है तथा विशेष रूप से ईसाई मत में महत्वपूर्ण पुष्टियों के सार-संक्षेप एवं मान्यताओं पर बहस होती है, उन्हें लिखा जाता है तथा चर्चा में भाग लेने के लिए उनका कड़ा परीक्षण किया जाता है। उदाहरण के लिए नाइसीन मत (Nicene Creed) ऐतिहासिक-धार्मिक दावों की एक सूची है। अधिकांश चर्चों में इसे एक बुनियादी शपथ अथवा मिशनरी विवरण के रूप में दोहराया जाता है जिसके प्रति ईसाइयों को निष्ठा की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। जिनको ईसाई मत की इतिहास केन्द्रीयकता पर सन्देह हो उन्हें इस मत के निर्देशों को, जो सन् 325 में लिखे गये थे, पढ़ना चाहिए जब रोमन साम्राज्य में पहली बार ईसाइयत को एक राज्य-पोषित पन्थ

के रूप में मंज़ूरी दी गइे थी। नाइसीन मत कैथोलिक इसाइे, पूर्वी कट्टरपन्थियों, अधिकांश प्रोटेस्टेण्ट चर्चों के साथ-साथ एंग्लिकल समुदाय में भी एक आधिकारिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार्य है। यह ईसाई एकता का एक आधार है जबकि इसका दूसरा आधार बपतिस्म की रस्म है। नाइसीन मत अन्य बातों के अतिरिक्त निम्नलिखित मान्यताओं की शपथ रूप में माँग करता है—

1) प्रभु यीशु ही परमात्मा की एकमात्र सन्तान हैं
2) पवित्र प्रेत (Holy Ghost) द्वारा कुँआरी मैरी (Virgin Mary) ने यीशु को जन्म दिया था।
3) यीशु को हमारे लिए ही सूली पर चढ़ाया गया, उसे घोर कष्टों का सामना करना पड़ा, फिर उसकी मृत्यु हुई एवं उसे दफ़नाया गया...
4) मृत्यु के तीसरे दिन वह पुन: सशरीर जीवित हुआ एवं सीधा स्वर्ग चला गया...
5) स्वर्ग में यीशु का स्थान परमेश्वर के दाईं ओर स्थित है
6) यीशु इस संसार में पुन: अपने पूर्ण गौरव के साथ आयेगा और तमाम जीवित व मृत व्यक्तियों के साथ न्याय करेगा...
7) हम सभी मृतात्माओं को पुनर्जीवित होते देखेंगे...
8) हम अपने पापों से मुक्ति प्राप्त करने हेतु बपतिस्मा स्वीकार करते हैं...

नाइसीन मत का पूरा व्याख्यान नीचे इस प्रकार से है—

> हम सिर्फ़ एक ईश्वर, उस सर्वशक्तिमान परमपिता में जिसने इस संसार में दृश्य/अदृश्य तथा स्वर्ग एवं नरक का निर्माण किया है, में विश्वास करते हैं। हम केवल एक ही परमेश्वर यीशु मसीह पर विश्वास करते हैं, केवल वही भगवान के पुत्र हैं, उस परमपिता से उत्पन्न एकमात्र सन्तान, भगवान से भगवान, प्रकाश से प्रकाश, सच्चे परमेश्वर से सच्चे परमेश्वर...। सभी वस्तुएँ उसी के माध्यम से निर्मित हुई हैं। हम जैसे पापी मनुष्यों के उद्धार हेतु वह स्वर्ग से धरती पर उतरे, पवित्र आत्मा की शक्ति से उसने वर्जिन मैरी के गर्भ से मानव के रूप में अवतार लिया। हमारी भलाई के लिए उन्हें पॉन्टियस पाइलेट (Pontius Pilate) के तहत सूली पर चढ़ाया गया, उन्हें कष्टों एवं मौत का सामना करना पड़ा और फिर उन्हें दफ़नाया गया। बाइबल के अनुसार तीसरे दिन यीशु फिर जीवित हो उठे, स्वर्ग की सीढ़ी चढ़ कर वह परमपिता परमेश्वर के दाहिने हाथ की ओर विराजमान हैं। पुन: दिव्य अवतार ले कर वह इस धरती पर आयेंगे, जीवित एवं मृतात्माओं का न्याय करेंगे, एवं उसके पश्चात उनका राज्य कभी ख़त्म नहीं होगा। हम उस पवित्र आत्मा में, उस ईश्वर में जोकि जीवनदाता है

> और परमपिता की एकमात्र सन्तान है, पर विश्वास करते हैं। हम परमपिता और उसके पुत्र की उपासना तथा उसकी महिमा का गुणगान करते हैं। वह अपने भेजे हुए भविष्यवक्ताओं के माध्यम से अपनी बात कहता है। हम एक पवित्र कैथोलिक एवं धार्मिक चर्च में विश्वास करते हैं। अपने पापों की क्षमा के लिए बपतिस्मा स्वीकार करते हैं। हम मृतात्माओं को पुनर्जीवित होते और संसार के अस्तित्व को जो अभी आना है देखेंगे... आमीन।[59]

इससे यह स्पष्ट होता है कि यीशु के व्यक्तिगत जीवन इतिहास के प्रत्येक चरण पर विश्वास को एक प्रामाणिक ईसाई तथा चर्च का सदस्य होने की आधिकारिक परीक्षा मान लिया गया है (हालाँकि बहुत से तथाकथित ईसाई इस के प्रत्येक शब्द पर अक्षरश: विश्वास नहीं करते हैं)। इस प्रकार यीशु की असाधारण व्यक्तिगत जीवनी को, जोकि सभी धार्मिक परम्पराओं में अत्यन्त प्रेरणादायक और शिक्षाप्रद मानी जायेगी, ईसाई मत में ईश्वर द्वारा सृष्टि के संचालन में अद्वितीय एवं सार्वभौमिक साधन मान लिया गया है।[60]

यीशु के जीवन इतिहास के चन्द प्रमुख बिन्दुओं एवं उनके महत्व पर आपसी मान्यताओं का अन्तर ही ईसाइयत में प्रमुख झगड़ों की वजह तथा कई प्रकार के चर्चों में आपसी विवाद एवं विभाजन की जड़ है।[61] अधिकांश इब्राहमी सम्प्रदायों में विवाद एवं संघर्ष का प्रमुख आधार यही है कि वास्तव में ईश्वर ने क्या कहा, ईश्वर ने कैसे कहा और वास्तव में उस सन्देश का अर्थ क्या है। उदाहरण के लिए मुसलमान यीशु को एक महान पैग़म्बर तो स्वीकार करते हैं लेकिन उसे ईश्वर का पुत्र नहीं मानते। यह एक महत्वपूर्ण बात है क्योंकि इस्लाम, जोकि यह ज़ोर दे कर कहता है कि ईश्वर के कोई बेटे या बेटियाँ नहीं हैं, हर उस सम्भावना को नकारता है जिसमें ईश्वर के साथ सम्पूर्ण पहचान स्थापित हो सके। इसके अतिरिक्त यदि उन्होंने यीशु को परमेश्वर के पुत्र के रूप में स्वीकार कर लिया तो फिर पैग़म्बर मोहम्मद को दिये गये रहस्योद्‌घाटन के दावों को 'ईश्वर के एकमात्र पुत्र' द्वारा दिये गये आदेशों के ऊपर स्थापित करना कठिन हो जायेगा। कोई एक नबी दूसरे नबी को अधिक्रमण कर सकता है परन्तु कोई नबी 'भगवान की एकमात्र सन्तान' से बड़ा तो नहीं हो सकता। परन्तु ईसाइयों को यीशु की 'एकमात्र पुत्र' के दर्जे से 'केवल नबी' जैसी पदावनति मंज़ूर नहीं है, क्योंकि एक तो इसका अर्थ यह होगा कि उन्होंने नाइसीन मत की मुख्य आज्ञा का उल्लंघन किया है और दूसरी ओर इसका अर्थ यह भी होगा कि ईसाइयत को, जिसमें ईश्वर के नवीनतम आदेशों को आरम्भ किया गया है, बाद में अवतरित हुए इस्लाम के एक पैग़म्बर द्वारा अधिक्रमित कर दिया गया। इसलिए ईसाइयों द्वारा कुरान को ईश्वर के आदेश के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। अत: आपसी साम्प्रदायिक बहस में दोनों पक्ष एक-दूसरे को सूक्ष्म व्याख्याओं के साथ केवल सहन करते हैं जिससे दोनों ही पक्ष अपने मत को 'अन्तिम धर्मसन्देश' होने के दावे की क्षमता के साथ अधिकृत कर सकें।

दोनों पक्षों द्वारा अद्वितीय सच का दावा करने की वजह से इस तरह का संघर्ष उभर रहा है। आज नहीं तो कल, आचार संहिताओं, ईश्वरीय आदेशों, 'दस आज्ञाओं' (Ten Commandments) के सार्वभौमिक एवं पवित्र होने सम्बन्धी दावे भी होने लगेंगे और वे मनुष्य के नैतिक उत्थान एवं आपसी सद्भभाव के दिशा-निर्देशों की बजाय अपरिवर्तनशील नियम बना दिये जायेंगे।

रहस्यवाद अथवा अल्प इतिहास-केन्द्रिक ईसाइयत के पहलू सनातन धार्मिक परम्पराओं के आध्यात्मिक अनुभव के समान होते हुए भी पृथकता से पहचाने जा सकते हैं। धार्मिक परम्पराओं में आध्यात्मिक अनुभव विशेष तकनीक में पारंगत गुरुओं की विशिष्ट परम्परा से पोषित किये जाते हैं। ज्ञान एवं अधिकार का संचरण केवल औपचारिक रूप से योग्य उम्मीदवारों द्वारा किया जाता है। ईसाई रहस्यवाद की प्रवृत्ति एक अलग-थलग, स्वत:स्फूर्त एवं विभक्त घटनाओं की तरह रही है जोकि साम्प्रदायिक हठधर्मिता एवं ऐतिहासिक यीशु के साथ सम्बन्धों की व्यक्तिवादी व्याख्या से जुड़ी है।[62] बिना किसी मान्य परम्परा के इस नव-जागृत रहस्यवादी की रक्षा न होने के साथ-साथ ऐसे लोगों पर अधिकारहीन और अवैध बताये जाने का ख़तरा तो रहता ही है, बल्कि इस प्रकार की विचित्र मनोवैज्ञानिक स्थितियों के प्रदर्शनों की वजह से उन्हें पागलख़ानों भी डाला जा सकता है। जबकि भारतीय सन्दर्भ के विशिष्ट परिदृश्य में समकक्ष सिद्ध पुरुषों द्वारा उस स्वस्फूर्त रहस्यवादी के पास जाकर, उसका निरीक्षण करके, उससे पूछताछ करके, उसकी परीक्षा ले कर और यहाँ तक कि उसे प्रशिक्षित कर उसकी प्रामाणिकता की पुष्टि की जाती है।

क्योंकि यहूदी-ईसाई मत में रहस्यवाद का अभ्यास प्राय: चर्च के प्रभुत्व को चुनौती देने के रूप में होता है, इसलिए इसका स्थान चर्च के अनुमोदित सिद्धान्तों के बाहर है। कठोर पद्धतियों के अभ्यास के अभाव और छिटपुट तौर पर गुप्त स्थानों में होने के कारण इसमें सही प्रतिकृतियों, दस्तावेजों एवं परम्पराओं की कमी है।

ईसाइयत की मुख्य धारा का उपदेश है कि व्यक्ति को यीशु की तरह बनने की इच्छा तो रखनी चाहिए, परन्तु वास्तव में वह कभी भी यीशु के स्तर की चेतना प्राप्त नहीं कर सकता। सन्तों एवं रहस्यवादियों के व्यक्तिगत अनुभव संस्थानों के बाहरी प्रभुत्व को चुनौती पेश करते हैं जैसा कि जोन ऑफ़ आर्क (Joan of Arc) के मामले में हुआ था, जिसकी दिव्य वाणियों के कारण स्वयं उसी को विधर्मी के रूप में खूँटी पर जलाया गया था (बाद में कैथोलिक चर्च ने अपने कृत्य का खण्डन किया और उसे एक सन्त घोषित किया)। इसी प्रकार ईसाई सम्प्रदाय में मीस्टर एकहार्ट (Meister Eckhart) को परमात्मा के साथ एकाकार होने की सम्भावना का साक्षी होने मात्र से बड़े पैमाने पर सताया गया।[63] जीवन्त आध्यात्मिक सिद्ध पुरुष संस्थागत शक्ति को निरर्थक करार कर देते हैं। व्याख्याओं एवं साधना के मामलों में उन्हें संस्थागत प्रभुत्व को अनदेखा करने के लिए जनमानस का पर्याप्त विश्वास प्राप्त रहता है, यहाँ तक कि वे संस्थाओं को अवैध भी सिद्ध कर सकते हैं।

कुछ मामलों में पश्चिमी रहस्यवादियों ने सीधे ग़ैर-पश्चिमी गुरुओं एवं आध्यात्मिक स्रोतों से शिक्षा ली है, जिससे यह समझा गया कि यह रहस्यवाद पाश्चात्य सम्प्रदायों की पवित्रता में मिलावट उत्पन्न करके उसे भ्रष्ट कर देगा।[64] भारत की तुलना में पश्चिमी धर्मनिरपेक्ष समाज में रहस्यवाद को कम सम्मान मिला है। वहाँ प्राय: इसे अतार्किक या बाल-सुलभ मानसिक स्थिति की तरह देखा जाता है जोकि मतिभ्रंश कराने तथा आध्यात्मिक अनुभवों को गलत अर्थ प्रदान करने वाले सिद्धान्त के रूप में देखा जाता है।

इन सभी कारणों की वजह से पश्चिम में रहस्यवादियों को न केवल नकारा गया है बल्कि साम्प्रदायिक प्रभुत्ववादियों ने उन्हें सताया भी है। आज भी जो साधक रहस्यमयी अथवा असाधारण अनुभव प्रकट करते हैं उन्हें प्राय: कलंकित करके पागलख़ानों में बन्द कर दिया जाता है, उनकी निन्दा की जाती है और उन्हें दुष्ट आत्माओं से अभिशप्त समझा जाता है।

कैथोलिक मत में किसी आध्यात्मिक गुरु को उसकी मृत्यु के कुछ निश्चित वर्षों के पश्चात ही सन्त की मान्यता प्रदान की जाती है ताकि कहीं किसी 'जीवित आध्यात्मिक सन्त' से चर्च के संस्थागत अधिकार ख़तरे में न पड़ जायें। इस औपचारिक प्रक्रिया (जिसे 'पवित्र सन्त घोषित करना' भी कहते हैं) के द्वारा मृत आध्यात्मिक व्यक्ति की विरासत, जैसे उसके उपदेश, शिक्षाएँ, उदाहरण इत्यादि चर्च की सम्पत्ति हो जाती हैं जोकि उस सन्त की शिक्षाओं की व्याख्या और इतिहास पर नियन्त्रण रखती है। इस व्यवस्था से जो ईश्वर से सीधा सम्पर्क करने का अभ्यास करते हैं व ऐसा करने का पक्ष धरते हैं, चर्च को उनकी क्रान्तिकारी शिक्षाओं से कोई ख़तरा नहीं रहता।

यहूदी-ईसाई परम्पराओं में संचरण

सभी इब्राहमी मतों में सर्वाधिक प्रामाणिक पैग़म्बरों की सूची उनके धार्मिक नियमों के लेखन की तरह ही अब अवरुद्ध हो चुकी है। अब कोई भी नई भविष्यवाणी अथवा लेखन पिछले स्वरूप को हटा कर उसकी जगह नहीं ले सकती क्योंकि इन मतों के अनुसार पैग़म्बरों द्वारा 'अन्तिम सत्य' कहा जा चुका है, चाहे फिर वह नये नियम (न्यू टेस्टामेंट) हों, पुराने नियम (ओल्ड टेस्टामेंट) हों अथवा कुरान हो। हालाँकि नये भविष्यवक्ता अथवा नबी उभर सकते हैं परन्तु वे परम्परागत मत के सिद्धान्तों को न तो बदल सकते हैं और न ही उन्हें संशोधित कर सकते हैं। अब किसी भी पैग़म्बर के शब्दों का स्तर एवं असर अथवा प्रभुत्व बाइबल एवं कुरान जैसा नहीं हो सकता।

इतिहास के समूचे दौर में ईसाई रहस्यवादियों ने उच्च स्थिति प्राप्त की (हालाँकि अप्रत्याशित रूप से), परन्तु उन्होंने इन स्थितियों को ईश्वर की कृपा माना क्योंकि ये स्थितियाँ योग के किसी औपचारिक अभ्यास से उत्पन्न नहीं हुई थीं और न ही वैज्ञानिक आधार पर इनकी चर्चा और इन पर तर्क-वितर्क के लिए कोई संरचनात्मक

ढाँचा ही उपलब्ध था। मार्टिन लूथर किंग (Martin Luther King) ने, जिन्होंने प्रोटेस्टेंट सुधारवादी कार्यक्रम चलाया, इसकी आलोचना 'गैर-ईसाई' कह कर की। रहस्यवादी दावों को अस्वीकृति के साथ-साथ दण्ड के लायक भी समझा जाता था। बाद में उत्तर-कैण्टियन (post-Kantian)बौद्धिक संस्कृति ने रहस्यवाद को स्पष्ट रूप से यह कह कर परिभाषित किया कि क्योंकि यह तर्क-विरोधी है इसलिए इसे शैक्षणिक संस्थाओं में स्वीकार नहीं किया जा सकता। रहस्यवाद एवं तार्किकता में यह रूढ़िवादी आपसी विरोधाभास आज भी प्रबल है।

दुर्भाग्य से रहस्यवाद एवं स्वानुभूत अनुभवों के प्रति इस प्रकार की प्रतिकूलता के कारण पश्चिम में आन्तरिक विज्ञान का कोई 'सम्प्रदाय' (परम्पराएँ या वंशावलियाँ) नहीं हैं। निश्चित रूप से वहाँ किसी प्रकार की प्रखर पद्धतियाँ, प्रतिकृति, प्रलेखन, वंशावलियाँ अथवा गुरु स्थापित नहीं हैं जैसे हम सनातन धर्म में देखते हैं। आन्तरिक विज्ञान को चर्च द्वारा मुख्यधारा के अनुमोदित सिद्धान्तों में सम्मिलित न करने के कारण भूमिगत होना पड़ा है जिसके कारण यह विज्ञान व्यवस्थित होने की अपेक्षा छिटपुट एवं बिखरा हुआ है। दुख की बात यह है कि भारतीय धार्मिक परम्पराओं की तरह पश्चिम में प्रखर एवं अनुशासित विधियों पर आधारित 'यह कैसे करें?' जैसी कोई नियम क्रियाविधि है ही नहीं। यहाँ तक कि यीशु-भक्ति सम्बन्धी उनकी महान अभ्यास पुस्तिकाओं जैसे थॉमस केम्पी (Thomas Kempi) की 'यीशु का अनुकरण' (Limitation of the Christ)एवं फ्रांसिस द सेल्स (Francis de Sales) का लेखन इत्यादि इतने तिरस्कृत हैं कि उनके बारे में बहुत कम ईसाइयों को जानकारी है। भारतीय धार्मिक परम्पराओं में प्रबुद्ध एवं आध्यात्मिक सिद्धों की उपस्थिति एवं निरन्तर बढ़ोतरी से इसमें संस्थागत हठधर्मिता एवं जड़ता आने की सम्भावना कम है, इसीलिए इसे नियन्त्रित अथवा बन्धक बनाना भी कठिन है।

कुछ क्षेत्रों में एक धारणा है कि ईसाई मत में भी अपनी स्वयं की योग एवं आध्यात्म विद्या है जो सनातन धार्मिक परम्पराओं के समान ही है। यह दावा प्राय: यहूदी-ईसाई अथवा पश्चिमी धर्मनिरपेक्ष ढाँचे में भारतीय आध्यात्म-विद्या को पिरो कर पचाने के उद्देश्य से किया जाता है। इसी को आधार बना कर पश्चिमी इतिहास के अस्पष्ट, अलग-थलग एवं असम्बद्ध उदाहरणों को भी बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जाता है। भूली-बिसरी प्राचीन पश्चिमी हस्तियों को पुनर्जीवित करके उन्हें पथ-प्रदर्शकों की भूमिका में ढाला जाता है ताकि वे भारतीय सिद्धों का स्थान ले सकें एवं नये पश्चिमी विचारक सभी भारतीय खोजों पर उनके द्वारा की गई मूल खोज के रूप में दावा कर सकें, जबकि उन्होंने सदा से ही वह सब कुछ भारतीय स्रोतों से ही उधार लिया होता है।[65]

पश्चिम में विलियम जेम्स को मानव-मन के सुनियोजित आन्तरिक अन्वेषण के क्षेत्र में अग्रणी माना जाता है, परन्तु उनके सभी सिद्धान्तों पर हिन्दू एवं बौद्ध विचारों का गहरा प्रभाव था।[66] यह (पश्चिमी स्मृतियों से मिटा दिये जाने से पहले) सर्वविदित है कि

विलियम जेम्स ने न केवल स्वामी विवेकानन्द (1863-1902) से भेंट और उनकी प्रशंसा की थी बल्कि वह श्रीलंका के प्रख्यात बौद्ध विद्वान अंगारिका धर्मपाल (1864-1933) के संरक्षण में भी आये थे जोकि उनके कार्यकाल के दौरान हारवर्ड में एक अतिथि थे।[67] इसके अतिरिक्त विलियम जेम्स वेदान्त के प्रखर अध्येता जोसियाह रॉयस Josiah Royce(1855-1916) तथा हारवर्ड के संस्कृत विद्वान चार्ल्स लैनमेन Charles Lanman (1819-1895) के निकट के सहयोगी भी थे। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें अग्रणी पश्चिमी दार्शनिक विभिन्न भारतीय धार्मिक विचारकों जैसे नागार्जुन, शंकर, पाणिनी एवं पतंजलि (यह केवल कुछ उदाहरण हैं) से अत्यधिक प्रभावित थे।[68] अर्थात् प्रमुख बात यह है कि पश्चिमी संस्कृति पर भारतीय धार्मिक दर्शन का गहरा प्रभाव रहा है, परन्तु इसे लगातार अस्वीकृत किया जाता रहा है।

हालाँकि सामान्यत: भारत से बौद्धिक उधार लेने के बावजूद भी पश्चिम के रहस्यवाद में प्रखर पद्धतियों, प्रतिकृतियों, लेखन विधियों, क्रियाशील प्रयोगशालाओं एवं प्रजातियों की कमी है जिन्हें हम भारतीय धर्म-परम्परा में सहज देखते हैं क्योंकि साधारणतया किन्तु आश्चर्यजनक कारणों से पश्चिम ने, ख़ासकर ईसाइयत ने, न केवल अपने रहस्यवादियों को किनारे कर दिया बल्कि उन्हें विधर्मी या नास्तिक कह कर मार भी डाला। जैसा कि हमने देखा, योग क्रियाओं के साधन से आत्मज्ञान प्राप्त करने को चर्च ने स्वयं पर एक ख़तरे के रूप में देखा और इससे भी बुरी बात यह है कि इसको निन्दा, बहिष्कार और यहाँ तक कि मृत्युदण्ड लायक दण्डनीय अपराध तक बना दिया गया।

मानव देह के विरुद्ध निषेधाज्ञाएँ

यहूदी-ईसाई तथा सनातन धार्मिक परम्पराओं के बीच मतभेदों को देखते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि कई भारतीय धार्मिक विचारों एवं प्रथाओं के प्रति गम्भीर विरोध तो है ही, इन परम्पराओं के महत्व को कमतर आँकने की प्रवृत्ति भी है और ऐसा तब है जबकि भारतीय धार्मिक विचारों एवं ब्रह्माण्ड विज्ञान का पश्चिमी दर्शन पर उल्लेखनीय प्रभाव है, विशेषकर योग की व्यापक लोकप्रियता तो है ही।[69]

वास्तव में कई यहूदी एवं ईसाई नेताओं के बीच 'योग' एक व्यापक और गम्भीर विवादों का केन्द्र बिन्दु बना हुआ है। यहाँ तक कि आज वे अपने आध्यात्मिक साधकों को इन परम्पराओं के बारे में 'एक विदेशी' प्रथा और नकली देवताओं की पूजा कह कर उससे छुड़ाने का प्रयास कर रहे हैं। इस तनाव का असली कारण यहूदी एवं ईसाई मतों में मूर्तिपूजा एवं मानव शरीर को निषिद्ध मानने की व्यग्रता से है।

जैसा कि हमने देखा है, मानवता के पतन और उनके ईडन गार्डन से निष्कासन में आदम और हव्वा द्वारा वर्जित फल न खाने की आज्ञा का उल्लंघन ही प्रमुख कारण रहा। ईसाई सिद्धान्त के अनुसार आदम और हव्वा द्वारा किया गया मूल पाप बाद में सभी मनुष्यों मे संचरित हो गया। इसलिए मनुष्य के मूल प्रलोभन अर्थात् यौन-क्रिया

को चर्च द्वारा अनुमोदित रस्म से बाहर का एक पापकर्म माना गया है। यीशु के 'निष्कलंक गर्भाधान' को महत्वपूर्ण मानते हुए उन्हें समस्त मनुष्य प्रजाति के मूल पाप से मुक्त माना गया है। रोमन कैथोलिकों तथा पूर्वी रूढ़िवादी ईसाइयों के लिए वर्जिन मैरी भी पाप के कलंक से मुक्त है। एक कुँआरी द्वारा यीशु को जन्म देने की घटना, जिसके मूल में ईडन के बगीचे की इस कथा का आधार है, ईसाइयों द्वारा किया जाने वाला एक अनिवार्य दावा है।

पश्चिम के समूचे इतिहास के दौरान मानव शरीर को अपराध एवं शर्म के रूप में देखा गया है जिसे दूर करने के लिए मध्ययुग के वैज्ञानिक तर्कवाद ने कुछ विशेष नहीं किया। हालाँकि यहूदी पन्थ में ईसाइयों के समान शारीरिक पापों को ले कर जुनून नहीं है, परन्तु फिर भी वहाँ मानव द्वारा सन्निहित-स्वानुभूत ज्ञान को खोजने की बजाय ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करने पर ज़ोर रहता है।[70]

बाइबल में यीशु का प्रचारक पॉल (Paul) शरीर/आत्मा के द्वन्द्व पर अपने मन की खलबली को असंगत ठहराते हुए कहता है—

> ''अपनी अन्तरात्मा में मैं ईश्वर के नियमों से प्रसन्न हूँ, परन्तु मैं देख रहा हूँ कि मेरे शरीर के अन्य अवयवों पर कोई और कानून कार्य करना चाहता है और वह मेरे मस्तिष्क के नियम के साथ युद्ध लड़ता है जो मुझे पाप के उस नियम का कैदी बनाता है जो मेरे अंगों पर काम करता है मैं कैसा निन्दनीय मनुष्य हूँ! अब मुझे इस मौत के शरीर से कौन मुक्ति दिलायेगा?'' (रोमन 7:22-24)

इस पाप का सबसे चरम रूप है अपने स्वयं के भीतर उपस्थित परमात्मा को खोजने एवं उससे वार्तालाप करने के प्रयास की सम्भावना पर विचार करना।

इन पश्चिमी सिद्धान्तों में इसी प्रकार एक और निषिद्ध नियम है 'मूर्तिपूजन' अर्थात् झूठे देवताओं की पूजा करना। बाइबल के पुराने विधान (ओल्ड टेस्टामेण्ट) के अनुसार मोज़ेस (Moses) ने सभी उत्कीर्ण छवियों (मूर्तियों) पर प्रतिबन्ध लगा दिया था जिससे उनका सकारात्मक, नकारात्मक अथवा जादुई शक्तियों जैसा प्रभाव मन पर न पड़ सके। यह प्रतिबन्ध इस्लाम में और भी महत्वपूर्ण है तथा उत्कीर्ण छवियों (मूर्तियों) के विरुद्ध मुख्यत: यहूदी एवं प्रोटेस्टेण्ट अधिक मुखर हैं जबकि इनकी तुलना में कैथोलिक ईसाइयों और पूर्वी रूढ़िवादी चर्च के अनुयायी लम्बे समय से पवित्र परिवार एवं सन्तों की छवियों का आदर करने के आदी रहे हैं।

भारतीय धार्मिक परम्पराओं के प्रति विभिन्न कारणों से पश्चिम में भ्रान्ति है, जिसमें से एक यह है कि पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय धार्मिक छवियों एवं देवताओं को मध्य-पूर्व एवं यूरोप की ईसा-पूर्व की मूर्तिपूजा की प्रथा से जोड़ कर देखा है। लेकिन यह निखालिस मूर्तिपूजन भारतीय धार्मिक भक्ति-परम्परा से बिल्कुल भिन्न है।[71] बहरहाल सदियों तक भारतीय धार्मिक परम्पराओं के प्रति इस भ्रान्ति को चालाकी से उपयोग करके भय फैलाने तथा धर्म को एक शैतान के रूप में चित्रित करने में किया गया।

पश्चिम में योग साधकों के सामने मूर्तिपूजा के प्रति फैला यह सन्देह ही सबसे बड़ी बाधाओं में से एक है। शरीर की योग के द्वारा मूर्तिपूजा के रूप में नकारात्मकता से सम्बद्ध होने के कारण 'यहूदी योग' तथा 'ईसाई योग' जैसे विचित्र वर्णसंकर विचार उत्पन्न हुए हैं। योग के इन नकली संस्करणों का दावा है कि उन्होंने भारतीय योग को स्वच्छ करके उसे मूर्तिपूजा के ख़तरों से मुक्त किया है। (इस सम्बन्ध में हाल ही में 2008 में एक हिन्दू-यहूदी शिखर सम्मेलन में एक ऐतिहासिक संकल्प पारित किया गया जिसमें यहूदियों द्वारा हिन्दुओं की मूर्ति पूजा की निन्दा करने को कम-से-कम आधिकारिक रूप से तो नकार दिया गया है)।[72]

समावेशित निषेधों और सामाजिक पूर्वाग्रहों को जब अँधेरे कोनों में सड़ने के लिए छोड़ दिया जाता है तो अप्रत्याशित तरीके से वे पुन: समाज की सतह पर लौट आते हैं। मूर्तिपूजा एवं हिन्दू धर्म के प्रति पश्चिमी व्यक्ति के मन के अव्यक्त सांस्कृतिक भय, कामुकता एवं भारतीय धार्मिक परम्पराओं की गलत छवि उस व्यक्ति द्वारा इन परम्पराओं की व्याख्या करने तथा योग के प्रति उसकी भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाओं को बनाने में एक छलनी का काम करते हैं।

हालाँकि कई पश्चिमी साधक योग के विभिन्न आसनों के प्रति आकर्षित हैं, लेकिन उनमें से कुछ तो प्राणायाम (श्वास-उच्छवास का अभ्यास) के बारे में ऐसा विचार भी रखते हैं कि इस प्रक्रिया में मानव चेतना में हस्तक्षेप किया जाता है जो भगवान का क्षेत्र है। ईसाइयों द्वारा योग की आत्म-केन्द्रित शान्ति को एक बाह्य ईश्वर के समर्पण का विरोधी माना जाता है तथा मानव शरीर में योग के जुड़ाव से उत्पन्न होने वाली पवित्रता को ख़रतनाक माना जाता है। अत्यधिक रूढ़िवादी और एवेंजेलिकल वर्ग को यह डर है कि योग के द्वारा पारलौकिक दुष्ट शक्तियाँ शैतान के रूप में मनुष्य के मन में प्रवेश करके उसे प्रभावित कर सकती हैं। समूचे ईसाई इतिहास में हमने देखा है कि उनके रहस्यवादियों को इसी डर की वजह से सताया गया था।

कुछ अन्य ईसाई विचारकों ने 'ॐ' के जाप को सीमारेखा से बाहर रखा है। मन्त्रोच्चार मनुष्य की मौलिक ऊर्जा तथा आवृत्तियों की एक सकारात्मक प्रणाली है, परन्तु यह बाइबल के मूल मतशास्त्रों के साथ असंगत मानी गई है। इसके उच्चारण को मूर्तिपूजकों के इस ख़तरे के रूप में कि 'भगवान ने ब्रह्माण्ड को शून्य से उत्पन्न किया' की धारणा कहीं गलत न सिद्ध हो जाये, के साथ देखा जाता है। इसके अतिरिक्त अधिकांश ईसाई सिद्धान्तों के अनुसार परमेश्वर सर्वव्यापी नहीं है, अर्थात् ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकट नहीं हुए हैं बल्कि वह उससे बाहर हैं। इसलिए यह विचार कि मन्त्रों के उच्चारण से व्यक्ति के शरीर में दिव्यता उत्पन्न होती है, उसको सन्देह की दृष्टि से अपवित्र करने वाला माना जाता है।

जहाँ एक ओर योग सीखने वाले कई पश्चिमी छात्र ॐ का उच्चारण करते हैं, वहीं कुछ ऐसे भी हैं जो ऐसा करने से इंकार कर देते हैं। विशिष्ट अमरीकी योग शिक्षक प्राय: कहते हैं कि "ॐ के उच्चारण में मेरा साथ देना अथवा उच्चारण नहीं करके चुप

रहना चाहते हैं इसमें आप स्वतन्त्र हैं,'' अर्थात् वे ॐ के उच्चारण को वैकल्पिक रखते हैं। कई योग साधक जो इस मन्त्र का अनुपालन करते हैं वे यह मान कर चलते हैं कि यह उच्चारण केवल मन को शान्त रखने एवं ध्यान केन्द्रित करने के साधन के रूप में ही उपयोगी है। अधिकांश योग शिक्षक अपनी कक्षाओं में प्राणायाम और जाप को समाविष्ट करते हैं एवं इसे स्वास्थ्य से सम्बन्धित आधुनिक योग के रूप में केन्द्रित रखते हैं, परन्तु उनका यह दृष्टिकोण केवल स्वास्थ्य आधारित होता है क्योंकि उनका यह विचार योग की मूल अवधारणा एवं धार्मिक परम्पराओं की जड़ों की उथली समझ पर आधारित है।

यहाँ तक कि जो छात्र ॐ का जाप अपने व्यवहार में स्वीकार करते हैं वे अन्य विस्तृत मन्त्रों का, जोकि प्रार्थना सदृश दिखाई देते हैं, विरोध करते हैं। क्योंकि इन प्रार्थनारूपी मन्त्रों को बाइबल या टोराह द्वारा मंजूरी नहीं मिली है, इसलिए उनकी सोच के अनुसार ये प्रार्थनाएँ सच्चे भगवान (अर्थात यीशु) के लिए नहीं हो सकतीं, इसलिए निश्चित रूप से यह 'झूठे भगवान' के लिए ही हैं। यह उन बाइबल आज्ञाओं (कमाण्डमेण्ट्स) का उल्लंघन है जिसके अनुसार अन्य देवताओं की पूजा की मनाही है। पश्चिमी विचारक मन्त्र को एक झूठी प्रार्थना, अपवित्र करने वाला एवं ख़तरनाक मानते हैं और एक तरह का 'ट्रोजन हॉर्स' (Trojan Horse) मानते हैं जो चुपके से उनके अन्तर्मन में मूर्तिपूजा का मोह या शैतान उत्पन्न कर सकता है।

पश्चिम के लिए इससे भी अधिक समस्या उत्पन्न करता है 'भक्तियोग,' अर्थात् आध्यात्म विद्याओं में उपलब्ध ऐसी धार्मिक प्रथा जिसके अनुसार मौखिक उच्चारणों या किसी आकृति को दृष्टिगोचर करते हुए साधक किसी विशिष्ट देवता को सम्बोधित करते हैं। अत: ज़्यादातर अमरीकी योग कक्षाओं में इस विशिष्ट भक्ति पद्धति को सामान्यत: निकाल दिया जाता है। पश्चिमी योग शिक्षक को भले ही व्यक्तिगत रूप से भक्ति योग के सकारात्मक अनुभव हुए हों, परन्तु उसे इस प्रकार के प्रकट हिन्दू एवं बौद्ध सिद्धान्तों का अपने शिष्यों में निर्देशन करने में कठिनाई अनुभव होती है।

इस तथ्य से और भी गतिरोध उत्पन्न होता है जिसके अनुसार ईसाइयत ने मानव शरीर पर विभिन्न प्रकार की वर्जनाएँ थोप रखी हैं, विशेषकर महिलाओं के शरीर पर। सनातन धार्मिक परम्परा के अनुसार योग की शान्ति एवं स्थिरता मनुष्य के मन-बुद्धि एवं शरीर को परस्पर अत्यधिक निकट लाती है जिसे ईसाइयत में कामुक अथवा पाप माना गया है। मध्ययुग के आध्यात्मिक परीक्षण के दौरान जिन यूरोपीय महिलाओं ने शारीरिक विधाओं का अभ्यास किया उन्हें 'चुड़ैल' एवं 'डायन' कह कर मार दिया गया। कैथोलिक चर्च ने मानव प्रजाति को इस ख़तरे से बचाने का बीड़ा उठाया है तथा इस काम को करने का बीड़ा प्रोटेस्टेण्टों (विशेषकर एवेंजेलिकल समूह) ने भी अपने ऊपर अच्छी तरह से लिया है।[73]

बाइबल में स्त्री-पुरुष सम्बन्धी धारणाएँ भारतीय धार्मिक परम्पराओं से सर्वथा भिन्न हैं—जैसे बाइबल के अनुसार ईव (हव्वा) का जन्म आदम की एक पसली से

हुआ था एवं यह उस समय हुआ जब आदम स्वयं अस्तित्व में था, अर्थात् बाइबल के इस सिद्धान्त के अनुसार ''नारी का जन्म पुरुष से हुआ।'' जबकि 'जेनेसिस 1' की कहानी में उन्हें समान रूप से चित्रित किया गया है। संस्कृत के प्राचीनतम आख्यानों के अनुसार सर्वप्रथम मानव जोड़ी थी 'यम' और 'यमी' जोकि जुड़वाँ बच्चों के रूप में उत्पन्न हुए। 'यमी' (नारी) की अपनी स्वयं की शक्तिशाली पहचान थी जोकि 'यम' (नर) के अधीन नहीं है। इसी प्रकार शिव (नर) एवं शक्ति (नारी) को सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर निर्भर माना गया है जोकि आपस में ऐसे गुँथे हुए हैं कि एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। वास्तव में समूचे ब्रह्माण्ड की कल्पना भारतीय धार्मिक परम्परा के अनुसार 'शक्ति' अथवा नारी ऊर्जा के समकक्ष की गई है।[74]

सनातन धार्मिक संस्कृति में वर्णित सौंदर्यशास्त्रों के अनुसार किसी लड़के अथवा पुरुष को उसके पुरुषत्व को निम्न स्तर का आँके बिना उसे 'सुन्दर' की संज्ञा दी जा सकती है। परम्परागत रूप से अमरीकी पुरुषों के विपरीत भारत में पुरुष ग़ैर-आक्रामक अथवा सौम्य छवि में चित्रित किये जाने पर असहज महसूस नहीं करते।[75] अधिकांश ग़ैर-पश्चिमी देशों के निवासी 'समलैंगिकता' को एक अलग वर्ग में भी नहीं रखते। धार्मिक परम्पराओं में समलैंगिकता निषिद्ध नहीं है और भारत में जहाँ पुरुष अभी पाश्चात्य संस्कृति में नहीं रचे-बसे हैं वहाँ उन्हें आमतौर पर एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर अथवा गले मिल कर स्नेह प्रदर्शित करने में किसी प्रकार का संकोच अथवा भय महसूस नहीं होता।[76]

विरोधाभासों को सारांश रूप में प्रस्तुत करने की तालिका

प्रस्तुत निम्न तालिका भारतीय धार्मिक परम्पराओं एवं पश्चिमी संस्कृति के बीच अन्तर को स्पष्ट करती है।

भारतीय धार्मिक परम्पराएँ	यहूदी-ईसाई एवं पश्चिमी संस्कृतियाँ
इतिहास-मुक्त ज्ञान का मनुष्य की क्षमतानुसार ऊर्ध्व गमन... • श्रवण/दर्शन एवं श्रुति की ऋषि परम्परा (जिसमें शाश्वत् सत्य हमेशा सभी के उपयोग एवं अनुसन्धान के लिए उपलब्ध), बौद्ध निर्वाण एवं जैन धर्म के उदाहरण... इत्यादि	**ईश्वर-प्रदत्त इतिहास ऊपर से नीचे की ओर...** • भगवान द्वारा पैग़म्बरों/पुत्र को मनुष्य और परमात्मा के बीच की अनन्त खाई पाटने के लिए संसार में विशेष स्थान पर भेजना...
• आध्यात्म विद्या (आन्तरिक विज्ञान) को प्रत्येक पीढ़ी/संस्कृति के द्वारा अनुभव से पुन: परीक्षण, तरीकों की बहुतायत एवं आपसी वाद-विवाद	• प्रामाणिकता स्थापित करने के लिए 'चमत्कार' की आवश्यकता...

द्वारा पुनः जाँच कर समयानुकूल सुधार करना...	➻ अद्वितीय किस्म की ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख जिनकी पुनरावृति एवं कोई संशोधन सम्भव नहीं... ➻ सन्तों द्वारा घोषित कहानियों को सिद्धान्त के रूप में स्वीकार करने पर ज़ोर...
➻ विशेषाधिकार युक्त स्थिति एवं सन्निहित-स्वानुभूत ज्ञान	➻ विशेषाधिकृत स्थिति, परन्तु सन्तों द्वारा सिद्धान्तों का संस्थागत संरक्षण एवं संवर्धन
➻ जीवित सिद्ध सन्तों द्वारा आवश्यकता होने पर संस्थानों के प्रतिकूल व्यवस्था देना	➻ स्वतन्त्र मत को एक ख़तरा समझना, रहस्यवादियों को सताना, केवल मृत व्यक्ति ही सन्त बन सकते हैं, इसलिए आध्यात्म-विद्या के विस्तार एवं सुधार में कोई निरन्तरता नहीं।
➻ श्रुति/स्मृति में अन्तर, प्रत्येक समय एवं सन्दर्भ के लिए सिद्धों की परम्पराओं द्वारा पुनर्व्याख्या, पुनः अनुसन्धान की प्रक्रिया सतत् जारी... ➻ अनुभववाद, सन्देह निराकरण, तर्क-वितर्क, खुलापन... ➻ आध्यात्म-विद्या धर्म की प्रमुख सक्षमता... ➻ विविधता एवं सन्दर्भों के प्रति संवेदनशीलता अन्तर्निर्मित है	➻ प्रमुख क्षमता है 'अनन्य' इतिहास के दावे... ➻ अन्य धर्मों की वैधता की बजाय स्वयं की आत्ममुग्ध परम-श्रेष्ठता के अनुसार सहिष्णुता पर बल दिया जाता है
मुक्त आध्यात्मिक पारिस्थितिकी तन्त्र ➻ उद्यमशीलता की भावना आरम्भ करने हेतु गुरुओं का साथ... ➻ निरन्तरता के साथ बदलाव	**इतिहास की अपरिवर्तनीय महान गाथाएँ** ➻ बिना किसी नये प्रारम्भ के डार्विनवादी सिद्धान्तों की प्रतियोगिता एवं एकाधिकारवादी अन्तिम लक्ष्य का निर्माण

• किसी प्रकार का एकाधिकारवादी लक्ष्य नहीं, हिंसक विस्तार का भी कोई इतिहास नहीं... • परम्परा के लक्षण, आधुनिकता एवं उत्तर-आधुनिकवाद के बीच आपस में समन्वय एवं सह-अस्तित्व...	• रुक-रुक कर प्रगतिशीलता, अतीत के इतिहास एवं संस्कृतियों को समाप्त करने की भावना... • हिंसक विस्तार को ईश्वर की महिमा की संज्ञा प्रदान करना, उत्तर-आधुनिकतावाद द्वारा कमजोर...

अध्याय 3

कृत्रिम एकता एवं समग्र एकता

सनातन धार्मिक परम्पराओं में सभी भौतिक एवं ग़ैर-भौतिक वास्तविकताएँ परमात्मा से अभिन्नता की तत्वमीमांसा से ओत-प्रोत हैं, जिसकी व्याख्या अब हम 'अभिन्न एकता' के रूप में करेंगे। केन्द्रीय रूप से इस तथ्य पर विचार होगा कि क्यों और कैसे इस अभिन्न एकता से कई प्रकार की विभिन्न इकाईयाँ उपजती हैं। सिद्धान्तों एवं अमल में कई महत्वपूर्ण मतभेदों के बावजूद सभी भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों में इस अभिन्न एकता पर सहज विश्वास है तथा वे इसे मूर्तरूप में प्राप्त करने हेतु विस्तृत सिद्धान्तों व प्रक्रियाओं के पालन की व्यवस्था करते हैं। पश्चिमी धर्म इसके उलट दृष्टिकोण रखते हैं, जिसके आन्तरिक मतभेदों के अनुसार मनुष्य पापी होने के कारण एक दूसरे से तथा ईश्वर से अलग है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अणुओं एवं कणों का एक ढेर है इत्यादि। इसके अतिरिक्त पैग़म्बरों के ऐतिहासिक रहस्योद्घाटनों पर निर्भरता के कारण मनुष्य अपने अतीत में विचरता रहता है, जबकि मुक्ति के दावों के आकर्षण के चलते वह भविष्य के सपने देखता रहता है और इस कारण वह वर्तमान में गहरे असमंजस में रहता है। एकता को प्राप्त करने के लिए इस प्रकार का जो वैश्विक दृष्टिकोण है वह अस्थायी, कमज़ोर एवं कृत्रिम एकता ही देता है। इसके अतिरिक्त ऐसी एकता को प्राय: शक्ति-प्रदर्शन एवं वर्चस्व के दबाव से प्राप्त किया जाता है। मैं इसका उल्लेख कृत्रिम या बनावटी एकता के रूप में करता हूँ। पश्चिमी समाज की सांस्कृतिक सम्पत्ति, जोकि हिंसा एवं धोखे के द्वारा प्राप्त की गई है, को कृत्रिम रूप से जोड़ा गया है क्योंकि वह स्वयं के सांस्कृतिक परिवेश से न तो उत्पन्न हुई है और न ही व्यवस्थित रूप से एकीकृत ही की गई है।

धार्मिक परम्पराएँ सभी भौतिक एवं ग़ैर-भौतिक वास्तविकताओं की परमात्मा से अभिन्नता की तत्वमीमांसा से ओत-प्रोत हैं जिसकी व्याख्या अब हम 'समग्र एकता' के रूप में करेंगे। उनकी प्रमुख दिलचस्पी इस तथ्य पर है कि क्यों और कैसे इस एकता से विभिन्न इकाईयाँ उभरती हैं। सिद्धान्तों एवं अमल में कई महत्वपूर्ण मतभेदों के बावजूद सभी धार्मिक परम्पराएँ इस जन्मजात एकता में विश्वास करती हैं, तथा इस एकता को मूर्तरूप में प्राप्त करने हेतु विस्तृत सिद्धान्त व प्रक्रियाएँ प्रस्तावित करती हैं।

यह दृष्टिकोण पश्चिमी मतों के विपरीत है जो विभिन्न विषय, जीवन एवं परमात्मा के बीच अलगाव की धारणा से आरम्भ होते हैं। यहूदी-ईसाई मतों में आध्यात्मिक लक्ष्य उस कृत्रिम एकता की स्थिति को प्राप्त करना है जो पहले से ही अस्तित्व में नहीं है। इन धर्मों के आन्तरिक मतभेदों के अनुसार मनुष्य पापी होने के कारण एक दूसरे से एवं ईश्वर से अलग है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अणुओं एवं कणों का एक ढेर है। इसके अतिरिक्त इतिहास एवं पैग़म्बरों के रहस्योद्घाटनों पर अत्यधिक निर्भरता के कारण मनुष्य अपने अतीत में विचरता रहता है, जबकि मुक्ति के दावों के आकर्षण के चलते

वह भविष्य के सपने देखता रहता है और इस कारण वर्तमान में वह गहरे असमंजस में फँसा रहता है। इस प्रकार के वैश्विक दृष्टिकोण से एकता तो प्राप्त की जा सकती है, परन्तु यह एकता अस्थायी, कमज़ोर एवं कृत्रिम प्रकार की होती है। इसके अतिरिक्त ऐसी एकता को प्राय: शक्ति प्रदर्शन एवं वर्चस्व के दबाव से प्राप्त किया जाता है। मैं इसका उल्लेख कृत्रिम या बनावटी एकता के रूप में करता हूँ।

मानवाधिकार, नैतिकता और कानून के क्षेत्र में पश्चिमी विचार प्राय: इकाइयों में अलगाव और उनके पृथक अस्तित्व को वास्तविक मानते हैं जिसके अनुसार एकता एवं स्थायित्व को एक तरह से (यदि आवश्यक हो तो बलपूर्वक भी) ऊपर से रोपित एवं लागू किया गया है। भारतीय धार्मिक परम्परा के दार्शनिक तर्क देते हैं कि जिन व्यवस्थाओं में निहित पूर्णता की ही कमी है तो उनके एकीकरण के प्रयास भी अवश्य ही अपूर्ण, असंगत एवं विघटनकारी होंगे।

समग्र एकता एवं कृत्रिम एकता के बीच आपसी अन्तर का गहरा सम्बन्ध इतिहास-केन्द्रिकता एवं आध्यात्म विद्या के बीच के अन्तर से ही है। इब्राहमी परम्पराओं में ऐतिहासिक रहस्योद्घाटनों तथा नबी एवं पैग़म्बरों की भविष्यवाणियों पर ज़ोर देने के कारण ही उनकी सभ्यताएँ आज भी एक-दूसरे से और वैज्ञानिक तर्कों के साथ गहन टकराव की स्थिति में रहती हैं। इसके अतिरिक्त पश्चिमी बोध अपनी छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटी खण्डित प्रकृति तथा एकतरफ़ा तर्क की वजह से आवश्यक अन्तरों को मिटा कर समानता बनाने में ही लगा रहता है।

अल्बर्ट आइंस्टाइन (Albert Einstein) एवं रवीन्द्रनाथ टैगोर के बीच 14 जुलाई 1930 को हुए एक वार्तालाप में अभिन्न एकता तथा कृत्रिम एकता के बीच का अन्तर एकदम स्पष्ट होता है। आइंस्टाइन का कहना था कि ब्रह्माण्ड का अस्तित्व मनुष्य की चेतना से स्वतन्त्र है, जबकि टैगोर का तर्क था कि मनुष्य एवं ब्रह्माण्ड में आपस में परस्पर निर्भरता है। समूचा ब्रह्माण्ड हम से जुड़ा हुआ है, यह सम्पूर्ण विश्व मानवीय है, इसका वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी वैज्ञानिक मनुष्य का ही है। इस विश्व की सत्यता का आभास हमें तर्क एवं प्रत्यक्ष आनन्द की अनुभूति के स्वीकृत मानक से होता है जो हमारे व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर शाश्वत् मानव के अनुभवों से बना है। आइंस्टाइन इससे असहमत होते हुए खुल कर कहते हैं कि ''मैं यह साबित तो नहीं कर सकता कि मेरी संकल्पना सही है, परन्तु मेरा पन्थ यही कहता है...।''[1] टैगोर यह उजागर करना चाहते थे कि ईश्वर-ब्रह्माण्ड एवं मानवता सभी अन्तर्निहित एकता में बँधे हुए हैं जिनकी अविभाज्यता पर उन्होंने बल दिया, जबकि आइंस्टाइन के वैश्विक दृष्टिकोण के अनुसार ब्रह्माण्ड के इस ढाँचे के सभी आधारभूत तत्व अपने आप में एक दूसरे से स्वतन्त्र पृथक इकाइयाँ हैं।

भारतीय सनातन धार्मिक परम्परा की यह मौलिक गुणवत्ता संस्कृत शब्द 'पूर्ण' से झलकती है, जिसका धर्म में गहरा अर्थ है। इस शब्द की व्याख्या 'पूर्णता' अथवा 'अनन्त' के रूप में की गई है तथा भारतीय परम्परा के बीसवीं सदी के महान

विचारक श्री अरविन्द ने इस शब्द को 'अखण्ड' कह कर अनुवादित किया है। 'पूर्ण स्तोत्र' उपनिषद के प्रमुख मन्त्रों में से एक है और कई अवसरों पर इस मन्त्र का उच्चारण करने की परम्परा है। यह मन्त्र कहता है—

''पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पुर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावाशिष्यते''[2]

इस छोटे से मन्त्र में 'पूर्ण' शब्द का उपयोग सात बार होता है। अर्थात् यह दिव्य एवं उत्कृष्ट विश्व ब्रह्माण्ड पूर्ण है तथा यह सूक्ष्म जगत भी पूर्ण है। 'पूर्ण' का गणितीय अर्थ यह है कि यदि आप 'पूर्ण' में से 'पूर्ण' को निकाल दें तब भी जो शेष बचेगा वह भी 'पूर्ण' ही होगा। इस मन्त्र के जाप का उद्देश्य उस साधक और श्रोता को धर्म की अभिन्न एकता का अनुभव कराना है। सूक्ष्म हो या विराट हो, वे दूसरे में अन्तर्निहित हैं और पूर्ण भी हैं एवं यदि आप पूर्ण से पूर्ण निकाल लें तब भी जो बाकी रहता है वह भी अपने आप में पूर्ण ही है।

इसके विपरीत पश्चिमी वैज्ञानिक परम्परा अभिन्न एकता की पोषक होने के बजाय न्यूनतावादी (reductionist) है। न्यूनतावाद (reductionism) पूर्णता की व्याख्या उसके टुकड़ों की व्याख्या करके करता है। व्यवहार में न्यूनतावादी सिद्धान्त बड़ी हद तक उपयोगी होता है और इसलिए आधुनिक विज्ञान ने इस सिद्धान्त का उपयोग करके हमारे जीवन में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

सनातन धार्मिक परम्पराओं में एकता का अर्थ सम्पूर्ण चेतना की एकता के रूप में लिया जाता है और तत्वरूप चेतना का ही एक अन्य रूप है। पश्चिमी वैज्ञानिक एवं दार्शनिक प्रायः यह प्रश्न पूछते हैं कि मस्तिष्क के रसायनों से चेतना कैसे उत्पन्न हो सकती है।[3] भारतीय परम्परा में हम इस समस्या को विपरीत रूप से देखते हैं। हमारी परम्परा यह मानती है कि सम्पूर्ण चेतना ही इस संसार के समग्र रूप का स्रोत है। हमारे समक्ष चुनौती है कि हम अपनी बहुलतावादी साधारण दुनिया को इस एकता के परिप्रेक्ष्य में समझें। श्री अरविन्द ने इस चुनौती को अन्तर्मन की जटिलता की अवधारणा के रूप में समझाया है (देखें अनुलग्नक—क)। उन्होंने मनुष्य की सामान्य स्थिति की तुलना उस बच्चे से की है जो अपनी पुस्तक पढ़ने में इतना तल्लीन है कि वह अपने आसपास की दुनिया को भी भूल जाता है। अपनी इस आत्म-जागरण की प्रक्रिया में उसे दोहरी चेतनाओं को उजागर करना होता है ताकि एक तो वह उस पुस्तक को पढ़ने का अनुभव ले सके तथा दूसरा उसमें वर्णित व्यापक अनुभव में भी रम सके।

श्री अरविन्द ने अपने व्यक्तिगत आध्यात्मिक अनुभवों द्वारा एकात्म योग का विकास किया जोकि विभिन्न बौद्धिक अटकलों के विपरीत था। इसका प्रमुख उद्देश्य पूर्ण चेतना का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करना था। इस विशिष्ट स्थिति को महर्षि अरविन्द ने 'परा-मानसिक चेतना' का नाम दिया। पूर्ण चेतना का अनुभव केवल लम्बी अवधि तक मन को एकाग्र करने तथा शरीर, भावनाओं, इच्छाओं एवं मानसिक प्रक्रियाओं से

स्वयं को पूरी तरह अलग करने के पश्चात ही किया जा सकता है। स्वयं की विभिन्न मानसिक क्रियाओं को एक बाहरी व्यक्ति की तरह देखना होता है तथा मन के भीतर के अहंकारों को अपने से जोड़ने से रोकना होता है। यह प्रक्रिया व्यक्ति को सामान्य अथवा नित्य की अभ्यस्त स्थिति से आगे ले जाती है। यहाँ से अपनी स्वयं की मनोवैज्ञानिक अभिक्रियाओं का अध्ययन किया जा सकता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कोई वैज्ञानिक शुद्ध एवं निर्लिप्त भाव से किये हुए निरीक्षण पर अपनी टिप्पणियाँ लिखता है। अगले चरण में व्यक्ति इस निर्लिप्त भाव को अपनी सामान्य दिनचर्या से समन्वित करता है और इस तरह एक आध्यात्मिक चक्र पूर्ण होता है, एक परिवर्तित एवं एकीकृत दृष्टिकोण तथा परिष्कृत भाव के साथ।

सनातन धार्मिक परम्पराएँ मनुष्य की मूलभूत स्थिति को अज्ञान अथवा अविद्या के कारण उत्पन्न हुई मानती हैं और इससे मुक्ति का एकमात्र रास्ता है व्यक्तिगत साधना के साथ आन्तरिक मनोविज्ञान की तकनीक अथवा आध्यात्म-विद्या का पालन। दूसरी ओर इब्राहमी परम्पराओं के अनुसार मानव की यह स्थिति एक पापी की तरह है जोकि इतिहास में बहुत पहले भगवान की आज्ञा न मानने के कारण उत्पन्न हुई है। पापी स्थिति से मुक्ति तभी प्राप्त की जा सकती है जब ईश्वर के समक्ष पश्चाताप किया जाये एवं पैग़म्बरों के जरिए भेजे गये उनके सन्देशों के बारे में एक सामूहिक समझ निर्मित की जाये। इब्राहमी परम्पराएँ व्यक्ति का ध्यान बाहरी तत्वों पर केन्द्रित करती हैं जबकि सनातन धार्मिक परम्पराएँ उसकी आन्तरिक दशा पर केन्द्रित होती हैं। एक ओर ऐतिहासिक आदेशों का अनुपालन करने तथा दूसरी ओर चेतना की संरचना की खोज करने में भारी अन्तर है। मुझे यह जानकारी है कि भारतीय दार्शनिकों एवं विचारकों में सदियों से गहन बौद्धिक तर्क-वितर्क हुए हैं जो दर्शन के भिन्न-भिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों को सामने लाते रहे हैं। मैं इन अन्तरों का अधिक सरलीकरण नहीं करना चाहता। सनातन धर्म की अभिन्न एकता सम्बन्धी मेरी व्याख्या पश्चिमी मान्यताओं की समरूपता की धारणा का विरोध तो करती है, परन्तु साथ ही उनकी सोच के विपरीत सभी धर्मों के आपसी समान सिद्धान्तों की पहचान भी करती है।[4] इतिहास-केन्द्रिक वैश्विक दृष्टि का परिणाम है कृत्रिम एकता, न कि स्वाभाविक एवं समग्र एकता...।

समग्र एकता एवं कृत्रिम एकता की व्याख्या

समग्र एकता का अर्थ है कि अन्ततः एक 'सकल' अस्तित्व ही है। जिन भागों से मिल कर यह 'सकल' अस्तित्व बना है उनका केवल सापेक्ष्य अस्तित्व है (इस जटिल बिन्दु को समझने एवं इस पर और तकनीकी चर्चा के लिए परिशिष्ट 'क' देखें)। इस अभिन्न एकता को समझना हो तो रूपक के तौर पर चेहरे से उसकी मुस्कान के सम्बन्ध को लेंगे—अर्थात मुस्कान चेहरे से अलग नहीं की जा सकती; मुस्कुराहट उस चेहरे पर निर्भर है। हालाँकि चेहरे का अपने आप में एक स्वतन्त्र अस्तित्व है, भले ही वह मुस्कुराए या नहीं। सभी इकाइयों का सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के साथ ऐसा ही सम्बन्ध है

और यह सम्बन्ध एकतरफ़ा है। प्रत्येक तत्व, चाहे वह भौतिक हो या अभौतिक, 'सकल' अस्तित्व से किसी भी स्थिति में अलग नहीं हो सकता। जिस प्रकार व्यक्ति के चेहरे का प्रत्येक भाव उसकी एक अभिव्यक्ति होता है, उसी प्रकार जो कुछ विश्व ब्रह्माण्ड में है वह 'सकल' अस्तित्व की अभिव्यक्ति ही है। (बौद्ध इस विवरण से अलग विचार रखते हैं, परन्तु वह भी भिन्न-भिन्न इकाइयों के अस्तित्व को नहीं मानते हैं)।

कृत्रिम एकता में प्रत्येक भाग एक दूसरे से अपना अलग अस्तित्व रखता है। उदाहरण के लिए मोटर-गाड़ी के विभिन्न हिस्से अलग-अलग अस्तित्व में होते हैं, जब तक कि वे किसी एक वाहन के निर्माण में न लगा दिये जायें। इसी प्रकार शास्त्रीय भौतिकी में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अलग-अलग प्राथमिक कणों के विराट संयोजन के रूप में देखा जाता है। तब समस्या होती है कि किसी बाहरी बल से उन्हें एकीकृत कैसे रखा जाये (बजाय कि अन्तर्निहित शक्ति से ही उन्हें एकीकृत करने का प्रयास हो)। इस आरम्भिक बिन्दु के कारण ही, जो महज संयोग नहीं है, यहूदी-ईसाई मतों में साम्प्रदायिक प्रार्थनाओं अथवा आदेशों का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति की अस्मिता के बाहर स्थित है, क्योंकि उनकी परम्पराओं के अनुसार अस्मिता अपने आप में स्वतन्त्र एवं दूसरों से अलग है। इस अनिवार्य पृथकता पर काबू पाने का एक ही तरीका है कि दूसरों के साथ बँधने के रास्ते खोजे जायें।

सनातन धार्मिक परम्पराओं में परमात्मा ब्रह्माण्ड एवं मनुष्य में परस्पर एकता की व्याख्या करने के लिए कई शब्दावलियाँ हैं। हिन्दू दार्शनिक एवं आध्यात्म विद्या में ये व्याख्याएँ ''तत् एकम्'' (वह एक है), सत् (अस्तित्व), ब्रह्म (परम सत्य), भगवान एवं शिव के रूप में हैं। बौद्ध सह-उत्पन्नता (प्रतित्य-समुत्पाद) जैसी शब्दावली का उपयोग ब्रह्माण्ड की सभी इकाइयों की आपसी निर्भरता को दर्शाने हेतु करते हैं। इन सभी धर्मों में अभिन्न एकता के सिद्धान्त पर सहमति है, यद्यपि इनकी दर्शन प्रणालियों में कई महत्वपूर्ण अन्तर भी हैं।

विभिन्न धार्मिक परम्पराओं में गम्भीर प्रकार के मतभेदों के बावजूद अभिन्न एकता के सिद्धान्त पर मुख्यत: तीन साझा विशेषताएँ समान रूप से हैं—

(क) व्यक्ति की सभी इकाइयाँ (जैसे शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, भाषाई, आध्यात्मिक अथवा अन्य) ऊपरी तौर से अलग-अलग दिखती हैं परन्तु व्यक्ति से परे उनका कोई वास्तविक अथवा स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है। सभी दार्शनिकों ने इसका 'सारतत्व' के अभाव के रूप में उल्लेख किया है। बौद्ध इसे रिक्तता (शून्यता) कहते हैं, यद्यपि 'कुछ नहीं' के अर्थ में नहीं।

(ख) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड स्वतन्त्र है और अविभाज्य भी। इसके अतिरिक्त और कोई अस्तित्व नहीं है। यह किसी अन्य विराट एकत्व अथवा अन्य उच्च वास्तविकता का हिस्सा नहीं है।

(ग) इस अभिन्न एकता के भीतर सभी घटनाओं को पैदा करने की सामर्थ्य है। विविधता को कहीं बाहर से आयात नहीं किया गया है, बल्कि यह तो इसी अभिन्न एकता से उत्पन्न होती है।

भारत की विभिन्न धार्मिक परम्पराओं के बीच इन विविध घटनाओं और एकता के निश्चित सम्बन्ध को ले कर गहन मतभेद हैं। उदाहरण के लिए आदि शंकर ने 'माया' शब्द का उल्लेख एकतत्व से उत्पन्न विविधता के अनुभव को वर्णित करने के लिए किया था। जबकि रामानुज (जो कि महत्वपूर्ण वेदान्त दर्शन 'विशिष्टद्वैत' के प्रतिपादक थे) के अनुसार हर प्रकार की विविधता अभिन्न एकता का ही अंग होती है, अर्थात् आरम्भ से ही समग्र एकता का मूल स्वरूप अनेकता में एकता की प्रकृति वाला ही होता है। वहीं दूसरी ओर श्री अरविन्द ने इस अभिन्न एकता की व्याख्या अविभाजित (एकत्व) एवं विभेदित (बहुलता) के रूप में की, यानी एकत्व हो अथवा विभाजित हो, यह उसी एकतत्व की मूल चेतना के पहलू हैं। महर्षि अरविन्द ने 'अभिव्यक्ति' शब्द का उपयोग उस विशिष्ट प्रक्रिया के लिए किया है जिसके द्वारा एकत्व में निहित विविधता अपने आप को व्यक्त करती है। सभी धार्मिक परम्पराएँ इस बात पर सहमत हैं कि 'परम सत्य' को साधारण मन-बुद्धि द्वारा पूरी तरह से नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि मानव मन की अपनी सीमाएँ हैं और फलस्वरूप इसके अनुभव अपूर्ण हैं। हालाँकि धर्मशास्त्र इस अभिन्न एकता की अवधारणा को कुछ हद तक बतला सकते हैं, परन्तु इसे समझने के लिए व्यक्ति को एक विशिष्ट चेतना की अवस्था में पहुँचना होता है ताकि वह इसे पूरी तरह अनुभव कर सके।

इसके अतिरिक्त इन सभी धार्मिक परम्पराओं में आपस की जुड़ी हुई सभी इकाइयाँ स्थिर नहीं हैं, बल्कि वे तरल प्रवाह की अवस्था में रहती हैं। सभी कुछ, अर्थात् सभी पदार्थ, भावनाएँ, मानवता, प्रत्येक छोटे से छोटा कण, समय का प्रत्येक पल तथा ब्रह्माण्ड की प्रत्येक इकाई — सभी कुछ सतत् परिवर्तनशील हैं। हिन्दू धर्म के अनुसार स्वयं-सृजन एक चक्रीय प्रक्रिया है। ब्रह्माण्ड अस्तित्व में आता है और फिर समाप्त हो कर अप्रत्यक्ष स्थिति में तब तक सुप्त पड़ा रहता है जब तक वह एक नये चक्र के रूप में फिर प्रकट नहीं होता। यह प्रक्रिया साँस लेने और छोड़ने जैसी स्वाभाविक होती है और शाश्वत् दोहराई जाती है। कोई भी सृजन परमात्मा से अलग नहीं है। अर्थात् जब स्वयं परमात्मा ही विभिन्न रूपों में ब्रह्माण्ड में अभिव्यक्त हैं तो स्वाभाविक रूप से समूचा ब्रह्माण्ड ही स्वयं परमचेतन एवं अभिन्न एक है। इसलिए परमात्मा इस ब्रह्माण्ड से अलग होते हुए भी उसके साथ एकरूप हैं। इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति परम सत्य से हुई है, हमारी किसी संकल्पना के कारण नहीं, वरन् केवल इसलिए क्योंकि यही उसकी प्रकृति है।

यह दृष्टिकोण 'एकेश्वरवाद' जिसके अनुसार केवल एक भगवान है जो समूचे ब्रह्माण्ड को ऊपर से नियन्त्रित करता है तथा इसका विरोधी पश्चिमी सर्वेश्वरवाद

(pantheism) इससे अलग है जोकि ब्रह्माण्ड को भगवान की तरह देखता है, परन्तु बाहर से नियन्त्रित करने वाले भगवान की तरह नहीं। सनातन धार्मिक परम्पराओं की आस्तिकता में यह दोनों ही धारणाएँ सम्मिलित हैं। उदाहरण के लिए 'उपनिषदों' के अनुसार परमात्मा का उत्कृष्ट स्वरूप 'परा' (अर्थात बाह्य एवं अछूता) और अन्तस्थ स्वरूप 'अपरा' (ब्रह्माण्ड की ही अन्तर संरचना) दोनों ही प्रकार का होता है। भगवान इस समूचे वैभवशाली संसार का निर्माता (अर्थात् एक बाहरी शक्ति) भर ही नहीं है, बल्कि स्वयं अपने-आप में यह विश्व है। अन्तत: सभी कुछ उस 'ब्रह्म-शक्ति' की ही एक विशिष्ट अभिव्यक्ति है। स्वयं ब्रह्म एवं ब्रह्म की अभिव्यक्ति एक दूसरे से अविभाज्य हैं। इस प्रकार 'विविधता में एकता' ही प्रकृति के मूलतत्व की वास्तविकता है। पश्चिमी दार्शनिकों ने यह विचार हिन्दू धर्म से ही ग्रहण किया और उसे 'सर्वेश्वरवाद' का नाम दिया, परन्तु वास्तव में हमें उस 'पश्चिमी सर्वेश्वरवाद' से भ्रमित नहीं होना चाहिए।[5]

बौद्ध धर्म ने भी एकतत्ववाद के इस सिद्धान्त को (जोकि वेदान्त से मूलरूप से भिन्न है) यह कहते हुए माना है कि ब्रह्माण्ड में सभी कुछ आपस में एक-दूसरे से जुड़े हुए एवं आश्रित हैं। वास्तव में पृथकता की अवधारणा न केवल भौतिक इकाइयों की बल्कि वैचारिक, भावनात्मक अथवा मानसिक दशाओं की भी अपने-आप में भ्रामक है। सभी वस्तुएँ जो अस्तित्व में हैं या ऐसी प्रतीत होती हैं, वस्तुत: क्षणभंगुर मानी जाती हैं जिनका केवल अस्थायी अस्तित्व प्रतीत होता है। समय की मार से कुछ नहीं बचता और हर वस्तु लगातार दूसरी वस्तु में बदलती रहती है। परस्पर बुने हुए जाल में प्रत्येक क्षणिक अस्तित्व दूसरे क्षणिक अस्तित्व पर निर्भर है। केन्द्रीय एकीकृत सिद्धान्त है कि भूत, वर्तमान एवं भविष्य की सभी वस्तुएँ, भौतिक अथवा ग़ैर-भौतिक, आपस में एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। यह क्षणिकता अथवा नश्वरता का विचार अपने साथ अनन्त विविधता उत्पन्न करता है क्योंकि कोई वस्तु स्थायी है ही नहीं। हमेशा बदलने वाले अस्थायी एकीकृत संसार की विविधता ही वास्तविकता है।

आंशिक रूप से इस आध्यात्मिक आधार के कारण सनातन धार्मिक परम्पराओं में आध्यात्मिक एवं सांसारिक गतिविधियों के बीच कोई विरोधाभास नहीं दिखाई देता है। ये दोनों प्राय: ही एक-दूसरे पर आधारित रहते हैं एवं इनके बीच का अन्तर भी धुँधला रहता है।[6]

हिन्दू एवं कुछ बौद्ध मनुष्य एवं देवताओं के बीच की दूरी को आसानी से पाट कर उनकी क्रियाओं, गुणों, प्रक्रियाओं एवं शक्तियों को देवतुल्य मानते हैं। संस्कृत के शब्द 'देव' का अनुवाद प्राय: 'देवता' के रूप में किया जाता है, अर्थात् वह जिसके पास कुछ मूल्यवान है और जो उसे दूसरों को देता है। साधु-सन्त ज्ञान देते हैं, माता-पिता मार्गदर्शन देते हैं और सूर्य प्रकाश देता है — और ये सभी 'देव' हैं। अपनी अनन्त आध्यात्मिक क्षमता के चलते मनुष्य गहन तपस्या के अभ्यास के बलबूते देवता-

सदृश्य बनने की इच्छा कर सकता है। धार्मिक परम्पराओं के एक विद्वान ओरगन (Organ) स्पष्ट करते हैं कि—

हिन्दू धर्म में देव की अवधारणा यहूदी-ईसाई परम्पराओं के विपरीत है जिनके अनुसार परमात्मा और मनुष्य के बीच के अन्तर को धुँधला किया जाना सम्भव नहीं है। पश्चिमी अवधारणा में जो ईश्वर है वह उसी स्वरूप में रहेगा, वह इसके अतिरिक्त कुछ और नहीं हो सकता। जो बदलता है वह भगवान नहीं है, जबकि भारत में एक देवता के देवत्व में बढ़ोतरी भी हो सकती है या उसका देवत्व कम भी हो सकता है। 'देवत्व' के इस प्रकार के स्तरीकरण का पहलू हिन्दू धर्म को सभी जीवित रूपों को एकीकृत करने के लिए एक प्रतिमान प्रदान करता है। पश्चिमी मतों में पशुओं, मनुष्यों एवं देवताओं के बीच जो पृथकता आवश्यक मानी जाती है वह सनातन धार्मिक सम्प्रदाओं में इतनी सुस्पष्ट नहीं है। कुछ हद तक जैन एवं बौद्ध मतों को इस सिद्धान्त के व्यावहारिक निहितार्थ को स्पष्ट करने के वैकल्पिक प्रयासों के रूप में समझा जा सकता है, जिसमें जैन धर्म के अनुसार सभी जीवित प्राणी महत्वपूर्ण हैं एवं उनका संरक्षण किया जाना चाहिए, जबकि बौद्ध धर्म अस्तित्व की अवधारणा को नकारते हुए जीवन प्रक्रिया के सिद्धान्त के आधार पर सम्पूर्ण प्राणी जीवन को और अधिक एकीकृत करता है।[7]

समग्र एकता एवं विविधता के बीच का सम्बन्ध यहूदी-ईसाई पन्थों में स्पष्ट रूप से अलग है। इसमें एक विलक्षण घटना घटित होती है जोकि सृष्टिकर्ता से बिलकुल अलग है एवं उससे पहले कुछ भी नहीं था। सृष्टिकर्ता एवं उसकी सृष्टि का द्वैतवाद कि 'ईश्वर ही सब कुछ है' के विचार की अनुमति नहीं देता। जहाँ भारतीय धार्मिक परम्पराएँ सभी भिन्नताओं को ईश्वर की सापेक्ष्य तुलनात्मक विधाओं के रूप में देखती हैं, वहीं यहूदी-ईसाई मत सभी भौतिक एवं ग़ैर-भौतिक इकाईयों को केवल उनके स्वयं के परम अस्तित्व के रूप में देखते हैं, जोकि केवल बाहर से एक 'दिव्य आदेश' से जुड़े हैं।

पश्चिम में चन्द दार्शनिक विचार एवं रहस्यमयी परम्पराएँ लगभग हिन्दू एवं बौद्ध धर्मों के समान अन्तर्दृष्टि रखती हैं, परन्तु जो मत और दर्शन उनकी सभ्यताओं पर हावी हैं वे उन्हें हिन्दू विचारों की तरह सर्वव्यापी ईश्वर के मौलिक सिद्धान्त को नहीं समझा पाते और न ही वे बौद्ध धर्म की तरह संसार के खालीपन को अंगीकार कर पाते हैं। ईसाई पन्थ की कई व्याख्याएँ पवित्र आत्मा (Holy Spirit) को भगवान के सर्वव्यापी होने की धारणा को मानती हैं, हालाँकि यह पवित्र आत्मा कभी भी ईसाई धर्म में एक केन्द्रीय विचार का रूप न ले सकी। इसके अतिरिक्त ईसाइयत कभी भी अच्छा (भगवान) और बुरा (शैतान) क्या है अथवा पवित्र की अपवित्र से पृथकता के द्वन्द्व को सुलझा नहीं सकी।[8]

ग़ौरतलब है कि सनातन धार्मिक परम्पराओं में अभिन्न एकता को आध्यात्मिक साधना जैसे योग के द्वारा अनुभव किया जा सकता है। क्योंकि दोनों प्रकार की ही

स्थितियाँ, जैसे 'बाहरी और आन्तरिक,' 'शरीर और मन,' 'आत्मा और पदार्थ,' 'व्यक्तिगत और सामूहिक,' सभी स्वयं सम्पूर्ण परब्रह्म की मात्र अभिव्यक्तियाँ भर हैं, अत: स्वाभाविक है कि ईश्वरीय परम सत्य की खोज सन्निकट शरीर में स्थित अन्त:करण से ही प्रारम्भ होती है। श्री अरविन्द ईषोपनिषद् की व्याख्या में नौ विपरीत जोड़ों के बारे में बताते हैं कि उन्हें कैसे अभिन्न एकता के साँचे में समाया गया।[9] इसी प्रकार शैव परम्परा में शिव ही वह परम एक हैं जिनके अन्दर सभी प्रतिकूलताएँ समाहित हैं।

इसके विपरीत पश्चिमी मतों में यही खोज अलग-अलग इकाइयों से आरम्भ होती है, जैसे ईश्वर और सृष्टि, ईश्वर और मानवता, शरीर और मन, आत्मा और पदार्थ आदि और फिर इन सभी को एकजुट करने का प्रयास होता है। इस अन्तर्निहित भिन्नता के साथ साथ 'यह वह' जैसी दोहरी प्रस्तावनाओं में एक ही का चयन सदा उग्र मतभेदों पर बल देता है। फलस्वरूप ये भिन्नताएँ किसी अभिन्न एकता का अनुभव प्रदान करने की बजाय सतत् चिन्ताओं एवं बेचौनी का स्रोत बन जाती हैं।[10]

पश्चिम की इसी कृत्रिम एकता के दर्शन हमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी होते हैं। संयुक्त राष्ट्र (U.N.O.) नामक संस्था अपने आप में सम्प्रभु एवं भिन्न पहचान वाले विभिन्न देशों का जमावड़ा बनी हुई है, जिनके कई मुद्दों जैसे व्यापार, कानूनी अधिकारों, सुरक्षा, पर्यावरण सुरक्षा इत्यादि पर आपसी हितसाधन जुड़े हुए हैं। संयुक्त राष्ट्र का एक भी कार्यक्रम अथवा योजना ऐसी नहीं है जिसके लिए इन देशों को अपनी निजी सम्प्रभुता का बलिदान करना पड़े। इसी प्रकार G-8 शक्तिशाली राष्ट्रों का समूह सामूहिक लाभों को ले कर चर्चा करता है, परन्तु उनका असली उद्देश्य अपने-अपने देशों का अधिकतम हित साधना होता है न कि कोई साझा हितलाभ। भारतीय राजनीति में भी गठबन्धन सरकारें इसी प्रकार के कृत्रिम समूह हैं जहाँ अपने-अपने राजनैतिक हितों को ले कर साथ आये हुए राजनैतिक दल किसी साझा लक्ष्य के लिए तब तक एक रहते हैं जब तक अपने स्वार्थी और अवसरवादी हस्तक्षेपों से वे बिखर न जायें।

अमरीका का स्वास्थ्य संरक्षण उद्योग, निजी चिकित्सकों, अस्पतालों, बीमा कम्पनियों, अधिकारियों, राजनेताओं एवं मरीज़ों के बीच उत्पन्न होने वाले विभिन्न तनावों को रोकने के लिए संघर्षरत है। सभी हितधारक व्यक्ति-समूह एवं संस्थाएँ अपने हितों के लिए मोल-भाव करने में लगे हुए हैं जिससे यह व्यवस्था मुख्य रूप से दिखावा भर रह गई है, जहाँ विभिन्न योगदानकर्ता अपने-अपने व्यावहारिक कारणों से एक साथ काम करने को विवश हैं। आधुनिक शिक्षा प्रणाली भी अलग-थलग कौशलों का एक बनावटी संविभाग (portfolio) बन कर रह गई है जहाँ अधिकांश विद्यार्थी केवल रोज़गार प्राप्त करने के लिए शिक्षा ग्रहण कर रहे होते हैं। यहाँ तक कि अन्तर्विषयी अध्ययन भी अलग-अलग इकाइयों के एक तरह के संविभाग प्रबन्धन बन कर रह गये हैं, जिनमें एकता बनाना आवश्यक होता है। पूँजीवादी बाज़ार

व्यवस्था भी कृत्रिम ही है जिसमें विभिन्न प्रतियोगी अपने लाभ एवं हितों के अनुकूल व्यवहार करते हैं, जहाँ बाज़ारवाद का उद्देश्य प्रत्येक प्रतियोगी पक्ष को अपने-अपने लाभ के लिए सक्षम बनाना है। यही बनावटी गुणवत्ता आधुनिक समय की प्रत्येक संस्था में प्रवेश कर चुकी है, चाहे वह राष्ट्रीय हो या अन्तर्राष्ट्रीय। अन्तर्साम्प्रादयिक संवाद (Interfaith dialogue) में सहिष्णुता (tolerance) की धारणा भी इसका उदाहरण है कि किस प्रकार दिखावे के समायोजन से भी अपनी कथित श्रेष्ठता को संरक्षित किया जा सकता है।

उपरोक्त सभी कृत्रिम एकता के ऐसे उदाहरण हैं जिनमें अलग-अलग इकाइयाँ अपनी पहचान और अपने लाभ को स्वतन्त्र रूप से सुरक्षित कर लेते हैं। जो सम्पूर्ण प्रतीत होता है वह असल में कुछ स्वतन्त्र इकाइयों का संग्रह मात्र है। भारतीय धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र भी एक प्रकार की कृत्रिम एकता की व्यवस्था है जिसे किसी भी बेतरतीब रूप से एकत्रित मनुष्यों के किसी समूह, जो एक संविधान को अपनाते हैं और उस पर अमल करते हैं, पर लागू किया जा सकता है। कृत्रिम एकता को हम बेहतर तरीके से मात्र 'सुविधा' के रूप में जान सकते हैं, एक ऐसी सुविधा जो विभिन्न वर्गों की सीमा-रेखाओं और व्यक्तियों को गहरी आत्मीयता के बन्धन में बाँधने का सुअवसर खो देती है। इस पुस्तक का एक प्रमुख लक्ष्य इस गहन एकता को खोजना भी है।

कृत्रिम एकता के एक विशिष्ट प्रकार द्वारा एक मूलभूत गुणवत्ता प्राप्त की जा सकती है जिसमें सम्पूर्ण के व्यापक हितों को उसके अंशों के हितों के ऊपर रखा जाता है। इस प्रक्रिया में सम्पूर्ण को प्राथमिकता मिलती है और बाकी हिस्से उसके अधीन हो जाते हैं। मनुष्य के शरीर की एक छोटी-सी जैविक कोशिका का समूचे मानव शरीर से सम्बन्ध जटिल जीवन्त इकाइयों का उदाहरण है। नॉर्वे (Norway) में उपलब्ध समग्र जीवन्त स्वास्थ्य प्रणाली सभी नागरिकों के सामूहिक स्वास्थ्य हितों की देखभाल करती है तथा इस व्यवस्था के विभिन्न घटकों की भूमिका एवं कार्यों के विकास के लिए कर्तव्यों का निर्धारण करती है। चिकित्सकों, वकीलों एवं चिकित्सा-संस्थानों को अपने व्यक्तिगत हितों को साधने का प्रयास किये बिना इस सामूहिक व्यवस्था में सम्मिलित होना पड़ता है। कन्फ़्यूशियसवाद एवं साम्यवाद राजनैतिक प्रणालियाँ हैं जो क्रियात्मक एवं व्यावहारिक एकता के लिए प्रयास तो करते हैं परन्तु इनमें अभिन्न एकता का अभाव है। सामूहिक खेती तथा सहकारी समितियों को भी व्यावहारिक एकताओं के रूप में ही निर्मित किया गया है।

पर्यावरण के विभिन्न गठबन्धनों द्वारा प्रयास किया जा रहा है कि दुनिया भर के लोग इस पृथ्वी ग्रह को बुरी तरह प्रभावित कर सकने वाली समस्याओं के हल ढूँढ़ने हेतु एकजुट हों। कुछ लोग इस कार्य को अपना स्वार्थ साधने एवं संसाधनों के संरक्षण की व्यावहारिकता के रूप में देखते हैं जबकि दूसरों के लिए यह एक जीवन्त दृष्टिकोण है, जो इस ब्रह्माण्ड की एकता और अखण्डता के लिए अति-आवश्यक है।

इस प्रकार के आन्दोलन उन बनावटी संस्थाओं, कानूनों एवं समझौतों के विरुद्ध संघर्ष करते हैं जोकि अलग-अलग समूहों ने अपने निजी हितसाधन के लिए बनाये हैं।

इतना सब होते हुए भी इस प्रकार की जीवन्त प्रणालियाँ, चाहे वह आपस में कालान्तर में कितनी भी जुड़ी हुई क्यों न हो जायें, सनातन धार्मिक परम्पराओं के अर्थ में अभिन्न एकता के मानक पर खरी नहीं उतरतीं। यह इसलिए भी है क्योंकि उनके अवयव अपना अलग-अलग अस्तित्व रख कर अपनी खींचतान जारी रखते हैं। ऐसे किसी बनावटी समूह के लिए यह दुर्लभ ही होगा की वह इतना एकीकृत हो जाये कि उसके अवयव अपने स्वार्थों को स्थायी रूप से त्याग दें। अधिकांश मामलों में जब विभिन्न भागों की शख़्सियत निष्क्रिय भी हो जाती है तब भी ऐसी सन्धि अस्थायी और कमज़ोर होती है, क्योंकि अन्ततः स्वार्थ पुनः प्रकट होगा ही। धार्मिक परम्पराओं की अभिन्न एकता में इस प्रकार के अस्थायी गठबन्धन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

वैश्विक तत्वों की तुलना

निम्नलिखित तालिका में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि किस प्रकार सनातन धार्मिक परम्पराएँ एवं यहूदी-ईसाई वैश्विक सोच एक दूसरे से भिन्न है। इन अन्तरों का इस अध्याय में आगे और विश्लेषण किया जायेगा।

	धार्मिक परम्पराएँ	**यहूदी-ईसाई मत**
परम तत्व (अन्तिम सत्य)	कुछ परम्पराएँ विश्वास पर आधारित हैं परन्तु बाकी साधना पर आधारित हैं।	पूर्व 'विश्वास' अनिवार्य है।
	परमात्मा नर अथवा नारी या दोनों या कोई भी नहीं हो सकता। परम सत्य अवैयक्तिक भी हो सकता है। परमात्मा तक पहुँचने के लिए विभिन्न प्रकार के तरीके एवं विधियाँ हैं।	एक ही परम-पिता परमेश्वर पर विश्वास
	ब्रह्म सर्वव्यापी भी है और अन्तर्निहित भी तथा यह विश्व पवित्र है।	ईश्वर और संसार अलग-अलग हैं। संसार ईश्वर पर निर्भर है तथा यह विश्व एवं मनुष्य तब तक अपवित्र हैं जब तक ईश्वर की कृपा से इसे मुक्त नहीं किया जाता।
	सब कुछ अभिन्न एकता पर	मूलभूत रूप से संसार की

	निर्भर है। मूलभूत रूप से कोई भी तत्व या इकाई अलग नहीं है।	वस्तुओं एवं जीवात्माओं का अपना अलग अस्तित्व है।
	ईश्वर में अच्छा-बुरा सभी कुछ सम्मिलित है। कुप्रवृत्तियों को आन्तरिक साधना से समाप्त किया जाता है।	सिद्धान्ततः 'बुराई' या 'दुष्टता' का अपना स्वयं का अस्तित्व है। बुराई एक बाहरी शक्ति है जिसे 'पाप' की आन्तरिक सहज प्रवृत्ति से भी सहयोग मिलता है।
	नास्तिकों पर 'बलपूर्वक' कोई सिद्धान्त थोपा नहीं जाता। जो जैसे हैं ठीक हैं। हर व्यक्ति अपनी आध्यात्मिकता पर ध्यान दे।	दूसरों को बचाने के नाम पर व्यापक आदेश जारी होते हैं। मोक्ष को सामूहिक (संस्थागत) माना जाता है। दूसरों का धर्मांतरण करने के भी आदेश हैं।
मनुष्य जीवन	व्यक्तिगत-सत्-चित्-आनन्द, व्यक्तिगत आत्मज्ञान पर बल पुनर्जन्म की अवधारणा परिस्थितियाँ कर्म-फल पर आधारित होती हैं, इसलिए नियतिवाद नहीं बल्कि स्वनिर्मित भाग्य पर आधारित	मनुष्य पापी है और उसे बचाया जाना चाहिए। केवल एक ही जन्म जन्म के समय व्यक्ति की अच्छी/बुरी परिस्थितियों के लिए कोई स्पष्टीकरण नहीं।
	मनुष्य की मानसिक उन्नति के लिए विविध आध्यात्म विद्याएँ (साधना प्रक्रियाएँ)।	व्यक्ति के आन्तरिक ज्ञान एवं साधना पर विश्वास नहीं। 'मुक्ति' की अवधारणा भगवान की कृपा पर निर्भर।
	भगवान पर विश्वास साधना में सहायक है। आध्यात्म में परमात्मा की अनुभूति निहित है।	विश्वास एवं मुक्ति हेतु किये गये कर्म एवं उपासना की कुछ भूमिका।
	निष्काम कर्म द्वारा मोक्ष प्राप्ति	मोक्ष प्राप्ति सिर्फ़ प्रायश्चित एवं प्रतिदान से ही सम्भव।
संसार की	काल अनादि है। सृष्टि संसार-	समय और स्थान का एक

अवधारणा	विनाश का एक अनन्त चक्र है। काल और कार्य के आपसी सम्बन्ध अप्रत्याशित हैं।	निश्चित प्रारम्भ रखा गया है जो इतिहास लेखन को प्रभावित करता है।
	संसार के अन्त की कोई भविष्यवाणी नहीं है। मोक्ष व्यक्तिगत है सामूहिक नहीं।	'अन्तिम समय'—समूची मानवता के लिए एक प्रलय का दिन निश्चित है।
	इतिहास महत्वपूर्ण नहीं—कई अवतार, श्रुति के रूप में ऋषि-मुनियों के आध्यात्मिक अनुभव। उनके द्वारा स्मृति का पुनर्लेखन।	इतिहास में परमेश्वर का अद्वितीय हस्तक्षेप। इसलिए परमेश्वर को समझने-जानने हेतु इतिहास अत्यधिक महत्वपूर्ण है।
	बिना किसी इतिहास पर निर्भर हुए परमात्मा की चिरस्थायी अनुभूति अभी और यहाँ, सदा उपलब्ध।	आध्यात्मिक सत्ता और अधिकार भगवान द्वारा किये गये रहस्योद्घाटनों पर आधारित हैं।

इन्द्र-जाल

कई भारतीय धार्मिक परम्पराओं में निहित अभिन्न एकता के वैचारिक साँचे को इन्द्र के मायाजाल की उपमा से चित्रित किया जा सकता है। वैदिक परम्पराओं में वर्णित इन्द्र देवता के पास एक ऐसा अनन्त जाल है जिसकी प्रत्येक गाँठ में भिन्न-भिन्न प्रकार के रत्न और मणि ऐसे जड़े हुए हैं जिसमें हर मणि शेष मणियों को प्रतिबिम्बत कर सके, किसी मणि का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। प्रत्येक मणि दूसरों को प्रतिबिम्बित करने में अद्वितीय है। इन्द्र का यह जाल इस ब्रह्माण्ड को प्रदर्शित करता है जिसमें इसके सभी घटकों के बीच गहरे गुँथे हुए अन्तर्सम्बन्ध हैं तथा इस ब्रह्माण्ड का कोई एक भाग दूसरे से अलग नहीं है, बल्कि सभी का अस्तित्व सामूहिक वास्तविकता पर ही निर्भर है। इन्द्र के इस जाल का यह मूल विचार अथर्ववेद (चार वेदों में से एक) में पाया जाता है जिसके अनुसार सम्पूर्ण विश्व को शक्र अथवा इन्द्र के मायासंसार के रूप में चित्रित किया गया है। बाद में बौद्ध ग्रन्थों ने इन्द्र के इस जाल को एक रूपक के तौर पर उपयोग किया जिसके अनुसार इस अनन्त ब्रह्माण्ड का न तो कोई प्रारम्भ है और न ही अन्त। इसमें सभी घटक आपस में एक दूसरे पर निर्भर एवं सम्बन्धित हैं।[11]

इन्द्र का जाल सम्पूर्ण जीवजगत में समाई हुई एक सर्वव्यापी रचनात्मक समझ को भी रेखांकित करता है। जो भिन्नता दिखाई देती है वह वास्तव में माया (भ्रम) है। इन्द्र

के इस जाल में किसी एक मणि के प्रकाश का प्रतिबिम्ब प्रत्येक दूसरे मणि में दिखने की क्षमता एवं प्रक्रिया को समझना सामान्य मन-बुद्धि के लिए कठिन है, परन्तु यह कालान्तर में खोजे जाने वाले भौतिक विज्ञान और तत्वमीमांसा के बहुआयामी सिद्धान्तों को समझने के लिए उपयोगी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज के आधुनिक विज्ञान से सदियों पहले ही इन्द्र के इस जाल ने एक अद्‌भुत रूपक प्रदान किया था जो आज होलोग्राम (hologram) की प्रमुख गुणवत्ता के रूप में जाना जाता है, जिसके अनुसार होलोग्राम के हर किसी क्षेत्र में उसके पूरे क्षेत्र की सम्पूर्ण जानकारी समागत है। इन्द्र के जाल के इसी रूपक से प्रेरित हो कर माइकल टैलबोट (Michael Talbot) ने अपने नवीनतम सिद्धान्त में इस भौतिक जगत की 'होलोग्राफ़िक' प्रकृति को दर्शाया है। उनका सुझाव है कि इसी होलोग्राफ़िक प्रतिरूप (Model) के सिद्धान्त से हमें विभिन्न योग-सिद्धियों को समझने के लिए एक वैज्ञानिक आधार प्राप्त हो सकता है। इन्हीं योग-पद्धतियों के अभ्यास से कुछ आध्यात्मिक सिद्धियाँ प्राप्त की जाती हैं जिन्हें पश्चिम के विचारक 'असाधारण,' 'अलौकिक' अथवा 'अनियमित' घटना दर्शाते हैं। एकीकृत चित्त (चेतना का उच्चतम स्तर) अथवा 'एकीकृत शक्ति' की पुनर्कल्पना ब्रह्माण्ड में उपस्थित प्रत्येक घटक को परस्पर बाँधे रखने वाले वलय जैसी की गई है।[12] इन्द्र के इस जाल की अवधारणा ने डगलस हॉफ्स्टेडर (Douglas Hofstadter) को भी किसी व्यवस्था के भौतिक, शारीरिक, प्रतीकात्मक अथवा वैचारिक अवयवों के बीच जटिल सम्बन्धों के अध्ययन पर कार्य करने के लिए प्रेरित किया।[13] इस अवधारणा से मनुष्य के मस्तिष्क की जटिल संरचना के प्रतिरूप एवं इंटरनेट के प्रतिरूप भी प्रभावित हुए। वैज्ञानिक बैल (Bell's Theorem) के उस सैद्धान्तिक भौतिकी प्रमेय को, जिसके अनुसार ब्रह्माण्ड में कोई भी स्थानीय घटनाक्रम अथवा कारण नहीं होता, भी इस इन्द्रजाल के पुरातन विचार से समर्थन मिलता है, क्योंकि ब्रह्माण्ड में सभी कुछ स्वाभाविक रूप से परस्पर जुड़ा हुआ है।

अभिन्न एकता की इस धार्मिक अवधारणा को भगवद्‌गीता के सातवें अध्याय में सार रूप से बताया गया है, जिसमें श्री कृष्ण स्पष्ट करते हैं कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड वे स्वयं हैं। पदार्थ के छोटे-से-छोटे अणु से ले कर जीवन के उच्चतम तत्व और बुद्धि तक सभी कुछ भौतिक एवं आध्यात्मिक, अच्छे एवं बुरे सभी उनके संकल्प से व्यक्त हैं।

श्री कृष्ण स्पष्ट करते हैं कि—

> पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि एवं अहंकार, इस प्रकार यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी अपरा अर्थात जड़ प्रकृति है।
>
> इसके अतिरिक्त मेरी एक अन्य परा चेतन प्रकृति भी है जिससे यह सम्पूर्ण जगत धारण किया जाता है।

सम्पूर्ण भूत समुदाय इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न होते हैं। मैं सम्पूर्ण जगत का उद्भव तथा प्रलय हूँ, अर्थात् सम्पूर्ण जगत का मूल कारण हूँ।

मुझसे श्रेष्ठ कुछ नहीं है। ब्रह्माण्ड की प्रत्येक निर्मिति मुझ पर आधारित है, ठीक उसी तरह जैसे कई मोती एक मजबूत धागे से बँधे रहते हैं।

मैं ही जल का स्वाद हूँ, सूर्य-चन्द्रमा का प्रकाश हूँ, वैदिक मन्त्रों में श्रेष्ठ 'ॐ' का मूलतत्व हूँ, आकाश में गूँजती अनहद अश्रव्य ध्वनि हूँ

तथा पुरुषों में पुरुषत्व भी मैं ही हूँ।

मैं पृथ्वी की पवित्र सुगन्ध हूँ, अग्नि तेज हूँ, समस्त चराचर का जीवन हूँ एवं सभी तपस्वियों का तप हूँ।

मैं ही सम्पूर्ण भूतों का बीज हूँ, बुद्धिमानों की बुद्धि हूँ एवं तेजस्वियों का तेज हूँ। मैं बलवानों की आसक्ति एवं कामनाओं से रहित सामर्थ्य हूँ,

मैं सब भूतों में धर्म के अनुकूल काम हूँ।

सभी प्रकार की परिस्थितियाँ, फिर चाहे वे सत्वगुण से उत्पन्न होने वाली हों अथवा रजोगुण या तमोगुण से उत्पन्न भावावेग हों, सभी मेरे से ही होने वाले हैं ऐसा जान। मैं ही सब कुछ करता हूँ परन्तु फिर भी मैं स्वतन्त्र हूँ। मैं स्वयं किसी प्रकार की भौतिक स्थितियों में नहीं हूँ, अपितु वे मेरे ही भीतर हैं। फिर भी मैं इन सभी अपार स्थितियों से परे अनन्त में रहता हूँ (हालाँकि अज्ञानी मनुष्य यह समझ नहीं पाते हैं)...।

भगवद्गीता—7.4—7.13

गीता सन्देश के आने से बहुत समय पहले ही वेदों में विभिन्न स्तरों एवं स्थितियों के साथ उस एक परम सत्य का वर्णन किया गया है।[14] समय के साथ इन शास्त्रों के मूल सिद्धान्तों में बहु-ईश्वरवाद से एकेश्वरवाद जैसा कोई बदलाव नहीं हुआ जो पश्चिमी विद्वानों के दावों के विपरीत एक सिद्धान्त द्वारा दूसरे को खारिज करते हुए एकत्व को सिर्फ़ अद्वैतवादी अथवा विविधता को केवल बहु-ईश्वरवादी देखना पसन्द करते हैं, दोनों को कभी भी साथ-साथ नहीं। पश्चिमी विद्वानों के अनुसार यदि वेदों में बहु-ईश्वरवाद से बाद में एकेश्वरवाद आया था तो फिर वैदिक देवताओं के सबसे शक्तिशाली देवता ही इस ब्रह्माण्ड के अन्तिम शासक के रूप में विराजमान होते (जैसा कि बाइबल की आज्ञाओं में कहा गया है कि — तू मेरे सामने किसी अन्य भगवान की पूजा नहीं करेगा)। परन्तु भारतीय धार्मिक परम्पराओं में वैसा कभी कुछ भी घटित नहीं हुआ।

बन्धु'-समरूपता का सिद्धान्त

'बन्धु' एक अवधारणा है जो यह समझने में सहायता करती है कि अभिन्न एकता में विभिन्न भागों को किस प्रकार समग्रता से समायोजित किया जाता है। विश्व के सभी पहलुओं का एक अवर्णनीय स्रोत है और जिसे हम प्रकृति के रूप में देखते हैं वह एक उच्च वास्तविकता का सूचक है। इस वास्तविकता अथवा सत्यता के विभिन्न स्वरूपों, जैसे ध्वनियों, संख्याओं, रंगों एवं विचारों के बीच अन्तर्सम्बन्ध स्थापित हैं और इसी को 'बन्धु' कहते हैं। एक ओर सूक्ष्म एवं सर्वव्यापी संसार है व दूसरी ओर उनके समकक्ष प्रत्यक्ष संसार है। 'बन्धु' इस सूक्ष्म एवं विराट का नक्शा है और एक तरह से दोनों एक दूसरे की छवि हैं। ब्रह्माण्ड की प्रत्येक इकाई के भीतर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड स्थित है। वह एक अनेक रूपों में प्रकट है इसलिए अलग-अलग प्रतीत होती इकाइयाँ भी उसी एक की ही भिन्न अवस्थाएँ हैं। यह अलग-थलग भागों के कृत्रिम रूप से एक साथ आने जैसी अवस्था नहीं है। विभिन्न इकाइयाँ अपना सामयिक अलग अस्तित्व पूर्ण के सापेक्ष्य अस्थाई रूप से तो रखती हैं परन्तु कभी भी स्वतन्त्र अस्तित्व की तरह नहीं, हालाँकि इस पूर्ण एकता की प्रक्रिया में उनकी सुन्दर एवं प्रकाशमान भूमिका महत्वपूर्ण अवश्य रहती है।

'अभिन्न एकता' का यह विचार जिसमें पूर्ण सभी भागों में पूरी तरह प्रकट होता है और जो सब भाग पूर्ण रूप से जुड़े रहने के लिए तत्पर रहते हैं, सभी धार्मिक प्रणालियों के सभी पहलुओं में परिलक्षित भी होता है जिनमें दर्शनशास्त्र, विज्ञान, धर्म, नैतिकता, आध्यात्म, कला, संगीत, नृत्य, शिक्षा, साहित्य, मौखिक व्याख्यान, राजनीति, विवाह, अर्थशास्त्र एवं सामाजिक संरचनाएँ सभी कुछ सम्मिलित हैं। यह मूल सिद्धान्त भारतीय कला, वास्तुकला, साहित्य, धार्मिक अनुष्ठानों, पुराणों, त्योहारों एवं रिवाजों के प्रतीकों में गहराई से स्थापित है, जिसका उद्देश्य व्यक्ति को गूढ़ ज्ञान प्राप्त करने की सुविधा प्रदान करना है। भारतीय संगीत एवं नृत्य कला हिन्दुओं के इस ब्रह्माण्ड-विज्ञान पर आधारित है। भारतीय 'नाटय-शास्त्र' (कला और सान्दर्यशास्त्र के प्रदर्शन की मौलिक विधा) नाटक को एक सम्पूर्ण कला मानती है, जिसमें प्रदर्शन, कविता, नृत्य, संगीत, शृंगार सहित पूरा संसार ही समाहित है। यह एक जीवन्त एवं पूर्ण विचार है जिसमें वैदिक अनुष्ठानों, शैव नृत्यों और संगीत एवं महाकाव्य की कथाएँ सम्मिलित हैं। भारतीय परम्परा के आठ प्रमुख रस (प्रेम, हास्य, वीरता, आश्चर्य, क्रोध, दुःख, घृणा एवं भय) इस सम्पूर्ण दुनिया के दर्पण हैं जो व्यक्ति के पुरुषार्थ में साथ रह कर सहायक होते हैं। यह पवित्र संगीत एवं नृत्य मन्दिरों अथवा राजदरबारों दोनों में प्रदर्शित किये जा सकते हैं। इसके कारण कई मुस्लिम दरबार हिन्दू आध्यात्मिक नृत्य कथक, जो अपनी व्यापक कलात्मकता के लिए जाना जाता है, को हिन्दू प्रदर्शन न मानते हुए उसके संरक्षक बने, जोकि अन्यथा मूर्तिपूजा के रूप में निन्दित होता।

न केवल हर भारतीय धार्मिक परम्परा इस एकता को मानती है, बल्कि सभी परम्पराओं के बीच के सम्बन्ध भी यही दर्शाते हैं। यह देखा जा सकता है कि कला

एवं विज्ञान की सभी शाखाएँ आपस में सम्बन्धित हैं जिन्हें मनुष्य की प्रकृति, जो स्वयं ब्रह्माण्डीय एकता से निकलती है, विभिन्न रूपों में स्वयं को अभिव्यक्त करती है। एक विधा दूसरी विधा में समाई है एवं उसे प्रतिबिम्बित करती है। इनमें से किसी एक विद्या की गहन खोज एवं अध्ययन अन्ततः समरूप एकीकृत अभिन्न सिद्धान्तों एवं संरचनाओं की ओर ले जाती है।

मनुष्य की यह अनन्त स्वतन्त्रता उसके खगोलीय, स्थलीय, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक पहलुओं के 'बन्धु' अन्तर्सम्बन्धों द्वारा विरोधाभासी ढंग से संचालित होती है तथा इनमें से प्रत्येक का सम्बन्ध व्यापक अर्थों में कला, चिकित्सा-प्रणालियों एवं संस्कृति के साथ होता है। जहाँ एक ओर बन्धु की अवधारणा समूचे ब्रह्माण्ड एवं व्यक्तिगत चेतना के बीच सम्बन्ध स्थापित करती है, वहीं दूसरी ओर यही बन्धुत्व तर्कसंगत एवं उद्देश्यपूर्ण विज्ञान से परे मानव चेतना के उच्च-स्तरीय विज्ञान में विराजता है। वैदिक अनुष्ठान की वेदी ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधित्व करती है एवं हिन्दू मन्दिरों की वास्तुकला का भौतिक आयाम विभिन्न खगोलीय परिमितियों पर आधारित है। 'यन्त्र' जो पवित्र ज्यामिति का महत्वपूर्ण आधार है ब्रह्माण्ड का प्रतिनिधित्व करता है। देवता पारलौकिक एवं मनुष्य, दोनों स्तरों की ही बुद्धि एवं समझ के अनुरूप होते हैं। धार्मिक अनुष्ठान व्यष्टि और समष्टि में इनके अनुरूप आमूल परिवर्तन करते हैं। आयुर्वेदिक रोग निदान पद्धति में शरीर के विभिन्न अंगों एवं जीभ के विभिन्न स्थानों के बीच सम्बन्ध के आधार पर ही विशेषज्ञ चिकित्सक अपने विश्लेषण में रोगी के जीभ की जाँच करते हैं। 'बन्धु' के कारण ही धार्मिक आध्यात्मिकता आज जीवित है, क्योंकि जब कुछ विशिष्ट अनुशासनों एवं विधाओं को नष्ट कर दिया गया था तब भी बचे हुए अनुशासनों के द्वारा, जिनमें उनके सूत्र सुरक्षित थे, इस समग्र परम्परा को पुनर्जीवित करने में सहायता मिली।

इन सभी प्रणालियों की वास्तविक शक्ति इनके सिद्धान्तों के आपस में गहरे सम्बन्धों के कारण है। जो व्यक्ति भारतीय धार्मिक पद्धति में पला-बढ़ा है वह स्वाभाविक रूप से विभिन्न वस्तुओं में भी एक समान तत्व को देखता है, जिससे उसे दिखावट के पीछे छिपी वास्तविकता का पता चलता है और वह प्रकट रूप से असम्बन्धित घटनाओं के परस्पर जुड़ावों के पीछे तथ्यों की पहचान करता है।[15]

भारतीय शास्त्रीय कला की एक विद्वान कपिला वात्स्यायन (जन्म 1928) ने बन्धु के कई प्रचलित उदाहरणों को लक्षित किया है। इसके महत्वपूर्ण प्रतीक ऋग्वेद, नाटयशास्त्र एवं तन्त्र-समुच्चय (मन्दिरों की वास्तुकला का ग्रन्थ) में पाये जाते हैं। यहाँ 'बीज' आरम्भ का द्योतक है। 'वृक्ष' बीज से उत्पन्न हो कर लम्बवत विभिन्न ध्रुवों को एकजुट करता जाता है। 'नाभि' अथवा 'गर्भ' अव्यक्त और व्यक्त की अवधारणाओं को साथ लाता है। 'बिन्दु' एक प्रतीकात्मक केन्द्र का सन्दर्भ चिह्न है जिसके चारों ओर ब्रह्माण्ड में काल और आकाश की अवधारणा को दिखाते हुए विभिन्न ज्यामितीय आकारों को रेखित किया जाता है। 'शून्य' परिपूर्णता तथा रिक्तता का प्रतीक है।

'अरूप' प्रकृति से ही 'रूप' एवं 'पारे-रूप' (रूप से परे) प्रगट होते हैं। 'शून्य' एवं 'पूर्ण' (अभिन्न पूर्णता) में आपसी सम्बन्धों की समानता है जबकि विरोधाभास यह है कि पूर्ण ही शून्य के भीतर है।[16]

कम्प्यूटर विज्ञानी एवं संस्कृत के विद्वान सुभाष काक बताते हैं कि कुछ विशेष अंकों के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों के मध्य संवाद-सम्पर्क स्थापित होता है तथा दोनों प्रकार की विद्या 'अपरा' (अर्थात सीमित/द्वैत) और 'परा' (उच्चतर/एकीकृत) एक-दूसरे की पूरक हैं।[17] दोनों परम सत्य के दो पहलू हैं जो आन्तरिक एवं बाहरी विश्व के द्वैत तथा साधारण एवं असाधारण दोनों के ही समरूप हैं।[18] इसी प्रकार वैदिक ऋचाओं में विविध स्तर हैं जो परम सत्य के विविध स्तरों से जुड़े हुए प्रतीत होते हैं।[19]

संवाद-सम्पर्क के इस सिद्धान्त से यह पता चलता है कि भारतीय धार्मिक परम्परा में अभिन्न एकता मात्र देवत्व एवं भक्ति के सन्दर्भ में ही व्यक्त नहीं हुई है, अपितु इसकी उपलब्धि 'कला' के माध्यम से भी हो सकती है। भारत में अनादि काल से ही व्यक्त और अव्यक्त को जोड़ने में कला एक माध्यम रही है जो ईश्वर के प्रकट रूप से उसके अदृश्य स्वरूप का अनुभव प्राप्त करने में सहायक होती रही है। यह सिद्धान्त कश्मीर की शैव परम्परा, गीत-गोविन्द एवं कई प्रमुख परम्पराओं एवं कलात्मक सन्दर्भों में स्पष्ट दिखाई देता है। इसलिए विभिन्न कलाएँ योग का ही एक रूप हैं जिसके प्रस्तुतीकरण में कलाकार, श्रोता एवं दर्शक चेतना के उच्चतम स्तर तक पहुँच सकते हैं। कपिला वात्स्यायन ने इस स्थिति को 'कवि' (निर्माता/कलाकार) का 'प्रगतिशील एवं अनुक्रमिक बन्धन,' 'काव्य' (कला का रूप), एवं 'रसिक' (पारखी श्रोता) के रूप में वर्णित किया है।[20]

बी. वी. त्रिपुरारी ने 'कला' का उत्तम विवरण कृष्ण भक्ति के रूप में दिया है। श्री कृष्ण स्वयं में अभिन्न एकता के स्वरूप हैं एवं यह संसार कुछ और नहीं बल्कि श्री कृष्ण द्वारा अपनी ही शक्तियों के माध्यम से स्वरचित 'रस' को चखने के समान है। वे आगे लिखते हैं—

> ''कृष्ण ही रस, सौन्दर्य का अनुभव तथा रसिक हैं जो इस सौन्दर्य-अनुभव के सबसे बड़े पारखी हैं। राधा ही इस रस एवं रसिक की आन्तरिक एकता का तीव्रतम बहाव हैं। अपनी दिव्य लीलाओं द्वारा श्री कृष्ण अपनी इस राधा-रूपी मौलिक ऊर्जा के माध्यम से स्वयं ही रसिक बन कर अपना स्वाद ग्रहण करते हैं। ऊर्जावान श्रोता को ऊर्जा जीवन्त करती है जैसे राधा श्री कृष्ण को सक्रियता प्रदान करती हैं। जिस प्रकार गन्ना स्वयं अपनी मिठास नहीं चख सकता उसी प्रकार पूर्ण-रस को चखने के लिए एक सक्रिय अद्वैत परम तत्व की आवश्यकता होती ही है। निहित शक्तियों के माध्यम से परम तत्व द्वारा स्वयं के आस्वादन से इस संसार की सृष्टि होती है एवं सभी जीवात्माओं का उस एक से स्पष्ट सम्बन्ध बँधता है। जब स्वयं परम तत्व (अर्थात श्री कृष्ण) इस संसार से सम्बन्ध स्थापित करते हैं तब उनका यह अनुग्रह सभी

जीवात्माओं को उनके साथ एकजुट होने के लिए आकर्षित करता है और उनकी लीलाओं में रमने तथा इस संसार की सीमाओं से परे उस 'रस' का अनुभव करने के लिए प्रेरित करता है।''[21]

काल, नित्य परिवर्तन एवं अ-रेखीय चक्रीय कार्य-कारण

भारतीय धार्मिक परम्पराएँ अतीत, वर्तमान एवं भविष्य की सीमाओं को धूमिल कर अनुभवजन्य सत्य को क्षणिक एवं प्रवाहमान रूप में देखती हैं। विद्वान ट्रॉय विल्सन ऑर्गन (Troy Wilson Organ) कहते हैं कि पश्चिमी विचारकों का भारतीय धार्मिक दर्शन के साथ तालमेल नहीं बैठा पाने का एक कारण यह है कि ''भारतीय गतिशील विचार पद्धति के बारे में पश्चिम स्थिर सारतत्व भाव के वर्गीकरण के द्वारा चर्चा कठिन है।''[22] पश्चिमी सोच घटनाओं को स्थान एवं काल में स्थिर इतिहास की दृष्टि से खोजती है, जबकि भारतीय धार्मिक परम्पराएँ अतीत की कथाओं एवं घटनाओं के इतिहास के लचीले स्वरूप में सहज हैं।

सभी घटनाओं को प्रभावित करने वाली परिवर्तन की इस स्थिति में दोहराए गये घटनाक्रम स्थिर एवं स्वतन्त्र प्रतीत होते हैं, हालाँकि ये सीमित मनोवृत्ति की मात्र भ्रामक रचनाएँ हैं। एक व्यक्ति निःसन्देह इस परिवर्तन का हिस्सा है, फिर भी ध्यान एवं योग की सहायता से वह इस समूची प्रक्रिया को एक साक्षी के रूप में देख पाने में सक्षम है। इसके विपरीत पश्चिमी परिदृश्य में मान लिया गया है (अभी हाल तक तो ऐसा ही था) कि स्थान एवं काल सीमित हैं, जिनका परिभाषित आरम्भ तथा अन्त एक कार्टीसियन (Cartesian) निर्धारक ग्रिड में निहित है। ऐसे संसार को बौद्धिक एवं वैचारिक दृष्टि से नियन्त्रित किया जा सकता है। इसमें सीमाओं के विघटन एवं स्पष्ट विभाजन को अराजक माना जाता है। पश्चिमी सोच ऐसी निरंकुशता चाहता है जो नियन्त्रण कर सके।

सनातन धार्मिक विचारों के अनुसार ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत घटकों की परस्पर अन्तरंगता का कारण उनका चक्रीय अथवा अ-रेखीय होना है, न कि एक ही दिशा में। ब्रह्माण्ड बहुत जटिल एवं अनिश्चित है, यहाँ तक कि सामान्य स्थान-काल से भी परे कहा जा सकता है। भारतीय धार्मिक न्याय परम्परा एवं तर्क पूर्वव्यापी हैं, अर्थात् इसमें पहले प्रभाव देखा जाता है, फिर उसके बाद कारणों का अनुमान लगाया जाता है। इस प्रक्रिया को 'फलहेतु' कहा जाता है, विशिष्ट क्रम में जिसका अर्थ है 'प्रभाव एवं उसका कारण'।[23]

बाइबल में सृष्टि के सिद्धान्तों के अनुसार ब्रह्माण्ड का निर्माण शून्य से हुआ है तथा समय की शुरुआत वहीं से प्रारम्भ हुई। धार्मिक परम्पराओं में इसके समकक्ष कोई सिद्धान्त नहीं है।[24] काल का कोई आरम्भ नहीं है। ब्रह्माण्ड कालातीत माना जाता है, इसके पहले एक और ब्रह्माण्ड था तथा उससे पहले कोई और भी था, अर्थात् यह

ब्रह्माण्ड अनन्त श्रृंखलाओं में से एक है, न कोइ पहला और न कोइ अन्तिम। ऋग्वेद की प्रसिद्ध 'सृजन की ऋचा' में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की सटीक गणना को अज्ञात छोड़ दिया गया है।

बन्धु-सिद्धान्त के समानान्तर ही क्वांटम यान्त्रिकी (quantum mechanics) में क्वांटम बन्धन (quantum entanglement) की अवधारणा भी है जिसके अनुसार सबसे बुनियादी स्तर पर अति सूक्ष्म कण परस्पर जुड़े होते हैं और जब किसी जोड़े का कोई कण अपना स्थान बदलता है तो तत्काल ही वह अन्य सभी कणों को प्रभावित करता है, चाहे उनमें आपस में कितनी ही दूरी क्यों न हो। इसी तरह सम्भवत: एक ऐसी व्यवस्था है जो एक दायरे अथवा आयाम को दूसरे से जोड़ती है तथा जन्मजन्मान्तर में एक व्यक्ति को दूसरे से जोड़ती है। नया जन्म लेने वाले व्यक्ति का भूतकाल एवं भविष्य का हिस्सा अन्य व्यक्तियों के भविष्य एवं अतीत के साथ उलझा हुआ होता है।[25]

किसी वस्तु की अच्छी अथवा बुरी विशेषताएँ इसलिए होती हैं क्योंकि वह किन्हीं गुणों से क्वांटम बन्धन की भाँति जुड़े होते हैं। यही कारण है कि कोई वस्तु वाँछनीय अथवा अवाँछनीय होती है। पवित्र वस्तुएँ जैसे 'विभूति' इसी भाँति ब्रह्माण्डीय बुद्धि से युक्त होती हैं, इसीलिए जब किसी व्यक्ति के माथे पर विभूति लगाई जाती है तो वह मात्र एक साधारण भौतिक पदार्थ नहीं होता, बल्कि उसके द्वारा कुछ विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न होते हैं। यहाँ तक कि तटस्थ इकाइयों के होते हुए भी आकाश सर्वत्र समान नहीं है, परन्तु स्थान-विशेष की प्रकृति अपनी स्थानीयता से अलग नहीं है और यही बात किसी स्थान-विशेष पर रहने वाले मनुष्यों को प्रभावित भी करती है।[26]

काल की गणना को समान इकाइयों में नहीं देखा जा सकता, उसमें एक बुनावट भी होती है। भिन्न-भिन्न कालखण्डों एवं क्षणों की अपनी विशिष्टता होती है। दिन भर में से कुछ घण्टे एवं सप्ताह में कुछ दिन शुभ या अशुभ (राहुकला) होते हैं। समय की कुछ विशिष्ट इकाइयाँ (युग) निश्चित प्रकार की बुराइयों अथवा राजनैतिक एवं धार्मिक उथल-पुथल को जन्म देती हैं (उदाहरण के लिए 'कलियुग,' जिसमें माना जाता है कि यह कालखण्ड आध्यात्मिक भ्रम एवं अध:पतन का समय है)।[27]

इस प्रकार पश्चिम की तत्वमीमांसा, जोकि स्थान एवं काल को अभौतिक इकाइयाँ मानती है, के विपरीत भारतीय धार्मिक परम्परा में काल एवं आकाश को 'धातु' (पदार्थ) माना गया है जो दूसरी वस्तुओं पर प्रभाव डालते हैं। इससे रामानुजन ने यह निष्कर्ष निकाला कि "भारतीय लोग आध्यात्मिक होते हैं की धारणा के विपरीत वास्तव में वे भौतिकतावादी होते हैं।" वे विषयवादी हैं और भौतिक वस्तुओं में विश्वास करते हैं। उनके व्यवहार में किसी सन्दर्भ से ले कर उस विषय तक, बाहर से अपने तक जैसे खाने में, श्वास लेने में, यौनक्रिया में, संवेदनाओं में, अवधारणाओं में, विचारों, कला एवं धार्मिक अनुभवों इत्यादि सभी में पदार्थ का एक निरन्तर प्रवाह बना रहता है।[28] रामानुजन का दावा कि समय और स्थान का दूसरी वस्तुओं से

क्वांटम बन्धन की अवधारणा के अनुरूप जुड़ने का यह विचार पश्चिम की भौतिकतावादी धारणा से मेल नहीं खाता, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अन्ततः ब्रह्म (या भगवान) की अभिव्यक्ति है, इसलिए इसे आध्यात्मिकता से अलग नहीं किया जा सकता।

धार्मिक तर्कों में मध्यम निहित है

कुल मिला कर देखा जाये तो धार्मिक विचारक अनिश्चितता के साथ सहज हैं और अनिश्चितता को एक तार्किक सिद्धान्त के रूप में भी प्रयोग करते हैं। जब हम पश्चिम की ओर मुड़ते हैं तो पाते हैं कि किस तरह अरस्तू का प्रसिद्ध नियम 'अपवर्जित मध्य' यह/वह का आनुपातिक तर्क पेश करता है (इसी अध्याय में आगे चल कर मैं इस तर्क का खुलासा विस्तार से करूँगा)। पूर्वी दर्शनशास्त्र में इस से जटिल परन्तु प्रखर तर्क की विविध समझ स्थान-स्थान पर प्रस्तुत की गई है।

उदाहरण के लिए जैन धर्म में ग़ैर-विलक्षण निष्कर्ष ('अनेकान्तवाद' सिद्धान्त) के मत की विषद व्याख्याएँ की गई हैं जोकि उनके अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं मौलिक सिद्धान्तों में विद्यमान है। यह सिद्धान्त बहुवाद और बहुलतावादी दृष्टिकोण को सन्दर्भित करता है जिसमें यह धारणा व्यक्त की गई है कि सत्य एवं वास्तविकता की विभिन्न अनुभूतियों को अलग-अलग बिन्दुओं से देख कर पाया जा सकता है, अर्थात् कोई भी दृष्टिकोण अपने-आप में पूर्ण नहीं है। इस प्रकार किसी सामान्य मन-बुद्धि द्वारा अपने-आप में अनन्त विशेषताओं को लिए परम सत्य को एकदम समझ सकना असम्भव है। एक ही सत्य को जानने के लिए भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा अलग-अलग पहलुओं पर विचार किया जाता है, अतः उनके परस्पर आंशिक निष्कर्ष एक-दूसरे के विरोध में दिखाई देते हैं। इस प्रणाली की कई शाखाओं में से एक है 'सम्भावनावादी तर्क' (शायद-वाद) जिसमें विश्लेषण का परिणाम सही अथवा गलत के अतिरिक्त कुछ और भी हो सकता है। 'शायद' शब्द का अर्थ व्युत्पत्तिशास्त्र के अनुसार 'सम्भव है' अथवा 'ऐसा हो सकता है,' परन्तु 'शायद-वाद' के सन्दर्भ में इसका अर्थ है 'कतिपय अर्थों में' अथवा 'किसी परिप्रेक्ष्य में।' यथार्थ बेहद जटिल है तथा कोई भी एकल प्रस्तावना इस यथार्थ की प्रकृति को पूरी तरह व्यक्त नहीं कर सकती। अर्थात् प्रत्येक विचार अथवा दार्शनिक प्रस्ताव से पहले इस 'शायद' को उपसर्ग के रूप में लगाया जाना चाहिए जिससे उस प्रस्तावित कथन में से किसी भी प्रकार की हठधर्मिता का विलोप किया जा सके। कोई भी सच अथवा घटना स्थायी नहीं होते क्योंकि ये कई अनिश्चित कारकों पर निर्भर रहते हैं।[29]

एक महत्वपूर्ण भारतीय बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने भी एक परिष्कृत तर्क पेश किया एवं उसी को आगे बढ़ाते हुए आदि शंकर ने वेदान्त में इसकी व्याख्या करते हुए कहा कि ब्रह्माण्ड एवं परम सत्य के बारे में मनुष्य की समझ सदा अधूरी एवं त्रुटिपूर्ण है जो नई जानकारी मिलने पर सदैव बदलती रहेगी।[30] वैदिक कथन कि ''सत्य

एक है परन्तु उसे विभिन्न तरीकों से व्यक्त किया जाता है,'' दूसरों के ज्ञान को भी सम्मान देने की सलाह देता है जोकि अन्त में सत्य प्रमाणित हो सकता है। भारतीय धार्मिक परम्पराओं में तर्कशास्त्र के कई प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदाय रहे हैं जो किसी भी अन्तिम एकल ज्ञान-मीमांसा के वर्चस्व को नकारते हैं (परिशिष्ट क्रमांक ''क'' में मैंने बौद्ध, हिन्दू एवं जैन दृष्टिकोण के लचीले तर्कों को स्पष्ट किया है)।

संस्कृत की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें किसी वस्तु को दूसरे से अलग दिखाने के लिए कम-से-कम 6 तरीके हैं, न कि केवल सही/गलत विकल्प। संस्कृत के उपसर्ग 'अ' का उपयोग कम-से-कम सात प्रकार की भिन्नताओं को व्यक्त करने के लिए किया जाता है, जिसमें—निषेध, लगभग (सन्निकट), अनुपस्थिति, भिन्नता (जो कि थोड़ी-बहुत समानता की अनुमति भी देता है), कमी/ह्रास, बुराई/अपात्रता/अनौचित्य/तमस तथा विपरीत/विरोधाभास सभी सम्मिलित होते हैं।[31] इसके विपरीत पश्चिमी अवधारणा में सारे प्रश्नों के उत्तर 'हाँ या नहीं' के द्वि-आधारी सिद्धान्त पर बिना विकल्प निर्भर हैं, जैसे 'सम्भव है' अर्थात अनिश्चितता या अनियत स्थिति नहीं होती।

वैज्ञानिक समस्याओं के प्रति भारतीय दृष्टिकोण एक व्यावहारिक विधि (algorithm) के प्रायोगिक निरीक्षणों के साथ प्रारम्भ होता है और यदि भविष्य में इसके परिणाम विरोधाभासी पाये जाते हैं तो यह विधि गलत भी सिद्ध हो सकती है। यह एक क्रियाशील अवधारणा है जिसका बेहतर परिणामों एवं निरीक्षणों द्वारा सुधार किया जा सकता है। इस पद्धति में कोई भी विधि अन्तिम नहीं होती तथा सभी विधियों का अस्थायी और प्रासंगिक होना व्यक्ति की चेतना पर निर्भर करता है। आध्यात्मिक विद्या में योगी अपने शरीर को एक प्रयोगशाला के रूप में प्रयोग करके इस प्रायोगिक प्रक्रिया को आत्मसात कर लेता है। इस प्रकार का प्रयोगसिद्ध दृष्टिकोण पश्चिम की यहूदी-ईसाई पद्धति से भिन्न है जिसमें अन्तिम सिद्धान्त को प्रतिपादित करने हेतु विरोधाभासी तरीकों का संघर्ष अनिवार्य है।

एक भौतिक विज्ञानी रोड्डम नरसिम्हा (Roddam Narasimha) ने भारतीय अनुभवजन्य दृष्टिकोण एवं पद्धति को अधिक व्यावहारिक माना है। वे लिखते हैं—''यूनानी दृष्टिकोण में विचारक स्वयंसिद्ध पद्धति एवं प्रतिरूप (मॉडल) बनाने का तरीका अपना लेते हैं (अर्थात् स्वयंसिद्ध या मॉडल → तार्किक अनुमान → अन्तिम प्रमेय या परिणाम), जबकि भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार दृश्य में पुन: पुन: उभरने वाले स्वरूप की जिज्ञासा तथा उसके अनुरूप नियम-प्रणाली बनाने की प्रक्रिया द्वारा दिया जाता है (अर्थात् निरीक्षण → नियम-प्रणाली → सर्वमान्य परिणाम)। भारतीय बौद्धिक दृष्टिकोण पश्चिम के स्वयंसिद्धता एवं मॉडलों पर आधारित सिद्धान्तों के प्रति गहन सन्देहों को उजागर करता है और अपनी विधि की उपयोगिता को दर्शाता है।''[32] वे आगे कहते हैं कि मान्य धारणा के विपरीत भारतीय खगोलशास्त्रियों ने अपने निरीक्षणों में उत्कृष्ट प्रदर्शन किया है। आर्यभट्ट द्वारा प्रतिपादित नियम-प्रणाली के

मानकों को सदियों तक बारम्बार बारीकी से अध्ययन किया गया तथा उनके परिणामों में स्थित विसंगतियों को खोज निकाला गया। 'सिद्धान्तों का सत्यापन' करना भारतीय दृष्टिकोण का एक प्रमुख हिस्सा रहा है। पश्चिम की प्रतिरूप (model) बनाने की संस्कृति जड़ एवं अन्त:संघर्षों से ग्रस्त है जिसके परिणामस्वरूप दावे और प्रति-दावे निर्मित होते रहते हैं।[33]

भौतिकी एवं गणित के शोधों में हाल ही में हुई प्रगति ठेठ अरस्तूकालीन मॉडलों के बजाय भारतीय धार्मिक तर्कसंगतता के अधिक अनुरूप है। न्यूटनकालिक भौतिकी की उपयोगिता सेमीकण्डक्टरों, लेज़र तथा अन्य उपकरणों के लिए आवश्यक भौतिकीय प्रक्रियाओं में सम्भव नहीं है। ये प्रक्रियाएँ क्वाण्टम यान्त्रिकी पर आधारित होती हैं जोकि अनिश्चितता पर निर्भर करती हैं। यह एक ऐसी खोज थी जिसने पश्चिमी दर्शनशास्त्र की नींव हिला कर रख दी, जबकि भारतीय दार्शनिकों को इस घटनाक्रम से कोई परेशानी नहीं हुई। यहाँ तक कि स्वयं आइंस्टीन भी क्वाण्टम भौतिकी में निहित अनिश्चितता से सामंजस्य बैठाने में सफल नहीं हुए और उन्हें यह टिप्पणी करनी ही पड़ी कि ''भगवान ब्रह्माण्ड के साथ पाँसे नहीं खेलता...।'' परन्तु हिन्दुओं की दिव्य आराध्य जोड़ी शिव एवं पार्वती खुशी-खुशी इन पाँसों से खेलते हैं। भारतीय दर्शनशास्त्र भौतिकी के अनिश्चितता के सिद्धान्त को सरलता से ग्रहण करता है। इन्हीं कारणों से क्वाण्टम यान्त्रिकी में अभिनव खोज के लिए नोबल पुरस्कार से सम्मानित वर्नर हाइजेनबर्ग (Werner Heisenberg: 1901-1976) तथा एरविन श्रोयडिंगर (Erwin Schrodinger: 1887-1961) जैसे बड़े वैज्ञानिक एवं पश्चिमी दर्शन के अग्रदूत भी हिन्दू दर्शनशास्त्र की ओर आकर्षित हुए और उन्होंने न्यूटोनियन तथा कार्टीज़ियन मॉडलों को अस्वीकार कर दिया। आधुनिक भौतिकी, जिसके अनुसार प्रकृति एवं ब्रह्माण्ड को कुछ विशिष्ट गणितीय समीकरणों के द्वारा वर्णित किया जा सकता है, जिसमें किसी निष्पक्ष पर्यवेक्षक की आवश्यकता नहीं होती, ने उस पुरातन न्यूटोनियन-कार्टीज़ियन सिद्धान्त को मात दे दी।

अपनी पुस्तक 'जीवन क्या है?' में श्रोयडिंगर लिखते हैं—

> ''प्राचीनकाल से उपनिषदों की यह मान्यता कि ''आत्मन् = ब्रह्मन (अर्थात् मैं ही सर्वव्यापी हूँ, सर्वज्ञ शाश्वत अहम्), संसार की घटनाओं को समझने की अन्तर्दृष्टि का प्रतिनिधि विचार माना गया, न कि एक भ्रष्ट विचार के रूप में। वेदान्त के सभी अध्ययनकर्ता विद्वानों ने इस अवधारणा को अपने होंठों के उच्चारण से सीखने के पश्चात् इनको अपने मनोमस्तिष्क में आत्मसात भी किया।''[34]

वैदिक सिद्धान्त की अभिन्न समग्र एकता ने उनकी सोच को स्पष्ट रूप से प्रभावित किया था जब उन्होंने यह लिखा कि—

> जिस जीवन को तुम अभी जी रहे हो वह केवल इस समूचे अस्तित्व का निरा भाग ही नहीं है, बल्कि एक निश्चित अर्थ में स्वयं सम्पूर्ण है, लेकिन यह सम्पूर्ण ऐसा गठित नहीं है जो पूरा एक नज़र में ही देखा जा सके। जैसा कि हम जानते हैं कि ब्राह्मण लोग वास्तव में बहुत ही सरल एवं स्पष्ट शब्दों में इसी अवधारणा को उस पवित्र एवं रहस्यवादी सूत्र 'तत् त्वम् असि' (तत्त्वमसि) के द्वारा व्यक्त करते हैं। अथवा पुन: इन शब्दों को इस तरह समझें कि, ''मैं ही पूर्व में हूँ, मैं ही पश्चिम में, मैं ही ऊपर हूँ और मैं ही नीचे भी, मैं ही यह समस्त संसार हूँ।''[35]

उनके जीवनीकार वाल्टर मूर (Walter Moore) के अनुसार वेदान्त के अपने अध्ययन और अपने वैज्ञानिक शोध के बारे में श्रोयडिंगर (Schrodinger) की समझ में एक स्पष्ट निरन्तरता थी...

> वेदान्त की एकता एवं निरन्तरता तरंग यान्त्रिकी (wave mechanics) की एकता और निरन्तरता में परिलक्षित होती है। 1925 में भौतिक विज्ञान के सम्बन्ध में विश्वदृष्टि एक महान मशीन के मॉडल जैसी थी जोकि अलग किये जा सकने वाले और एक दूसरे को प्रभावित करने वाले कणों से बना था। अगले कुछ वर्षों के दौरान श्रोयडिंगर (Schrodinger) एवं हाइजेनबर्ग (Heisenberg) तथा उनके शिष्यों ने एक दूसरे पर आरूढ़ अविभाज्य तरंगों की सम्भावना से युक्त एक ब्रह्माण्ड का प्रतिरूप बनाया। उनका यह नया दृष्टिकोण वेदान्तवादी 'एक में सभी समाहित हैं' की अवधारणा से मेल खाता है।[36]

श्रोयडिंगर ने 1925 में वेदान्त आधारित अपनी अन्तर्दृष्टि के बारे में लिखा है, जिसमें उन्होंने किसी प्रणाली की विविध एवं एकसाथ निरन्तर विद्यमान स्थितियों को समझने की सफलता का वर्णन किया है—

> ''परन्तु इस समाधान को शब्दों में व्यक्त करना आसान है—बहुलता जिसका हम अनुभव करते हैं वह मात्र एक आभास है, सत्य नहीं है। वैदिक दर्शनशास्त्र जिसमें यह एक मूलभूत सिद्धान्त है, उसे विभिन्न उपमाओं द्वारा स्पष्ट करता है। उनमें सर्वाधिक आकर्षक है एक बहुमुखी क्रिस्टल, जो वास्तव में एक वस्तु है, जिसके सैकड़ों छोटे-छोटे चित्र दिखाई देते हैं, लेकिन वह उस वस्तु को वास्तव में उतने गुना नहीं करता है।''[37]

इसी ऐतिहासिक लेख का एक और अंश इस प्रकार है—''आप एक क्षण में अचानक ही वेदान्त के मूल सिद्धान्त की सच्चाई समझ सकते हैं ज्ञान, संवेदना एवं विकल्प मूलत: शाश्वत् और अपरिवर्तनीय हैं तथा संख्यात्मक रूप से यह एक भाव न केवल सभी मनुष्यों में, बल्कि सभी संवेदनशील प्राणियों में समान रूप से विद्यमान है।''

अन्त में श्रोयांडिंगर वैदिक दर्शन एवं आधुनिक भौतिकी के बीच एक दिलचस्प अनुरूपता के बारे में बताते हैं—''यदि हम अर्नेस्ट माख (Ernst Mach: 1838-1916) द्वारा प्रस्तुत विचार को पुन: देखें तो हमें विश्वास होगा कि यह उपनिषदों में पेश किये गये परम्परावादी सिद्धान्तों के इतना निकट दिखता है, भले ही ऐसा स्पष्ट शब्दों में व्यक्त न किया गया हो। बाह्य विश्व और चेतना, दोनों एक ही हैं।''[38]

हमारे समय के क्वाण्टम भौतिकी के एक अग्रणी वैज्ञानिक जॉन व्हीलर (John Wheeler: 1911-2008) लिखते हैं—''मैं यह सोचता हूँ कि कोई इसका पता अवश्य लगायेगा कि आखिर किस तरह से गहन भारतीय चिन्तन यूनान तक पहुँचा और फिर वहाँ से इसने हमारे समय के दर्शनशास्त्र तक राह बनाई।''[39]

विज्ञान के आधुनिक दर्शन को वैदिक ज्ञान ने एक महत्वपूर्ण योगदान दिया है जिसके अनुसार निरीक्षण करने वाला पर्यवेक्षक (अर्थात् चेतना) अवलोकित की जाने वाली वस्तु को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह वही पहले उल्लिखित विषय है जिस पर आइंस्टाइन और टैगोर के बीच असहमति हुई थी। पश्चिम में वेदान्त सिद्धान्त ने मानव चेतना के अध्ययन को एक सफल क्षेत्र बनाया है। अनिश्चितता से जुड़ी धार्मिक धारणाओं में प्रामाणिक तर्कों की सीमाओं के विचार उपलब्ध हैं। जब 1930 में गोयडेल (Godel) ने अपने प्रमेय सिद्धान्त को, कि किस तरह विभाजक तर्क (deductive logic) की प्रणाली को अन्त में अधूरा ही रहना पड़ता है, प्रदर्शित किया तब प्राचीन भारतीय तर्कशास्त्रियों की बात अपने-आप ही सिद्ध हो गई।

इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राचीनकाल में भारतीयों ने क्वाण्टम भौतिकी के सिद्धान्तों को विकसित कर लिया था अथवा गोयडेल के प्रमेय को सिद्ध कर दिया था, बल्कि ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह आधुनिक प्रयोग एवं आविष्कार भारतीय धार्मिक दर्शनशास्त्र के साथ सुसंगत हो रहे हैं तथा इस धार्मिक दर्शन का आध्यात्मिक स्वभाव इस तरह के आविष्कारों के निहितार्थ एवं उनके विस्तार हेतु खुला हुआ है। किसी भी जटिल समस्या को समझने (जिसमें विविध दृष्टिकोण तथा अनिश्चित परिणाम भी शामिल हैं) हेतु भारतीय धार्मिक बहुलतावाद एक ठोस नींव का कार्य करता है, फिर चाहे वह तत्वमीमांसा, भौतिक विज्ञान, अथवा मानविकी हो।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि सनातन धार्मिक दर्शन में प्रतिवाद का उपयोग सत्य के निकट तक पहुँचने के लिए पश्चिम की अपेक्षा अधिक किया जाता है। किसी सकारात्मक वक्तव्य को पूर्व में निर्दिष्ट सात प्रकार के प्रतिवादों में से किसी एक के पक्ष में अस्वीकार कर दिया जाता है, ताकि यह रेखांकित किया जा सके कि अन्तिम सत्य इन सरल श्रेणियों के परे भी हो सकता है। अन्तिम सत्य केवल निरा पदार्थ, सीमित और पूरी तरह से सर्वव्यापी नहीं है। जब अन्तिम सत्य सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया जाता है तब 'अद्वैत सिद्धान्त' को एकत्ववाद (एकता) के मुकाबले अधिक वरीयता प्रदान की जाती है।[40] ऐसा प्रतिवाद नैतिकता के क्षेत्र में भी लागू है, अर्थात् यह कहना कि ''मैं तुम्हें नुकसान नहीं पहुँचाना चाहता,'' ''मैं तुम्हारी सहायता

करना चाहता हूँ'' से अधिक सकारात्मक सम्भावना प्रदान करता है, ठीक उसी तरह, जैसे ''मैं तुमसे घृणा नहीं करता हूँ,'' ''मैं तुम्हें गले लगाना चाहता हूँ'' की भावना से अधिक अर्थ प्रदान करता है। इसी तरह बौद्ध एवं हिन्दू धर्म में अहिंसा (चोट नहीं पहुँचाना) का अर्थ दया, दान इत्यादि से भी अधिक है।

सनातन धार्मिक परम्पराओं में जब विचारों को तथ्यों के रूप में स्वीकारना कठिन होता है तब धर्म में ऐसी प्रवृत्ति है कि उन्हें पूर्णतया निष्कासित या खारिज किये जाने के बजाय उन विचारों को दृष्टान्त के रूप में समायोजित कर लिया जाता है।[41] उदाहरण के लिए पश्चिमी लोगों के मुकाबले हिन्दू मिथकों एवं शास्त्रों के ज़रिये अपनी संस्कृति के बौद्धिक पहलुओं को आसानी से ग्रहण कर लेते हैं। हिन्दुओं के लिए इन मिथकों और धर्मग्रन्थों की ऐतिहासिकता अथवा तर्क उनके व्यावहारिक मूल्यों तथा आध्यात्मिक अर्थों की अपेक्षा अप्रासंगिक हैं। ये विविध ग्रन्थ काव्यात्मक रूप में उनके भीतरी अर्थों को आत्मसात करते हुए पढ़े जा सकते हैं। जैसे भगवद्गीता की घटना को ही ले लें जहाँ वास्तव में पाण्डवों एवं कौरवों के बीच कुरुक्षेत्र नामक स्थान पर युद्ध हुआ हो या नहीं, यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि आदिकाल से चलने वाले धर्म और अधर्म के बीच संघर्ष का विचार, जो हमेशा चलता रहता है।

परिदृश्य एवं सापेक्ष ज्ञान

सभी भारतीय धार्मिक दर्शन अभिव्यक्ति की सीमाओं का पता लगाते हैं। वास्तविकता बहुत जटिल मानी जाती है, जिसे एक विवरण या अनेक वक्तव्यों से भी व्यक्त नहीं किया जा सकता।[42] धार्मिक प्रणालियों में इस बात पर बल दिया जाता है कि सत्य प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी धारणाओं, पूर्ववृत्ति तथा प्रत्येक की सम्पूर्ण दशा-अवस्था के साथ-साथ पूर्व जन्मों के प्रभाव पर भी निर्भर करता है। ऋग्वेद की सुप्रसिद्ध पंक्ति के अनुसार ''सत्य एक है, विद्वान इसे भिन्न-भिन्न नाम देते हैं'' इस ज्ञान की पुष्टि करता है कि विभिन्न बहुलतावादी दृष्टिकोणों से ही ऐसा हो सकता है।[43] जैसे कि अँधों और हाथी की प्रसिद्ध कहानी में दर्शाया गया है कि छः अँधे व्यक्तियों को (जो नहीं जानते थे कि वे हाथी को छू रहे हैं) एक अंग छू कर उसकी सही पहचान करने को कहा जाता है। वे हाथी के भिन्न-भिन्न अंगों को छू कर अनुमान लगाते हैं कि यह क्या हो सकता है और अन्त में वे अपने-अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं, जिनमें कोई भी पूर्णतया सही नहीं होता। कहानी का सारतत्व यही है कि सभी दृष्टिकोण आपस में सापेक्ष्य हैं और पूर्ण सत्य किसी भी दृष्टिकोण से परे है। इस कहानी के व्यक्तियों की अज्ञानता प्रतिनिधि रूप में ऐसे सभी दृष्टिकोणों के सापेक्ष्य एवं अपूर्ण होने के तथ्य को बताती है, जबकि छः अँधे व्यक्तियों की संख्या पाँच इन्द्रियों एवं मन का प्रतीक है, जिनमें से अकेले कोई भी इन्द्रिय सत्य की परख करने में सक्षम नहीं है।

हमारी अपनी संस्कृति एवं व्यक्तिगत अवस्था ही उस बौद्धिक परिदृश्य का निर्माण करती है जिसके अनुसार हम इस संसार को देखते हैं। हम अपनी भाषा में विभिन्न

घटनाओं का चयन करके उन्हें समूहों में इस प्रकार व्यवस्थित करते हैं ताकि वे इस संसार की परिस्थितियों के अनुकूल दिखाई दें। संस्कृत में 'फ़िलॉसोफ़ी' (philosophy) के लिए 'दर्शन' सबसे निकट शब्द है जिसका अर्थ है 'परिदृश्य,' जैसा किसी कोण से देखने में दिखाई देता है। वास्तविकता के कई परिदृश्य हैं जोकि इस बात पर निर्भर करता है कि देखने वाला व्यक्ति कहाँ पर स्थित है और किस भाषा का प्रयोग कर रहा है, परन्तु परम सत्य को किसी भी एक परिदृश्य से पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता, क्योंकि प्रत्येक दृश्य सीमित है। अत: यह अपेक्षित है कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण विविध एवं एक दूसरे से अलग होंगे। परम सत्य केवल उस अवस्था का उल्लेख करता है जोकि अन्तिम है और जिसके पार जाया नहीं जा सकता। यह किसी एक दर्शन द्वारा वर्णन करने योग्य नहीं है, इसलिए धार्मिक परम्पराओं में हम इसे 'अकथ्य या अवर्णनीय' कहते हैं। अधिक से अधिक यह हो सकता है कि निम्नांकित में कुछ संयोजनों के माध्यम से हम उस सत्य के निकटतम पहुँच सकें—

1) कुछ ऐसे दिशासूचक जो सत्य का सटीक वर्णन तो नहीं कर सकते, परन्तु इसकी प्रकृति के बारे में कुछ संकेत देते हैं;
2) कुछ ऐसी व्यावहारिक पद्धतियाँ जो संज्ञान से परे के अनुभव की अनुभूति करवाने के लिए जानी जाती हों;
3) कुछ ऐसी प्रतीकात्मक अथवा काव्यात्मक भावनाएँ जो सत्य के अनुभव को समझाने में कुछ हद तक सक्षम सिद्ध हो सकें;
4) सत्य की किसी विशिष्ट रूपरेखा का एक 'निकटतम प्रतिनिधित्व' अथवा दर्शन (हालाँकि कोई भी प्रतिनिधित्व सही नहीं हो सकता, नहीं तो वास्तविकता वर्णन करने योग्य हो जायेगी)।

पूर्ण (परम) स्वतन्त्रता का अर्थ है सभी प्रकार के (सीमित) दृष्टिकोणों से स्वतन्त्रता। पश्चिम में यह प्रवृत्ति रही है कि विसंगतियों को बाधा के रूप में देखा जाता है, जबकि विभिन्न प्रकार के सीमित दृष्टिकोण एवं उनकी सत्यता को इस स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपकरणों के रूप में उपयोग किया जाना चाहिए। वास्तविकता की अवधारणा को किसी पूर्ण अर्थ में देखने का प्रयास हमेशा ही सीमित ज्ञान और अहंकार की बाधा (तथा इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई विकृतियाँ) से ग्रस्त रहता है। ऐसे प्रयासों के परिणामस्वरूप असहिष्णुता, स्वार्थ एवं निष्पक्ष दृष्टिकोण रखने की अक्षमता ही पनपती है। यही कारण रहा कि बुद्ध ने अनुयायियों को एक प्रायोगिक धर्म की शिक्षा दी जिसका व्यक्तिगत अनुभव से परीक्षण किया जा सकता है। धार्मिक परम्पराएँ इसी तरह सिखाई जाती हैं जिनमें आध्यात्मिक रुझान वाले व्यक्ति इनका स्वयं आत्म-परीक्षण कर सकें। अन्त में इसे भी छोड़ दिया जाता है जैसे नदी को पार करने के लिए बनाया गया अस्थायी बेड़ा छोड़ दिया जाता है। धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र

एवं धार्मिक ग्रन्थ इस सत्यानुभव को प्राप्त करने में उपयोगी प्रायोगिक भूमिका निभा सकते हैं, परन्तु केवल मार्गदर्शक के रूप में ही।

साधकों की विविध संज्ञानात्मकता भी अलग-अलग क्षमताओं एवं रुचियों को दर्शाती है। श्री अरविन्द बताते हैं कि दृष्टिकोणों की यह विविधता कैसे इस ब्रह्माण्ड की विविधता का एक हिस्सा है—

> ''प्रकृति का वास्तविक उद्देश्य समृद्ध विविधता द्वारा सच्ची एकता को आधार देना है। प्रकृति का रहस्य इसी में स्पष्ट निहित है कि वह जीवन का सामान्य ढाँचा तो निर्मित करती है, परन्तु साथ ही उसका आग्रह एक अनन्त विविधता पर भी होता है। मनुष्य रूप के लिए उसकी एक योजना है, किन्तु कोई दो व्यक्ति अपनी शारीरिक क्षमताओं एवं विशेषताओं में बिलकुल एक जैसे कभी नहीं होते। मानव की प्रकृति उसके अपने घटकों एवं भव्य ढाँचे में एक समान है, लेकिन कोई दो व्यक्ति अपने स्वभाव, विशेषताओं तथा मन:स्थिति में कभी बिल्कुल एक जैसे नहीं होते। प्रकृति में समग्र जीवन उसकी बनाई योजना एवं सिद्धान्तों के अनुसार एक है, यहाँ तक कि पौधा भी जीव के सहचर के रूप में पहचाना जाता है, परन्तु जीवन की एकात्मता, अनन्त प्रकारों के नमूने स्वीकार और प्रोत्साहित करती है।''[44]

भारतीय दर्शन में भी सत्य के परिप्रेक्ष्य का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है जहाँ प्रत्येक सम्प्रदाय एक दर्शन है अथवा सत्य का प्रत्यक्ष, तात्कालिक एवं सहज ज्ञान दृष्टा है। हालाँकि प्रत्येक दर्शन एक दृष्टिकोण मात्र है और उसे अन्य दृष्टिकोणों की सम्भावित वैधता को स्वीकारना होता है। इन परम्पराओं में 'परम सत्य' के अनन्त पहलू हैं, परन्तु इन अनन्त रूपों में से कुछ का ज्ञान अथवा अनुभव तभी किया जा सकता है जब चेतना की उच्चतम स्थितियाँ उपलब्ध हों। क्योंकि 'वास्तविकता' बहुमुखी एवं अनेक परतों में बताई जाती है, अत: कई विद्वान हिन्दू धर्म को बहुदेववादी कह कर उसकी दुर्व्याख्या करते हैं। वे इस बात को नहीं समझते कि बहु-देव वास्तव में अभिन्न एकता के ही कई स्वरूप हैं।[45]

हालाँकि परम सत्य निराकार एवं संकल्पना से परे है, परन्तु कम-से-कम मनुष्य देवी-देवताओं के प्रत्यक्ष रूप का सहारा ले कर उस सत्य के आसपास पहुँच तो सकते हैं। हिन्दू धर्म में प्रत्येक देवता के वृत्तान्त की विविध कथाएँ विकल्प के रूप में उपलब्ध हैं। यह आवश्यक नहीं है कि ये आख्यान शाब्दिक इतिहास के रूप में लिए जायें अथवा काल एवं परिस्थिति के व्यावहारिक दायरे में एकदम बिठाए जा सकें। 'दर्शन' शब्द, मन्दिर में देवता की सम्मानपूर्ण आराधना (एवं व्यक्ति के भक्तिभाव) के लिए भी उपयोग किया जाता है। प्रत्येक देवता की असंख्य व्याख्याएँ तथा भक्ति विविध रूपों में उपलब्ध हैं, जिसका प्रमाण हैं 'गणेश' अथवा 'काली' की अद्भुत विविधतापूर्ण अवधारणाएँ।[46] चूँकि सभी विवरण परस्पर सापेक्ष्य हैं, अत: परमेश्वर की व्याख्या पुरुष के रूप में भी हो सकती है और महिला के रूप में भी,

महिला-पुरुष दोनों रूपों में भी, न ही नर और न ही नारी के रूप में भी और यहाँ तक कि किसी भी लिंग से परे भी इसकी व्याख्या हो सकती है। नारी के रूप में परमेश्वर के कई निरूपण हैं; वास्तव में सिर्फ़ भारतीय धार्मिक परम्पराओं में ही परमेश्वर के नारी रूप को ले कर विस्तृत धर्मशास्त्र उपलब्ध हैं।

इसी सापेक्ष्य सन्दर्भ में देखा जाये तो कई धार्मिक अनुष्ठान एक पवित्र नाटक के रूप में दिखाई देते हैं। ऐसे अनुष्ठान के निष्पादन में सभी इन्द्रियों का प्रयोग किया जाता है, जैसे दृश्य वस्तुएँ, ध्वनि, सुगन्ध, क्रियाएँ, स्पर्श तथा स्वाद इत्यादि। ऐसे सभी अनुष्ठान हमारी सोच-समझ के दायरे को (रूपकों के माध्यम से) समृद्ध करते हैं और हम विभिन्न बौद्धिक, भावनात्मक तथा वैचारिक रूपों के माध्यम से बुद्धि के उच्च स्तर तक एक असाधारण पहुँच बनाते हैं। पश्चिमी लोग इस तरह के धार्मिक अनुष्ठानों की बहुआयामी विषय-वस्तु के अभ्यस्त नहीं होने के कारण इन क्रियाओं को 'बहुदेववादी अव्यवस्था' कह कर ख़ारिज करते रहते हैं।

इस प्रकार धार्मिक परम्पराओं में गहरी अनुभूतियों द्वारा सभी ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी निरूपणों को सजीव अभिव्यक्तियों एवं अनुमानों के रूप में देखा जाता है, न कि ऐतिहासिक व्यक्तियों की प्रतिकृतियों और कथानकों के रूप में।[47] ये सीमित क्षमता के मनुष्य को परम सत्य को जानने-समझने में सहायता करते हैं। विशाल विविधतापूर्ण निरूपण भारतीयों का प्रतीकों, विविध प्रयोगों, कलाओं और साहसिकता के प्रति गहरा लगाव दिखाता है, वहीं कोरे शब्दार्थ तथा रंगहीन चित्रण के प्रति अवहेलना का भाव भी प्रदर्शित करता है। विपुल एवं रंगीन संस्कृति की यह गूँज आसानी से अनुभव की जा सकती है (उदाहरण के लिए आज की पॉप संस्कृति और बॉलीवुड में)।

इस प्रकार के चित्रणों का निरूपण किसी असन्तोष अथवा विद्रोह का परिणाम नहीं है और न ही यह पहले से चली आ रही प्रथाओं का अधिक्रमण है। ये केवल ईश्वर के असंख्य रूप होने की पुष्टि करते हैं। धार्मिक परम्पराओं में काफ़ी हद तक सभी प्रकार की वैचारिक प्रणालियाँ कार्यरत रहती हैं। यहाँ प्रयोजन विचारों को उलटने का नहीं, बल्कि उभरते विचारों में सामंजस्य लाने का होता है। यहाँ तक कि असन्तोष अथवा असहमति को भी परम्परा में आंशिक दृष्टिकोण के रूप में समाहित कर लिया जाता है।[48] जो धार्मिक कृत्य और प्रचलित तौर-तरीकों को अपनाये रहना चाहते हैं उन्हें यह पद्धति रूढ़िवादी या बेकार घोषित किये बिना निरन्तरता प्रदान करती है तथा साथ ही सत्य को जानने के दूसरे रास्तों को प्रामाणिक भी सिद्ध करती है।[49]

सनातन धार्मिक परम्पराओं में ईश्वर का प्रतिनिधित्व करने की हमारी सीमित क्षमता को तर्क शक्ति की भूमिका तक ले जाया गया है। पूर्व के संस्कारों के परिणामस्वरूप परम सत्य का कोई भी पहलू सापेक्ष्य, आंशिक एवं त्रुटि की सम्भावना सहित ही होगा। तर्क को प्रारम्भ से ही महत्वपूर्ण माना गया है, भले ही वह

अपने-आप में चेतना के उच्च स्तर एवं सत्य के प्रकाश तक जाने में सक्षम न हो। ट्रॉय विल्सन ऑर्गन (Troy Wilson Organ) ने इस बात को व्यक्त किया है कि किस प्रकार धार्मिक परम्पराओं की प्रणाली सभी प्रकार की विविधताओं के होते हुए भी हिन्दुओं की एकता को सहारा देती है।

भिन्न प्रकार के सम्पूर्ण कारक, जैसे रक्त समूह, भाषा, पन्थ, व्यवसाय, उपासना-पद्धति इत्यादि, सामाजिक समूहों को एकता प्रदान करते हैं। इसलिए सभी हिन्दू एकता की खोज के द्वारा एकजुट हैं। भारत जैसे देश को विभिन्न प्रकार के विघटनकारी तत्वों, जैसे दर्जन भर से अधिक भाषाएँ, बीसियों पन्थ और सम्प्रदाय तथा हज़ारों जाति समूहों का सामना करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं के प्राथमिक मानवीय रिश्तों पर बल देने के सिद्धान्त से राष्ट्र की आधुनिक अवधारणा मेल नहीं खाती। इसके बावजूद हिन्दू धर्म में एक विशेष तत्व—स्वयं की एकीकृत खोज—ऐसा है जिस पर एकजुट भारत का निर्माण किया जा सकता है। हिन्दू धर्म का सिद्धान्त है 'आत्मीयता,' न कि पृथक्कीकरण का भाव। श्री कृष्ण ने इसी सिद्धान्त को गीता में व्यक्त किया है, जब वे अर्जुन को याद दिलाते हैं कि ''कोई भक्त किसी भी प्रकार की आस्था से पूजा-भक्ति करना चाहता है तो वे उस आस्था को स्थायी करते हैं'' (7:21)। हिन्दू धर्म मनुष्य में पूर्णता की खोज के लिए एक साधना है।[50]

भारतीय परम्परा सापेक्ष्य सत्य को भी स्वीकार करती है। यहाँ किसी सत्य को पूरा झूठा अथवा दोषी (ईसाई मत की तरह) साबित नहीं किया जाता, अपितु ऐसा माना जाता है कि यह मानव मन-बुद्धि के सीमित संज्ञान का एक प्रतिबिम्ब है। मनुष्य जो भी जानता-सीखता है वह अनेक सन्दर्भों के सापेक्ष्य होता है तथा उसे किन्हीं आज्ञाओं, सिद्धान्तों अथवा सार्वभौमिक/मानक नियमों के तहत बाँधा नहीं जा सकता। पूर्ण एवं सापेक्ष्य दोनों प्रकार के सत्य का अपना-अपना स्थान है। धर्म के अनुसार विभिन्न व्यावहारिक वास्तविकताओं को समझने एवं उनका सामना करने में सापेक्ष्य सत्य हमारी सहायता करता है। यह सिद्धान्त पश्चिम के उन तमाम आरोपों को स्वत: ही झूठा साबित कर देता है जिसके अनुसार बौद्ध एवं हिन्दू धर्म संसार को नकारने वाले अथवा सामाजिक व नैतिक रूप से ग़ैर-जिम्मेदार और अव्यावहारिक दृष्टिकोण वाले हैं।[51]

स्वतन्त्रता एवं बहुलता

पूर्व एवं पश्चिम में एक समान आकांक्षा है कि दोनों सीमाओं एवं बन्धनों से मुक्ति चाहते हैं। पश्चिमी परम्पराएँ इस संसार में सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक स्वतन्त्रता के पहलुओं तथा आगे चल कर पापों एवं मृत्यु से मुक्ति पर बल देती हैं। पश्चिमी परिप्रेक्ष्य के अनुसार भारतीय धार्मिक परम्पराएँ निष्क्रिय, भाग्यवादी एवं निराशा से भरी हैं। हालाँकि जब हम अपनी दृष्टि को उलटते हैं तो एक अलग ही तस्वीर उभरती है। धार्मिक परम्पराएँ स्वयं को पश्चिमी पूर्वाग्रहों से मुक्त जैसा पाती हैं,

पाप एवं अपराध बोध के बोझ तले दबी हुई नहीं हैं और न ही किन्हीं ऐतिहासिक दृष्टान्त, संस्थागत सत्ता अथवा धार्मिक विशिष्टता से बँधी हुई हैं।

अन्तर्मन द्वारा आत्मज्ञान प्राप्ति की स्वतन्त्रता

यहूदी-ईसाई मतों से सनातन धार्मिक परम्पराएँ बिलकुल अलग है जिनके अनुसार हर मानव अपनी स्वयं की आध्यात्मिक व धार्मिक विधाओं के द्वारा एक जीवन्त ऋषि, जिन, अरिहन्त अथवा बोधिसत्व बन सकता है। व्यक्ति की यह क्षमता कई पवित्र ग्रन्थों के मूल में अवस्थित है।

आध्यात्मिक सिद्ध पुरुष नये प्रकार की अन्तर्दृष्टि की खोज अनन्त प्रकार से कर सकते हैं। भारत में हमेशा ही असंख्य आध्यात्मिक परम्पराओं, विविध इतिहास, अनेक साधना पथ, अनुष्ठानों, प्रतीकों, देवताओं एवं समुदायों की बहुतायत रहेगी। मूल स्रोतों एवं ग्रन्थों की यह एक विस्फ़ोटक बहुलता, यहूदी-ईसाई मतों के सीमित सिद्धान्तों, आज्ञाओं एवं भविष्यवाणियों में संग्रहीत ज्ञान से बहुत उच्च स्तर की है। धर्मग्रन्थों से भरे विशाल पुस्तकालयों में विभिन्न व्यक्तियों एवं परम्पराओं द्वारा प्राप्त अनुभवजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान एवं सदियों से होता आया आपसी वाद-विवाद संकलित है। इस आध्यात्मिक अनुभव का ज्ञान इस प्रकार किसी के अनुभव को नकारे बिना संचित होता चला गया, यद्यपि बदलते समय के साथ कुछ परम्पराएँ स्वाभाविक रूप से कमज़ोर पड़ कर लुप्त हो सकती हैं। भारतीय धार्मिक परम्पराओं में ऐसी कोई घटनाएँ नहीं हैं जिनमें संस्थागत एवं संगठित रूप से धार्मिक पुस्तकें जलाई गई हों। ये परम्पराएँ बिना किसी अन्तिम निष्कर्ष को निकाले हुए ज्ञान के मुक्त स्रोत का एक खुला मंच हैं, इसलिए यहाँ हमेशा नये विचारों एवं अनुभवों के लिए स्थान रहता है। समय के साथ परम्पराएँ बदलती हैं, परन्तु फिर भी उनकी निरन्तरता उन्हें प्राचीन, आधुनिक एवं उत्तर आधुनिक काल के विचारों के साथ आराम से समन्वित करती है। विभिन्न परम्पराएँ एक-दूसरे को प्रभावित भी करती हैं तथा उनमें गहन रूप में आपसी आदान-प्रदान भी होता रहता है।

परम्पराओं में सत्य की खोज का कार्य नियमित चलने वाले आध्यात्मिक अभ्यास (साधनाओं) से अलग नहीं है, जिसका उद्देश्य मानव की पीड़ा-निवारण एवं उसे ज्ञान का प्रकाश दिखाना है। यह सिद्धान्त पश्चिम द्वारा आन्तरिक परिवर्तन की अपेक्षा जानकारी को प्राथमिकता देता है। परमात्मा को पाने के लिए धार्मिक परम्पराएँ विभिन्न अटकलों को अस्वीकार करती हैं।[52]

भारतीय धार्मिक ज्ञान को 'श्रुति' (अनुभूत ज्ञान), 'मत' (राय अथवा सिद्धान्त), 'वाद' (तर्क या परिदृश्य), 'सिद्धान्त' (सिद्ध तथ्यवाद), 'शास्त्र' (अच्छी तरह स्थापित दृष्टिकोण जो हमें दिशानिर्देश देते हैं), तथा 'स्मृति' (ऐतिहासिक दस्तावेज) में वर्गीकृत किया जाता है। जब मुझसे पूछा जाता है कि हिन्दुओं की बाइबल कौन-सी है तब मेरा उत्तर हमेशा यही होता है कि हिन्दू धर्म में केवल एक पुस्तक नहीं, समूचा पुस्तकालय

है। किसी भी जटिल ज्ञान के भण्डार के लिए एक से अधिक पुस्तक की आवश्यकता होती है। हालाँकि यहूदी-ईसाई परम्पराओं में उनके सम्बन्धित शास्त्रों पर बड़ी संख्या में टिप्पणियाँ की गई हैं, फिर भी उनकी स्थापना के बाद से ही प्रत्येक में स्थायी और अपरिवर्तनीय सिद्धान्तों को स्थिर मनवाने का सतत् प्रयास किया गया है। कोई भी एक ऐतिहासिक पुस्तक जिसे विशेष रूप से अन्तिम सत्ता-केन्द्र माना गया हो भारतीय धार्मिक परम्पराओं में नहीं है।[53] वास्तव में लिखित शास्त्र को हिन्दू धर्म में विविध प्रकार के सीधे मौखिक सम्प्रेषण के सामने बेहद गौण माना गया है।[54] क्योंकि तर्क एवं निरूपण को परिस्थितिजन्य एवं सापेक्ष्य रूप में देखा जाता है, इसलिए विविध पन्थों, शास्त्रों एवं आध्यात्मिक साधनाओं को सिद्धान्त में जकड़ने का कोई अर्थ नहीं है।

पूर्वाग्रहों एवं कर्म से मुक्ति

धर्म का निहितार्थ अन्ततः विभिन्न तरीकों का उपयोग करते हुए मनुष्य को कर्म के बन्धन से मुक्ति दिलाना है। यह व्यक्ति को 'सत्-चित्-आनन्द' (अर्थात आनन्दमयी चेतना का उच्चतम स्तर) की स्थिति में ले जाता है, जिसमें वह उन परिस्थितियों के अनुसार सहज ही कर्म करता है (जोकि उसके कर्मों के वेग से संचालित होते हैं)। एक बार उस स्थिति में पहुँच जाने के पश्चात् कोई नया कर्म उस व्यक्ति के खाते में जमा नहीं होता, क्योंकि एक कर्ता के रूप में वह समस्त अहंकारों से मुक्त हो चुका होता है। उसके पिछले कर्म भी धीरे-धीरे शिथिल हो कर समाप्त हो जाते हैं।

बौद्ध धर्म में भी इसी प्रकार की समान अनुभूति है कि ब्रह्माण्ड में सभी वस्तुओं का क्षणभंगुर एवं प्रासंगिक अस्तित्व है और ये सभी वस्तुएँ जिनमें भूतकाल, वर्तमान एवं भविष्य भी सम्मिलित हैं, आपस में एक-दूसरे से जुड़ी हैं। ब्रह्माण्ड में कोई भी भौतिक अथवा वैचारिक इकाई ऐसी नहीं है जिसे सभी से अलग-थलग रखा जा सके। यह बोध व्यक्ति को उन वस्तुओं के बन्धन से मुक्त करता है जो वास्तविक रूप से अन्ततः उपस्थित ही नहीं है और जिनकी खोज दुःख भोगने का अपरिहार्य कारण बनता है। बौद्ध धर्म का यह श्रेष्ठता भाव व्यक्ति के लिए इस सापेक्ष्य संसार से मुक्ति लाता है और वह अपने शरीर के रहते 'निर्वाण' की स्थिति भी पा लेता है।

पश्चिम की मिथ्या अवधारणाओं के विपरीत 'कर्म' उन अर्थों में 'भाग्यवाद' नहीं है जिसमें कोई बाहरी शक्ति मानव को उसकी स्वाधीनता से वंचित रखती हो। इसी मिथ्याबोध के कारण भारतीय धार्मिक सभ्यता के बारे में पश्चिमी समझ विकृत है। जबकि सच्चाई यह है कि कर्म का सिद्धान्त फल (परिणाम) की चिन्ता किये बिना निरन्तर कार्य करने की चुनौती है। योग के सिद्धान्तों में 'कर्मयोग' नाम से एक पूरी शाखा है जिसमें मनुष्य को आध्यात्मिक व्यवहार के द्वारा सत्कर्मों की ओर प्रेरित किया जाता है। इसमें मनुष्य किसी विलम्बित सुपरिणाम की लालसा से कर्म नहीं करता बल्कि वह सत्कर्म के प्रयोजन के लिए ही कर्म करता है, ताकि वर्तमान में अहंकार आधारित उसकी धारणाओं से उसे मुक्ति प्राप्त हो।

अन्य कई विद्वानों की तरह श्री अरविन्द भी यही मानते हैं कि मनुष्य की विकास-यात्रा में 'मानवता' ही वह मंच अथवा प्रारम्भिक बिन्दु है जहाँ से ब्रह्माण्ड एकत्व की ओर वापस लौटना आरम्भ करता है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो ब्रह्माण्ड की बहुलता के बीच मनुष्य ही वह कारक है जो उसे अभिन्न एकता की ओर वापस ले जाता है।[55] अत: यह कहना हास्यास्पद है कि हिन्दू धर्म में कारक का अभाव है। इस प्रकार की विश्वदृष्टि के महत्वपूर्ण सामाजिक प्रभाव होते हैं। ऑर्गन (Organ) लिखते हैं कि—

> ''महान उपनिषदों के कथनों में हिन्दू धर्म उस परम एकीकरण को खोजता है जो कहता है कि 'तत्वमसि' और 'अयमात्म ब्रह्म।' कोई 'वह तत्' मूलत: 'तत्वं' ही है और ब्रह्म में सब समाहित हैं। मनुष्य पूछता है कि मुझे अपने पड़ोसी को अपनी तरह क्यों समझना चाहिए? हिन्दू धर्म में इसका निर्णायक और सटीक उत्तर है, 'क्योंकि तुम्हारा पड़ोसी तुम स्वयं ही हो, तुम्हारा वास्तविक आत्मस्वरूप।' यह आधुनिक समय की सबसे महत्वपूर्ण समस्या के निदान हेतु एक संकेत सिद्ध हो सकता है कि राष्ट्रों की विविधता के बीच मनुष्य की एकता को कैसे प्राप्त किया जाये।''[56]

इतिहास एवं संस्थागत सत्ता-तन्त्र से मुक्ति

हिन्दू परम्पराओं में यीशु के समान चेतना का उच्च स्तर हम में से हर कोई प्राप्त कर सकता है एवं यह स्थिति प्राप्त करने के लिए हमें किसी ऐतिहासिक घटना, किसी विशिष्ट देवता अथवा किसी संस्था के विश्वास पर निर्भर नहीं होना है। और न ही चेतना के इस स्तर को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को मृत्यु का वरण करना पड़ेगा, बल्कि वह इस दुनिया में जीवित रहते हुए भी प्राप्त किया जा सकता है जिस तरह यीशु मसीह ने इसे सम्भवत: प्राप्त किया था। 'ध्यान,' 'ज्ञान,' 'तन्त्र' और 'भक्ति' जैसे कुछ साधन और तकनीक हैं जो किसी बाहरी सत्ता या निर्देशों के भरोसे नहीं हैं और इनके द्वारा मनुष्य अपने-आप सीखता है। भारतीय परम्परा में कोई चर्च-सत्ता, पोप अथवा केन्द्रीय प्राधिकरण नहीं है। बल्कि यहाँ कई अवतारों, सन्तों और पैग़म्बरों ने सदियों से विभिन्न प्रकार की आध्यात्मिक तकनीकों एवं नवीन व्याख्याओं से इन परम्पराओं को सजीव रखा है। जैसा कि श्री अरविन्द कहते हैं—

> ''यही वह पहली चौंकाने वाली बात है जिस पर यूरोपीय मन-बुद्धि को ठोकर लगती है, क्योंकि वह भारतीय धार्मिक परम्पराओं को समझने में ख़ुद को असमर्थ पाता है। वह पूछता है, 'आत्मा कहाँ है?' उसका मस्तिष्क एवं निश्चित विचार कहाँ हैं? उसका शरीर कहाँ है? वह समझ ही नहीं पाता कि कोई धर्म ऐसा कैसे हो सकता है जहाँ कोई कठोर नियम-सिद्धान्त शापित नरक-दण्ड को न मनवाता हो, कोई ठोस धार्मिक तत्व न हों, यहाँ तक कि कोई निश्चित धर्मशास्त्र या मूलमन्त्र भी न हों जो कि इस धर्म को अपने विरोधी अथवा

प्रतिद्वन्द्वी धर्मों से विशिष्ट साबित करते हों। कोई धर्म ऐसा कैसे हो सकता है जिसमें कोई प्रधान पोप न हो, कोई शासक पादरी न हो, चर्च न हो, कोई गिरजाघर अथवा परिषद् प्रणाली न हो, किसी भी अनुयायी पर अनिवार्य एवं बाध्यकारी धार्मिक नियम लागू न हों तथा किसी प्रकार का धार्मिक प्रशासन एवं अनुशासन न हो? हिन्दू पुरोहित मात्र औपचारिक अधिकारी होते हैं जिनके पास किसी प्रकार की पौरोहित्य सत्ता या अधिकार नहीं होते कि वे अनुशासनात्मक कार्रवाई कर सकें, जबकि हिन्दू पण्डित की भूमिका केवल शास्त्रों एवं ग्रन्थों की व्याख्या करने तक ही सीमित है, वह शासक अथवा धर्म कानून-सिद्धान्त बनाने वाला नहीं हो सकता। फिर हिन्दू धर्म को एक धर्म कैसे कहा जा सकता है जबकि वह सभी प्रकार की मान्यताओं को समाहित करता है, इसमें नास्तिकता और अज्ञेयवाद की भी अनुमति है तथा यह विभिन्न तरीकों वाले आध्यात्मिक अनुभवों तथा साहसिक धार्मिक प्रयोगों को स्वीकृति प्रदान करता है।''[57]

हिन्दू धर्म में कोई मानक या आधिकारिक धर्मशास्त्र नहीं है, क्योंकि प्राचीन भारत में कभी भी थोपा हुआ चर्च निर्मित शास्त्र जैसा कुछ नहीं रहा और न ही चर्च जैसी कोई औपचारिक संस्थाएँ या पादरियों की संस्था जो सार्वभौमिक अधिकार से सबके लिए नियम बनाये और उनमें संशोधन करे और विशेष बात यह भी रही कि कभी भी समाज पर किसी प्रकार की संरचनाएँ बलपूर्वक थोपी नहीं गईं। जब भी इस प्रकार के सत्तात्मक दावे अस्तित्व में आये तो वे बेहद सीमित अधिकार क्षेत्र तक ही रहे और उन्हें सख़्ती से चुनौती भी दी जाती रही। इसलिए वे भारतीय समाज पर अधिक समय तक नियन्त्रण रखने में सफल नहीं हुए।[58]

भारतीय धार्मिक परम्पराओं में कोई भी अधिकारी या सत्ता किसी को 'हिन्दू' के रूप में घोषित नहीं करती। यहाँ 'बपतिस्मा' की तरह कोई अनिवार्य प्रवेश-बिन्दु नहीं है जिसमें चर्च द्वारा आधिकारिक पादरी अथवा कोई मन्त्री इस प्रक्रिया के द्वारा किसी व्यक्ति को ईसाई समुदाय का सदस्य बनाते हों। क्योंकि हिन्दू धर्म में किसी संगठन, समाज अथवा संस्था का सदस्य बनना आवश्यक नहीं है एवं इसमें अपने आत्म-ज्ञान एवं स्वतन्त्र रूप से आध्यात्मिक क्षेत्र में आगे बढ़े हुए विभिन्न साधुओं-विद्वानों को महिमामण्डित किया जाता है, इसलिए यहाँ किसी कठोर संस्थागत नियन्त्रण की समस्या कभी उत्पन्न ही नहीं हुई। किसी भी संस्था, सत्ता या अधिकारी को किसी व्यक्ति को हिन्दू धर्म से बहिष्कृत करने का अधिकार नहीं है।

धार्मिक परम्पराओं में भक्तिभाव एवं पूजन-अर्चन की कई पद्धतियाँ हैं जोकि व्यक्तिगत रूप से अथवा समूह में, किसी निराकार परमेश्वर के समक्ष अथवा किसी विशेष देवता के सामने, घर पर अथवा मन्दिर में सम्पन्न की जाती हैं। एक सामान्य धार्मिक व्यक्ति मुख्य रूप से संस्थागत सत्ताओं से मुक्त होता है और कम-से-कम उसे

अपने धार्मिक आचरण के लिए किसी 'चर्च' अथवा 'उम्मा' जैसे प्राधिकारी की आवश्यकता नहीं होती।

सामान्यत: एक मान्यता है कि एशियाईयों के मुकाबले पश्चिमी लोग अधिकतर व्यक्तिवादी होते हैं, जबकि वास्तविक जाँच बताती है कि मामला इससे एकदम विपरीत है। जो पश्चिमी लोग यहूदी अथवा ईसाई धर्म का पालन करते हैं वे औपचारिक रूप से सुपरिभाषित धार्मिक संगठनों के सदस्य हो जाते हैं, जो अनुरूपता का वातावरण उत्पन्न करते हैं। कई पश्चिमी परिवार सदियों से ऐसी संस्थाओं के साथ सम्बद्ध रहते हैं। परिवर्तन धीरे-धीरे लम्बे समय तक सहमति बनने पर होता है। पश्चिम में व्यक्तिगत असन्तोष एवं सम्प्रदाय की रीतियों को व्यक्तिगत बनाने के प्रयासों पर कड़ी असहमति प्रकट की जाती है। इसके विपरीत धार्मिक परम्पराओं में व्यक्तिवाद मूल रूप से स्वत: चिह्नित है।

कोई भी भारतीय धार्मिक समूह अपनी परम्परा या व्यवहारों को सम्पूर्ण मानवता या किसी अन्य समुदाय पर थोपने का विचार भी नहीं करेगा। सनातन धार्मिक सभ्यताओं के इतिहास में किसी भी धार्मिक समूह ने ऐसा प्रयास कभी नहीं किया—कम-से-कम एक लम्बे कालखण्ड तक अथवा एक बड़े क्षेत्राधिकार में तो कभी नहीं। हिन्दू धर्म में ऐसी कोई आध्यात्मिक परम्परा नहीं है जो भगवान या और किसी अधिकारी द्वारा दूसरे समुदाय के लोगों का धर्म परिवर्तन करवाती हो। व्यक्ति की प्रबुद्ध जीवन की ओर आध्यात्मिक यात्रा किसी प्रकार की सामूहिक क्रिया अथवा अन्य समूहों के समक्ष किये गये किसी विशिष्ट प्रदर्शन पर आधारित नहीं होती है। हिन्दू धर्म में कोई 'काफ़िर' नहीं है, बल्कि केवल 'अज्ञानी' है। स्थानीय सत्ताएँ (जैसे ग्राम पंचायत आदि) किसी व्यक्ति को नियमों के उल्लंघन पर जुर्माना लगाने अथवा अत्यधिक गम्भीर मामलों में गाँव से निष्कासित करने का अधिकार रखती हैं, परन्तु उनके अधिकार क्षेत्र हमेशा सीमित एवं स्थानीय ही होते हैं।

हिन्दू धर्म में ईश्वर के सापेक्ष्य कोई विशेषाधिकार प्राप्त कबीला, संस्कृति, स्थान या समय नहीं होता है, क्योंकि ईश्वर सब को सुलभ है एवं सबके हृदय में स्थित है और उसने किसी को भी अपना प्रतिनिधि बनने का मताधिकार नहीं दिया है। किसी भी समुदाय का इतिहास पूर्ण नहीं माना जाता और न ही इसे दूसरे समुदायों के इतिहासों का अवमूल्यन करने का अधिकार है। इसी तरह से विविध विश्वदृष्टियाँ, साधन, प्रणालियाँ, पन्थ, छवियाँ तथा उपसंस्कृतियाँ आपस में एक साथ रह सकती हैं।

यह भी आवश्यक नहीं है कि सम्मान पाने योग्य स्थिति के लिए आपस में कोई वैचारिक समझौता हो। उदाहरण के लिए आदि शंकर ने अपने दृष्टिकोण से असहमत होने वालों को अपने दायरे से बाहर नहीं किया, बल्कि उनसे संवाद स्थापित किया। धार्मिक जीवन, विश्वास एवं पूजा पद्धति जैसे मामलों में बौद्धिक बहस एवं तर्कों से कभी भी किनारा नहीं किया गया।

व्यक्तिगत पथ (स्वधर्म) चुनने की स्वतन्त्रता

अधिकांश भारतीय धार्मिक परम्पराओं में प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना अद्वितीय 'स्वधर्म' (व्यक्तिगत धर्म) अथवा संसार में आने का उद्देश्य होता है। यह स्वधर्म उसके व्यक्तिगत स्वभाव (चरित्र), जो उसके पूर्व कर्मों, गुणों तथा जीवन की परिस्थितियों के अनुरूप बनता है, पर निर्भर है। बौद्ध धर्म में 'उपाय' (कुशलता के अर्थों में) की अवधारणा है जोकि भिन्न लोगों के बीच परस्पर सम्मान का आधार बनती है। वहीं जैन धर्म में सत्य के सापेक्ष्य एवं एकाधिक परिदृश्य के सिद्धान्त ज्ञान में निहित अनिश्चितता के साथ होने से उन्हें हठधर्मिता और सार्वभौमिक पूर्णता के सिद्धान्तों से संरक्षण प्रदान करते हैं। उक्त सभी उदाहरण दर्शाते हैं कि भारतीय धार्मिक परम्पराएँ बहुत ही विविधतापूर्ण, उदार और सभी समुदायों, परिवारों एवं व्यक्तियों के अनुकूल एवं विशेष परिस्थितियों के लिए बनी हुई हैं।

जीवन के पुरुषार्थों को चार वर्गों में बाँटा गया है तथा प्रत्येक वर्ग के लिए विशेष नैतिक सिद्धान्तों की अनुशंसा की गई है—'धर्म' को व्यक्ति के परिवार, समाज एवं प्रकृति के साथ नैतिक सम्बन्धों के अनुसरण के रूप में, 'अर्थ' को नैतिक माध्यमों से धन-समृद्धि की प्राप्ति के रूप में, 'काम' को बिना अनैतिक हुए शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति के रूप में तथा 'मोक्ष' को व्यक्ति के आत्मज्ञान एवं मुक्ति की खोज के रूप में निरूपित किया गया है।

परम सत्य की खोज का केवल एक ही सही रास्ता है, जैसे बोझ से धार्मिक परम्पराएँ मुक्त हैं, इसलिए सभी दिशाओं में फली-फूली हैं। उदाहरण के लिए हिन्दू सामान्यत: स्वयं को योग के चार मुख्य मार्गों में से एक या अधिक का एक साथ अनुसरण करते हुए देखते हैं, जैसे प्रत्यक्ष सहज ज्ञान (ज्ञानयोग), ध्यान, समर्पण (भक्तियोग) और कर्म में कुशलता (कर्मयोग)। ये न तो परस्पर अलग हैं और न ही विरोधी, ये साधक की स्वाभाविक पसन्द के अनुरूप होते हैं।

देवता (ईष्टदेव) के चयन की स्वतन्त्रता

हिन्दू धर्म में 'अवतार' ईश्वर के अवतरण होते हैं। यहाँ अवतार की भूमिका ईसाई सम्प्रदाय में यीशु द्वारा निभाई गई भूमिका के समकक्ष होती है, परन्तु धार्मिक परम्पराओं में किसी अवतार को 'विशिष्ट और अन्तिम' नहीं माना जाता तथा अन्य परम्पराओं के इस तरह के दावों को स्वीकृति प्रदान की जाती है। इसीलिए हिन्दू यीशु को पवित्र एवं ईश्वर के एक अवतार के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु विशिष्ट अवतार की तरह नहीं। श्री राम एवं श्री कृष्ण हिन्दुओं द्वारा सर्वाधिक पूजे जाने वाले अवतार हैं। यहाँ एक इष्टदेव की भक्ति दूसरे को त्रुटिपूर्ण नहीं बताती, क्योंकि सर्वव्यापी ईश्वर तक पहुँचने के कई पथ हैं।

विभिन्न देवी-देवता उस एक परम सत्य की ऊर्जा और ब्रह्माण्डीय प्रक्रियाओं के विशिष्ट गुणों के प्रतीक हैं तथा मूर्तिपूजक भाव के देवी-देवता नहीं हैं। वे या तो स्त्री

स्वरूप (जैसे लक्ष्मी, दुर्गा इत्यादि 'देवी') अथवा पुरुष स्वरूप (जैसे अग्नि, वायु आदि देवता) के रूप में प्रकट होते हैं। सभी देवियाँ एक ही प्रमुख देवी के विभिन्न रूप हैं जो कि ईश्वर के अधीन नहीं हैं, बल्कि वे स्वयं 'शक्ति-स्वरूपा' (बुद्धि-ऊर्जा) ईश्वर हैं। 'देवी' मात्र 'देव' स्वरूप का स्त्री-रूप है, वह देव का व्युत्पन्न नहीं है। हिन्दू एवं बौद्ध तन्त्र एवं योग में देवताओं के मानव आकृति जैसे चित्रों में मूर्तियाँ नहीं हैं, बल्कि किसी कलाकार द्वारा एक अमूर्त सिद्धान्त को मूर्त रूप में प्रतिपादित करने के समान हैं। इसीलिए एक ही देवता की हज़ारों छवियाँ हो सकती हैं, ऐसी भी जिन्हें व्यक्ति-रूप में रेखित नहीं किया गया हो (जैसे कि ज्यामितीय चित्र) अथवा बिना किसी चित्र के भी व्यक्त किया गया हो। कुछ स्थितियों में देवताओं की कल्पना साधक के शरीर के भीतर ऊर्जाओं और मनीषाओं के रूप में की जाती है जोकि ब्रह्माण्ड की ऊर्जाओं एवं मनीषाओं के अनुरूप होती है। यह 'बन्धु सिद्धान्त' के सक्रिय होने जैसा है। हिन्दू धर्म में किसी पवित्र भौगोलिक स्थल को भी देवी रूप में पूजा जाता है। उदाहरण के लिए गंगा नदी को गंगा 'देवी' के रूप में अभिव्यक्त किया गया है तथा इसे गंगा देवी का शरीर माना गया है।

आध्यात्मिक ध्यान केन्द्रित करने के लिए किसी निजी देवता की अवधारणा को 'इष्टदेव' कहा जाता है। 'पूजा' एक आम धार्मिक कर्म काण्ड है जिसके द्वारा एक भक्त अत्यन्त प्रेम एवं भक्तिभाव से अपने इष्टदेवता को सम्मानित अतिथि के रूप में आमन्त्रित करता है। अधिकांश हिन्दू अपने चुने हुए इष्टदेवता के साथ बिना किसी मध्यस्थ के निजी एवं सीधा सम्पर्क स्थापित करने में विश्वास करते हैं और अधिकांश परिवार दैनिक पूजापाठ एवं ईश्वर सेवा हेतु मन्दिर के रूप में अपने घर में एक अलग स्थान निर्धारित करते हैं।

किसी दृश्य, मूर्ति अथवा छवि के अतिरिक्त कोई 'मन्त्र' भी इष्टदेव हो सकता है। संस्कृत की वर्णमाला में प्रत्येक शब्द-ध्वनि एक विशिष्ट दिव्य बोध एवं ऊर्जा का प्रतीक होती है। यही कारण है कि साधक अपनी प्रकृति एवं परिस्थितियों के आधार पर कई मन्त्रों में से चुनाव कर सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति (भक्त) द्वारा उसके इष्टदेवता की पूजा को हम अद्वितीय अथवा व्यक्तिगत एकेश्वरवाद के रूप में देख सकते हैं, क्योंकि उस भक्त के लिए वही इष्टदेवता परमेश्वर का प्रतिनिधित्व करते हैं। परन्तु इस व्यक्तिगत एकेश्वरवाद को न तो सार्वभौमिक माना जाता है और न ही दूसरों पर थोपने की कोशिश की जाती है। जब किसी सम्प्रदाय-विशेष के देवता को 'सार्वभौमिक' कर थोपने का प्रयास किया जाता है तभी 'एकमात्र' (अथवा विशिष्टता बोध) की समस्या उत्पन्न होती है। एक हिन्दू कह सकता है कि ईसाइयों ने अपने इष्टदेव (अर्थात यीशु) को ले कर उसे सार्वभौमिक कर दिया है तथा अपने आक्रामक धर्म परिवर्तन के माध्यम से उन्होंने अपनी शक्ति को और बढ़ाया है।[59]

धार्मिक परम्परा का स्वर्णिम नियम

पश्चिम का स्वर्णिम नियम कहता है कि हम दूसरों के साथ वही करें जोकि दूसरों से स्वयं अपने लिए चाहते हैं। स्वाभाविक रूप से प्रत्येक सम्बन्धित पक्ष के अनुकूल परिणाम पाने का यह एक व्यावहारिक रास्ता है। इससे और उच्च स्तर पर जाते हुए यहूदी-ईसाई पन्थ में कहा गया है कि अपने पड़ोसी से उतना प्रेम करो जितना तुम स्वयं से करते हो। भारतीय धार्मिक परम्पराओं का सुनहरा नियम इस सिद्धान्त को एक कदम और आगे ले जाते हुए कहता है कि तुम्हारे सामने कोई 'दूसरा' है ही नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से जो 'अन्य' दिख रहा है वह अन्ततः तुम्हारा ही प्रतिरूप है। संक्षेप में अपने पड़ोसी से अपने जैसा प्रेम करो, क्योंकि तुम्हारा पड़ोसी तुम्हारा ही एक स्वरूप है। यह इस अध्याय में पहले उल्लिखित अभिन्न एकता की तत्वमीमांसा पर आधारित है।

भगवद्गीता (2:14-15) में सभी के प्रति 'समता' की वकालत की गई है क्योंकि ईश्वर का 'परम सत्य' सभी जीवों के रूप में प्रकट है, अर्थात् सभी जीव ईश्वर में हैं तथा उन्हें उससे अलग नहीं किया जा सकता। आगे स्पष्ट किया गया है (13:27) कि सभी जीवों में 'आत्मा' समान है तथा 'समवृत्ति' निर्मित करने का मुख्यसाधन प्रत्येक जीव के चरित्र एवं व्यक्तित्व का विकास (गुणविकास) है। यहाँ 'सम' शब्द का उपयोग व्यक्ति की सत्तामूलक पहचान के लिए है। उदारता एवं अनुशासित समानता (समता) की भावना से ही यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न होता है कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर समान आत्मा बसती है और यही उस एकता की भावना को मजबूत करती है। इसलिए भगवान ने अर्जुन से समबुद्धियुक्त होने के लिए कहा है (2:48)।

भारतीय धार्मिक सभ्यताओं में यही 'समभाव' त्वचा के रंग के प्रति भी प्रदर्शित होता है। उदाहरण के लिए दो सबसे प्रमुख हिन्दू अवतार, श्री राम एवं श्री कृष्ण दोनों ही श्याम-वर्ण के थे तथा देवियों में सबसे प्रसिद्ध 'काली' और 'दुर्गा' का वर्ण भी काला या साँवला है। भगवान विष्णु को भी 'मेघवर्ण' (काले बादलों जैसे रंग वाले) कहा गया है और भगवान शिव भी ऐसे ही दर्शाए गये हैं। महाभारत ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में एक विस्तार पूर्ण चर्चा है जिसमें मनुष्य के 'वर्ण या रंग' को उसके गुणों पर वरीयता देने की कसौटी की पूरी तरह से अवहेलना की गई है।

भारतीय धार्मिक परम्परा के इसी स्वर्णिम नियम की भावना के अनुसार धार्मिक साधकों को किसी दूसरे की धार्मिक भावनाओं में हस्तक्षेप करने से मना किया गया है जिसे कभीकभार भूल से 'निष्क्रियता' समझ लिया जाता है। किसी साधक को उसके धार्मिक विचारों से मतभेद रखने वाले दूसरे धर्मावलम्बी का धर्म परिवर्तन करने अथवा मारने का कोई सिद्धान्त नहीं है। इन परम्पराओं में ऐसी कोई शिक्षा नहीं है कि दूसरे धर्मों के पूजास्थलों को नष्ट किया जाये अथवा उन्हें बदनाम करके 'बुरे धर्म' के

रूप में चित्रित किया जाये या उनके विश्वासों के लिए उन्हें किसी प्रकार दण्ड अथवा उन पर 'ज़िजया' जैसा कर लागू किया जाये।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि हिन्दुओं ने ईसाई मत और फिर इस्लाम के उदय के पश्चात् धार्मिक उत्पीड़न की वजह से प्रारम्भिक ईसाइयों, यहूदियों और पारसियों को अपने यहाँ ईसा के बाद की कुछ शताब्दियों में शरण दी थी, जब वे अपनी मातृभूमि को छोड़ कर भागते फिर रहे थे। इस्लाम के आगमन से पहले पारसी मत फ़ारस एवं उसके आसपास के देशों में सबसे प्रमुख धर्म था। अपने देश से भगाये गये पारसियों को भारत में शरण मिली और आज भारत ही दुनिया का एकमात्र देश है जहाँ पारसी समुदाय सबसे अधिक समृद्ध है। भारत के कई शीर्ष उद्योगपति, सरकारी अधिकारी एवं पेशेवर 'ज़ोराष्ट्रियन' हैं जो अपने आपको 'पारसी' कहते हैं। दक्षिण भारत के 'थॉमस ईसाई' स्वयं को यीशु के तत्काल बाद वाले कालखण्ड का मूल निवासी कहते हैं एवं उन्हें भारत के बहुलतावादी समाज में गहरा आदर और सम्मान मिला है। दुनिया का सतत् संचालित सबसे पुराना 'सिनेगॉग'—synagogue (यहूदी आराधनालय) दक्षिण भारत के 'कोचिन' (अब कोच्ची) में स्थित है।

यदि यीशु का जन्म भारत में हुआ होता तो हो सकता है कि उन्हें भी भगवान राम, कृष्ण अथवा दूसरे अवतारों की तरह एक और अवतार के रूप में ग्रहण कर लिया जाता। वैसे भी कई भारतीय घरों एवं मन्दिरों में (उदाहरण के लिए रामकृष्ण मिशन, परमहंस योगानन्द आश्रम इत्यादि) यीशु को भी सम्मिलित कर लिया जाता है तथा कई हिन्दू गुरुओं द्वारा यीशु को पदोन्नत करके उन्हें श्री राम, श्री कृष्ण, शिव इत्यादि देवताओं के समकक्ष भी रख दिया जाता है। किसी हिन्दू के लिए "एक ही प्रभु, एक ही चर्च, एक ही रास्ता" के विचार का समर्थन करना असम्भव, दकियानूसी और उसकी सोच से बाहर है, क्योंकि उसके अनुसार इस प्रकार का कथन, प्रकृति की विविधता, मनुष्य की स्थिति तथा ईश्वर के साथ होने वाले दैवीय सम्पर्क की अनदेखी करना है।

परन्तु अपनी मूल मान्यताओं को अस्वीकार किये बिना ईसाई मत कभी भी श्री राम अथवा श्री कृष्ण को 'ईश्वर के अवतार' के रूप में वैसी मान्यता नहीं दे सकता जैसी कि उसने यीशु को प्रदान की है, न ही भगवान 'शिव' को ईसाई कभी सर्वोच्च देवता के रूप में सर्वव्यापी मान सकते हैं, न ही 'शक्तिरूपा देवी' को माता-रूपी ईश्वर या ईश्वर की पत्नी के रूप में पूज्य और परमेश्वर जैसे प्रदर्शित कर सकते हैं। न ही ईसाई मत ने इस बात को माना कि प्रत्येक देवता के कई रूप होते हैं जिन तक पहुँचने के लिए विभिन्न माध्यम उपलब्ध हैं तथा कोई भी किसी केन्द्रीय मानव-आधारित सत्ता अथवा नियन्त्रण के अधीन नहीं है।

अत: इस बात में कोई आश्चर्य नहीं है कि पश्चिम के किसी भी इब्राहमी मत ने किसी दूसरे इब्राहमी मत के साथ किसी प्रकार का तालमेल अथवा एकीकरण नहीं किया, ग़ैर-इब्राहमी धर्मों के साथ तो बिलकुल भी नहीं। हिन्दुओं के मन में गहरे बैठे

हुए बहुलतावादी सिद्धान्त के कारण उनमें से अधिकांश लोग इस बात से अंजान हैं कि उनकी धार्मिक भावनाओं को पश्चिमी इब्राहमी मत बिलकुल भी आदर नहीं देते, उल्टे वे न केवल हिन्दुओं की पूजा-पद्धति को 'बुतपरस्ती' और झूठे भगवान की भक्ति कहते हैं बल्कि औरों के भी सभी देवताओं को उपेक्षित करते हैं।

सनातन धार्मिक क्रान्तिकारी बहुलतावाद अभिन्न सिद्धान्त है जो धर्मशास्त्रों के मूल स्वरूप पर इतर चिन्तन की तरह मढ़ा नहीं जा सकता। हमारे आधुनिक समय में यहूदी और ईसाई मतों के लिए अपने कट्टर रुख में समझौतावादी एवं सहिष्णु होने की मजबूरी है, परन्तु आमतौर पर यह केवल राजनैतिक रूप से सही दिखाई देने तथा आपसी टकराव से बचने का एक पैंतरा भर है। या फिर सम्भवत: यह एक रणनीति के तहत किया जा रहा है जिसमें दूसरी संस्कृति का सम्मान करने का दिखावा करते हुए धर्मान्तरित होने वाले को वश में किया जा सके, ताकि अन्तिम चरण में आक्रामक धर्मान्तरण करके उन्हें अपने समुदाय में मिलाया जा सके।

उदाहरण के लिए महाभारत में उल्लिखित बहुलतावादी लोकाचार को देखें तो वह एक ग़ैर-अलगाववादी ढाँचे पर आधारित है जिसमें मान्यताओं, अवधारणाओं एवं विचारों की बहुलता सम्मिलित है। भारतीयों में मनोवैज्ञानिक रूप से यह बहुलतावादी सिद्धान्त इतने गहरे समाया हुआ है कि वे सरलता से सभी प्रकार के सापेक्ष्य सत्य, अनिश्चितता, अस्पष्टता एवं सभी प्रकार के विकारों एवं बहुलता को स्वीकार कर लेते हैं। महाभारत में इस प्रकार के कई दार्शनिक शास्त्रार्थ अभिलेखित हैं जिनमें विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों के बीच विद्वद्जनों में बहुलतावाद के आधार पर वाद-विवाद हुआ है। इस महाकाव्य में विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों के विचार भी हैं, जैसे सांख्य, वैष्णव, शैव धर्मशास्त्रों तथा श्रमण रूपी ग़ैर-ईश्वरवाद।[60] नैतिकता, राजनीति और समाजशास्त्र पर एक मुक्त बौद्धिक वातावरण में बहस की गई है।[61] यह उस पश्चिमी 'यहोवा' चुने हुए लोगों के ईर्ष्यालु भगवान के एकदम विपरीत है जो अपने तेज़तर्रार पैग़म्बरों के माध्यम से अपने अनुयायियों को बिना शर्त आज्ञाकारिता का निर्देश देता है और उसकी पूजा और आचरण सम्बन्धी नियमों का कड़ाई से पालन नहीं किये जाने पर अपने गुस्से के प्रकोप का डर दिखाता है।

पश्चिम की कृत्रिम एकता

अब मैं यहूदी-ईसाई परम्पराओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करता हूँ तथा सनातन धार्मिक परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में यह दिखाने का प्रयास करता हूँ कि पश्चिमी मौलिक मान्यताएँ और ब्रह्माण्ड सम्बन्धी उनके नियम किन समस्याओं से ग्रस्त हैं। दूसरों के साथ उनके मतान्तर की आपत्ति ही उनकी असली चिन्ता है जिसे फिर बाह्य रूप में प्रस्तुत किया जाता है। मेरा आधारभूत विचार यह है कि पश्चिमी सभ्यता (अथवा यदि धार्मिक और ब्रह्माण्ड सम्बन्धी आधार पर कहें तो यहूदी-ईसाई सभ्यता) में जो तथाकथित एकता है वह कृत्रिम है, जैसे इस पुस्तक में परिभाषित है। पश्चिम की यह

एकता अलग-अलग एवं स्वतन्त्र रूप से स्थित विभिन्न भागों से प्रारम्भ होती है जिसे भारी प्रयासों द्वारा लाया जाता है। पश्चिम ने अपने विभिन्न भागों को एकीकृत करने में प्रगति अवश्य की है, परन्तु यह अधिकतर जानबूझ कर अत्यधिक असंगत एवं भिन्न प्रकार की मौलिक विश्वदृष्टियों को एक साथ जोड़ कर की गई है। एकता की यह प्रक्रिया 'कुल जोड़ शून्य' परिप्रेक्ष्य से प्रतिस्पर्धा करने वाले दृष्टिकोणों से उभर कर आई है जो इनके परस्पर सहवर्ती होने एवं एक दूसरे पर प्रभाव डालने में बाधक है। असमान एवं विषम तत्वों को ऐसे मिलाया जाता है ताकि एक ही पक्ष हावी हो। दबने वाले पक्ष के चुनिन्दा हिस्सों को हथिया लिया जाता है तथा जो हावी पक्ष के बुनियादी सिद्धान्तों के साथ मेल नहीं खाते उन्हें निन्दित करके अस्वीकृत कर दिया जाता है।

पश्चिम ने 'व्यक्तिवाद' पर बल देने के साथ-साथ अहंकार को बढ़ाने में भी कोई कसर नहीं छोड़ी है। इस अहंभाव को तार्किकता ने और भी मजबूत बनाया है जिसने केवल 'यह या वह' की सोच और आणविक विश्व विज्ञान को जन्म दिया, जिससे वह अहं नियन्त्रित ढ़ग से व्यवहार कर सके। इसी अहंवादी चश्मे से दूसरों के साथ मतभेदों को देखा जाता है। जब पश्चिमी व्यक्ति अपने इस सीमित द्वि-आधारी (यह या वह) तर्क से हिन्दू धर्म के बहुलतावाद की ओर देखता है तो उसकी विश्वदृष्टि को उपस्थित चुनौती गम्भीर और यहाँ तक कि ख़तरनाक भी प्रतीत होती है। उसकी प्रतिक्रिया आमतौर पर इस अस्त-व्यस्त दिखने वाले धर्म की जटिलता को कम करके उसे एक साधारण वैचारिक अवधारणा में बाँधने की होती है, जैसे बहुदेववाद, जाति-आधारित अनुक्रम आदि।

इस समस्या के मूल उद्गम को समझने के क्रम में हमें पश्चिमी विकास के कुछ पहलुओं पर ध्यान देने की आवश्यकता है—सबसे पहले यहूदी-ईसाई ब्रह्माण्ड की कल्पना तथा शास्त्रीय यूनानी विश्वदृष्टि के बीच का विभाजन और उसके बाद पाँच महत्वपूर्ण घटनाक्रम जिनमें कृत्रिम एकता लाने के सभी प्रयास टूट गये। अधिकांश मामलों में संघर्षशील विश्वदृष्टियाँ अपने आप में ही पूर्ण के बजाय कृत्रिम हैं और इसीलिए इनमें परस्पर हिंसक विरोध हुए। पश्चिम में यह प्रवृत्ति रही है कि प्रगति के प्रत्येक अगले चरण में उसकी पिछली अवस्था का सफ़ाया कर दिया जाता है, क्योंकि उस पूर्व चरण को तब एक ख़तरे के रूप में देखा जाता है। परिणामस्वरूप एक 'अस्थिरतावादी और विच्छिन्नतावादी' दृश्य उभरता है।

पश्चिम को गढ़ने हेतु टेम्पलटन योजना

इससे पहले कि हम इस विश्लेषण में उतरें, मैं सन 2003 में बैंगलोर के विज्ञान एवं धर्म पर हुए एक सम्मेलन में अपने अनुभव का वर्णन करना चाहूँगा जिसने पश्चिम की बेहद कमज़ोर और असंगत कथित आन्तरिक एकता को स्पष्ट रूप से उघाड़ दिया। 'टेम्पल्टन फ़ाउण्डेशन' (Templeton Foundation) नामक संस्था, जोकि आधुनिक विज्ञान एवं पन्थ (मुख्यत: ईसाई पन्थ) को सुसंगत करने का प्रयास करती है, ने इस

सम्मेलन में विभिन्न वैज्ञानिक दिग्गजों को भेजा जिनमें कुछ नोबल पुरस्कार विजेता भी सम्मिलित थे और अधिकांश सार्वजनिक रूप से ईसाई पन्थ में अपनी निष्ठा की घोषणा कर चुके थे। इन विद्वानों ने अपनी व्यक्तिगत साम्प्रदायिक मान्यताओं और आधुनिक विज्ञान के बीच सम्बन्धों के बारे में बताया। टेम्पल्टन फ़ाउण्डेशन के तत्कालीन और वर्तमान अध्यक्ष स्वघोषित ईसाई मत-प्रचारक हैं जो एक बड़ी विडम्बना है, क्योंकि ईसाई मत-प्रचारक परम्परागत रूप से बाइबल के पक्ष में धर्मनिरपेक्ष विज्ञान का विरोध करते हैं। फिर भी ऐसा प्रतीत हुआ कि ये वक्ता सचमुच ही अपने मत और विज्ञान को पास लाना चाहते थे।

अपने इस बौद्धिक व्यायाम (gymnastics) को सिद्ध करने के लिए उन्हें नव-वेदान्त के सिद्धान्तों का (वह भी बिना किसी अभिस्वीकृति के) सहारा लेना पड़ा कि चेतना ही परम सत्य तथा इस एकता का आधार है। इस प्रकार ये सिद्धान्त उनके अपने मत के वैज्ञानिक होने के आधार बन गये, भले ही इसके लिए उन्हें बाइबल के आधिकारिक सिद्धान्तों की व्याख्याओं को कितना ही खींचना पड़ा। वास्तव में "चेतना ही सब कुछ है तथा भौतिक दुनिया इस की अभिव्यक्ति है" का वैदिक सिद्धान्त एक तरह से धर्म और परिमाण यान्त्रिकी (quantum mechanics) के बीच सुसंगति सिद्ध करने का प्रचलित साधन मार्ग बन चुका है।

परन्तु विज्ञान एवं साम्प्रदायिक क्षेत्रों के उक्त विद्वान यह स्वीकार करने में असमर्थ रहे कि उच्च चेतना का यह दृष्टिकोण यहूदी और ईसाई मतों के मानक ग्रन्थों में नहीं है तथा सनातन धार्मिक परम्परा का यह सिद्धान्त उनके मतों की मूल मान्यताओं, जैसे आत्मा एवं संसार की प्रकृति तथा उनके ईश्वर के साथ सम्बन्धों के विपरीत है। इस अवसर पर इन वक्ताओं ने दैवी एवं मानवीय चेतनाओं के बीच के अन्तर के अपने सिद्धान्त को पूरी तरह से टाल दिया जिसे यहूदी-ईसाई मान्यताओं में कभी भी दूर नहीं किया जा सकता। उन्होंने अपने मत के इस आग्रह की भी अनदेखी कर दी जिसके अनुसार सभी रहस्योद्घाटन इतिहास के किसी विशिष्ट समय पर ऊपर से प्रकट होते हैं और अपने वक्तव्यों से यह धारणा व्यक्त करते हुए प्रतीत हुए कि ईसाई पन्थ सहित सभी धर्मों का आधार तत्व परिमाण यान्त्रिकी (quantum mechanics) है। सम्मेलन के पहले ही दिन इस प्रकार के विरोधाभासी भाषणों को सुन कर अपने वक्तव्य के बारे में सोचते हुए (जो मुझे अगले दिन देना था) मेरी रात बड़ी बेचौनी में कटी।

मैंने निश्चय किया कि मैं जो भाषण देने जा रहा था उसे अब अलग रखा जाये और तय किया कि उसके स्थान पर कई अन्य महत्वपूर्ण प्रश्नों की चर्चा की जाये कि क्या इतिहास की किसी आकस्मिक घटना से सम्बन्धित सार्वभौमिक सत्य का दावा वैज्ञानिक माना जा सकता है, विशेषकर यदि वह एक ऐसी घटना पर आधारित हो जिसे कभी दोहराया नहीं जा सकता? इसको और प्रासांगिक बनाने के लिए मैंने पूछा कि एक वैज्ञानिक उन दावों के बारे में क्या सोचता है जिसके अन्तर्गत ऐसे ईश्वरीय हस्तक्षेप जोकि समय-स्थान को अलग करते हुए इस ब्रह्माण्ड के स्थापित नियमों का

उल्लंघन अथवा उन्हें स्थायी रूप से बदल देते हैं? क्या विज्ञान मानव इतिहास में घटित किसी भव्य आख्यान को जिसमें ईश्वर के द्वारा किये गये हस्तक्षेप से रहस्योद्‌घाटन को 'कि इस संसार का एक समाप्ति-समय निश्चित है' वैधता प्रदान कर सकता है? क्या आध्यात्मिकता के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण को किसी के मत को ऐतिहासिक आख्यान साबित करने वाला होना चाहिए या विज्ञान को एक खुले अर्थों वाली प्रक्रिया के समान होना चाहिए जो किसी साम्प्रदायिक सिद्धान्तों तक पहुँचने की प्रक्रिया की समीक्षा भी करे? क्या धर्म पर विज्ञान को लागू करने के प्रयास में हमें वैज्ञानिक मानकों का उपयोग धार्मिक हठधर्मी नियमों पर सवाल उठाने के लिए करना चाहिए, न कि केवल कुछ मतों को वैधता प्रदान करने के लिए? क्या बहुत से विद्वान अपनी जाँच के मत-पन्थ सम्बन्धी परिणामों पर तो वचनबद्ध नहीं हैं?

एक भौतिक विज्ञानी के रूप में मैं यह देख कर परेशान था कि वहाँ एकत्रित प्रख्यात वैज्ञानिकों ने बड़ी चतुराई से इतिहास केन्द्रिकता को अपनी मूल साम्प्रदायिक परम्पराओं से पृथक कर लिया था, ताकि वे ख़ुद को वैज्ञानिक रूप में पेश कर सकें। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो उन्होंने बिना किसी ऐतिहासिक सन्दर्भ के अपने मतों का प्रतिनिधित्व किया और अपने सन्देश को बदला, जिससे कि वे वैज्ञानिक श्रोताओं को प्रभावित कर सकें। वहाँ उपस्थित कोई भी व्यक्ति मेरी इन चिन्ताओं को मान्यता देने को तैयार नहीं था। इसलिए मैंने उन्हें उकसाने के प्रयास में यह पूछा कि क्या यहूदी-ईसाई मतों से जुड़े वैज्ञानिक इस प्रकार के वैज्ञानिक विचार-विमर्शों में इतिहास-केन्द्रिकता की समस्या से बचना चाहते हैं, जबकि इतिहास-केन्द्रिक सिद्धान्त उनके साम्प्रदायिक विशिष्टता के दावे के मूल में हैं?

इतिहास-केन्द्रिक मतों तथा अन्य धर्मों के बीच अन्तर को और स्पष्ट करने के लिए मैंने सनातन धार्मिक परम्पराओं के ग़ैर-इतिहासवादी तरीकों पर प्रकाश डाला तथा उन्हें स्वानुभूत वैज्ञानिक प्रत्यक्षवाद की तरह चित्रित किया। इसके बाद मैंने उनसे पूछा कि मनुष्य की क्षमताओं द्वारा की गई खोजों के आधार पर किये जाने वाले सत्य के दावों के बारे में विज्ञान क्या कहता है, जोकि दूसरों द्वारा दोहराए जा सकते हैं तथा पैग़म्बरों के माध्यम से ईश्वर के हस्तक्षेप पर आधारित नहीं हैं? दूसरे शब्दों में, क्या आध्यात्म-विद्या (अन्तर्निहित मानव क्षमता पर आधारित) एक प्रायोगिक विज्ञान है? और यदि ऐसा है तो क्या इसके अनूठे ऐतिहासिक रहस्योद्‌घाटनों के साथ मेल किया जा सकता है?

इतिहास-केन्द्रिकता पर आधारित इस विषय पर मेरी बात की व्याख्या का एक भारतीय ईसाई, जोसेफ़ प्रभु ने, जो कि टेम्पलटन फ़ाउण्डेशन (Templeton Foundation) का एक सहयोगी तथा अमरीकी अकादमी में हिन्दू धर्म अध्ययन में एक राजनैतिक रूप से सक्रिय नेता है, बड़े ही आक्रामक ढंग से प्रतिवाद किया। लेकिन कई अन्य भारतीयों ने कार्यक्रम के बाद मुझसे सम्पर्क करके अपना समर्थन व्यक्त किया और कहा कि मैंने जिस महत्वपूर्ण विषय को उठाया था वह बहुत

आवश्यक था, भले ही वहाँ उपस्थित अधिकांश लोग उसे सुनना तक नहीं चाहते थे। कई प्रमुख व्यक्तियों ने मुझे सुझाव दिया कि इतिहास-केन्द्रिकता सम्बन्धी मेरा दृष्टिकोण वहाँ एक महत्वपूर्ण स्थान पाने का हकदार था तथा मुझे प्रोत्साहित किया कि मैं इस पर आगे बात जारी रखूँ कि इतिहास-केन्द्रिकता और आधुनिक विज्ञान के बीच कोई सुसंगति नहीं है। कुछ मतों में इतिहास-केन्द्रिकता की प्रमुख भूमिका सम्बन्धी मेरे इस काम को आगे बढ़ाने का यह एक निर्णायक क्षण था।

वहाँ उपस्थित वैज्ञानिक भी ताज़ा घटनाक्रमों की अनदेखी कर रहे थे। यह सर्वविदित है कि यूरोपीय आन्दोलन जिसे 'ज्ञानोदय' (Enlightenment) आन्दोलन के रूप में भी जाना जाता है, ईसाई ढाँचे पर एक दीर्घकालीन हमला था, ताकि राजनैतिक रूप से शक्तिशाली पादरियों के पर कतरे जा सकें और स्वतन्त्र वैज्ञानिक प्रयोगों को अनुमति मिले। इस लड़ाई में विज्ञान के सामने ईसाई मत हार गया और अब उसके शास्त्रीय विद्वान विज्ञान-सम्मत प्रतीत हो कर उन्हीं ऐतिहासिक हठधर्मी नियमों का पुनः प्रचार करने में व्यस्त हैं। ऐसे विद्वान एक वैज्ञानिक धर्मशास्त्र के रूप में ईसाई मत के पुनर्निर्माण पर उल्लेखनीय प्रभाव डाल रहे हैं। ये विद्वान 'व्हाइटहेडवादी विचार' (Whiteheadian thought) जैसी दार्शनिक श्रेणियों का सहारा लेते हैं, जैसे कि चर्च के विद्वानों ने बहुत पहले ग्रीक दर्शन को हथिया कर किया था।

जैसे-जैसे मैं इस विषय में और गहरे उतरता गया मैंने महसूस किया कि ईसाई मत और विज्ञान के बीच की दरार सदियों के संघर्ष के बाद भी खत्म नहीं हुई है। इसकी जगह वहाँ अन्तर्निहित दरारों को ढाँकने के लिए केवल एक परत चढ़ा दी गई है। भारतीय धार्मिक परम्पराओं के साथ ऐसा नहीं है। यहाँ विज्ञान और धर्म के बीच कोई निहित सैद्धान्तिक संघर्ष नहीं है।

धार्मिक परम्परा चूँकि एक पूर्वनिर्धारित सीधी रेखा जैसी नहीं है, इसलिए विकास के चरमोत्कर्ष की ओर जाती हुई नहीं बढ़ती। बल्कि यह प्रारम्भिक बीज से घुमावदार तरीके से बढ़ते और लौटते हुए अपने मूल्यों में वृद्धि करती जाती है। ग़ैर-यूक्लीडियन (non-Euclidean) विश्व की उन्नत गणित और क्वांटम भौतिकी (quantum physics) सम्बन्धी बौद्धिक चुनौतियों का सामना करने में परम्परागत पश्चिमी सीधेसपाट विचार असमर्थ हैं। परन्तु भारतीय धार्मिक मस्तिष्क सूक्ष्मतम अणु एवं खगोल विज्ञान की दुनिया में सहज है।

पश्चिमी मतों का उदय—निहित समस्याएँ

सनातन धार्मिक दृष्टिकोण से पश्चिम के इतिहास को देखने से उनकी समयसमय पर उभरती कुछ मौलिक वैचारिक समस्याएँ दिखाई देती हैं जो पश्चिमी विचारकों द्वारा कृत्रिम एकता के दावों को चुनौती देती रहती हैं। ये इस प्रकार हैं—

1) आन्तरिक विज्ञान, तकनीक, पद्धतियों और सिद्धान्तों की कमी, जिनके द्वारा हमारे आन्तरिक जीवन और उच्च चेतना का अन्वेषण होता है।

2) ईसाई ग्रन्थों के मूल में बौद्धिकता का विरोध और वाद-विवाद, कारणों की मीमांसा तथा ब्रह्माण्डीय अन्वेषण का अभाव है।

3) पूर्ण सन्तुष्टि के लिए बहिर्गामी झुकाव, जिस कारण साम्राज्यवादी विस्तार और विनियोजन का अन्तहीन सिलसिला चलता रहता है।

4) द्वैतवादी अहम् का त्याग किये बिना मुक्ति की अतृप्त एवं दिग्भ्रमित खोज का आग्रह।

समस्या क्रमांक 1 और 2—आन्तरिक विज्ञान एवं अन्तर्निर्मित बौद्धिकता की कमी

आध्यात्म विद्या का अभाव या उसका अल्प विकास पश्चिमी मानसिकता की एक गहरी समस्या है जो उनके सांस्कृतिक इतिहास में परिलक्षित होती है। संस्थागत ईसाई मत ने हमेशा से ही अपने रहस्यवादी साधकों को किनारे किया है। न ही यहूदी-ईसाई मतों के मूल आध्यात्मिक ग्रन्थों में, जिनका प्रमुख ज़ोर परमेश्वर द्वारा तय किया हुआ इतिहास-केन्द्रित आदेश है, किसी प्रकार के बौद्धिक अथवा दार्शनिक संवादों पर बल दिया गया है। ईसाई ग्रन्थों में किसी प्रकार की पूछताछ, जाँच, बहस, कारण-मीमांसा और चिन्तन की कोई केन्द्रीय परम्परा नहीं थी, लेकिन जब उन्हें अन्य सभ्यताओं का सामना करना पड़ा तब आलोचकों की प्रतिक्रिया के कारण इन्हें बाद में जोड़ा गया। ग्रन्थों का अधिकांश भाग बातचीत अथवा संवादनुमा नहीं बल्कि काव्यरूपी, कानूनी नियमों एवं ऐतिहासिकता से भरा पड़ा है। हालाँकि दार्शनिक विचार कहीं-कहीं कुछ बिन्दुओं में निहित हैं, परन्तु रहस्योद्घाटन में केन्द्रीय रूप से व्यक्त नहीं किये गये हैं। आध्यात्मिक चिन्तन को यूनानी श्रेणियों से ला कर बाइबल के रहस्योद्घाटनों पर बाद में अलग से रोपा गया। वैसे भी इन ग्रन्थों में कड़े साम्प्रदायिक नियम-कानूनों के मुकाबले दार्शनिक विचारों को कम सम्मानजनक स्थान प्राप्त है।

ईसाई परम्परा के एक प्रारम्भिक और प्रभावशाली विद्वान संत ऑगस्टीन (St. Augustine : 354-430) ने ईसाई मत में प्लेटो द्वारा दिये गये अति-परिष्कृत और विकसित तत्वमीमांसा एवं दर्शन को प्रचलित लिया। इस कार्य को पूरा करने के लिए ऑगस्टीन प्रमुख रूप से एक ग्रीक विचारक प्लोटिनस (Plotinus : 205-70) पर निर्भर थे। सदियों बाद एक मध्ययुगीन साधू और दार्शनिक संत थॉमस एक्विनास (St. Thomas Aquinas : 1225-1274) ने ईसाई मत में तर्कसंगत पूछताछ की प्रक्रिया लाने के लिए अरस्तू (Aristotle) के कार्यों की सहायता ली। प्लेटो एवं अरस्तू ईसाई मतशास्त्रों के विकास के प्रमुख स्रोत रहे और दोनों ही ईसा-पूर्व के यूनानी थे तथा इस प्रकार उन्होंने ईसाई मत में बौद्धिकता लाने के लिए यूनान के दार्शनिक विचारों का

प्रमुखता से उपयोग किया।[62] उल्लेखनीय है कि एक समय तक चर्च ने एक्विनास (Aquinas) के दार्शनिक विचारों को विधर्मी और रहस्योद्घाटनों के लिए एक ख़तरा बताया था। दोनों ही मामलों में, जो कृत्रिम एकता ये मतशास्त्री खोज रहे थे, वह पहुँच के बाहर रही, नतीजतन कई प्रश्न अनसुलझे रहे जिनसे नई चिन्ताएँ पनपीं तथा इनके उत्तराधिकारियों के बीच कई उत्तेजक विवादों का कारण बनीं।[63] एक्विनास (Aquinas) ने पाया कि वह अभिन्न एकता के विचार को कभी भी पूरी तरह व्यक्त नहीं कर पायेगा, जिसकी प्रकृति तर्कसंगत होने की अपेक्षा रहस्यमयी है।

बाद में प्रोटेस्टेण्ट सुधारवाद (Protestant Reformation) ने महत्वपूर्ण वैज्ञानिक तथ्यों और उजागर सत्यों में आपसी मेल का मार्ग प्रशस्त किया, परन्तु बाद के ज्ञानोदय को मूल विश्वास और तर्क के बीच सामंजस्य बैठाने में केवल आंशिक सफलता ही मिली। ऐसे प्रयासों का परिणाम प्राय: दोनों पक्षों में से एक का विनाश या उनके आपसी संघर्षों के सतत् जारी रहने के रूप में ही हुआ है।

समस्या क्रमांक 3—बाह्य विस्तार

पश्चिमी सभ्यता में इन प्रमुख दरारों के साथ-साथ कई अन्य मतभेद भी हैं, जैसे प्राचीन बनाम आधुनिक, असभ्य या मूर्तिपूजक बनाम सभ्य, आदिम बनाम परिष्कृत तथा बहुदेववादी बनाम एकेश्वरवादी। इस प्रकार के लगभग सभी विभेदों ने या तो किसी एक प्रवृत्ति के द्वारा दूसरी को हड़पने अथवा जबरदस्ती के कृत्रिम समझौतों के लिए मजबूर करने अथवा प्रतिरोधी तत्वों को पूरी तरह से ख़ारिज करने का मार्ग प्रशस्त किया है। इन प्रवृत्तियों एवं प्रक्रियाओं में लगभग हमेशा ही व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से दूसरों पर हिंसक योजनाओं को सम्मिलित किया गया।

यीशु और बुद्ध जैसे महान शिक्षकों के उपदेश से शिक्षा कि ''पृथकतावादी अहंकार के कारण ही पीड़ा उपजती है,'' की अपेक्षा पश्चिमी अहंकार उग्र रूप से अपने आप को निरर्थक ख़तरनाक तरीकों से बाहरी संसार को अपने अधीन करने के लिए बलपूर्वक प्रयास करता है। इस अहंभाव की हताशा को बाकी दुनिया पर थोपने की प्रक्रिया ने एक ऐसी एकता को जन्म दिया जोकि कृत्रिम भी है और हिंसक भी। उदाहरण के लिए प्राचीन यूरोप की धरती से जुड़े सम्प्रदायों एवं पूर्णतावादी सांस्कृतिक संरचनाओं (तथाकथित मूर्तिपूजकों) का प्रारम्भ के ईसाई प्रभुत्व के समय जिस प्रकार नाश किया गया वह जितना सोचा था उससे कहीं अधिक व्यापक और विनाशकारी था।[64] मूर्तिपूजक मत यूरोप में कई शताब्दियों तक बने रहे और उन्हें, विशेषकर महिलाओं को, दण्ड देने के लिए इनक्यूजीशन (Inquisition) नामक न्यायालय प्रणाली विकसित की गई। यूरोपीय आक्रमण और विजय के दौरान कई मूल अमरीकियों का नरसंहार एक लिपिबद्ध दस्तावेज है। उन्हें अधिक से अधिक अलग-थलग आरक्षित क्षेत्रों में रहने के लिए मजबूर किया गया तथा हेय रूप में

संग्रहालयों में प्रदर्शन हेतु और साथ ही उनकी याद को उत्सव के रूप में हर मोड़ पर विलक्षण आदर्श की तरह प्रस्तुत किया जाता है।

पश्चिमी मनोमस्तिष्क में उस समय भ्रम की स्थिति पैदा हो जाती है जब उसे किसी ऐसी दूसरी सभ्यता का सामना करना पड़ता है जो उनके द्वारा बनाये गये द्वि-आधारी सिद्धान्त और परस्पर विरोधी तत्वों के खाँचे में पूरी तरह नहीं बैठती। उदाहरण के लिए पश्चिमी सन्दर्भ में भारत सभ्य और बर्बर, आदिम और परिष्कृत तथा धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष सभी है। यह साधारण ग्रामीण समाज एवं परम्परागत शहरी संस्कृति, एकीकृत नेतृत्व एवं उच्चतर विज्ञान से ले कर राजनीति, व्यापार और भौतिकी तक सभी को स्वीकार करता है। पश्चिमी समाज इस संस्कृति में प्रतिकूल दिखने वाले तत्वों के एकीकरण को असम्भव मानता है तथा उन्हें पचाने या उसके किसी घटक को खारिज करने के किये उन्हें सुपरिचित श्रेणियों में ढालता है।

अत: जब पश्चिम अपने ही घर में एक स्थिर एवं सुसंगत दृष्टिकोण स्थापित करने में असमर्थ होता है तो वह विभिन्न अभियानों द्वारा दूसरों पर विजय प्राप्त करने एवं उन्हें दमन करने निकल पड़ता है। अपने भीतर के विशाल खोखलेपन को भरने के लिए वह अन्य संस्कृतियों और व्यक्तियों को निगलने और पचा जाने योग्य संसाधन के रूप में देखता है।[65]

समस्या क्रमांक 4—पश्चिमी अहंकार द्वारा मुक्ति का गलत प्रयास

पश्चिमी दृष्टिकोण का अधिकांश हिस्सा इस पूर्व-सोच से ग्रस्त है कि स्वयं और दूसरे के बीच व्यक्तिगत तथा सामूहिक स्तर पर एक मूलभूत तनाव है। इस तरह का तनाव उनमें सामयिक परिस्थितियों के सम्बन्ध में गहरी चिन्ताएँ पैदा करता है और साथ ही ऐसी सोच कि किसी बाहरी बदलाव की आवश्यकता है। यह अनुभूत अभाव जिसे कुछ विद्वानों ने 'दु:ख' (एक धार्मिक सिद्धान्त जिसकी व्याख्या अध्याय 5 में की गई है) की पश्चिमी अभिव्यक्ति के रूप में तार्किकता दी है जो भौतिक, मनोवैज्ञानिक अथवा बौद्धिक किसी भी रूप में हो सकता है। अपने भीतर की इस कमी का शमन बाहरी संसार में खोजना पश्चिम का एक मौलिक भ्रम है जिसे बौद्ध एवं अन्य धार्मिक परम्पराओं ने चुनौती दी है।[66]

इस प्रकार आत्म-द्वैतवाद एवं उसकी निहित चिन्ताएँ बढ़ती जाती हैं और परस्पर एक-दूसरे का विरोध करती हैं। जैसे-जैसे अहंकार बढ़ता है वह उसके लिए और व्याकुल होता है जो उसके पास नहीं है, क्योंकि उसकी प्रकृति हमेशा असन्तुष्ट रहने की है। इसके विपरीत व्याकुलता जितनी बढ़ती है अहम् भी उतना सशक्त होता जाता है और वह हताश हो कर उसकी इच्छा करता है जो उसके पास नहीं होता। यह प्रक्रिया अन्तहीन एवं आत्मघाती होती है, क्योंकि यह स्वयं की एक कृत्रिम धारणा पर आधारित होती है।[67]

इस अनवरत अभियान के परिणामस्वरूप पश्चिमी अस्मिता समय के साथसाथ मजबूत होती जाती है। क्योंकि ये चिन्ताएँ लगातार संचित हो कर दृढ़ बनी रहती हैं, यह झूठी अस्मिता या पहचान बैठ सकती है, परन्तु नये रूप में फिर से उठ खड़ी होती है। कृत्रिम अस्मिता और कृत्रिम संस्कृति की बुनियादी समस्या अनसुलझी ही रहती है।

इस समस्या की असली जड़ यह है कि विभाजित अस्मिता की धारणा एक कृत्रिम विचार है जो कि मुख्यत: अतीत पर आधारित हो कर मुख्य पात्र के रूप में प्रमाणित होता है। अस्मिता हमेशा भविष्य में कुछ खोजती रहती है और इस कारण वह वर्तमान में रहने का अवसर खो देती है। वर्तमान में रह कर लम्बे समय तक जाँच के बाद ही आन्तरिक विज्ञान की खोज सम्भव है और इस व्यग्रता पर काबू करके उसका इलाज किया जा सकता है। परन्तु पश्चिमी अवधारणा में अतीत एवं भविष्य की काली छाया वर्तमान पर पड़ी रहती है, फिर चाहे वह बाइबल की सृजन सम्बन्धी अवधारणा हो या मानव के पतन की, या मुक्ति एवं काल समाप्ति की अवधारणा अथवा विकास एवं प्रगति सम्बन्धी कोई धर्मनिरपेक्ष अवधारणा हो जो इन्हीं तरह के नियमों का पालन करती हो। अतीत एवं भविष्य का यह संयोजन कतिपय भव्य ऐतिहासिक कथानकों का ही परिष्कृत संस्करण है जो वर्तमान के अनुभवों पर परदा डाल देता है।

ऐसा कहा जा सकता है कि समस्या दरअसल दोहरी है — 1) यह अस्मिता अतीत से निर्मित है तथा यह उस पूर्व-वृतान्त को वर्तमान से अनुकूल करने के लिए प्रयासरत रहती है तथा 2) इस अस्मिता को उसके इतिहास से मुक्ति दिलाने के प्रयास में वर्तमान 'क्षण' (पल) को भविष्य की वेदी पर बलि चढ़ा दिया जाता है।

गैर-पश्चिमी समाज में स्वतन्त्रता विकसित क्यों नहीं हो पायी, इसके बारे में आधुनिक पश्चिमी जगत की अपनी उग्र सोच है। सनातन धार्मिक परम्पराओं में विकल्प के रूप में 'स्वतन्त्रता' के विषय में 'मोक्ष,' 'मुक्ति' और 'निर्वाण' के विचारों को पश्चिम ने कभी भी पर्याप्त मान्यता नहीं दी।[68] भारतीय धार्मिक परिप्रेक्ष्य में पश्चिमी समाज स्वतन्त्रता से नहीं बल्कि अपनी अस्मिता के गढ़े हुए अधिदेशों से संचालित है, जोकि सीमित संसार में असीमित विस्तार की आकांक्षा रखते हैं। जैसा कि हम जानते हैं कि यह न तो स्थायी है और न ही समस्त मानवता के लिए व्यावहारिक है। इतिहास कई षड्यन्त्रों (जिनमें उपनिवेशवाद और नरसंहार भी सम्मिलित हैं) की ओर संकेत करता है, जिन के द्वारा ग़ैर पश्चिमी समाज को दुर्बल और नियन्त्रित करने का कार्य किया गया।[69]

इसके अतिरिक्त यीशु समेत यहूदी पैग़म्बर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के बारे में अधिक चिन्तित नहीं थे; इसकी अपेक्षा उन्होंने ईश्वर की आज्ञा का पालन करके सामूहिक स्वतन्त्रता पर बल दिया। पॉल (Paul) ने स्वतन्त्रता शब्द को प्रचलित किया, परन्तु सनातन धार्मिक सन्दर्भों के अर्थों में नहीं। कुछ प्राचीन यूनानी विचारकों जैसे सुकरात (Socrates) और प्लेटो (Plato) ने प्राचीन भारतीयों के विपरीत आन्तरिक क्षेत्र तथा

आन्तरिक एवं बाह्य जगत में समन्वय लाने के महत्व पर बल दिया; उन्होंने स्वतन्त्रता को तर्क के साथ जोड़ा, जिससे वे आन्तरिक प्रक्रियाओं की गहरी समझ बनाने तथा वर्तमान का सीधा सामना करने के लिए योग जैसी प्रक्रिया की खोज नहीं कर सके। वे योग से मिलने वाले सन्निहित ज्ञान तक नहीं पहुँच पाये।

जैसा कि हमने देखा, सन्त ऑगस्तीन (St. Augustine), जोकि सम्भवत: ईसाई परम्परा में मतशास्त्र, मनोविज्ञान एवं सामाजिक सिद्धान्तों के सबसे प्रभावशाली विचारक थे, ने भी अपने विचारों में 'मनुष्य मूलरूप से पापी है' वाले सिद्धान्त की अवधारणा पर अधिक बल दिया, जिसे उन्होंने 'आदम' (Adam) द्वारा स्वतन्त्रता के दुरुपयोग के रूप में परिभाषित किया। मूलत: पापी होने की अवधारणा ने ईसाइयों को एक पहचान अवश्य प्रदान की, परन्तु क्योंकि यह पहचान पाप से सनी हुई है, इसलिए इसमें स्वतन्त्रता की कमी है। कृपा के मुफ्त उपहार के रूप में समाधान को सहज रूप से तब तक टाल दिया गया है जब तक की व्यक्ति परलोक में दिव्य दृष्टि नहीं पा लेता। विकल्प यह है कि प्रलय के दिन जब यीशु दोबारा आयेंगे, तब उन्हें सामूहिक रूप से यीशु द्वारा बचा लिया जायेगा। किसी भी स्थिति में स्वतन्त्रता 'वर्तमान' में नहीं मिलती, इसलिए व्यग्रता बनी रहती है।

ईसाई मत में 'पाप' की अवधारणा वर्तमान स्थिति में असन्तोष (अथवा दु:ख) का सामना करने की एक व्याख्या बन गई है, परन्तु यह अवधारणा वर्तमान में योग के माध्यम से गहन अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने की अपेक्षा वर्तमान से आँखें चुरा कर भविष्य में मिलने वाली मुक्ति में निहित है। मुक्ति दिलाने की स्थगित की हुई प्रतिज्ञा चर्च नामक संस्था को समर्पण देने को कहती है, जोकि ईश्वर का विशिष्ट अधिकार क्षेत्र है। हिन्दू और बौद्ध धर्म में वास्तविक मुक्ति वर्तमान क्षण में आन्तरिक साधना द्वारा साध्य है, परन्तु पश्चिम में प्राय: यह अवधारणा उनके अतीत में गुम हो गई थी और भविष्य में मिलने वाली स्वतन्त्रता की मृग-तृष्णा का पीछा करने में ओझल हो जाती है।

ईसाई हठधर्मिता एवं यूनानी दलीलें—एक विसंगति

जैसा कि टेम्पलटन फ़ाउण्डेशन (Templeton Foundation) के साथ मेरी मुठभेड़ में हमने देखा, पश्चिमी संस्कृति के सबसे प्रमुख विवादों में विज्ञान और धर्म के बीच का संघर्ष प्रमुख है। विशेष रूप से अमरीका में इस तनाव की जड़ें बहुत गहरी हैं, जहाँ डार्विन के क्रमिक विकास के सिद्धान्त को सृष्टिवाद से बदलने के प्रयास यहूदी-ईसाई मतों की अविवेचनीय नीतियों की ओर संकेत करते हैं, जिनके अनुसार इस संसार का निर्माण एक बाहरी शक्ति ने शून्य से एक बार में ही कर दिया था।

यह सारगर्भित है कि डार्विन के क्रमिक विकास के सिद्धान्त का सबसे शोर भरा विरोध उन्हीं समूहों की ओर से होता है जो ईसाइयत और उसके हठधर्मी सिद्धान्तों के पक्ष में ऊँची आवाज़ उठाते हैं। इसके विपरीत कट्टर से कट्टर रूढ़िवादी हिन्दू, बौद्ध या

जैन विचारक भी ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के सिद्धान्त अथवा किसी अन्य वैज्ञानिक सिद्धान्त के विरोध में बहस करने के इच्छुक नहीं होते। हालाँकि धार्मिक विश्वदृष्टि रखने वाले कुछ वैज्ञानिकों ने भी डार्विन के सिद्धान्त पर प्रश्न उठाये हैं, परन्तु ये प्रश्न उस सिद्धान्त के पीछे स्थित विज्ञान से सम्बन्धित हैं, न कि किसी साम्प्रदायिक हठधर्मी सिद्धान्त से।[70]

टेम्पलटन फ़ाउण्डेशन का यह सम्मेलन हाल के वर्षों में एक प्रमुख सम्मेलन था, जिसमें बाइबल आधारित मत को मूलत: वैज्ञानिक घोषित करने का प्रयास किया गया था। इसी शैली में जैसा कि हम देखेंगे, अमरीकी लेखक केन विल्बर (Ken Wilber) ने एक अभिन्न दार्शनिक कार्ययोजना तैयार करने का प्रयास किया है (एक बार पुन: बिना किसी अभिस्वीकृति के) जो बौद्ध ज्ञान एवं हिन्दू आन्तरिक विज्ञान को समाविष्ट करता है और कभी-कभी इतिहास-केन्द्रित ईसाइयत की ओर भी चला जाता है। पश्चिम के ब्रह्माण्ड विज्ञान में गहरे परिवर्तन को छोड़ कर (जिसके अनुसार नीसिया पन्थ—Nicene Creed—में उल्लिखित अविवेचनीय मान्यताओं को अस्वीकृत करना पड़ेगा) अभिन्न एकता लाने के ऐसे प्रयासों का बहुत जल्दी ही सफाया हो जाता है।

यहूदी और यूनानी मत

विज्ञान और धर्म के बीच विभाजन की शुरुआत का वर्णन एक ब्रिटिश कवि और सांस्कृतिक इतिहासकार मैथ्यू अर्नोल्ड (Matthew Arnold : 1822-1888) ने बहुत पहले किया था। अर्नोल्ड (Arnold) ने बाइबल (प्राचीन यहूदी) तथा ग्रीक (यूनानी) परम्पराओं के बीच इस गहरे विभाजन को सटीक और ज़ोरदार तरीके से समझाया, जोकि पश्चिमी सभ्यता के जन्म के समय से ही चला आ रहा है। वे लिखते हैं—

> ''यहूदी और यूनानी दोनों ही मत मानव प्रकृति की आवश्यकताओं से उत्पन्न हुए हैं तथा उन्हीं आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने में लगे रहते हैं। परन्तु दोनों के तरीके इतने भिन्न हैं कि वे ऐसे भिन्न बिन्दुओं को महत्व देते हैं तथा अपनी-अपनी व्यवस्थाओं द्वारा ऐसे भिन्न-भिन्न क्रियाकलापों को करते हैं कि मानव प्रकृति का चेहरा एक के हाथ से दूसरे के हाथ में जाते हुए एकदम बदल जाता है।''[71]

अर्नोल्ड द्वारा पश्चिमी सभ्यता के दोनों भागों के परस्पर अन्तर्विरोध का वैविध्यपूर्ण चित्रण आज भी स्पष्ट रूप से दिखता है। उसने अज्ञानता से निपटने सम्बन्धी उनके अलग रास्तों को इस प्रकार बताया है—

> अपने अज्ञान से छुटकारा पाने के लिए वस्तुओं को जैसी वे हैं वैसी देखना और इस तरह देखने में उन्हीं के अनुरूप उनकी सुन्दरता में उन्हें देखना यूनानी सभ्यता का सरल और आकर्षक आदर्श है, जिसे यूनानी सभ्यता मानव प्रकृति के सामने रखती है; तथा इसी आदर्श की सादगी और आकर्षण से यूनानी सभ्यता और उसमें मानव का जीवन एक सुखद आराम, स्पष्टता और चमक के

> साथ रहा, जिसे हम प्रकाशयुक्त और मधुरता से भरा मानते हैं। इसमें कठिनाइयों को दृष्टि से दूर रखा जाता है और आदर्श युक्त सौन्दर्य एवं तार्किकता हमारे मूल विचारों में विद्यमान रहती हैं। कहने में यह सब अच्छा लगता है कि हमें अज्ञान से छुटकारा पाना चाहिए, वस्तुओं को उनके वास्तविक स्वरूप में देखना चाहिए, परन्तु यह सब कैसे किया जा सकता है जब कोई हमारे प्रयासों को विफ़ल करने में लगा हो? यह कुछ और नहीं पाप है तथा यहूदियत में पाप को जो स्थान प्राप्त है वह यूनानियत की तुलना में वास्तव ही गुरुतर है। पूर्णता को प्राप्त करने में यह बाधा पूरे परिदृश्य पर हावी है और पूर्णता कहीं दूरस्थ धरती से दूर उभरती हुई पृष्ठभूमि में दिखाई देती है। पाप के नाम के तहत स्वयं को जानने और जीतने की कठिनाइयाँ, जो व्यक्ति के पूर्णता के मार्ग में बाधक हैं, यहूदी मत के लिए मानव के प्रतिकूल सकारात्मक, सक्रिय इकाई के रूप में एक रहस्यमयी शक्ति बन जाती है।[72]

यहूदियत में पाप की अवधारणा पर बल देना यूनानियत में मानव की स्थिति को सम्बोधित करने के लिए बुद्धिमत्ता के प्रयोग करने के विपरीत है। आर्नोल्ड आगे लिखते हैं—

> पुराने टेस्टामेण्ट (Old Testament) के नियम-अनुशासन को संक्षेप में एक ऐसे अनुशासन के रूप में व्यक्त किया जा सकता है जो हमें पाप से घृणा और उससे दूर भागने की शिक्षा देता है, जबकि नवीन टेस्टामेण्ट (New Testament) का अनुशासन हमें इस पाप के लिए मरने की शिक्षा देता है। यूनानियत स्पष्ट सोच और वस्तुओं को उनके मूल सार एवं सुन्दरता में देखने की बात करती है तथा मानव को उसे प्राप्त करने हेतु एक भव्य एवं अनमोल उपलब्धि के रूप से देखती है, जबकि यहूदियत 'पाप' की भावना के प्रति सचेत रहने को कहती है तथा इसी पाप में जागे रहने को ही एक उपलब्धि मानती है। दोनों मत अपने प्रमुख नियमों पर टिके हुए हैं, एक स्पष्ट बौद्धिकता पर जबकि दूसरा कठोर आज्ञाकारिता पर, एक अपने कर्तव्यों के आधारों को पूरी तरह समझने पर जबकि दूसरा उसके कर्मठ अभ्यास पर।[73]

आर्नोल्ड आगे कहते हैं कि प्रोटेस्टेण्ट/कैथोलिक (Protestant/Catholic) विभाजन ने ईसाई मत और यूनानी मत के बीच की खाई को पाटने में कुछ नहीं किया, क्योंकि प्रोटेस्टेण्टवाद (Protestantism) कुछ और नहीं बल्कि बिना बौद्धिक उत्कृष्टता के उसी कैथोलिक मानसिकता का दूसरा रूप है।

महान प्रारम्भिक ईसाई मतशास्त्री टरटुलियन (Tertullian: 160-230) का प्रसिद्ध प्रश्न था, ''एथेंस का यरूशलम से क्या लेना-देना है?'' इससे पता चलता है कि पश्चिमी संस्कृति की दो विभिन्न विचारधाराओं को आपस में संश्लेषित करने में क्या कठिनाई आ रही थी तथा उनमें से एक को ही अपनाया जा सकता है।

इस विभाजन की पुनरावृत्ति इतिहास में कई रूपों में होती रहती है—चाहे वह मध्ययुग के प्रारम्भ में बाइबल आधारित ज्ञान और शास्त्रीय यूनानी तत्वमीमांसा के बीच हो अथवा पुनर्जागरण काल (Renaissance) में धर्मनिरपेक्ष और धार्मिक कला के बीच तनाव में हो, अथवा ज्ञानोदय काल (Enlightenment) में तर्क और रहस्योद्‌घाटन के बीच तनाव में हो या फिर आज के विज्ञान और धर्म, धर्मनिरपेक्षता और पवित्रता, कट्टरतावाद एवं मानवतावाद के बीच के सांस्कृतिक युद्ध में हो।

समस्या केवल ईसाई मत की सीमाओं के कारण ही नहीं है। यूनानी पक्ष के साथ भी एक प्रमुख समस्या है।

अरस्तू—'मध्य मार्ग' की उपेक्षा

जैसा कि हम देख रहे हैं, आरम्भिक ईसाई युग में निर्धारित नियमों के पालन से किसी बाहरी भगवान द्वारा ब्रह्माण्ड को नियन्त्रित करने का दृष्टिकोण यूनानी तत्वमीमांसा पर मढ़ दिया गया था और दोनों के विलय से मुक्ति की अवधारणा रची गई, जो पश्चिम के इतिहास और उसकी व्यवस्था की चिन्ता के प्रति संवेदनशील थी। बाद में यूरोपीय धर्मनिरपेक्षता भी तर्क या लोगो (Logos) को सार्वभौमिक सिद्धान्त मान कर इसी मार्ग पर चली। तर्क सत्य की ओर ले जाता है और सत्य सन्देह-रहित होता है तथा अद्वितीय, स्पष्ट, और पूरी तरह से प्रमाण्य होता है। जो इस तरह से तर्क नहीं करते या समान निष्कर्षों तक नहीं पहुँचते वे समाज के लिए ख़तरा हैं, क्योंकि वे अराजकता एवं भ्रम फैलाते हैं। इनके लिए बाकी सब लोग 'अन्य' होते हैं। इन ग़ैर-पश्चिमी लोगों को तर्कहीन माना जाता है तथा वे अपने विश्वास, धार्मिक रस्मों तथा रिवाजों के बारे में जो भी स्पष्टीकरण देते हैं उन्हें ख़ारिज कर दिया जाता है। पश्चिम तार्किकता की सर्वश्रेष्ठता का यह भाव उनकी अपनी पहचान की श्रेणियों पर आधारित ज्ञान-पद्धति पर नियन्त्रण रखने से सम्बन्धित है। यह वास्तव में पश्चिम के अजीबोगरीब इतिहास को दर्शाता है। इस के कारण पश्चिम की विशिष्ट द्वि-आधारी श्रेणियों जैसे सच/झूठ, अच्छा/बुरा, स्वयं/अन्य इत्यादि को बढ़ावा मिलता है और विविधता एवं रचनात्मक विकास के लिए कोई जगह नहीं बचती।

सत्य का यह दृष्टिकोण पश्चिमी प्राण प्रतिष्ठा के उस शास्त्रीय अरस्तूवादी कानूनों से उपजा है जिसमें मध्यमार्ग बिलकुल छोड़ दिया गया है, अर्थात् दो विपरीत प्रस्तावों के बीच कोई भी समझौता नहीं हो सकता। इसे द्वियोजित अथवा दो मूल्यों वाली प्रणाली के रूप में सन्दर्भित किया जाता है जहाँ केवल 'सही' या 'गलत' दो ही परिणाम हो सकते हैं; एक साथ कुछ भी सही/गलत नहीं हो सकता। हालाँकि यह सिद्धान्त कुछ व्यावहारिक पहचान बनाने के लिए उपयोगी है, परन्तु इस जड़ सिद्धान्त को अनिवार्यता देने से इसने सामान्य और तार्किक विचारों पर कठोर सीमाएँ बाँध दीं। आज भी यह सिद्धान्त पश्चिमी दर्शन और विज्ञान के शिक्षण का आधार है तथा ऐसा कोई भी दृष्टिकोण जो इसके अनुरूप नहीं होता उसे अस्वीकार कर दिया जाता है।

अरस्तू के इस दो श्रेणियों वाले सिद्धान्त ने पश्चिम को ‘स्थायी और अन्तिम गुणों’ वाले विचार दे कर सहायता दी तथा उस अपवर्जित मध्य (Excluded Middle) नियम का उपयोग उसमें आध्यात्मिक व्यवस्था और यथार्थता लाने के लिए किया। पश्चिमी दर्शन की बाद में आईं परम्पराओं ने भी इस हठी विभाजक तर्क को अपनाया और वास्तव में यह पश्चिमी विचारधारा का एक प्रमुख सिद्धान्त बन गया। विशिष्टता और पृथकतावाद एक-दूसरे को बल देते हैं जिससे बौद्धिक नियन्त्रण को उकसाने में सहायता मिलती है।

अपवर्जित मध्य का सिद्धान्त एक दृष्टिकोण से दूसरे को पूर्ण रूप से अलग करने का आदेश देता है। सभी भौतिक और तार्किक इकाइयाँ अपरिवर्तनीय हैं, एकदूसरे से परस्पर बिल्कुल अलग। यह केवल एक को दूसरे से पहचानने का व्यावहारिक मापदण्ड भर ही नहीं है बल्कि यह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में वास्तविकता की प्रकृति बन चुका है। यह नियम वस्तुओं के पारस्परिक रूप से निर्भर होने, एक-दूसरे से जुड़े होने अथवा एक-दूसरे में अन्तर्निहित होने की सम्भावना को समाप्त करता है। यह पहले चर्चित अभिन्न एकता के गुथे हुए और गतिशील सम्बन्धों की विशेषताओं से बिलकुल विपरीत है। अत: इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि पश्चिमी टीकाकारों ने बौद्ध धर्म के ‘चतुष्कोटि’ सिद्धान्त अथवा जैन धर्म के ‘शायदवाद’ जैसे तर्कसंगत ढाँचों को तब अनिश्चित और रहस्यवादी विचार मान कर ख़ारिज किया जब बड़े ही असुविधापूर्ण ढ़ंग से उन्हें उनका सामना करना पड़ा।

इस प्रकार पश्चिमी सोच अलग की जाने वाली श्रेणियों, परिभाषित नियम, सही/गलत तर्क, असन्दिग्ध परिणामों, स्थापित सत्ताओं तथा नियन्त्रण जैसी बातों को विशेषाधिकार देती है। यह प्रवृत्ति उस यूनानी विचार से निकली है जो स्वयंसिद्ध प्रतिरूपों पर आधारित है, जिनसे व्यक्ति तर्कसंगत अनुमान लगा कर किसी एक परिणाम तक पहुँचता है। पश्चिम का यह सिद्धान्त, दर्शनशास्त्र, विज्ञान एवं धर्मशास्त्र जैसे सभी क्षेत्रों में कार्यरत है। पश्चिमी दार्शनिक इस कट्टर सत्तामीमांसा में सुधार हेतु संघर्षरत हैं, परन्तु उनकी मूलभूत प्रवृत्ति अभी भी कट्टर ही है। मानक बुद्धि परीक्षण तथा मनोवैज्ञानिक एवं मानसिक प्रक्रियाओं के आंकलन हेतु जो मापदण्ड अपनाये जाते हैं वे अरस्तू की मानक द्वि-आधारी इकाइयों के परस्पर विनिमेय पर निर्भर रहते हैं।

हालाँकि कुछ पश्चिमी विचारकों ने अलगाववादी तर्क का विरोध किया है, परन्तु धर्मनिरपेक्षतावादी निरंकुश ताकतों ने उनके तर्क को पूरी तरह ख़ारिज भले ही न किया हो परन्तु दबा ज़रूर दिया है।[74] विशिष्टतापूर्ण यहूदी-ईसाई अलगाववादी लोकाचार के दो आधारों में से एक अरस्तु का यह नियम है, जबकि दूसरा आधार उनकी इतिहास-केन्द्रिक अलगाववादी प्रकृति है।

पश्चिम के पाँच कृत्रिम आन्दोलन

पश्चिम में पाँच ऐतिहासिक आन्दोलन हुए हैं जिनके द्वारा हम उसकी कृत्रिम एकता एवं अहंकार के प्रक्षेपण की विशिष्टता की समस्याओं को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं, वे हैं—

1) रोम की सत्ता का उदय एवं पश्चिमी ईसाइयत का जन्म;

2) पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी के सुधार एवं पुनर्जागरण;

3) आधुनिक विज्ञान एवं उससे उपजी प्रबुद्धता का जन्म;

4) उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के पूर्वी पुनर्जागरण;

5) उपनिवेशवादी विस्तार

इन सभी कालखण्डों में हमने देखा कि शास्त्रीय एवं प्राचीन यहूदी मानकों के पहले से ही अस्थिर संयोग टूटते चले गये तथा उनसे उपजी व्यग्रता से प्राय: दूसरों पर हिंसक तरीकों से वार हुए।

रोम एवं पश्चिमी ईसाई सत्ता का जन्म

रोमन सम्राट कॉन्स्टेंटाइन (Constantine: 274-337) द्वारा प्रारम्भिक ईसाई मत को हथियाने से ईसाइयत बड़े पैमाने पर पहली बार संगठित हुई तथा रोमन साम्राज्यवाद के ढाँचे के भीतर ही ईसाई आधिपत्य स्थापित हुआ। यहाँ हम पहले वर्णित कुछ समस्याओं को सतह पर प्रकट होते हुए देखते हैं, विशेषकर उच्च चेतना-युक्त आन्तरिक वैज्ञानिक तकनीकों की उपेक्षा, उद्घोषित मत और बौद्धिक तत्वमीमांसा के बीच व्याकुल कृत्रिम एकता, तथा पश्चिमी मनोमस्तिष्क का देहमुक्त और बाह्य प्रक्षेपण, जिनसे धर्मान्तरण एवं साम्राज्यवादी विस्तार जैसी परियोजनाओं का जन्म हुआ है। ईसाइयत के प्रारम्भ के लगभग एक हज़ार वर्षों तक रोमन साम्राज्यवाद या तो स्वयं रोम के रूप में या पवित्र रोमन शासन के रूप में अथवा रोमन कैथोलिक चर्च के रूप में समूचे यूरोप पर हावी रहा।

सदियों तक यह अटूट वर्चस्व प्राय: निरंकुश शासकों द्वारा हिंसक तरीके से धर्मान्तरण करने की लालसा से प्रेरित था। इस प्रकार हम कॉन्स्टेंटाइन (Constantine) द्वारा रोम के आधिकारिक मत के रूप में की जाने वाली ईसाई राज्य स्थापना की कथाओं में मत आधारित पश्चिमी आक्रामक हिंसा को (जो कि उसके बाद के सम्राटों और विजेताओं ने जारी रखीं) देखते हैं जिसमें उन्होंने बलपूर्वक बड़े पैमाने पर बपतिस्मा किया था।[75]

रोमन साम्राज्य पर प्रभुत्व सिद्ध करने वाले युद्ध के एक प्रत्यक्षदर्शी वर्णन के अनुसार कॉन्स्टेंटाइन ने अपनी आँखों से सूर्य से ऊपर स्वर्ग में प्रकाश-युक्त क्रॉस की एक ट्रॉफी देखी, जिस पर लिखा था, 'इसके द्वारा विजय प्राप्त करो।' तब कॉन्स्टेंटाइन ने अपनी सेना को एकत्रित करके उन्हें उस 'क्रॉस' के सहारे विजय प्राप्त करने हेतु प्रेरित किया। इस क्रॉस को उसने ''सोने से मढ़े हुए एक ऐसे लम्बे भाले'' के रूप में

वर्णित किया जो एक आड़ी पट्टी के रूप में उस भाले के ऊपर लगा हुआ था। उसकी सेना ने इस क्रॉस का उपयोग एक झण्डे के रूप में करते हुए सफलतापूर्वक विजय प्राप्त की और इस प्रकार कॉन्स्टेंटाइन उस क्रॉस से मिलने वाली विजय की सच्चाई के प्रति और भी आश्वस्त हो गया।[76]

कॉन्स्टेंटाइन की अन्य संस्कृतियों पर विजय के अनुभव सम्राट अशोक के अनुभव, जो ईसा पूर्व 270 में भारत के मौर्य साम्राज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हुए थे, के एकदम विपरीत प्रतीत होते हैं। पड़ोसी राज्य कलिंग पर हमला करके अशोक ने अपने पहले से ही बड़े साम्राज्य को और भी विस्तार दिया। यद्यपि अशोक इस भयानक और भीषण युद्ध में विजयी रहे, परन्तु उन्हें दूसरों को दुःख के कारण पश्चाताप हुआ और उन्होंने बौद्ध धर्म अपना लिया। उन्होंने अपने तेरहवें राज्यादेश में लिखा था कि—

> ‘‘दिव्य महामहिम राजा ने कलिंग के निवासियों पर विजय प्राप्त की, जब वे आठ वर्षों से प्रतिष्ठित थे। लगभग डेढ़ लाख लोगों को बन्दी बना कर ले जाया गया, एक लाख व्यक्ति इस युद्ध में मारे गये और उससे कई गुना बाद में मरे। कलिंग पर कब्जा करने के तत्काल बाद दिव्य राजा का धर्म के प्रति प्रेम, धर्म संरक्षण तथा उसके निमित्त निर्देश देने का उत्साही कार्य आरम्भ हुआ। इस प्रकार दिव्य राजा की कलिंगवासियों पर विजय ने उनके पश्चाताप को जन्म दिया, क्योंकि पहले से अपराजित देश को जीतने में बहुत से लोगों का वध होता है, बहुतों की मृत्यु होती है और उन्हें बन्धक बना कर ले जाया जाता है। यह इस दिव्य राजा के लिए गहरे दुःख और खेद की बात है।[77]

अशोक ने अपनी सेना को निशस्त्र करके भंग कर दिया तथा अपना जीवन बौद्ध धर्म की शान्तिपूर्ण सेवा में समर्पित कर दिया। यह एक भिन्न प्रकार की विजय थी जिसमें एक आदर्श पेशेवर योद्धा ने धर्म के सामने आत्मसमर्पण किया, कॉन्स्टेंटाइन के ठीक विपरीत जिसने यीशु के धार्मिक सन्देश को एक सैन्य हथियार में बदल दिया। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अशोक की इस वीरता को ‘धर्म-विजय’ अथवा धर्म के माध्यम से विजय के रूप में जाना जाता है तथा इसे शासन कला की नीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए उपयोग किया गया एवं समूचे एशिया में फैलाया गया।

अशोक का यह उदाहरण इतना प्रभावशाली था कि कई अन्य एशियाई सम्राटों ने भी इसे अपनाया। उदाहरण के लिए जापान के राजकुमार शोतुकू (Shotuku) ने इसका उपयोग जापानी राष्ट्र को एकजुट करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को सुधारने में किया। प्रसिद्ध इतिहासकारों अर्नोल्ड टॉयनबी (Arnold Toynbee) तथा एच.जी. वेल्स (H.G. Wells) ने इस नीति के लिए सम्राट अशोक को अब तक का सबसे महान सम्राट बताया है।[78] इसके अतिरिक्त जब बौद्ध सभ्यता अपनाने को आतुर अन्य देशों (जैसे चीन, मंगोलिया, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया व थाईलैण्ड) की निगाह में भारत की आध्यात्मिक श्रेष्ठता सिद्ध हो गई थी, तब भी भारत ने कभी भी वहाँ के

शासकों पर अपना शासन थोपने का प्रयास नहीं किया, न ही उन को अपने में मिला कर किसी प्रकार का सम्मान या कर माँगा और न ही उनकी स्थानीय संस्कृतियों, भाषाओं एवं इतिहास को नष्ट करने का प्रयास किया।[79] इस तरह की सभ्यता और पश्चिमी सभ्यता के प्रसार के तौर-तरीकों में स्पष्ट विरोधाभास है जोकि गौर करने लायक बात है।

यहाँ यह इंगित करना महत्वपूर्ण है कि ईसाइयत को भिन्न-भिन्न एवं स्वदेशीय धार्मिक परम्परा वाले विशाल एवं बहुविध समुदाय, जिन्हें मूर्तिपूजकों का शीर्षक दिया गया, पर थोपने से एक ओर सेना और पादरियों के मत तथा दूसरी ओर विभिन्न लोगों की आस्थाओं के बीच गहरी दरार पड़ी।

इसके अतिरिक्त ईसाइयत चर्च की रोमन संस्था के रूप में एक धर्मतन्त्र बनी जो समूचे मध्ययुगीन काल के दौरान सत्ता में रही और इसकी एकछत्र, निरंकुश एवं हिंसक प्रवृत्ति ने निरन्तर विभिन्न प्रतिरोधों को आमन्त्रित किया। इससे पश्चिमी मानसिकता एवं राजनीति में और भी दरारें पड़ीं, विशेषकर धार्मिक एवं धर्मनिरपेक्ष शक्तियों के बीच। पिछले पेज पर दिये गये चित्र से पता चलता है कि किस तरह बौद्धिकता एवं आन्तरिक विज्ञान की कमी से बनी इतिहास केन्द्रिकता ने विभिन्न दोहरे मापदण्डों, आशंकाओं और पलायनवादी आन्दोलनों को जन्म दिया। इसका परिणाम था निरंकुश साम्प्रदायिक शासन।
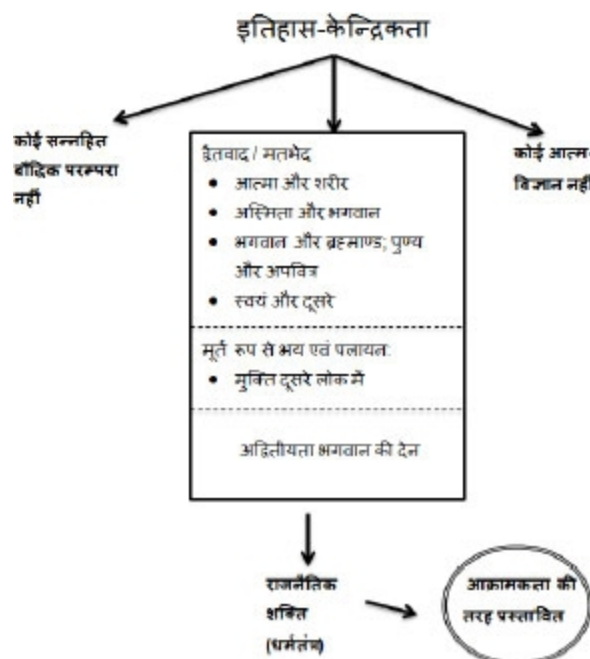
नवजागरण एवं सुधार आन्दोलन

पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के दौरान न केवल धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष शक्तियों के बीच, बल्कि यूनानियत और यहूदियत के बीच भी उस अस्थिर मध्ययुगीन कृत्रिम युग में विकार उत्पन्न हुए। लूथर (Luther), केल्विन (Calvin) और उनके अनुयायियों के दबाव में सुधारकों ने बाइबल के मूल आधारों पर वापस लौटने पर ज़ोर दिया, जबकि एक समय तक उनके सहयोगी रहे कला और ज्ञान के मानवतावादियों ने शास्त्रीय यूनानी विचारों वाले ग्रन्थों, मूल्यों एवं विचारों को पुनर्जीवित करने पर बल दिया, जिसमें पादरी सत्ता अधिकारों के विरुद्ध तर्कों एवं कल्पनाओं के लिए नई प्रतिबद्धता सम्मिलित थी।

यह पुनर्जागरण प्राचीन यूनानियों के कई दार्शनिक एवं वैज्ञानिक ग्रन्थों की खोज द्वारा प्रेरित हुआ था। यह कार्य इस्लामी विद्वानों द्वारा प्रचारित हुआ जो रोमन चर्च के मुकाबले यूनानी विज्ञान के कम विरोधी थे।

पुनर्जागरण के तत्काल बाद प्रोटेस्टेंट सुधारवादियों ने नई तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक प्रणालियों का उपयोग किया तथा स्वतन्त्र जाँच की वकालत की। ऐसा होते हुए भी इससे उपजने वाले दोनों आन्दोलन स्वाभाविक रूप से विभाजित थे एवं एक-दूसरे के विरुद्ध भी। सुधारकों का लक्ष्य इतिहास-केन्द्रिकता से मुक्त होना नहीं था बल्कि मोक्ष के साधन पर कब्जा जमाये बैठे कैथोलिक पादरियों एवं रोमन आधिपत्य से स्वतन्त्र होना था। उक्त सुधार आन्दोलन ईसाइयों के मुक्ति के इतिहास से सना था तथा अन्ततः औपनिवेशिक विस्तार के दौरान खोजे गये नये मूर्तिपूजक समूहों के धर्म परिवर्तन की परियोजना को चालू रखने हेतु इसे काम में लिया गया।

ईश्वर के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करने की इच्छा लिए प्रोटेस्टेण्टों ने पादरियों के दमनकारी (और मँहगे) हस्तक्षेपों को नकारा और व्यक्तिगत एवं स्वतःस्फूर्त प्रार्थना तथा स्वचिन्तन पर बल दिया। फिर भी उनकी भगवान को अन्य मानने वाली द्वैतवादी सम्बन्ध वाली धारणा ने उन्हें आन्तरिक चेतना का विकास करके परमात्मा से मिलने की सम्भावना से रोके रखा। इसके अतिरिक्त उनके इस आग्रह ने कि ‘रहस्योद्घाटन किसी बाहरी भगवान के द्वारा होते हैं न कि आन्तरिक साधना से’ उन्हें धार्मिक जीवन में आध्यात्म विद्या की भूमिका से दूर रखा। पुनर्जागरण और सुधार आन्दोलनों ने साम्प्रदायिक प्रभुता के राज्य में धर्मनिरपेक्षता की वृद्धि की।

प्रबुद्धता आन्दोलन और आधुनिकता

इस आन्दोलन से जो लगभग वर्तमान काल तक खिंचा चला आ रहा है आधुनिक दर्शन का उदय हुआ और साम्प्रदायिक तथा धर्मनिरपेक्ष के बीच का अन्तर और बढ़ा, कुछ हद तक इसलिए भी क्योंकि रेने डेकार्ट (Rene Descartes) के कार्यों में विखण्डित तर्कों को प्रमुखता मिली। उनके आधुनिक विचार पूरी तरह से विखण्डित तर्कों पर आधारित थे जिनका आन्तरिक विज्ञान अथवा उस जैसी किसी भी चीज से

कोई लेना-देना नहीं था और ये पश्चिम में निहित द्वैतवाद पर आधारित थे, परन्तु उसे नये स्तर पर कार्टिज़यन विचार के रूप में महिमामण्डित किया गया। इस प्रकार राज्य (nation/state) इस द्वैतवाद की छाया तले बढ़ते रहे और कुछ हद तक रोमन चर्च की ईसाइयत परियोजना का धर्मनिरपेक्षवादी संस्करण बन गये।

यूनानी तर्कों तथा वैज्ञानिक निरीक्षण के निरन्तर विकास ने (साथ ही ईसाई पन्थ को किनारे रखते हुए) प्रबुद्धता आन्दोलन को जन्म दिया। चर्च के वर्चस्व को सफलतापूर्वक चुनौती दी गई तथा यूरोप को अँधकार युग से तर्क के प्रकाशमान युग में ले जाने में महत्वपूर्ण प्रगति हुई। बाइबल और विज्ञान के बीच निहित विरोधाभासों को देखते हुए यह एक बड़ी कीमत चुकाने के बाद ही हुआ, जिसने आत्मा और शरीर के बीच की दूरी बढ़ा दी, तर्क और रहस्योद्घाटन, वैज्ञानिक और आध्यात्मिक निरीक्षण तथा साम्प्रदायिक और धर्मनिरपेक्षता के बीच संघर्ष को तेज कर दिया। इन विरोधी पक्षों को कभी मिलने नहीं दिया; प्रत्येक को सीधे ही अलग-अलग निर्धारित अधिकार क्षेत्र में डाल दिया गया, जोकि प्राय: अपने विपरीत पहलू से अलग-थलग रहते थे।

पश्चिम की इन आन्तरिक समस्याओं को लगातार उपेक्षित किया गया, क्योंकि पश्चिम ने अपने ईसाई मत के उस पुराने विस्तारवादी एवं विजय अभियानों के प्रतिरूप को बाह्य-प्रस्तावित कार्यक्रम के रूप में ढाल दिया, हालाँकि अब यह एक नये धर्मनिरपेक्ष भौतिकतावाद से जुड़ चुका था।

यूरोपीय दृष्टिकोण में निहित गहरे विभाजन तथा उन्हें हल करने के प्रयासों का चरमोत्कर्ष डेकार्ट (Descartes) के काम में स्पष्ट दिखाई देता है। यहाँ पश्चिम में निहित मन/शरीर के द्वैतवाद को एक दार्शनिक पूर्णता की ऊँचाई तक पहुँचाया गया जो आगे चल कर यहूदी एवं ईसाई मतों और विखण्डित तर्क के बीच चले आ रहे मतभेदों को सुलझाने के प्रयास का आधार बना। वस्तुत: इसे उन्हें अलग-अलग अधिकार क्षेत्रों में स्थापित कर उपलब्ध किया गया।

पश्चिमी संस्कृति में निहित विरोधाभास का सबसे प्रसिद्ध उदाहरण है गैलिलियो (Galileo 1564-1642) को चर्च द्वारा दी गई सजा और कारावास, क्योंकि उसने सूर्य को सौर मण्डल का केन्द्र मानने सम्बन्धी कोपरनिकस (Copernicus) के विचार का समर्थन किया था। तब डेकार्ट ने स्वयं को गैलिलियो एवं चर्च के बीच की लड़ाई के बीच फँसा हुआ पाया। 1633 में डेकार्ट को उस पुस्तक को प्रकाशित न करने का निर्णय लेना पड़ा जिसमें वह कोपरनिकस के सिद्धान्त का समर्थन कर रहा था।[80] वैज्ञानिक के रूप में डेकार्ट का मानना था कि शरीर रूपी यन्त्र का संचालन भौतिकी के नियमों के अनुसार होता है, परन्तु कैथोलिक भक्त डेकार्ट के मन का विश्वास था कि मनुष्य की आत्मा ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करने अथवा न करने हेतु स्वतन्त्र है तथा प्रलय के दिन उसे इसका परिणाम भुगतना पड़ेगा।

उसने मन और शरीर सम्बन्धी द्वैतवाद के संघष को हल करने का प्रयास किया जिसके अनुसार शरीर भौतिक नियमों के आधार पर चलता है, जबकि आत्मा

और मन एकदम भिन्न तत्व हैं जोकि चर्च के सिद्धान्तों के अनुरूप कार्य करते हैं। मन के सम्बन्ध में विचार करते समय उसने इसके गुणों का परीक्षण शरीर एवं आत्मा से पूरी तरह से अलग हो कर किया। ''मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ...'' (Cogito Ergo Sum) उसकी प्रसिद्ध कहावत एवं कार्यपद्धति बन गई। दार्शनिक अटकलों एवं वैज्ञानिक परीक्षणों का क्षेत्र आत्मा एवं जीवित पदार्थ के क्षेत्र से अलग कर दिया गया और वह इस तरह एक अलग जीवन्त अस्तित्व बना। इस तरह के प्रणालीगत आदेशों अथवा संघर्ष विराम द्वारा एक को दूसरे के अधिकार-क्षेत्र में दखल दिये बिना आगे बढ़ने की छूट मिल गई।

पश्चिमी दर्शन के इतिहासकार डब्ल्यू. टी. जोंस (W.T. Jones) बताते हैं कि किस तरह यह समझौता कार्यरत हुआ—

> ''यदि मन और शरीर पूरी तरह से भिन्न हैं और प्रत्येक का सत्य उनकी अलग-अलग प्रकृति के अनुसार ही उद्घाटित होता है, तब यह असम्भव है कि मनोविज्ञान एवं शारीरिक विज्ञान एक दूसरे का परस्पर विरोध करें। इसलिए ऐसा कोई कारण दिखाई नहीं देता कि धर्मशास्त्री आधुनिक भौतिकी के अध्ययन में और भौतिकशास्त्री आध्यात्मिक सत्य की विशेष योग्यता के दावे में कोई हस्तक्षेप करें। विज्ञान और धर्म के बीच कोई मतभेद नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें से प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र में प्रधान है एवं कोई भी एक-दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करता।[81]

अत: विज्ञान एवं चर्च के अधिकार क्षेत्र इस तरह से परिभाषित किये गये हैं कि न तो उनके बीच कोई साझा क्षेत्र है और न ही कोई संघर्ष है। जैसा कि प्राय: होता है, जब पश्चिमी संस्कृति किन्हीं विदेशी विचारों को पचाती है तब एक अव्यावहारिक विभाजन होता है, जिसमें दोनों भाग इस तरह से अलग हुए जिससे प्रत्येक अपना अधिकार क्षेत्र नियन्त्रित कर सके। आज तक व्यावहारिक रूप से पश्चिम का मनोविज्ञान एवं दर्शन शास्त्र का प्रत्येक शिक्षा केन्द्र, मन एवं शरीर के विभाजन की कार्टीजियन समस्या को स्पष्ट अथवा परोक्ष रूप से सुलझाने को प्रमुख समस्या मानता है।[82]

भारतीय धार्मिक दर्शन ने इस प्रकार कभी भी राजनैतिक, दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र में मन/शरीर का विभाजन नहीं किया। उदाहरण के लिए 'प्राण' एक ऐसी प्रमुख अवधारणा है जो मन एवं शरीर के पारस्परिक सम्बन्धों को जोड़ता है। इसके अतिरिक्त प्राण को न तो मन में और न ही शरीर में समाहित किया जा सकता है, यह दोनों में व्याप्त है। 'प्राण' का एक सिरा प्रकट में उपस्थित है जबकि दूसरा सिरा अदृश्य है। प्राण केवल अपने अति स्थूल रूप में श्वास है, अन्यथा यह चीनी विचारों में

‘क्यूइ’ (Qi) के समान सभी स्तरों पर सूक्ष्म ऊर्जा से सम्बद्ध है। ध्यानयोग में अभ्यार्थी, ‘‘मुझ में प्राण है और मैं प्राण में हूँ’’ की शिक्षा का अनुभव करता है।

ब्रह्माण्ड के एक विशुद्ध यान्त्रिक मॉडल में कृषि से ले कर सामाजिक व्यवस्था एवं कारखानों तक को कार्टीजियन एवं न्यूटोनियन नियतिवाद का उपयोग कर सुव्यवस्थित किया जा सकता है। डेकार्ट ने ‘प्रकृति के नियम’ शब्द का लगातार उपयोग करके इस सिद्धान्त को स्थापित किया। जैसा कि हमने देखा, उसकी उपलब्धि धर्मशास्त्र को दर्शनशास्त्र से अलग करने की थी तथा इस तरह संसार को जानने-समझने में ईश्वर की आवश्यकता को उसने सीमित किया। न्यूटन ने ब्रह्माण्ड को यन्त्रचालित बना कर ईश्वर की रचना के रूप में स्थापित किया, परन्तु उसके पोषण हेतु ईश्वर को अनावश्यक बताया। गैलीलियो, केपलर (Kepler) एवं न्यूटन ने कैथोलिक चर्च द्वारा प्रचारित पवित्र आत्मा (Holy Spirit) के रूप में ‘ईश्वर रूपी संसार’ जैसे अस्पष्ट एवं अविकसित विचार से इस प्रकार दूरी बनाने में निर्णायक भूमिका निभाई, जिसका परीक्षण गम्भीरता से पहले कभी नहीं हुआ था। इस प्रवृत्ति ने प्रोटेस्टेण्टवाद से मेल खाते हुए संसार में ईश्वर की दिव्य उपस्थिति को कम करते हुए लगभग शून्यता तक पहुँचा दिया। आगे चल कर डार्विन ने मानव विकास का एक यान्त्रिकी सिद्धान्त प्रस्तावित किया।

संसार में ईश्वर की उपस्थिति के सिद्धान्त को त्यागने से जीवन-मूल्यों का पतन होता गया, क्योंकि ब्रह्माण्ड को नैतिक मूल्यों से मुक्त यान्त्रिक नियमों द्वारा संचालित होते देखा जाने लगा। इससे प्रकृति का शोषण और बढ़ा और स्त्री-सम्बन्धी सोच को यहूदी एवं ईसाई मतों से निकाल दिया गया, अर्थात निर्देशक नियम ‘मर्दानगी’ के पक्ष में थे।

ज्ञानोदय एवं उसके पश्चात हुए आधुनिकतावादी आन्दोलनों ने धर्मनिरपेक्ष ज्ञान एवं धर्मनिरपेक्ष राज्य के पक्ष में ईसाई पन्थ की हठधर्मिता को हटाने का प्रयास किया, परन्तु धर्मनिरपेक्ष क्षेत्रों में भी उसके आन्तरिक विभाजन एवं व्यग्र कृत्रिमता से अस्थिरता एवं भ्रम पैदा हुआ, क्योंकि वैज्ञानिक क्रान्ति भी उस पुरानी इतिहास-केन्द्रिकता एवं अहंकार से मुक्त नहीं थी (इस बारे में पुस्तक के अध्याय 6 में पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता— ‘ईसाइयत का दूसरा रूप’ के तहत चर्चा की गई है।)[83] राज्य, जो धर्मनिरपेक्ष एवं प्रबुद्ध आदर्शों को बढ़ावा देने के लिए गठित किया गया था, असल में इन मान्यताओं एवं विज्ञान के बीच उत्पन्न तनावों से गढ़ा गया। ‘‘एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका’’

— Encyclopedia Britannica (जो कि लोकप्रिय ज्ञानप्राप्ति का एक पैमाना है) स्पष्ट करता है कि किस तरह पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता ने बाइबल के कुछ विचारों को इसमें सम्मिलित किया—

''अपने आधुनिक धर्मनिरपेक्ष स्वरूप में स्थापित पश्चिमी सभ्यता भी ईसाई पद्धति द्वारा स्थापित विचार एवं संवेदनशीलता की लम्बे समय से चली आ रही परम्परा की वारिस है। 18वीं और 19वीं सदी में मानवता के विकास सम्बन्धी प्रबोध एवं मानवता की प्रगति के रूमानी शान्ति एवं सद्भाव से पूर्ण विचारों के संस्करण सहस्त्राब्दी पुराने मसीहाई विश्वासों को अपनी विरासत की झलक दिखाते हैं।[84]

इन सब विचारों से उभर कर सामने आई पश्चिमी राज्य सत्ता की कृत्रिम प्रकृति का वर्णन एक विख्यात सांस्कृतिक इतिहासकार स्टीफ़न टौल्मिन (Stephen Toulmin) इस प्रकार करते हैं—''शून्यवाद से उपजी राज्यसत्ता मूलभूत रूप से संयोजित नहीं थी, बल्कि अलग-अलग हिस्सों को जोड़ कर कृत्रिम रूप से बनाई हुई थी और केवल डर के कारण एकजुट थी।''[85] इस प्रकार भगवान की जगह राज्य की व्यवस्था कृत्रिम मनुष्यों एवं कृत्रिम जीवात्माओं द्वारा की जा रही थी। इसके लिए एक अधिकारी तन्त्र आवश्यक था जो निष्पक्षता लाया तथा इस प्रकार व्यक्तिपरक निर्णयों में कमी आई। इस व्यवस्था में व्यक्तिगत अन्त:क्रियाओं का स्थान अभिप्रेरित क्रियात्मक दक्षता ने ले लिया, जिससे समाज में एक जन समूह दूसरे समूह से बदले जा सकने वाले भागों में बदल गये एवं उनके अधिकारों तथा विशेषाधिकारों को एक-सा कर दिया गया। जैविक समुदाय की अन्तरंगता के स्थान पर आये कृत्रिम आदेश ने डर के कारण इन भागों को एकजुट कर दिया। एंड्रिया कैमिलेरी (Andrea Camilleri) के अनुसार जैविक समुदायों में इस स्थानीय विघटन से एक अणुकृत आबादी (atomized population)बनती है जिनके मानवता सम्बन्धी दावे पहुँच से बाहर एवं अधिकारी तन्त्र पर आधारित औपचारिक मानवाधिकार के बल पर टिके होते हैं।[86] इस तरह के समाज के अणुकृत व्यक्ति केवल समझौतों से जुड़े होते हैं जो उनके स्वयं के हितों की पूर्ति करते हैं न कि समाज के। लोकहित केवल व्यक्तिगत भागों के हितों का योग भर होता है।

प्राच्य पुनर्जागरण

18वीं सदी के अन्तिम वर्षों से पश्चिम उस वैचारिक स्थिति से गुजरा है जिसे कुछ विद्वानों (विशेषकर रेमण्ड श्वाब — Raymond Schwab) ने 'प्राच्य पुनर्जागरण' का नाम दिया है।[87] इस आन्दोलन, जो प्राय: उपेक्षित परन्तु समकालीन विद्वानों द्वारा पहचाना और ढूँढ़ा गया, ने पश्चिम को एशियाई समाज और विशेषकर भारतीय धार्मिक परम्पराओं के साथ पश्चिम के संघर्ष के रूप में देखा। इस वैचारिक संघर्ष ने पश्चिम को चुनौती दी तथा इसके सर्वाधिक समस्याग्रस्त तथ्यों को उजागर किया। संस्कृत एवं इसके परिष्कृत शास्त्रीय ग्रन्थों के साथ यूरोपीय विद्वानों के इस संघर्ष ने उन्नीसवीं सदी के सबसे जीवन्त और प्रभावशाली बौद्धिक आन्दोलनों में से एक को जन्म दिया। यूरोपीय भारतविदों एवं उनके विरोधियों द्वारा पश्चिम की रूमानी तथा

आधुनिक अवधारणाओं को ढालने के प्रयासों में उनकी प्राय: जानबूझ कर छिपाई गई अथवा बहुत ही कम आँकी गई भूमिकाओं को उजागर करने के लिए व्यापक काम करने की आवश्यकता है। यहाँ पर यह इंगित करना भी आवश्यक है कि एशियाई संस्कृति और तत्वज्ञान को पचाने से पश्चिम की कृत्रिम एकता को और भी अधिक तनाव में डाल दिया गया। इस समस्या के बारे में मैंने अपनी आगामी पुस्तक 'यू टर्न थ्योरी' (U-Turn Theory) में विस्तार से चर्चा की है।

अपनी विस्तारवादी एवं औपनिवेशिक नीति और कार्यक्रम के अन्तर्गत पश्चिम ने न केवल नवीन विश्व एवं अफ्रीका की स्वदेशी संस्कृतियों को पचाया, अपितु उदारवादी एवं विकसित उपलब्धियों वाली मौखिक और लिखित रूप से प्रमाणित भारतीय एवं एशियाई सभ्यताओं की परम्पराओं का भी उन्हें सामना करना पड़ा। हालाँकि कई उपनिवेशवादियों ने एशियाई सभ्यताओं को या तो आदिम या नैतिक रूप से सन्दिग्ध 'झूठे देवताओं' की पूजा करने वाली मान कर उपेक्षा की, तो दूसरों ने इसे सांस्कृतिक एवं भौतिक सम्पदा की खान समझ कर उसे खनन योग्य माना।

यूरोप में संस्कृत के प्रभाव से यूरोपीय भाषा विज्ञान में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए तथा इसके हिन्दू एवं बौद्ध धर्म का सामना करने पर पश्चिमी दर्शनशास्त्र को असीम जानकारी मिली और साथ में यहूदी-ईसाई परम्पराओं को गम्भीर चुनौती भी। कुछ पश्चिमी विचारक जैसे थोरो (Thoreau), एमर्सन (Emerson) एवं व्हिटमैन (Whitman) तो ईसाई कट्टरपन्थी विचारों से इसी कारण अलग हो गये। यही प्रक्रिया आज भी योग, ध्यान, चिकित्सा विज्ञान, कला, पर्यावरण, नारीवाद, दर्शन-शास्त्र एवं पॉप संस्कृति के माध्यम से और भी अधिक गहराई से पश्चिम की मुख्य धारा में सतत् जारी है। हालाँकि एक आम धारणा है कि योग एवं ध्यान को पश्चिमी संस्कृति में आसानी से आत्मसात किया जा सकता है, परन्तु यह धारणा, विशेषकर स्वानुभूत सन्निहित ज्ञान के विषय को ले कर, धार्मिक परम्पराओं तथा यहूदी-ईसाई परम्पराओं के बीच गहरे मतभेदों एवं विसंगतियों की उपेक्षा कर देती है। पश्चिम द्वारा भारतीय परम्पराओं को पचाने का प्रयास उसी जबरन बनाई गई कृत्रिम एकता का ही एक और उदाहरण है जिसके बारे में गम्भीरता से सोच-विचार नहीं किया गया है।

औपनिवेशिक विजय

प्राच्य पुनर्जागरण के साथ ही साथ पश्चिमी औपनिवेशिक विस्तार हुआ जिसमें की गई हिंसा और अतिक्रमण को इतिहास में अच्छी तरह से प्रलेखित किया गया है। हालाँकि जिस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता वह यह है कि धर्मनिरपेक्ष वैज्ञानिक प्रगति एवं 'पिछड़े' लोगों को अधीन करने के नाम पर हुई विस्तार की प्रेरणा मूलत: ईसाई विश्वदृष्टि में गहरे बैठी हुई विस्तार की प्रेरणा और उसकी सरंचना के सिद्धान्तों में थी। यह दमन अधिकतर तब हुआ जब पश्चिमी संस्कृति में धर्मनिरपेक्ष एवं साम्प्रदायिक तत्वों के बीच विभाजन और भी तीव्र होता गया। दोनों साम्प्रदायिक और

धर्मनिरपेक्ष तत्वों ने साथ-साथ औपनिवेशिक नीतियों के क्रियान्वयन में भाग लिया, चाहे सतह पर देखने से दोनों परस्पर विरोधात्मक दिखाई देते थे परन्तु दोनों ही विचारों का उद्भव उसी साम्प्रदायिक एवं ब्रह्माण्ड सम्बन्धी अवधारणा के तहत हुआ था जिसमें ऐतिहासिक रहस्योद्घाटनों और विज्ञान की प्रगति के तनावों को आपस में मिला दिया गया था।

जैसा कि हमने देखा, इन उपनिवेशवादी और आक्रामक अभियानों में पश्चिम की कृत्रिम एकता और उसमें निहित मानसिक संरचना के संघर्ष को बाहर की ओर प्रक्षेपित किया गया था। पुनर्जागरण एवं प्रबोध आन्दोलन के काल में एकीकृत ईसाई विश्वदृष्टि के टूटने के बाद उसके विभिन्न घटकों के बीच आपसी संघर्ष हुआ, परन्तु स्वयं के घर की विपत्तियाँ कम करने हेतु फिर इन घटकों को मिला कर संसार भर में विस्तार अभियान प्रारम्भ हुआ। इसे ध्यान में रखना बहुत महत्वपूर्ण है कि जिस समय यूरोपीय ईसाइयों के बीच आपसी संघर्ष एवं घर ही में प्रतिद्वन्द्वी संस्थानों के बीच युद्ध हो रहे थे उसी समय वे विश्व के दूसरे लोगों पर विजय प्राप्त करने हेतु अभियान भी छेड़ रहे थे। सांस्कृतिक इतिहासकार डेविड लॉय (David Loy) ने उस मनोवैज्ञानिक प्रभाव का विश्लेषण किया जिसने इन विजय अभियानों को जन्म दिया। वे लिखते हैं—''मनोवैज्ञानिक रूप से हम जानते हैं कि बढ़ी हुई चिन्ताओं एवं डर की एक व्यक्तिगत प्रतिक्रिया आक्रामकता हो सकती है, परन्तु क्या इतिहास की प्रगति यह जताती है कि ऐसा सामूहिक रूप से भी सत्य है?'' विस्तार करना और दूसरों पर शासन करके उन्हें अपने में मिला लेना भी स्वयं को सुरक्षित रखने का एक रास्ता है।

भौतिक क्षेत्र में हुई बाहरी क्रान्तियों ने कुछ वास्तविक स्थायी मूल्यों का विकास किया, जैसे सामन्ती ग्रन्थों तथा अधिनायकवादी विचारधाराओं को हटाया गया (आधुनिकता की उपलब्धियों के परिणामस्वरूप यूरोपीय निश्चित ही सुधरे हैं), परन्तु आन्तरिक अशान्ति एवं असन्तोष ने पश्चिमी सभ्यता को विस्तार करने के लिए उकसाया।[89] इस यूरोपीय विस्तारवाद के बाद 'नये यूरोप' के रूप में अमरीका का जन्म हुआ जिसका सारा ज़ोर 'मुक्ति' सम्बन्धी प्रोटेस्टैंट इतिहास के पन्थनिरपेक्ष संस्करण पर रहा।

पन्द्रहवीं सदी में यूरोपीय हमलावरों ने इस बात पर ज़ोर दिया कि जिस भूमि पर उन्होंने आक्रमण कर कब्जा जमाया वह उनकी 'खोज' है, इसलिए उसे उनकी 'सम्पत्ति' माना जायेगा—एक ऐसी परियोजना जिसमें सोना, गुलाम, बौद्धिक सम्पदा और अन्य विभिन्न प्रकार की सम्पत्तियाँ सम्मिलित थीं। क्रिस्टोफ़र कोलम्बस (Christopher Columbus) को आज भी नई दुनिया के एक आदि खोजकर्ता के रूप में (न कि दमनकारी के रूप में) चित्रित किया जाता है जिसने पोप की वैधानिक स्वीकृति के साथ स्पेन की रानी की सेवा में अमरीका को अपने कब्जे में लिया। यह दुस्साहसिक दावा ईसाई खोज के उस सिद्धान्त (Doctrine of Christian Discovery) पर आधारित था जो ईसाइयत की अन्य संस्कृतियों (उदाहरणार्थ 'मूर्तिपूजक अथवा

असभ्य') के साथ संघर्ष की प्रतिक्रिया स्वरूप पोप के आधिकारिक आदेश के रूप में घोषित किया गया था। मूर्तिपूजकों के पास भौतिक सम्पदा और आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक निधि थी जिसे यूरोपीय आक्रमणकारी अपना बनाना चाहते थे।[90]

> इतिहासकार स्टीव न्यूकॉम्ब (Steve Newcomb) के लेख जिसे 'संसार का ईसाई कानून' (Christian Law of Nation) के रूप में जाना जाता है, ने यह दावा किया कि बाइबल के आधार पर ईसाई देशों को एक 'ईश्वरीय अधिकार' प्राप्त है कि वे किसी ग़ैर-ईसाई भूमि और वहाँ के निवासियों पर अपना पूर्ण अधिकार स्थापित कर सकते हैं। अगली कई सदियों तक इन मान्यताओं ने 'अनुसन्धान के सिद्धान्त' (Doctrine of Discovery) को जन्म दिया जिसका स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस, इंग्लैण्ड और हॉलैण्ड (सभी ईसाई देशों) ने भरपूर उपयोग किया।[91]

ध्यान दें कि 'असभ्य' (अर्थात मूर्तिपूजक) लोग भी इन 'आविष्कारकों' के अधिकार क्षेत्र में आ गये जिन्हें (मूर्तिपूजकों को) एक सम्पत्ति की तरह शोषित करने हेतु चर्च से अनुमति प्राप्त थी। चर्च के मतशास्त्रियों ने इस प्रभुत्व का उपयोग अफ़्रीकी (काले) लोगों को गुलाम बनाने तथा अमरीका के लाखों मूल निवासियों और दूसरों को 'मूर्तिपूजक' मान कर उनका नरसंहार करने के लिए किया। यह तर्क दिया गया कि बाइबल के अनुसार प्रकृति के संसाधनों पर विशिष्ट अधिकार केवल ग़ैर-मूर्तिपूजकों का है।

क्रिस्टोफ़र कोलम्बस ने अमेरिका के उपनिवेशीकरण तथा उसके मूल निवासियों के धर्म परिवर्तन को 'अन्तिम समय (End Time)' की प्राप्ति हेतु आवश्यक माना। उसने अपने पुर्तगाली संरक्षकों को विश्वास दिलाने का प्रयास किया कि 'नये संसार' (New World) से लूटे हुए धन का उपयोग वे मुसलमानों से यरूशलम की पुन: प्राप्ति वाले मतयुद्ध में करें, क्योंकि नई सहस्त्राब्दी (The New Millennium) के आगमन हेतु भी यही पूर्व-शर्त थी।[92]

अठारहवीं सदी के अन्त तक लगभग सभी श्वेत अमरीकी इस बात से आश्वस्त थे कि उन्हें इतिहास में विश्व को मुक्ति दिलाने के लिए ईश्वर ने एक महत्वपूर्ण प्रतिनिधि के रूप में विशेष रूप से चुना है। चर्च के प्रतिनिधि के रूप में ईश्वर के नये साम्राज्य की स्थापना के लिए भगवान ने अमरीका को ही चुना। मानव जीवन की परिस्थितियों को हल करने के लिए अपने स्वार्थ की सिद्धि को 'व्यक्तिगत स्वतन्त्रता' का नाम दे कर महिमामण्डित किया गया, जिसे किसी तरह किसी उच्च उद्देश्य के नाम पर प्रतिपादित किया जा सके।

इसी स्वार्थी दृष्टिकोण को जब आधुनिक अनियन्त्रित पूँजीवाद के अभियानों से जोड़ दिया गया, विशेषकर इस शोषक विचारधारा के साथ कि संसार को प्रभुत्ववादी मनुष्यों द्वारा शोषित करने का अधिकार है, तब धर्मनिरपेक्षता का चोला ओढ़ कर

स्थापित इस ईसाइयत की परियोजना ने अफ्रीका, एशिया एवं अमरीका के निवासियों पर कहर बरसा दिया। पृथ्वी और इसके निवासियों पर इसका प्रभाव व्यापक था जिसे आज भी महसूस किया जा सकता है। पराजित हुए लोगों को मूर्तिपूजक या असभ्य परिभाषित करके यूरोपियों ने विश्व-सभ्यता में उनके विभिन्न योगदानों को दबा कर और अनदेखा करके उनकी संस्कृतियों और भूमियों को हड़प कर उनको अपने में मिला लिया। उनकी संस्कृतियों का दुरुपयोग एवं उनका विनाश इतना बनावटी और अनैतिक था कि काले और गोरे लोगों की आन्तरिक फूट स्थायी बन गई जो अमरीका को आज भी परेशान कर रही है।

इसकी प्रासंगिकता हमारे शोध के लिए यह है कि जो सांस्कृतिक सम्पदाएँ हिंसा और धोखे से हड़प लीं जाती हैं उन्हें कृत्रिम रूप से जोड़ा जाता है, क्योंकि वे न तो स्वयं के सांस्कृतिक परिवेश में जैविक रूप से उत्पन्न हुई होती हैं और न ही उन्हें सद्भावना से एकीकृत किया गया होता है।

अध्याय 4

व्यवस्था और अव्यवस्था

पश्चिमी लोगों की अपेक्षा सनातन धार्मिक संस्कृतियों के लोग भिन्नता, अनिश्चितता एवं अस्थिरता को आसानी से स्वीकार कर लेते हैं। धार्मिक दृष्टिकोण है कि तथाकथित अव्यवस्था प्राकृतिक एवं सामान्य है, हालाँकि इसे व्यवस्था द्वारा सन्तुलित किया जाना आवश्यक है, परन्तु न तो इस पर मजबूरी में रोक लगाने या समाप्त करने की आवश्यकता है और न ही किसी बाहरी शक्ति से जबरन सामंजस्य स्थापित करने की। इसके विपरीत पश्चिम अव्यवस्था को एक गम्भीर ख़तरे की तरह देखता है। उसके अनुसार या तो इसे नष्ट करना आवश्यक है अथवा समावेशित करके मिटाना। पश्चिमी लोगों की तुलना में भारतीय अप्रत्याशित स्थितियों में अधिक सहज रहते हैं। वास्तव में भारतीय ग़ैर-रेखीय सोच के अनुसरण को विपरीत ध्रुवों को पलटना एवं ऐसी जटिलताओं को सुलझाना जिन्हें सरल अवधारणाओं या विवरणों में नहीं उतारा जा सकता, प्राकृतिक मानते हैं। वे अस्पष्टता, सन्देह, अनिश्चितता, क्रियाओं के विविधीकरण और बिना किसी केन्द्रीय सत्ता और मानक नियमों के भी सफल हो सकते हैं। इसके विपरीत पश्चिमी लोग किसी भी विपरीत, अप्रत्याशित अथवा विकेन्द्रित स्थितियों में अधिकतर भयभीत हो जाते हैं। वे ऐसी स्थितियों को सुलझाने वाली 'समस्या' की तरह देखते हैं।

संस्कृत के विशाल शास्त्रीय लेखन एवं धर्मविधान सन्दर्भ में हम अव्यवस्था एवं मतभेद से निपटने के कई संवेदनशील एवं मध्यममार्गीय तरीके देखते हैं। यहाँ पर हमेशा अव्यवस्था को बने रहने का अधिकार देते हुए सन्तुलन और साम्यता खोजी जाती है। जबकि दूसरी ओर यूनानी शास्त्रों एवं बाइबल के उत्पत्ति सिद्धान्तों की कहानियों में अव्यवस्था एवं व्यवस्था के दो धुरवों में कुल जोड़ शून्य संघर्ष होता है जिसमें 'व्यवस्था' का जीतना आवश्यक है।

पिछले अध्यायों में मैंने पश्चिम की इतिहास-केन्द्रिकता तथा उसकी आन्तरिक रूप से विभाजित एवं द्वैतवादी विश्वदृष्टि में बलपूर्वक एकता लाने के संघर्ष पर चर्चा की थी। मैंने कहा था कि यह एकता मूलरूप से कृत्रिम एवं अस्थायी है और दबाव में आ कर यह अपने घटकों में बिख़र जाती है। इसके विपरीत भारतीय धार्मिक परम्पराओं में ब्रह्माण्ड की अभिन्न एकता की अवधारणा बहुलता एवं विविधता के प्रति अधिक स्थिर एवं तनाव-मुक्त दृष्टिकोण रखती है। इस अध्याय में हम यह देखेंगे कि पश्चिमी सोच अव्यवस्था एवं व्यवस्था के प्रति भारतीय धार्मिक दृष्टिकोण से किस प्रकार भिन्न है।

अव्यवस्था तब उत्पन्न होती है जब व्यक्ति ऐसी घटनाओं का अनुभव करता है जो उसके मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों से मेल नहीं खातीं और परिणामस्वरूप उसका संज्ञान लेना कठिन हो जाता है। विकार उत्पन्न होने के बिन्दु विभिन्न व्यक्तियों

एवं संस्कृतियों में अलग-अलग होते हैं, परन्तु इनके कुछ प्रारूप स्पष्ट हैं। सनातन धार्मिक संस्कृतियों के लोग पश्चिमी लोगों की अपेक्षा अनिश्चितता, भिन्नता एवं अस्थिरता को स्वीकारने में अधिक सहज होते हैं। धार्मिक दृष्टिकोण के अनुसार तथाकथित अव्यवस्था प्राकृतिक एवं सामान्य है, हालाँकि इसे व्यवस्थाओं द्वारा सन्तुलित किया जाना आवश्यक है, परन्तु न तो इस पर मजबूरी में रोक लगाने या समाप्त करने की आवश्यकता है और न ही किसी बाहरी शक्ति से जबरन सामंजस्य स्थापित करने की। इसके विपरीत पश्चिम अव्यवस्था को एक गम्भीर ख़तरे की तरह देखता है। उसके अनुसार या तो इसे नष्ट करना आवश्यक है अथवा समावेशित करके मिटाना।

इन दो संस्कृतियों में व्यवस्था एवं अव्यवस्था के बारे में मानसिक प्रवृति, निश्चितता एवं अनिश्चितता सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब है। पश्चिमी में आश्वासन एवं निश्चितता की लालसा अधिक होती है, क्योंकि वहाँ 'यह या वह' की विपरीतताओं पर बल दिया गया है। पश्चिमी मत मृत्यु के डर को इस जीवन के बाद मुक्ति अथवा नरकदण्ड से दूर करने का वादा करते हैं जबकि भारतीय धार्मिक दृष्टिकोण में मृत्यु के पश्चात कई जन्मों और विभिन्न साधना मार्गों से चेतना का क्रमिक विकास, जिसमें वह विभिन्न मोड़, चक्रों, असफ़लताओं, एवं परिवर्तनों से गुज़रती है, होने का विधान है।[1] ईसाई अक्सर सादे पूर्वानुमेय परिणामों को ही पसन्द करते हैं, जैसे कि उनके अनुसार निकट भविष्य में संसार का समाप्त होना और किसी विशेष मत को मानने वालों के लिए स्वर्ग की प्राप्ति। इस तरह की उद्देश्यपूर्ण रूपरेखा में यह आकर्षक दिखता है कि 'पाप के प्रति लड़ाई' (war against evil) छेड़ कर उसका पूर्ण विनाश कर दिया जाये।

परन्तु भारत के ब्रह्माण्ड विज्ञान के अनुसार कोई अन्तिम युद्ध हो ही नहीं सकता, क्योंकि इस संसार में 'अवश्यम्भावी अन्त' जैसा कुछ अभी होने वाला नहीं है। इस ब्रह्माण्ड के अन्त में भी एक नये ब्रह्माण्ड का जन्म होगा जोकि न प्रारम्भ और न अन्त होने वाले ब्रह्माण्डों का एक अनन्त क्रम है। अनादि एवं अनन्त ब्रह्माण्ड अधिकांश पश्चिमवासियों के लिए एक डरावनी अवधारणा है, क्योंकि वे कुछ निश्चित सीमाओं जैसे समय और ब्रह्माण्ड की शुरुआत और अन्त, सीमित और पृथक और वस्तुओं इत्यादि को ही देखने के आदी रहे हैं।

भारतीय धार्मिक परम्पराओं में 'कर्मफ़ल के बीज को जलाने' का जो विचार है वह मनुष्य को पिछले सभी कर्मों के प्रभाव से मुक्त करता है, जिसका तात्पर्य है कि मानव अपने प्रयासों से आत्म-बोध को प्राप्त करे। वहाँ कोई अनादि स्वर्ग या नर्क नहीं होता बल्कि एक ही वास्तविकता के अन्तर्गत भिन्न अवस्थाओं का अस्तित्त्व होता है। इन्हें क्रमश: 'स्वर्ग' और 'नरक' के नाम से श्रेष्ठ क्षेत्रों की तरह चित्रित किया गया है। स्वर्ग या नरक में व्यक्ति का प्रवास हमेशा अस्थायी होता है। 'स्वर्ग,' जिसे पश्चिमी शब्दों में Heaven के रूप में वर्णित किया जाता है, हमारा कोई अन्तिम गन्तव्य स्थान नहीं

बल्कि आराम और आरोग्यलाभ का स्थान है। अपने अच्छे कर्मफल भोगने के पश्चात हम पुन: साधना करने के लिए इस संसार में लौटते हैं। 'नरक' मनुष्य द्वारा किये गये बुरे एवं नकारात्मक कर्मों के कारण पीड़ा एवं दु:ख भोगने का एक स्थान है, परन्तु वहाँ से भी मनुष्य अन्तत: धरती पर वापस लौटता है। जितने चेतना के स्तर हैं उतने ही लोक हैं। उच्चतम स्तर पर हम परम सत्य से एकात्मकता प्राप्त करते हैं, जहाँ से सभी आये हैं और जहाँ सभी को वापिस जाना है। इस तरह के बहुआयामी ब्रह्माण्ड में व्यक्ति की यात्रा कोई चिन्ता वाली बात नहीं है, क्योंकि हमारा परम तत्व सत्-चित्-आनन्द में सुरक्षित है।

भारतीय धार्मिक परम्पराओं में 'अनिश्चितता' को एक बुराई अथवा नकारात्मकता के रूप में नहीं देखा जाता है। वास्तव में भगवान शिव के शिक्षाप्रद आख्यानों में आमतौर पर उन्हें पार्वती जी के साथ पाँसे खेलते हुए दर्शाया गया है, जहाँ दोनों यदा-कदा हँसी-ठिठोली में एक-दूसरे से छल करते हैं। अर्थात् अनिश्चितता को हमेशा ही बाहरी शत्रुतापूर्ण एवं राक्षसी शक्ति के रूप में वर्णित नहीं किया जाता बल्कि उस रूप में भी जो मनुष्य के अन्दर उमड़ कर उसकी भीतरी व्यवस्था को आहत करती है। पाँसे को महाभारत में 'अनिश्चितता' के रूपक की तरह दर्शाया गया है। व्यवस्था बनाये रखने वाले समाज के जिम्मेदार सदस्यों ने जुए को हमेशा ही ओछी निगाहों से देखा है। युधिष्ठिर, जो कि वैसे धर्मराज हैं, पाँसा खेलने के आदी थे और इसे एक विनाशकारी अवगुण के रूप में भी चित्रित किया गया है। फिर भी पाँसों का खेल वैदिक अनुष्ठानों के राजसूय यज्ञ का एक अनिवार्य एवं महत्वपूर्ण हिस्सा है। चार युगों के नाम उनके क्रमिक पतन के अनुसार भारतीय पाँसों के चार चेहरे हैं (जिनमें अशुभ एवं बुरा मुख, अर्थात् 'कलि' युग हमारा समकालीन अराजक कालखण्ड है)। इस औपचारिक अनुष्ठान के दौरान राजा द्वारा फेंका गया पाँसा न केवल ब्रह्माण्डीय व्यवस्था में अनिश्चितता दर्शाता है बल्कि राजा के अपने युग-निर्धारण की शक्ति को भी प्रदर्शित करता है।[2]

इन गहरे मतभेदों के कई विभिन्न निहितार्थ हैं जिनमें से कुछ की जाँच मैं यहाँ कर रहा हूँ। परन्तु पहले हम यह देखेंगे कि अराजकता एवं अव्यवस्था से पश्चिम न केवल भयभीत है बल्कि अपने इस डर को वह भारत और इसकी संस्कृति की ओर किस तरह प्रक्षेपित करता है।

भारतीय 'अव्यवस्था' और पश्चिमी चिन्ताएँ

मेरे स्वयं के अनौपचारिक अवलोकन इस विचार को पुष्ट करते हैं कि पश्चिमवासियों की अपेक्षा भारतीय लोग अप्रत्याशित परिस्थितियों में अधिक सहज रहते हैं। वास्तव में भारतीय ग़ैर-रेखीय सोच के अनुसरण को विपरीत ध्रुवों को पलटना और ऐसी जटिलताओं को सुलझाना, जिन्हें सरल अवधारणाओं या विवरणों में नहीं उतारा जा सकता प्राकृतिक मानते हैं। वे अस्पष्टता, सन्देह, अनिश्चितता एवं

क्रियाओं के विविधीकरण और बिना किसी केन्द्रीय सत्ता और मानक नियमों के भी सफल हो सकते हैं। इसके विपरीत पश्चिमी लोग किसी भी विपरीत, अप्रत्याशित अथवा विकेन्द्रित स्थितियों में अधिकतर भयभीत हो जाते हैं। वे ऐसी स्थितियों को सुलझाने वाली 'समस्या' की तरह देखते हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे, पश्चिम के इस व्यवहार को दर्शाने के लिए वास्तव में कुछ विद्वत्तापूर्ण प्रमाण उपलब्ध हैं।

पश्चिमवासी को प्राय: भारत एक बेकार-सा, सभी तर्कसंगत अपेक्षाओं को नकारता हुआ मात्र भाग्य के सहारे जीवित रहने वाला देश प्रतीत होता है। यह धारणा भारत की विस्मयकारी विविधता के कारण है जो यहाँ के समुदायों की बहुलता एवं सांस्कृतिक भिन्नता में प्रतिबिम्बित होती है, जिनमें बाहर से आये हुए समुदाय जैसे यहूदी, ईसाई और पारसी भी शामिल हैं। यह तथ्य कि प्रत्येक समुदाय के स्वयं अपने मानदण्ड हैं, पश्चिमी निरीक्षक को भ्रमकारी लग सकते हैं, जिससे वह यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि यहाँ के लोगों में सही और गलत की कोई स्पष्ट समझ नहीं है। श्री अरविन्द ने इस पश्चिमी मानसिकता पर टिप्पणी की है—

> "...यूरोप की साम्प्रदायिक सोच कठोर एवं खण्डित परिभाषाओं, सख़्त बहिष्कार, बाहरी विचारों के साथ निरन्तर तन्मयता, संगठन और आकार की आदी है। पश्चिमी मत एक निश्चित पन्थ है जो तार्किक एवं साम्प्रदायिक सोच, आचरण को निश्चित करने के लिए सख़्त एवं स्पष्ट नैतिक संहिता, दृष्टिकोणों एवं अनुष्ठानों और चर्च सम्बन्धी दृढ़ एवं सामूहिक संगठनों की संरचना से तैयार किया गया है। जब विचारधारा इन प्रवृत्तियों में एक बार जकड़ ली जाती है तब कुछ भावनात्मक जोश एवं एक निश्चित सीमा तक रहस्यवादी खोज को भी तर्कसंगत सीमाओं तक सहन किया जाता है, परन्तु आख़िरकार शायद सुरक्षा इसी में है कि इन ख़तरनाक नमूनों के बिना ही काम चलाया जाये...।"[3]

शिकागो विश्वविद्यालय में दक्षिण एशिया सम्बन्धी विषयों के विद्वान लॉयड और सुसन रूडोल्फ़ (Lloyd and Susan Rudolph) इंगित करते हैं, "पश्चिम में भारत की छवि पारलौकिक, भाग्यवादी एवं ग़ैर-समतावादी के रूप में देखी जाती है।" यह ऐसा है जैसे हम अपने आप से कम सांसारिक, कुशल, समतावादी एवं व्यक्तिवादी हो जायेंगे, यदि भारतीय उससे कम होते हैं।[4]

एक समतुल्य तथ्य प्रस्तुत करते हुए कोलगेट विश्वविद्यालय के एक अमरीकन इतिहासकार एण्ड्रयू रॉटर (Andrew Rotter) कहते हैं "अमरीकी अस्मिता, जो अधिकतर कामुकता, जातिभेद एवं बीमारियों से ग्रस्त श्रेणियों के बीच रह रही है, ने पराए भारतीयों पर घृणित अथवा अवैध प्रतीत होने के लक्षण थोपे हैं। उसके अनुसार भारतीयों को गन्दा, उच्छृंखल, कामुक, तथा आदिम जैसा माना जाता है।"[5]

भारत की स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद एक और अमरीकी, हेरोल्ड आइजैक्स (Harold Isaacs) ने अमरीकी शिक्षाविदों, राजनयिकों, कूटनीतिकों, व्यावसायियों,

मत प्रचारकों, मीडिया के सदस्यों जैसे विभिन्न लोगों का साक्षात्कार ले कर उन्हें भारत और चीन के बारे में अपने विचार व्यक्त करने को कहा।[6] भारत का वर्णन करते समय इन अमरीकियों ने भारत को 'करोड़ों लोग,' 'भीड़ भरे शहरों,' 'भीड़भाड़ ग्रस्त,' 'लोगों के झुण्ड' जैसे कई अपमानजनक विशेषणों द्वारा वर्णित किया। उत्तरदाताओं में से एक ने विशिष्ट रूप से टिप्पणी की कि भारत में करोड़ों लोग हैं और कोई नहीं जानता कि चींटियों की तरह कितनी और 'मानवी बाँबियाँ' हैं।[7] अमरीकियों ने भारत में तीव्र गन्ध को आदिमवादी, धूल, गन्दगी तथा बीमारियों के साथ जोड़ रखा है।

अमरीकी लेखिका कैथरीन मेयो (Katherine Mayo) की पुस्तक ''द फेस ऑफ़ मदर इण्डिया'' (The Face of Mother India) ने भारत के बारे में अमरीकियों की विचारधारा को अत्यधिक प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और 1950 के दशक के मध्य तक इस पुस्तक के 27 अमरीकी संस्करण छप चुके थे तथा अकेले अमरीका में ही इसकी ढाई लाख से अधिक प्रतियाँ बिकीं। मेयो ने मुसलमानों की उनके मत का विस्तार करने की लड़ाकू प्रवृत्ति की सराहना की एवं महमूद गज़नी की हिंसक लूट व अत्याचारों को विशेषकर महिमामण्डित किया। उसने गज़नी की तुलना बाइबल में वर्णित जोशुआ (Joshua), गीदेयोन (उग्दह) एवं डेविड (David) से की है, क्योंकि गज़नी इनकी ही तरह 'एक ईश्वर' के सम्मान में अपना जीवन बलिदान करने को तैयार था। हिन्दू धर्म को एक भीषण कलंक बताते हुए मेयो ने लड़कियों-महिलाओं से दुर्व्यवहार, बालिका दुल्हनों, भोजन की कमी, सती प्रथा इत्यादि के बारे में रक्तरंजित विवरण दिया।[8]

हालाँकि कुछ विद्वानों ने हिन्दू धर्म के ज्ञान एवं भक्ति की प्रशंसा की, परन्तु अधिकांश ने कैथरीन मेयो के रूढ़िवादी विचारों को ही निष्कर्षों के रूप में दोहराया है कि हिन्दू धर्म एक भ्रष्ट और निराशाजनक किस्म का धर्म है जो कट्टरपन्थियों की एक ऐसी भीड़ का उत्पादन करता है जो गंगा में डुबकी लगाते हैं, कीलों पर लेटे हुए नंगे और दुर्बल साधुओं तथा बेकार निषेधाज्ञाओं को बढ़ावा देता है—कुल मिला कर वह इसे एक जटिल और बेकार की गन्दगी कहती हैं। गाँधी जी ने मेयो की इस पुस्तक को ''नाली की सफ़ाई करने वाले निरीक्षक की रिपोर्ट'' (A Drain-inspector's Report) कहा था एवं इसकी कटु आलोचना की थी।

आइजैक्स (Isaacs) आगे कहते हैं कि ''भारत से कामुकता का भय वहाँ की ख़तरनाक दिखने वाली कामुकता पर आधारित था। वहाँ हिन्दू मन्दिरों में अश्लील मूर्तियाँ, सभी जगह कई प्रकार के लैंगिक प्रतीक और तथाकथित लालची पुरोहित थे जिनके बारे में कहा जाता था कि वे अपनी वासना की पूर्ति के लिए मन्दिरों के अन्दर वैश्याओं को रखते थे।''[9] इस तरह के विवरणों ने भारत की छवि एक 'अनैतिक एवं अविश्वासपूर्ण' रूढ़िवादी की तरह गढ़ी।

शीत-युद्ध के दौरान एण्ड्रयू रॉटर ने दक्षिण एशिया के प्रति अमरीकी नीतियों से सम्बन्धित सांस्कृतिक मान्यताओं एवं विश्वासों के बारे में बहुत समय तक शोध कार्य

किया।[10] अमरीका के राजनैतिक एवं सैन्य अधिकारियों के अवर्गीकृत लेखन का विश्लेषण करने के बाद उसने निष्कर्ष निकाला कि कुल मिला कर भारतीयों में पारदर्शिता की कमी एवं स्पष्टता के अभाव के कारण उन्हें समझना बहुत कठिन है। उन्हें हास्याप्रद, बदबूदार, उच्छृंखल एवं जंगल में भीड़ भरे जैसा भी बताया गया। रॉटर लिखते हैं कि सभी अमरीकी धारणाओं के आधार पर भारत को एक रहस्यमयी और असाधारण देश की तरह देखा गया। इस देश के ऊपर एक पर्दा-सा पड़ा हुआ दिखता है जो अध्ययनकर्ताओं को इसकी विशेषताएँ देखने से रोकता है। यहाँ तक कि जिन्होंने पूर्वी एशिया को अच्छी तरह समझ लिया था उन्होंने भी स्वीकार किया कि वे भारत से चकित थे।[11]

भारत ने आत्म-अनुशासन एवं आत्म-नियन्त्रण जैसे पश्चिमी गुणों को प्रदर्शित नहीं किया। जैसा कि रॉटर कहते हैं, ''पश्चिमवासियों ने भारतीयों को अवांछित और वर्जित की तरह अपनी तर्कसंगत आत्म-छवि के विपरीत पाया। उत्तर-प्रबोध काल के एक पश्चिमी व्यक्ति के लिए यदि व्यवस्था अभीष्ट है तो वहीं भारत की गन्दगी एवं अव्यवस्था उसके लिए घृणा का विषय थी।''[12] शीत युद्धकाल के दस्तावेजों में अमरीकी गृह मन्त्रालय ने यह घोषित किया कि भले ही भारतीय कितने ही पाश्चात्यकृत क्यों न हो जायें वे एशियन ही रहेंगे और पश्चिमी लोगों के लिए पूर्ण रूप से अप्रत्याशित ही रहेंगे। टाइम पत्रिका (Time Magazine) के एक मुख्य लेख में बताया गया कि भारत की प्रतिभा सदा मिथक की खोज में रही, न कि तार्किकता में। भारत से लौटते हुए अमरीकी अधिकारियों के लिए यह सामान्य बात थी कि वे वहाँ की घटनाओं को भारतीयों में दिखने वाली अक्षमता, अविवेक अथवा निरे अनूठेपन के रूप में वर्णित करें।[13]

अमरीकियों का झुकाव अव्यवस्था, नैतिक सन्दिग्धता एवं निष्क्रियता को पुरुषत्व से जोड़ने पर था।[14] यह कभी-कभी रूपक की तरह 'मर्दाने' अमरीका को 'रहस्यमयी नींद में खोई हुई युवती' (अर्थात भारत) को आकर्षित करके हथियाने के रूप में व्यक्त किया गया।[15] रॉटर आगे कहते हैं—

> पश्चिम द्वारा भारत को स्त्री के रूप में चित्रित करने से अधिकांश भारतीय पुरुषों को नामर्द माना गया। हिन्दू धर्म को कमजोर करने वाले जाल में फँस कर अधिकांश भारतीय पुरुष अपनी मर्दानगी से वंचित रहे। लैंगिक सन्दर्भों में पश्चिमी विचारक ऐतिहासिक रूप से अधिकांश भारतीय पुरुषों में तीन विशेषताओं की सम्भावना व्यक्त करते हैं। इनमें पहली निष्क्रियता और उसका बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया हुआ स्वरूप, दूसरी भावुकता और तीसरी विषमलैंगिक शक्ति की कमी थी। हिन्दू पुरुष निष्क्रिय, चाटुकार और कायर हैं। अपनी निष्क्रियता के कारण वे प्रत्यक्षत: शर्म की भावना से पीड़ित हुए बिना सब कुछ सह सकते हैं। उन्होंने अपने उत्पीड़कों का विरोध नहीं किया बल्कि उन्हें बेहोश उदासीनता से देखा। निष्क्रियता का यह बढ़ा हुआ स्वरूप

> चापलूसी था। पाश्चिमी लोगों ने कहा कि यह भारतीय पुरुषों में प्रचुर मात्रा में है। बहुतों ने जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) की उस उक्ति से सहमति जताई कि 'वास्तव में हिन्दू में नपुंसक की तरह एक गुलाम के भरपूर गुण पाये जाते हैं'।[16]

भावुकता को एक मुख्य भारतीय विशेषता माना गया—किसी विषय पर तार्किक एवं ठण्डे दिमाग से सोचने की अपेक्षा भारतीय पुरुष आपा खो देते हैं, जैसा कि स्त्रियों के बारे में कहा जाता है। अमरीकियों का लगातार यह दावा रहा है कि पश्चिमी लोग तर्कसंगत एवं मजबूत होते हैं जबकि पूर्वी देशों के लोग भावुक एवं संवेदनशील। नेहरू के बारे में अमरीकी ख़ुफ़िया एजेंसी CIA ने कहा है था कि 'उनका चरित्र भावुकता के कारण कमजोर हो जाता है जिससे मूल्यों के प्रति उनकी समझ कभी-कभी नष्ट हो जाती है,'[17] तथा राष्ट्रपति आइज़नहोवर (Eisenhower) का मानना था कि नेहरू की भावात्मक उत्तेजना भारत के लोगों के चरित्र को साकार करती है।[18] उनके अनुसार भारत में तर्क और व्यवस्था का अभाव है।

भारतीयों की गलत पहचान के स्रोत पश्चिम के ऐसे भयावह पूर्वाग्रहों में ढूँढ़े जा सकते हैं जो उनके द्वारा हिन्दू धर्म को निरन्तर अति-सरलीकरण कर 'बहुदेववादी' मानने के कारण आये प्रतीत होते हैं। एक गलत धारणा जो आज भी बनी हुई है कि अनेक-ईश्वरवाद हिन्दुओं की मानसिकता को ऐसे विकसित करता है कि कोई एक सत्य या प्रभुत्व नहीं होता, जिससे उनके दृष्टिकोण व नीतियाँ बदलती रहती हैं और परिणामस्वरूप वे धोखेबाज़ के रूप में अमरीका के मित्र नहीं माने जा सकते। किसी राजनैतिक संकट के समय पश्चिमी लोग भारतीयों पर सही पक्ष चुनने का भरोसा नहीं कर सकते। रॉटर बताते हैं कि अमरीका की विदेश नीति को हमेशा प्रोटेस्टेण्ट के कट्टर विचार 'एक और एकमात्र सत्य' से संचालित किया जाता है। 1954 में संयुक्त राष्ट्र में अमरीका के राजदूत आर्थर डीन (Arthur Dean) ने एक भारतीय उच्चाधिकारी से दो टूक शब्दों में कहा था कि अमरीका अपनी नीतियाँ यीशु की नीति वाक्यों के आधार पर चाहता है, जिसके अनुसार ''जो मेरे साथ नहीं है वह मेरा विरोधी है (मैथ्यू – Matthew—12:30),'' इसीलिए आर्थर डीन नेहरू की गुटनिरपेक्षता और भारत की नैतिक तटस्थता की नीति से नाराज़ थे।[19]

भारत की तटस्थता को पश्चिम ने हमेशा उसकी नैतिक अस्पष्टता और सापेक्ष्यवाद के उदाहरण के रूप में देखा जहाँ हिन्दू सही या गलत का चुनाव करने की परवाह नहीं करता। क्योंकि भारत में ईश्वर का अस्तित्व हमेशा से अटकलों और विविधताओं का विषय रहा है, इसलिए भारत की विदेश नीति भी अनिश्चितता से ग्रस्त रहेगी ही। जबकि दूसरी ओर पाकिस्तानी स्पष्टवादी, सशक्त, लड़ाकू (सकारात्मक अर्थ में) और सबसे बड़ी बात कि उनकी तरह 'एकेश्वरवादी' के रूप में सामने आये, जिससे वे अमरीकी जैसे और भारतीयों की अपेक्षा अधिक भरोसेमन्द लगे।[20] काल एवं ब्रह्माण्ड के विषय में हिन्दू अवधारणाओं ने भारत की सापेक्षतावादी विदेश नीति को प्रभावित

किया। गुटनिरपेक्ष सिद्धान्त के प्रति अमरीकी बेचैनी को इस तथ्य से महत्वपूर्ण तरीके से समझा जा सकता है कि अमरीकियों की मानसिकता हठधर्मी सिद्धान्तों पर आधारित साम्प्रदायिक परम्पराओं से निर्मित है।[21] रॉटर स्पष्ट करते हैं—

> विशेषकर पाकिस्तान के मुसलमान ईसाइयों के समान ही 'एकेश्वरवादी' लगते हैं। हिन्दुओं का कई देवताओं-अवतारों में विश्वास है और सम्भवत: सत्य के कई संस्करणों में भी। मुसलमानों में ऐसा नहीं है। हालाँकि मुसलमानों के भगवान बाइबल के नये कानूनों (New Testament) के अनुसार नहीं हैं तथा मनुष्यों के लिए उनके आदेश ईसा मसीह की ओर से नहीं बल्कि पैग़म्बर मोहम्मद की ओर से आये थे। परन्तु उनमें उच्च आदेश के स्रोत के प्रति कोई भ्रम नहीं और न ही उनमें स्वर्गीय आत्मप्रलापरत मुसलमान और ईसाई हैं—नेकी का एक ही सुर है। पश्चिमी लोग प्राय: इस्लाम और ईसाइयत के बीच इस समानता को प्रस्तुत करते रहे हैं, परिणामस्वरूप भरोसे का एक तालमेल बना हुआ है जिसमें सहमत न होने वालों को बाहर रखा जाता है।[22]

रॉटर आगे कहते हैं, ''इसी साम्प्रदायिक सोच के कारण पाकिस्तान के साथ सैन्य गठबन्धन बनाने में पूर्व अमरीकी गृह मन्त्री जॉन फ़ोस्टर डलैस (John Foster Dulles) द्वारा प्रेरित अमरीकी निर्णय समझा जा सकता है। वे लिखते हैं कि एक ईसाई देश ही पहली प्राथमिकता होता, परन्तु क्योंकि न ही पाकिस्तान और न भारत ईसाई था, इसलिए उस समय पैग़म्बरी मत वाले पाकिस्तान के साथ जाना सर्वोत्तम विकल्प था। डलैस के अनुसार हिन्दू धर्म भी साम्यवाद की तरह ही यथार्थ नैतिक समस्याओं से ग्रसित था। साम्यवाद में कोई ईश्वर नहीं जबकि हिन्दू धर्म में भगवान के कई प्रतीकों को माना जाता है, जिससे उसका नैतिक दिशासूचक अस्पष्ट और भ्रमित माना गया।

सन् 2003 में भारत-अमरीकी सैन्य सम्बन्धों पर पेंटागन (Pentagon), गृह मन्त्रालय, एशिया-प्रशान्त सैन्य कमान एवं नई दिल्ली स्थित अमरीकी दूतावास के अमरीकी नीति-निर्माताओं के एक दल ने एक वर्गीकृत विवरण तैयार किया। भारतीय-अमरीकी समाचार स्रोत रेडिफ़.कॉम (Rediff.com) ने इस विवरण की संक्षेपिका प्रस्तुत की जिसमें भारतीय सेना को सक्षम, अच्छी तरह से प्रशिक्षित और रणनीति एवं प्रौद्योगिकी में निपुण बताया गया। फिर भी अमरीकियों ने भारतीय समकक्षों के साथ अपने पारस्परिक सम्बन्धों को असुविधाजनक बताया, जिसके अनुसार भारतीय अधिकारी, जनरल, नौसेनाध्यक्ष एवं एयर मार्शल आसानी से अपमानित महसूस कर सकते हैं, उनके साथ काम करना कठिन है, वे अमरीकियों के प्रति गहरा अविश्वास रखते हैं एवं भविष्य पर ध्यान देने की अपेक्षा अतीत के प्रति अधिक आसक्त हैं। विवरण के अनुसार 1990 के दशक में जिन अमरीकी सैन्य अधिकारियों ने भारतीयों के साथ काम किया उन्होंने खुलासा किया कि वे पाकिस्तानियों के साथ काम करना अधिक पसन्द करेंगे जिनको उन्होंने अधिक समझौतापरक, मध्यम मार्गी और काम

में सहज साथी बताया।[23] यह रॉटर द्वारा वर्णित विवरण से मेल खाता है जिसके अनुसार अमरीकियों को 'असली मर्दों' के साथ खड़ा होना सहज लगता है और पाकिस्तानी नेता जो माँस खाते हैं, शराब पीते हैं और सेना के हथियारों एवं मशीनरी की सही कद्र करना जानते हैं, असली मर्द हैं।[24]

विरक्ति का दर्शनशास्त्र, भक्ति एवं लोकमतों का आवरण पश्चिम की भारत के प्रति अव्यवस्था की धारणा को और बढ़ाता है। वेदों, पुराणों एवं हिन्दू धर्म में अव्यवस्था की अवधारणा को एक कारण से आत्मसात किया गया है। यह किसी भी निरंकुश प्रवृत्ति को घटा कर सन्तुलित करती है और साथ ही अस्पष्टता व अनिश्चितता के माध्यम से रचनात्मक गतिशीलता भी प्रदान करती है।

नीचे वाला चित्र बाइबल एवं धर्मनिरपेक्ष्य दृष्टिकोण वाले पश्चिमी विचारकों में आमतौर से प्रचलित भारत की छवि को दर्शाता है। चित्र के शीर्ष पर एक ''श्वेत संस्कृति'' (white culture) है जो भारतीय समाज को ख़तरनाक, सम्भवत: शैतानी भी मानती है तथा अमरीका के कथित सभ्य समाज एवं प्रगतिशील प्रभाव के आच्छादन के लिए तैयार है। पश्चिमी संस्कृति की गहराई से जो दो प्रमुख दृष्टिकोण निकलते हैं वे हैं रूढ़िवादी बाइबल एवं उदार धर्मनिरपेक्षता। रूढ़िवादी दृष्टिकोण मिशनरियों द्वारा लिखे गये ग्रन्थों पर आधारित है जबकि उदारवादी दृष्टिकोण मानवाधिकारों और सामाजिक उन्नति जैसे कार्यक्रमों से प्रभावित है, जबकि इन विचारों के विपरीत इस तरह की शब्दावली गहरे नस्लवाद एवं यूरोप-केन्द्रित पूर्वाग्रहों से ग्रसित है। अर्थात दोनों अवधारणाएँ अपने अनुसार भारत को एक अराजक स्थान के रूप में प्रस्तुत करती हैं जिसे व्यवस्थित किये जाने की आवश्यकता है।
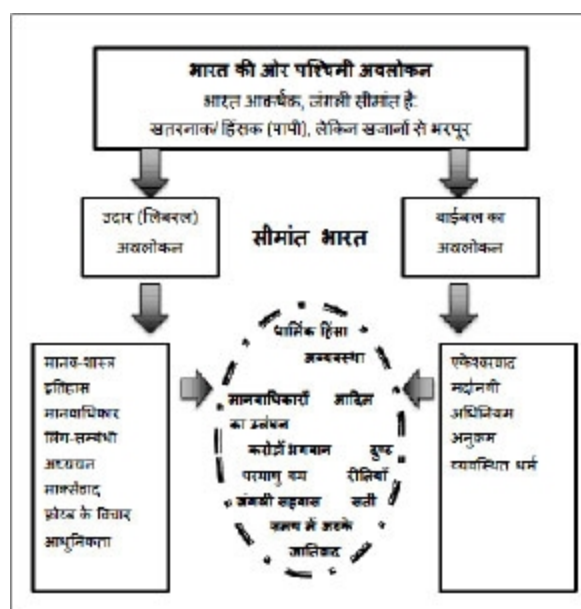
इस चित्र में नग्न एवं गन्दे से दिखाई देने वाले साधुओं, खुले में किये जाने वाले शवदाह तथा कर्मफल के सिद्धान्त को नियतिवाद बताने वाली गलत परिभाषाओं को जोड़ने से भारत एक ऐसा निश्चित क्षेत्र लगता है जो एंग्लो-अमरीकियों की भारतीयों के प्रति अनैतिक, तर्कहीन एवं विचित्र होने जैसी धारणाओं को पुष्ट करता है। वास्तव में लगभग सन 1600 से ले कर अब तक अधिकांश ग़ैर-यूरोपीय सभ्यताओं के बारे में पश्चिमी धारणा यही है।[25]

एशियाई एवं पश्चिमी संस्कृतियों में ज्ञानबोध प्राप्त करने के विभिन्न तरीके वैज्ञानिक परीक्षण का विषय बन गये हैं। संज्ञानात्मक विज्ञान के क्षेत्र में मिशिगन विश्वविद्यालय (University of Michigan) के एक शोध से पता चलता है कि वास्तव में संसार के प्रति एशियाई और गोरे अमरीकियों का दृष्टिकोण एकदम भिन्न है। उदाहरण के लिए जब गोरे अमरीकियों को एक चित्र दिखाया जाता है तो वे उस चित्र की अग्रभूमि पर अधिक ध्यान केन्द्रित करते हैं, जबकि एशियाई व्यक्ति उस चित्र को अच्छी तरह से अध्ययन करने के लिए उसकी पृष्ठभूमि पर भी ध्यान देते हैं। अध्ययन करने वाले शोधकर्ता रिचर्ड निस्बेट (Richard Nisbett) बताते हैं कि हमारी अपेक्षा एशियाई लोग कहीं अधिक जटिल सामाजिक संसार में रहते हैं। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि एशियाई लोग सामंजस्यपूर्ण एवं जटिल सम्बन्धों के अधिक अभ्यस्त हैं।[26]

पश्चिम का यह न्यूनकारी (reductionist) पूर्वाग्रह कि ''पश्चिम अर्थात् व्यवस्था एवं भारत अर्थात् अराजकता'' यह समझाने में विफ़ल है कि भारतीयों का विभिन्न आध्यात्मिक साधनाओं के साथ-साथ विज्ञान, व्यापार एवं अभियान्त्रिकी आदि के तर्कसंगत क्षेत्रों में श्रेष्ठ प्रदर्शन कैसे है। पश्चिम के विद्वान उस समय साफ़ असहज हो जाते हैं जब वे पश्चिमी इतिहास के पहले के भारतीय उपमहाद्वीप की परिष्कृत सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक उपलब्धियों के प्रमाणों का सामना करते हैं। उनमें से अधिकांश विद्वान इस मतिभ्रम की चर्चा ऐसे तर्कों के सहारे करते हैं कि भारतीय संस्कृति के अतीत की उपलब्धियाँ और वर्तमान का व्यापक दर्शनशास्त्र वास्तव में जैसे भारतीय नहीं है; अर्थात् उदाहरण के लिए अत्यधिक व्यवस्थित एवं सटीक सिन्धु-सरस्वती सभ्यता वास्तव में मूलत: भारतीय नहीं है। यदि पश्चिमी लोग किसी वस्तु को 'भारतीय' कहते हैं तो वे यह दर्शाने का प्रयास करते हैं कि यह संस्कृत-आधारित सभ्यता का विरोधात्मक पहलू है जिसे संस्कृत सभ्यता ने नष्ट किया था। उनका यह भी मानना है कि हिन्दू धर्म पहले अस्तित्व में नहीं था, परन्तु पिछले दो सौ वर्षों के दौरान हिन्दू राष्ट्रवादियों द्वारा एक साजिश से इसे प्रकट किया गया है। ये सभी घोषणाएँ उन तर्कों पर आधारित हैं जिनके अनुसार हिन्दू धर्म में आदर्शों, व्यवस्था और केन्द्रीय शक्ति का अभाव है। इस मानसिकता के अनुसार अराजकता और व्यवस्था साथ-साथ नहीं रह सकते।

भारतीयों को तर्कशक्ति में निम्न घोषित करने के कारण पश्चिमी विद्वान भारतीय विचार प्रणालियों की उत्कृष्टता को पूरी तरह से स्वीकार करने में कठिनाई का सामना

करते हैं, जबकि पश्चिम पर इन प्रणालियों का गहरा प्रभाव एक अकाट्य तथ्य है। पश्चिमी मस्तिष्क का बहु-इन्द्रियगत एवं ग़ैर-अनुक्रमिक जागरूकता से हट कर एक सीधे-रैखिक एवं अनुक्रमिक जागरूकता की ओर जाना मानवता के इतिहास में एक महत्वपूर्ण सफ़लता के रूप में अभिनन्दित किया जाता है।[27] दूसरी ओर भारतीय सभ्यता हमेशा से ही चिन्तन, संगठन एवं अनुभवों की बहुआयामी प्रणाली में निहित रही है। यह समकालिक भारतीय दृष्टिकोण पश्चिम की कई नई खोजों का आधार रहा है जिनमें संरचनावाद (structuralism) की खोज जैसे प्रमुख ज्ञानशास्त्र का सिद्धान्त भी सम्मिलित है—एक ऐसी पद्धति जिसने भाषा और समाज सम्बन्धी विभिन्न अध्ययनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया।

भारत के इन ज्ञान साधनों का महत्व समझने में पश्चिमी विचारक न केवल असफल रहे बल्कि उन्होंने इन साधनों का इस अनुमान के कारण लगातार विरोध किया कि ये अराजक संस्कृति से उत्पन्न हुए हैं, जिसमें तार्किकता एवं द्वि-आधारी सिद्धान्त अधिकांशत: अनुपस्थित हैं। जैसा कि रिचर्ड लेनॉय (Richard Lannoy) निष्कर्ष देते हैं—

> सहज एवं एक संवेदनशील संज्ञान से युक्त प्रतिमानों (संरचनावाद के दोनों पहलू) को 'अवैज्ञानिक विवेकहीनता' कह कर निन्दित करना एक दुखद एवं गलत धारणा है, विशेषकर भारत जैसे समाज में प्रतिभा ने, जिसे यद्यपि लम्बे समय से 'पुरातन' कह कर कलंकित किया गया था, फिर से चरण-दर-चरण क्रमिक एवं रैखिक प्रगति के तर्कों पर प्रभुत्व प्राप्त करना आरम्भ कर दिया है।[28]

अराजकता के साथ भारतीयों का धैर्य

इस सम्बन्ध में धार्मिक परम्पराओं की सहजता अभिन्न एकता और सन्दर्भ को महत्व देने के कारण है। सभी वस्तुएँ सहज रूप से आपस में जुड़ी हुई हैं, इसलिए व्यक्ति बहुलता के प्रति निश्चिन्त है और उससे किसी प्रकार से डरता नहीं। श्री अरविन्द लिखते हैं, "हमें एकता निर्मित करनी चाहिए न कि एकरूपता।"[29] वे स्पष्ट करते हैं कि भारतीय धार्मिक परम्पराओं में एकता एक प्रकार से अभिन्नता की आन्तरिक भावना में निहित है, इसलिए यहाँ बिखराव और अराजकता से विनाश के डर के बिना विराट बहुलता पाई जाती है। वे आगे कहते हैं कि प्रकृति अनन्त प्रकार की भिन्नता को आसानी से वहन कर सकती है, क्योंकि शाश्वत् सत्य की अन्तर्निहित अचल स्थिति यहाँ हमेशा अप्रभावित रहती है।

श्री अरविन्द के लिए वास्तविकता (शाश्वत् सत्य) की नित्यता न बदलने वाले अस्तित्व में है जो अन्तहीन पुनर्गठन की सक्षम अपरिवर्तनीयता ही रहती है, परन्तु कोई भी विभेदन इसे नष्ट, विकृत, भ्रष्ट अथवा कम नहीं कर सकते।[30] इस नियमितता का एक आध्यात्मिक आधार है। वे लिखते हैं कि—

> "यदि मनुष्य एक आदर्श आध्यात्मिकता का अनुभव कर सकता है तो उसे किसी प्रकार की एकरूपता की आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि उसी आध्यात्मिक नींव पर विविधता का परम खेल सहज रूप से सम्भव होगा। यदि फिर सैद्धान्तिक रूप से वह एक सुरक्षित, स्पष्ट एवं मजबूत एकता का अनुभव कर सकता है तो एक समृद्ध और असीमित विविधता उसके क्रियान्वयन में बिना किसी विकार, भ्रम, और संघर्ष के भी सम्भव है।[31]

व्यवस्था तथा अराजकता के बीच जो प्रवाही एवं परस्पर सम्बन्ध हैं उन्होंने ही भारत की सामाजिक, राजनैतिक एवं नागरिक संरचनाओं को आकार दिया है। औपनिवेशिक काल से ले कर वर्तमान समय तक पारम्परिक भारतीय समाज की विकेन्द्रीकृत संरचना और स्वचालित प्रकृति ने बहुत से पश्चिमी लोगों को अचम्भित किया है। पश्चिम की एकरूपता, केन्द्रीकृत सत्ता एवं नियन्त्रण की प्राथमिकता से यह विकेन्द्रित ढाँचा बहुत अलग है।

उदाहरण के लिए ईसाई मत की विवाह विधि से भिन्न हिन्दू विवाह पद्धति में पुरोहित स्वयं कोई अनुष्ठान नहीं करता और न ही जोड़े को विवाहित घोषित करने का उसे कोई अधिकार है; वह केवल प्रशिक्षक के रूप में कार्य करता है। दूल्हा और दुल्हन स्वयं ही विवाह संस्कार की प्रक्रियाएँ पूर्ण करते हैं। दूसरे शब्दों में, किसी बाहरी सत्ता को उन्हें पति-पत्नी घोषित करने का अधिकार नहीं है। इसी प्रकार की 'स्वयं करके देखो' वाली स्वतन्त्रता अन्य परम्पराओं जैसे योग एवं ध्यान में भी स्पष्ट है। यहाँ तक कि औपचारिक पूजापाठ में भी दिशानिर्देश केवल अनुभवहीन लोगों के लिए हैं और धीरे-धीरे इनसे हट कर वह और अधिक स्वतन्त्र हो कर अपनी आध्यात्मिक यात्रा में किसी बाहरी सत्ता के हस्तक्षेप के बिना अपना मार्ग स्वयं ही प्रशस्त करता है।

भारत का कुम्भ मेला इस बात को दर्शाता है कि विशालतम पैमाने पर भी विविधता स्वयं-संचालित और बिना किसी अराजकता के हो सकती है। प्रत्येक बारह वर्ष में आयोजित होने वाले कुम्भ में, जो कि संसार का सबसे बड़ा मेला है, भारत के कोने-कोने से समाज के सभी वर्गों, परम्पराओं, जातियों एवं भाषाओं के लाखों-करोड़ों लोग खिंचे चले आते हैं। फिर भी इसमें कोई केन्द्रीय आयोजन समिति अथवा बाहर से आने वालों को निमन्त्रण भेजने या कार्यक्रम घोषित करने वाला कोई 'कार्यक्रम प्रबन्धक' अथवा इसे प्रचारित करने वाली कोई केन्द्रीय सत्ता या बाहर से आने वालों के लिए किसी प्रकार का केन्द्रीकृत पंजीकरण की प्रवेश प्रणाली नहीं है। यह आयोजन एक स्वत: स्फूर्त और सार्वजनिक अधिकार क्षेत्र का है जिसमें किसी का सरकारी अधिकार अथवा प्रभुत्व नहीं होता। अति-प्राचीन काल से विभिन्न समूहों ने अपने छोटे-छोटे नगर बसा लिए हैं और लाखों लोग व्यक्तिगत रूप से केवल तीर्थ यात्रा एवं उत्सवों में भाग लेने आते हैं।

मुम्बइ के डब्बेवालों की वितरण सेवा वाणिज्य के क्षेत्र में भारतीय स्व-संचालन का एक और उदाहरण है जो बिना किसी केन्द्रीय सत्ता या आयोजक के एक तन्त्र के माध्यम से प्रत्येक ग्राहक के घर पर पका हुआ गर्म खाना वितरित करती है।[32] व्यक्तिगत उद्यमियों की यह व्यवस्था अन्तर्जाल (Internet) की तरह एक विकेन्द्रीकृत व्यवस्था है जिसमें बिना किसी केन्द्रीय अधिकार के एक व्यक्ति दूसरों के साथ सम्पर्क में रह सकता है। प्रबन्धन के विद्यालयों ने इस व्यवस्था का अध्ययन किया तथा उसे आश्चर्यजनक रूप से कुशल पाया, यहाँ तक कि फ़ेडरल एक्सप्रेस (Federal Express) और डीएचएल (DHL) जैसी आधुनिक वितरण कम्पनियों ने भी इनसे प्रतिस्पर्धा करने का प्रयास किया, परन्तु असफल रहीं।

भारतीय संस्कृति में रचनात्मकता तयशुदा साँचों एवं आशु-व्यवस्था के बीच एक गतिशील आदान-प्रदान में पनपती है। पश्चिमी लोगों की अपेक्षा आम तौर पर भारतीय लोग चरम स्थितियों से निपटने में अधिक सहज होते हैं तथा अराजकता और उसके विपरीत व्यवस्था के बीच के स्थान को रचनात्मकता, अन्तर्ज्ञान एवं अन्तर्दृष्टि के लिए एक अवसर की तरह देखते हैं। भारतीय कला में भी एकता है, परन्तु यह एकता समान प्रतिरूपों की पुनरावृत्ति जैसी नहीं है बल्कि यह विविधता में एकता है। यह एकता हिन्दू जीवनशैली के प्रत्येक कल्पनाशील आयाम, जैसे वास्तुकला, कविता, संगीत और मूर्तिकला में व्यक्त होती है। इस तथ्य का वर्णन करने के लिए कई उदाहरण हैं।

भारतीय संगीत पर लिखे लगभग सभी अंग्रेजी लेखों में 'स्वर' का अनुवाद 'नोट' (note) के रूप में किया जाता है। इसी विकृत परिभाषा को बहुत से भारतीयों और तथाकथित विशेषज्ञों द्वारा अंगीकार कर लिया गया है। वास्तव में 'स्वर' का कोई पश्चिमी समकक्ष शब्द नहीं है, क्योंकि मूलत: स्वर केवल नोट को ही समाविष्ट नहीं करता बल्कि आस-पास के मधुर परितन्त्र को भी अपने में समेटे हुए होता है। एक विद्वान ने टिप्पणी की है कि जिन पश्चिमी संगीतज्ञों ने भारतीय संगीत का अध्ययन किया है उन्होंने शायद ही कभी 'स्वर' से पहले और बाद में उत्पन्न होने वाले विभिन्न कोण एवं घुमावों की शालीनता को महसूस किया होगा, क्योंकि यह उनके लिए एक अनजाना विचार है। उन्हें लगता है कि वे 'स्वर' को भलीभाँति समझते हैं, परन्तु वास्तविकता में ऐसा है नहीं।[33] भारतीय शास्त्रीय संगीत की लयबद्ध सीमा (ताल) एक ग़ैर-रेखीय एवं ग़ैर-अनुक्रमिक संज्ञान के प्रारूप पर आधारित है।

भारतीय संगीत के रागों को हर बार एक ही तरह गाया या बजाया नहीं जाता; वे कलाकार की मनोदशा, श्रोताओं की प्रतिक्रिया, उस क्षण के रस, मौसम, दिन का समय इत्यादि को प्रतिबिम्बित करते हैं। न तो कोई दो क्षण एक जैसे होते हैं और न ही कोई दो सन्दर्भ। मुख्यत: रागों को उनकी मूल स्वर संरचना पर आशु-रचना के आधार पर गाया-बजाया जाता है। इस पूर्ण स्वतन्त्रता और आशु रचना (जिसे प्राय: भारतीय संगीत में 'उपज' कहा जाता है) के कारण एक ही राग अनगिनत तरीकों से व्यक्त

किया जा सकता है। फिर भी भारतीय संगीत को बेतरतीब या अराजक की तरह नकारा नहीं जा सकता, केवल इसलिए कि यह नियमों का अक्षरत: पालन नहीं करता।[34]

इसी तरह की सन्दर्भपरक संवेदनशीलता भारतीय जड़ी-बूटी दवाओं को बनाने में तथा साथ ही चिकित्सा निदान एवं दवाई देने में भी देखी जाती है। यहाँ स्वास्थ्य को 'विपरीत में सन्तुलन' के रूप में परिभाषित किया गया है जिसमें चरम स्थितियों को नियन्त्रित करना सम्मिलित है। आयुर्वेदिक दवाइयों को कभी-कभी पहले से तैयार करके नहीं रखा जाता, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य की भिन्न शरीर रचना एवं उसकी प्रकृति की जाँच करने के पश्चात ही रोग के लक्षण और उपचार की सलाह दी जा सकती है। बीमारी के कारण का वर्णन करते समय आयुर्वेदिक शब्दावली में 'हमला' (as viral attack) कहने की अपेक्षा इसे 'असन्तुलन' कहा जाता है। आयुर्वेदिक चिकित्सक दवाओं का एक सुसंगत मिश्रण तैयार करता है जिससे शरीर की प्रतिरोधी ताकतें एक दूसरे की कमी पूरी करके उन्हें नियन्त्रित करती हैं। यहाँ तक की आयुर्वेद में इलाज के लिए कुछ विषों का भी प्रयोग किया जाता है, क्योंकि सन्दर्भ के अनुसार विषैले पदार्थों में भी उपचारात्मक गुण होते हैं। भारतीयों द्वारा टीके (vaccination) का आविष्कार पूरे शरीर को मजबूत करने के लिए प्रतिकूल को रचनात्मक रूप से प्रयोग करने के सिद्धान्त पर आधारित है।[35]

कई प्रकार के पौधों एवं खाद्य पदार्थों में विशिष्ट 'रस' होते हैं जिन्हें यदि शुद्ध रूप में पिया जाये तो वे हानिकारक हो सकते हैं, परन्तु निश्चित मात्रा में मिश्रण करके और पकाने से वे लाभकारी हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर के गुणधर्मों का आँकलन करने के बाद सही सन्तुलन लाने के लिए अनुकूल रसों को खाद्य पदार्थों के रूप में दिया जाता है।[36]

अच्छे भारतीय रसोईये व्यंजन बनाने की लिखित विधि या मापक उपकरणों पर निर्भर नहीं रहते, क्योंकि यह यान्त्रिक और रसविहीन होगा, फिर भी वे उत्तम भोजन तैयार करते हैं। आशु-रचना भारतीय नृत्य, कला, वस्त्र, पहनावा, नक्काशी और यहाँ तक कि मन्दिरों एवं घरेलू अनुष्ठानों, रीतिरिवाजों एवं प्रथाओं में भी विशिष्ट रूप से अंकित है। कांजीवरम के प्रसिद्ध मन्दिर में एक हज़ार स्तम्भ हैं जिनमें कोई दो भी एक जैसे नहीं हैं। जैसे-जैसे व्यक्ति की कला में प्रवीणता आती है वैसे-वैसे आशु-कला सहज ही अपने आप विकसित होती चली जाती है।

उच्च श्रेणी के योगी सहजता से अभ्यास करते हैं। हालाँकि प्रारम्भ में शिष्यों को जानबूझ कर योगासन एक निर्धारित अनुक्रम में सिखाये जाते हैं, परन्तु उच्च श्रेणी के शिष्यों के लिए कोई पूर्व-निर्धारित अनुक्रम नहीं होता। इनका शरीर अपनी इच्छा के बिना सोचे स्वचालित होता है और यहाँ तक कि 'मैं कर रहा हूँ' की भावना भी कम होती जाती है।[37] अहंकार स्थिर एवं सुसंगत तत्वों, निर्धारित कार्यकारी सिद्धान्तों एवं भ्रामक चीजों के चंगुल में फँसे रहने के कारण होता है। स्वयं को उभारने के लिए

अहंकार का समर्पण आवश्यक है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कई तरीके प्रयोग में लाये गये हैं, हालाँकि पश्चिमवासी इन्हें अव्यवस्थित भी मान सकते हैं।[38]

भारत में दीपावली और होली के उत्सव प्रतीक के रूप में सामाजिक रचनात्मक उबाल के माध्यम से संसार को अव्यवस्था से उत्पन्न हुए दिखाते हैं। उत्सव मनाने वाले प्रतिदिन की व्यवस्था एवं बँधे-बँधाए ढाँचे से बाहर आ कर एक पुनर्जीवित अस्थायी सामूहिक अव्यवस्था में भाग लेते हैं, जिससे वे अपनी निजी व्यवस्थित भूमिका में फिर से वापस लौट कर तरोताज़ा महसूस करते हैं। उत्सव दो लयबद्ध विपरीत ध्रुवों का प्रतीक है, जैसे—व्यवस्था/अराजकता; नियम बद्धता/तर्कहीन आवेगों पर समर्पण; विभाजन और भेदभाव/मिलन और अभेद-भाव; वर्जनाओं का पालन/ वर्जनाओं का अतिक्रमण; वास्तविक सिद्धान्त परक अनुशासन/आमोद सिद्धान्त में मग्नता; जातिगत प्रतिद्वन्द्विता/सामूहिकता का गौरव इत्यादि। उत्सव मनाने की रीतियाँ, व्यवस्था को फिर से लाने के लिए, अव्यवस्था की ऊर्जा या रचनात्मक मानस को सक्रिय करती हैं।[39]

भारतीय कला कामशास्त्र, आध्यात्मिक अभिव्यक्ति और वास्तव में जीवन के लगभग सभी पहलुओं में परिष्कृत व्याकरण है, जिसका उपयोग अनुशासन की नींव के रूप में तथा प्रतिमानों की व्याख्या करने एवं आशु-कला को प्रोत्साहन देने में होता है। कई हिन्दू त्यौहारों में भारतीय महिलाएँ चावल के बहुरंगी चूरे से घर के फ़र्श पर जटिल बेल-बूटे बनाती हैं। आयोजन के सम्पन्न होने के बाद इन रचनाओं के ऊपर लोगों के चलने से ये मिट जाती हैं और चावल का चूरा इधर-उधर बिखर जाता है। डेविड शलमन (David Shulman) अनुष्ठान का वर्णन करते हुए लिखते हैं, ''जैसे-जैसे दिन बढ़ता है चावल का चूरा घर में आने-जाने वाले लोगों के पैरों में लगता-बिखरता रहता है। चावल का चूरा सड़क की धूल से घुलमिल जाता है तथा प्रतीक अपने मूल स्वरूप में नहीं रह पाता। इसे बनाया भी इसीलिए गया था। वह आगे कहते हैं कि ऐसी व्यवस्थित रंगोली के निर्माण का उद्देश्य केवल क्षणिक होता है और जब इसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है तब उन्हें मिटने के लिए छोड़ दिया जाता है। अर्थात् उनका निर्माण बने रहने के लिए नहीं बल्कि अदृश्य, क्षणिक एवं अप्रत्याशित वास्तविकता के प्रतीक की तरह किया जाता है।[40]

हिन्दू धर्म के बारे में एक अग्रणी पश्चिमी विशेषज्ञ वेण्डी डोनिगर (Wendy Doniger), जिसका भारतीय धार्मिक कला का कार्य उसे कमतर बनाना है, लिखती हैं कि ''चावल की रंगोली को मिटाना एक तरह से व्यवस्था को विकृत कर उसके पुनर्निर्माण किये जाने जैसा है।''[41] हालाँकि वह एक गलत आँकलन भी करती हैं कि हिन्दुओं द्वारा मन्दिरों को पुनर्स्थापित करने का प्रयास उन्हें अहंवादी संरक्षक बनाता है, जो आत्मसन्तुष्टि के लिए यह मानते हैं कि हिन्दू मन्दिर, कला, और महलों को सदा के लिए बने रहना है। उसका अन्तर्निहित सन्देश यह है कि पिछले एक हज़ार वर्षों व इसके समकालीन कालखण्ड में विदेशी प्रभुत्व के समय हिन्दू मन्दिरों का

जिस तरह परित्याग एवं विनाश किया गया वह उचित था। हिन्दुओं की अव्यवस्था के प्रति सहजता और उसके रचनात्मक उपयोग के प्रति तो समझ अच्छी है, परन्तु यह लेखिका की द्वि-आधारी न्यूनकारी सोच में सिकुड़ कर मन्दिरों की व्यवस्थित वास्तुकला की उपेक्षा करते हैं।[42]

भारतीय आध्यात्मिक लचीलेपन को बेतरतीब, दोहरे चरित्र वाला अथवा दृढ़ता की कमी के भ्रम की तरह नहीं देखना चाहिए। अत: इस पूर्वगामी चर्चा को सन्तुलित करने के लिए इसमें व्यवस्था एवं परिशुद्धता का अस्तित्व दर्शाना आवश्यक हो गया है—किसी शोध-प्रबन्ध हेतु 'न्याय-शास्त्र' को पाँच चरणों में कड़ाई से लागू किया जाता है; किसी समस्या के आकार निर्धारण हेतु 'मीमांसा' के सात सिद्धान्त हैं; संस्कृत में वैज्ञानिक ग्रन्थ लेखन हेतु 'तन्त्र-युक्ति' नाम के तरीके हैं; साथ ही विपक्षियों से वाद-परिवाद करने के भी विभिन्न तरीके स्थापित हैं। पश्चिम की प्रसिद्ध 'दाँए मस्तिष्क की व्यवस्था' वाली धारणा, 'बाँए मस्तिष्क की रचनात्मकता' के साथ भारतीय इतिहास में फली-फूली है और इन के बीच का तनाव विभिन्न सांस्कृतिक स्वरूपों में लगातार अभिव्यक्त होता रहा है।[43]

पवित्र आख्यान

व्यवस्था और अराजकता के जिन विभिन्न पहलुओं के बारे में मैंने ऊपर लिखा है वे भारत एवं पश्चिम के मिथकों और बुनियादी कथानकों की विषमता में स्पष्ट रूप से दिखते हैं। वेदों, उपनिषदों तथा संस्कृत के वृहद शास्त्रीय लेखन में हमें अव्यवस्था और असमानता से निपटने हेतु कई सन्दर्भगत, संवेदनशील तथा लचीले तरीके देखने को मिलते हैं। यहाँ अव्यवस्था के अधिकारों को मानते हुए खोज हमेशा सन्तुलन एवं साम्यता के लिए होती है। यूनानी शास्त्रीय एवं उत्पत्ति (Genesis) की सृष्टि-सम्बन्धी कहानियों में दो ध्रुवों के बीच सतत् कुल-जोड़ शून्य संघर्ष चलता रहता है, जिसमें 'व्यवस्था' की ही विजय होनी चाहिए। यहूदी एवं यूनानी दोनों ही के पश्चिमी मिथक ऐसे प्रसंगों से भरे पड़े हैं जो नकारात्मक क्षेत्रों को अराजक और स्वर्ग को व्यवस्थित दर्शाते हैं, दोनों पूरक या सन्तुलन ढूँढ़ने की अपेक्षा सतत संघर्षरत हैं। यह संरचना पश्चिमी संस्कृति एवं मनोविज्ञान का आधार है, इसलिए यदि इसे किसी बाहरी दृष्टिकोण से परिलक्षित न किया जाये तो इसे देखना पश्चिमी लोगों के लिए कठिन है।

वेद

वैदिक साहित्य में ऐसे कई मिथक हैं जो विश्वरचयिता 'प्रजापति' के जगत को उत्पन्न करने के प्रयासों का वर्णन करते हैं, जिसमें व्यवस्था एवं अव्यवस्था जैसे बलों में सन्तुलन हो। उनके पहले प्रयास के परिणामस्वरूप जो सृष्टि बनी उसमें भिन्नता का अभाव ('जामी') था, क्योंकि यह अत्यधिक व्यवस्थित थी। यह अभिन्न एकता को असम्भव बनाता है, क्योंकि यहाँ विविध घटक संयुक्त होने के लिए पर्याप्त मात्रा में हैं

ही नहीं। वे एक से हैं और सीधे ही एक दूसरे में मिल जाते हैं, एक ऐसी स्थिति जिसे 'पंचविंश ब्राह्मणा' (24:11:2) में एक दु:स्वप्न के रूप में सन्दर्भित किया गया है। सृष्टि की रचना के दूसरे प्रयास में एक ऐसा ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ जो अति खण्डित एवं अराजक था (पृथक अथवा ननत्व)। जब ब्रह्माण्ड में इकाइयाँ बहुत अधिक अकेली, बिख़री हुई, एक दूसरे से एकदम भिन्न (पृथक) होती हैं तब वे आपस में सम्बन्ध नहीं बना सकतीं। तब एक ऐसी सृष्टि वाँछित है जो किसी हद तक भिन्नता और अकेलापन रखती हो, परन्तु 'जामी' के लक्षण से बची रहे, अर्थात् इकाइयाँ परस्पर सम्बन्ध तो रखेंगी, परन्तु उनमें पृथकता की अवाँछनीय स्थिति नहीं होगी।[44]

प्रजापति का मानना था कि जीवन विपरीत अति की स्थितियों, पहचान के अत्यधिक अन्तर और अत्यधिक समरूपता के बीच स्थित होना चाहिए। अन्ततः वे एक ऐसे ही ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने में सफ़ल रहे। यह कार्य उन्होंने समानता की शक्ति द्वारा सम्पन्न किया जिसे 'बन्धुता' या 'बन्धु' कहते हैं तथा जिसके बारे में अध्याय 3 में चर्चा हो चुकी है। वेद वास्तविकता के विभिन्न स्तरों में सम्बन्धों को खोजने के प्रयासों से भरे पड़े हैं। यह समस्त वैदिक विचारों एवं नैतिक संवाद के एक प्रमुख सिद्धान्त के रूप में जाना जाता है।

हिन्दू धर्म 'व्यवस्था' (अर्थात देवताओं) तथा 'अराजकता' (अर्थात असुरों) के बीच जारी प्रतिद्वन्द्विता के अपने प्रमुख केन्द्रीय सिद्धान्त के चारों ओर ऐसे कई आख्यान बुनता है जिनमें इसे दर्शाया गया है। भारतीय धार्मिक परम्पराओं के प्रमुख मिथक जिसमें 'समुद्र मन्थन' को दर्शाया गया है इन दोनों विपरीत ध्रुवों के बीच चले आ रहे शाश्वत् संघर्ष को दिखाता है। क्षीरसागर चेतना और रचनात्मकता का समुद्र है जिसका मन्थन करके शाश्वत् जीवन का अमृत प्राप्त किया जाना है। मन्थन करने के लिए दो विरोधी पक्ष आवश्यक हैं। मजे की बात यह है कि दोनों पक्षों के पिता 'कश्यप' ऋषि हैं जो 'दृष्टि या दर्शन' का प्रतीक हैं। असुरों की माता 'दिति' (अर्थात विभाजित और सीमित) है, इसलिए असुर सीमित दृष्टि के वंशज हैं। देवताओं की माता 'अदिति' (असीम) हैं और इसलिए उनका दर्शन उच्च स्तर का है। असुरों में अधिक पाशविक शक्ति है, परन्तु समुद्र मन्थन के लिए असुरों की शक्ति के साथ-साथ देवताओं की दूरदर्शिता भी आवश्यक है। इन मूल प्रतिद्वन्दियों के बीच चली आ रही खींचतान का कोई अन्त नहीं है और यह व्यक्ति के भीतर चलने वाले आध्यात्मिक संघर्ष का भी प्रतीक है।

देवताओं ने उस ब्रह्माण्ड रूपी विशाल सर्प की पूँछ और असुरों ने उस का मुँह पकड़ा तथा मेरू पर्वत को मन्थन करने वाली मथनी तथा सर्प को रस्सी के रूप में उपयोग करते हुए मन्थन किया। वे समुद्र मन्थन के लिए रस्साकशी में संलग्न हो कर एक दूसरे को आगे-पीछे खींचते हैं। यह द्वैतवादी मन्थन वास्तव में ज्ञान और अज्ञान के बीच है, हालाँकि अज्ञान को पाप अथवा नरकदण्ड की तरह देखने की गलती नहीं करनी चाहिए। आसुरी प्रवृत्तियाँ मनुष्य का स्थायी भाव नहीं होतीं बल्कि वे समय-

समय पर मनुष्य के आन्तरिक अवगुणों के रूप में उभरती हैं। इन दोनों पक्षों का आपसी तनाव किसी एक पक्ष को हरा देने पर ख़त्म नहीं होता और यह द्वन्द्व तरह-तरह के चमत्कारिक और लाभकारी पदार्थों को उत्पन्न करता है और फिर इस बात पर खुला संघर्ष प्रारम्भ होता है कि अमरत्व को ग्रहण करने की प्राथमिकता किसकी है। यह उल्लेखनीय है कि अमृत निकलने के पहले विष का कलश निकलता है जो एक बार फिर से 'अच्छे' और 'बुरे' के बीच परस्पर-निर्भरता को दिखाता है। यह मिथक व्यवस्था एवं अराजकता से ऊपर उठने का मार्ग दर्शाता है जिन्हें नाज़ुक सन्तुलन के साथ रखा गया है तथा अन्ततः ये आध्यात्मिक बोध के अधीनस्थ हो जाते हैं। समुद्र मन्थन की इस कथा को अक्षरशः नहीं लेना चाहिए। वास्तव में ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति की अनिश्चितता को ऋग्वेद के प्रसिद्ध सृष्टि-गान—Hymn of creation— X:129) में बहुत अच्छे तरीके से व्यक्त किया गया है।

> ''...वास्तव में कौन जानता है और ऐसा कौन है जो यह घोषणा कर सकता है
> कि मनुष्य का जन्म कहाँ हुआ और यह सृष्टि कहाँ से आई?
> ईश्वर की उत्पत्ति भी इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के बाद हुई है,
> कौन जानता है कि वह सबसे पहले कहाँ पैदा हुआ?
> वह, जो इस सृष्टि का 'प्रथम' और 'उद्गम' है,
> क्या उसी ने सभी को रूप दिया अथवा ऐसा नहीं किया,
> किसकी दृष्टि है जो इस ब्रह्माण्ड का नियन्त्रण स्वर्ग में करती है,
> क्या वास्तव में वह यह जानता है या शायद नहीं...''

कुछ प्रमुख वैदिक देवतत्व, विशेषकर अग्नि, सोम एवं वरुण असुर हैं जो इन्द्र के कहने पर देवताओं की ओर आ गये, परन्तु अभी भी उनमें द्वैधवृत्ति और कपटी भाव देखने को मिलते हैं।[45] ऐसा माना जाता है कि प्रत्येक वार्षिक चक्र के अन्त में, अर्थात् नववर्ष आरम्भ के उत्सव के दौरान ये असुर कुछ समय के लिए पुनः अपनी राक्षसी प्रवृत्ति की ओर लौटते हैं। इस समय समाज अव्यवस्था में डूब जाता है (जैसा कि होली के त्यौहार के दौरान खेल-खेल में प्रदर्शित किया जाता है) और फिर से व्यवस्थित ब्रह्माण्ड का नवोदय होता है। देवताओं और असुरों के बीच जारी इस सहकारितापूर्ण संघर्ष में असुर प्रायः जीतते हुए लगते हैं, क्योंकि ऐसे संकेत मिलते हैं कि गहनतम ज्ञान तथा असाधारण शक्तियों की सुरक्षा द्वैधवृत्ति के असुर पक्ष के लोगों के द्वारा की जाती है।[46] इस तरह की बारम्बार दल बदल, साँठ-गाँठ और खण्डन पश्चिम के अराजकता के प्रति दृष्टिकोण, जो द्वैतवादी और व्यवस्था या अव्यवस्था अथवा अन्दरूनी या बाहरी में किसी एक ही की धारणा को उलटता एवं पराजित करता है। हिन्दू धर्म के गतिशील सन्तुलन के बारे में रिचर्ड लेनॉय (Richard Lannoy) संक्षेप में लिखते हैं—

''हिन्दू शास्त्रों में इतिहास को धर्म और अधर्म, नैतिक, आदर्शवादी, आध्यात्मिक शक्तियों और अँधकार, वासना एवं बुराई के बीच एक अनवरत संघर्ष होता हुआ दिखाया जाता है जिसमें धर्म की हमेशा विजय होती है। इतिहास, नैतिकता, राजनीति एवं सामाजिक चिन्तन एक ब्रह्माण्डीय अनुष्ठान योजना में आपस में मिश्रित रहते हैं जहाँ देवता और संस्कृति के नायक पवित्र और अपवित्र विश्व के बीच मैत्रीपूर्ण मध्यस्थ की भूमिका निभाते हैं। अच्छाई और बुराई के बीच संघर्ष की यह कल्पना लोकहित के लिए एक ब्रह्माण्डीय यज्ञ के रूप में की गई है जिसमें अन्ततः राज-धर्म के निर्वहन के लिए देवताओं और मनुष्यों को एकजुट किया जाता है।''[47]

बन्धु की वैदिक अवधारणा ब्रह्माण्ड की अन्तर्निहित एकता को पुष्ट करती है। वैदिक यज्ञ (जिसका गलत अनुवाद 'बलिदान' के रूप में किया गया है तथा जिस पर अध्याय 5 में चर्चा की गई है) एक कार्यशाला है जहाँ ऐसे बन्धुत्व का गठन किया जाता है जो इस जीवन की असंख्य प्रत्यक्ष अभिव्यक्तियों तथा उनके उत्कृष्ट मूल स्वरूप के बीच एक रूपक की तरह है। एक अर्थ में यज्ञ अराजकता को व्यवस्था में बदल देना है। एक बार फिर वैदिक विचारों की ज्ञान मीमांसा ऋग्वेद (10:130:3) में स्पष्ट प्रकट होती है—''मूल रूप क्या था तथा उसका प्रतिरूप, उसकी अभिव्यक्ति क्या थी एवं इन के बीच का सम्बन्ध, बन्धुता क्या था?''

आदिस्वरूप एवं उनके प्रत्यक्षीकरण के बीच सम्पर्क-सूत्रों की वैदिक खोज व्यवस्था और अराजकता के बीच सम्बन्ध समझाने की एक कुंजी है। सृजन यज्ञ के अनुष्ठान एक रूपक की तरह हैं जो अज्ञात अराजकताओं का पुनः वर्गीकरण करके उनका सभी शास्त्रों, साधनाओं एवं संस्थाओं में आदिपाठों के रूप में उपयोग करते हैं। बन्धु की भावना आपसी निर्भरता का मजबूत बन्धन है।[48]

भारतीय धार्मिक मनीषा समस्त ब्रह्माण्ड को ऐसे एकीकृत स्वरूप में देखती है जो बाहर से थोपे हुए नियमों से संचालित होने की अपेक्षा स्वयं-अनुशासित है। बाहरी लोगों को यदि भारत एक 'क्रियाशील अराजकता' की तरह दिखता है तो ऐसा इसलिये है क्योंकि यहाँ मतभेदों को सहर्ष स्वीकृति दी जाती है और साथ ही स्वायत्तता को बनाये रखते हुए उनके एकीकरण के संकल्पित प्रयास किये जाते हैं। सार्वभौम व्यवस्था एवं सद्भाव के प्रति उल्लेखनीय अन्तर्दृष्टि को ऋग्वेद में 'ऋतम' कहा गया है जोकि प्राकृतिक व्यवस्था को बनाये रखने का सिद्धान्त है। विशाल आकाशगंगाओं से ले कर परमाणु का केन्द्र जो इसकी प्रकृति व दिशा है, ऋतम सब कुछ देता है। यह तीन स्तरों पर प्रकट होता है, पहला लौकिक सतह पर प्रकृति की दिशा संचालन के रूप में, दूसरा सामाजिक-नैतिक सतह पर न्याय के रूप में तथा तीसरा उस अध्येता के आन्तरिक दायरे में। ऋतम प्रकृति के सूक्ष्म एवं स्थूल अस्तित्वों के बीच सन्तुलन बनाये रखता है। नैतिक सदाचार एवं ब्रह्माण्डीय व्यवस्था

के बीच कोई विरोधाभास नहीं है। यह उन क्षेत्रों के बीच सेतु स्थापित करता है जिन्हें पश्चिम ने अलग कर दिया है, जैसे धार्मिक व धर्मनिरपेक्ष भावना व प्रवृत्ति इत्यादि।

व्यवस्था एवं अराजकता के बीच तनाव से एक नाज़ुक सन्तुलन बनता है, परिणामस्वरूप अधिनायक की स्थिति की अपेक्षा प्रचलित व्यवस्था अस्थायी, सापेक्ष्य, छिद्रयुक्त और लचीली बनती है। प्रचलित व्यवस्था को जड़ बनने से रोकते हुए अव्यवस्था रचनात्मकता के स्रोत के रूप में उभरती है। भगवान केवल ब्रह्माण्ड के निर्माता (ब्रह्मा के रूप में) ही नहीं हैं और न ही वे केवल इसकी व्यवस्था चलाने वाले (विष्णु रूप में) हैं, बल्कि वे इसे समाप्त भी करते हैं (शिव के रूप में)। इस विघटन की प्रक्रिया से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के अगले चक्र के लिए जगह बनती है। आध्यात्मिक स्तर पर योग के ईश्वर शिव यथोचित अराजकता का रूप धर कर हमारे मनोमस्तिष्क पर छाए हुए विकारों के बन्धनों को नष्ट करते हैं, जिससे नई सृष्टि का मार्ग तय होता है। यह सर्वव्यापी प्रक्रिया उप-परमाणविक तथा लौकिक दोनों स्तरों पर अनवरत चलती रहती है।

विपरीत ध्रुवों के बीच गतिशील सन्तुलन की अवधारणा वैदिक ग्रन्थों में लगातार मिलती है। ऋग्वेद में प्राचीन ऋषियों का वर्णन मिलता है जिन्होंने अपने हृदय में झाँक कर अस्तित्व (सत्) एवं ग़ैर-अस्तित्व (असत्) के बीच छुपे हुए सम्बन्धों (बन्धु) की खोज की। अस्तित्व न केवल ग़ैर-अस्तित्व पर टिका हुआ है बल्कि ये दोनों ही ध्रुव आपस में घनिष्ठता और गतिशीलता के साथ बँधे हुए हैं।[49]

भगवान श्री कृष्ण भी दो भिन्न व्यक्तित्वों को दर्शाते हैं। उनका एक रूप ऐश्वर्य (संगठित) का है जो आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता एवं उपलब्धि को दर्शाता है। उनका दूसरा रूप माधुर्य-भाव (मधुर प्रेमपूर्ण भावना) का है जो व्यवस्थित अनुशासन के विपरीत मधुर प्रेम का है। इसलिए प्रेम, जो बुद्धि से भी श्रेष्ठ है, व्यवस्था की कमी को पूरा करता है।

बाइबल एवं ग्रीक पौराणिक कथाएँ

बाइबल की सृष्टि कथाओं एवं ग्रीक के मिथकों में व्यवस्था को अराजकता की अपेक्षा विशेषाधिकार प्रदान किया गया है। उदाहरण के लिए सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी कथाओं (Genesis अध्याय 1 और 2) के अनुसार ईश्वर ने शून्य से ब्रह्माण्ड को एक बार होने वाली घटना जैसे निर्मित किया, जिसमें परस्पर रूप से विशिष्ट एवं विपरीत गुणधर्मों से युक्त घटक समाहित थे। जेनेसिस कथा की प्रारम्भिक पंक्तियों के अनुसार ''शुरुआत में पृथ्वी निराकार एवं शून्य थी।'' बाइबल में वर्णित यह मौलिक अवस्था बौद्ध धर्म की 'शून्यता' की तरह नहीं, बल्कि एक ऐसी स्थिति है जिसे ठीक करना आवश्यक है। इसलिए ईश्वर अपने एकल आदेश के साथ हस्तक्षेप करते हैं, ''वहाँ प्रकाश को आने दो/और वहाँ प्रकाश आ गया (I:3)।'' परिच्छेद आगे कहता

है, ‘‘और परमेश्वर ने देखा कि प्रकाश उत्तम है (I:4)।’’ इस प्रकार बाइबल में ईश्वर प्रकाश और अँधेरे की द्वि-आधारी श्रेणियाँ स्थापित करते हैं।

इस प्रकार जेनेसिस कथा विभिन्न प्रकार के विरोधों को प्रस्तुत करती है, जैसे नीचे और ऊपर, समुद्र और शुष्क भूमि, सूर्य और चन्द्रमा, अच्छाई और बुराई इत्यादि। इस कथा से ऐसा दिखाई देता है कि सर्वव्यापी परमात्मा ने एक ऐसे ब्रह्माण्ड का निर्माण किया है जो न केवल उससे अलग है, बल्कि परस्पर विशिष्ट श्रेणियों में निर्मित है। दो विपरीत मान्यताएँ, जैसे ईश्वर/शैतान, आस्तिक/मूर्तिपूजक, सच्चा धर्म/ झूठा धर्म, देवता/मूर्ति, इतिहास/मिथक इत्यादि, जो परम्परा में बाद में आईं, जेनेसिस कथाओं की तरह परस्पर अलग जैसी हैं। प्रत्येक मामले में जोड़ियों का पहला विकल्प एकदम परिशुद्ध रूप से वैध है जबकि दूसरा विकल्प बेहद ख़तरनाक। यह न केवल नकारात्मक है बल्कि व्यवस्था लाने के लिए इसका उन्मूलन आवश्यक है। इस तरह की पश्चिमी सोच सन्तुलन की अपेक्षा संघर्ष और दमन को जन्म देती है।

पश्चिम की इस द्वि-आधारी सोच का स्रोत है ‘‘अस्पष्टता एवं निराकार की अपेक्षा द्वि-आधारवाद एवं विशिष्टता को विशेषाधिकार प्रदान करना, शून्य अथवा खालीपन के प्रति भय तथा देवत्व की भावना को सामान्य स्थान-काल से परे सरासर बाहरी मानना।’’ यहाँ ऐसा कोई संकेत नहीं है कि कोई भी सृजन ईश्वर की आन्तरिक वास्तविकता में सहभागी है और न ही ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य उच्चतम चेतना की खोज या उसके बारे में सोच भी सकता है। इसके बदले धरती जोत कर एक उद्यान का निर्माण किया जाता है — उद्यान जिसकी संकल्पना पहले एक स्वर्ग की अवधारणा के रूप में की जाती है, परन्तु यह जल्दी ही यहाँ से मनुष्यों को निर्वासित करने वाला स्थान बन जाता है। यहाँ मनुष्यों द्वारा ईश्वर की आज्ञा का पालन करना अपेक्षित है, जिसके अनुसार उन्हें अच्छे और बुरे ज्ञान रूपी वृक्ष से फल खाना वर्जित है। जब आदम और हव्वा इस नियम का उल्लंघन करते हैं तभी उन्हें शरीर का भान होता है और उनकी यह चेतना मूलरूप से पाप की है। अचानक उन्हें लगता है कि वे नग्न हैं और इसलिए वे परमात्मा के समक्ष शर्मिन्दा होते हैं और उनकी यही शर्मिन्दगी और अलगाव परमात्मा के प्रति डर में बदल जाता है।

ज्ञान रूपी वृक्ष से फल खाने का प्रलोभन द्वैतवादी स्थिति (अच्छाई बनाम बुराई) में गिरने जैसा है। विचार करें कि जेनेसिस में सर्प उच्च अनुग्रह से पतन की ओर प्रेरित करता है तथा वह हव्वा ही है जो सबसे पहले इस प्रलोभन में फँसी— बाद में यही चरम पितृसत्ता तथा स्त्री जाति से विद्वेष की परम्परा का आधार बना है।

इसके विपरीत भारतीय धार्मिक परम्पराओं में नागिन (या सर्प) किसी बुराई का नहीं बल्कि कुण्डलिनी का प्रतीक है जो मौलिक रचनात्मक स्त्रैण जीवनी शक्ति है। स्त्रैण ऊर्जा को आत्मसात कर आगे बढ़ाते हुए ही व्यक्ति (स्त्री एवं पुरुष) द्वैतवाद के पार जा सकते हैं। धार्मिक परम्पराओं के दार्शनिक यह मानते हैं कि द्वैतवाद ही अपने-आप में उस भ्रम का कारण है जो मनुष्य को ब्रह्माण्ड की विभेदित परन्तु सामंजस्यपूर्ण

एकता को समझने से रोकता है। यह मानव मन-बुद्धि के सीमित होने से है, न कि अतीत में ईश्वर के आदेशों का उल्लंघन करने से।

जेनेसिस कथाओं की तुलना भारतीय धार्मिक परम्पराओं में प्रजापति की कथा से की जा सकती है, हालाँकि यह कहना आवश्यक है कि प्रजापति की कथा को हिन्दू धर्म में वैसा स्थान प्राप्त नहीं है जैसा कि आदम और हव्वा की कहानी को ईसाइयत और यहूदियत में है। प्रजापति का आख्यान केवल कथा है और उसे शब्दश: नहीं लिया जाता। इसका महत्व एक विशिष्ट आध्यात्मिक एवं दार्शनिक बिन्दु को स्पष्ट करने के लिए किया जाता है। वास्तव में हो सकता है कि अधिकांश हिन्दुओं को प्रजापति की कथा के बारे में जानकारी भी न हो जबकि यहूदी-ईसाई परम्परा में आदम और हव्वा की कथा इतनी कानूनी और केन्द्रीय है कि यह बाइबल के सबसे प्रसिद्ध हिस्सों में से है। इसे प्राय: करोड़ों यहूदियों एवं ईसाइयों द्वारा शब्दश: (चाहे हमेशा नहीं) स्वीकार किया जाता है। धर्मान्तरण समर्थक इसे ब्रह्माण्ड और मानवता की मूल उत्पत्ति के वैज्ञानिक विवरणों के विरुद्ध एक व्यावहारिक तर्क के रूप में भी पेश करते हैं। इस कथा की अक्षरश: सत्यता का कुछ ईसाई खण्डन कर सकते हैं, परन्तु इस पर सवाल उठाना बाइबल पर विश्वास करने वालों का दिल तोड़ने के समान है। इस प्रकार जो सिद्धान्त ईसाइयत की मुख्यधारा में प्रतीकात्मक रूप में देखा जा सकता था वह अस्पष्टता विभिन्न अर्थों वाले या प्रजापति के आध्यात्मिक गहराई वाले आख्यान की अपेक्षा पश्चिमी साम्प्रदायिक पहचानों की एक प्रमाणित कसौटी (litmus test) बन गई।

जो जेनेसिस में व्यवस्था/अव्यवस्था की जोड़ी को हम देखते हैं उसको फिर अच्छाई और बुराई तथा ईश्वर और शैतान के बीच विभाजन के रूप में प्रतिस्थापित किया गया। हालाँकि बाइबल में 'शैतान' को अपेक्षाकृत मामूली स्थान दिया गया है, परन्तु कालान्तर में उसका परमात्मा के साथ द्वन्द्वयुद्ध ईसाई मत की प्रचलित कल्पना का केन्द्रीय नाटक बन गया। संसार में सभी प्रकार के द्वेषभाव के लिए शैतान जिम्मेदार माना गया है। शैतान ही ईडन (Eden) में वह नाग है जिसके बहकाने की ताकतों ने प्रारम्भिक पाप (original sin), प्रलोभन की प्रेरणा, रहस्योद्घाटन की पुस्तक में मगरमच्छ, झूठ के मूलाधार और बुराई के प्रवर्तक को जन्म दिया। यीशु के विरुद्ध शैतान अन्तिम हारी हुई लड़ाई छेड़ेगा, जिसके बाद अन्तत: उसे नर्क में डाल दिया जायेगा। अत: यह बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है कि सही पक्ष की ओर हो कर उनके विरुद्ध लड़ाई लड़ी जाये जो तथाकथित शैतान के लिए काम कर रहे हैं।[50]

हिन्दू धर्म में किसी बाहरी शैतान अथवा ईसा-विरोधी अवधारणा का कोई समतुल्य नहीं है। यहाँ कोई ब्रह्म-विरोधी, ईश्वर-विरोधी अथवा शिव-विरोधी नहीं है, क्योंकि अच्छाई और बुराई जटिल रूप से आपस में गुँथे हुए हैं। हालाँकि यह विश्वदृष्टि अधर्म को क्षमा नहीं करती, परन्तु जताती है कि अच्छाई और बुराई व्यक्ति के भीतर ही स्थित हैं तथा इन्हें अपनी चेतना को जाग्रत कर (न कि बाहरी नियन्त्रण

से) काबू में किया जा सकता है। 'ब्रह्म' में अच्छाइ और बुराइ दोनों ही सम्मिलित हैं। नकारात्मक शक्तियाँ असुरों या राक्षसों के रूप में साकार विभिन्न शक्तिशाली प्रतिभाएँ होती हैं जो अत्यधिक नुकसान पहुँचाने की क्षमता रखती हैं। हमें इन्हें पहचान कर इनका सामना करना होगा और अन्ततः सत्-चित्-आनन्द की प्राप्ति हेतु इन्हें योग द्वारा रूपान्तरित करना होगा।[51] उदाहरण के लिए राजनैतिक स्तर पर प्रतिद्वन्द्वी देशों को 'शैतानी साम्राज्य' (जैसा कि कई अवसरों पर राष्ट्रपति रेगन ने सोवियत संघ को सम्बोधित किया था) के रूप में अथवा 'शैतानियत की धुरी' (जैसा कि जॉर्ज बुश ने उन देशों को निरूपित किया जो अमरीका को प्रायः धमकाते रहते हैं) का भाग मान कर राक्षसी घोषित नहीं किया जायेगा।

भारतीय कथानकों में दर्शाया गया है कि बुराई के साथ संघर्ष व्यक्ति की आन्तरिक जूझ है, बाहरी नहीं और देवताओं ने यह बाहरी दुश्मनों को नष्ट करने की अपेक्षा विष पी कर स्पष्ट किया। ऐसी ही एक कथा में भगवान शिव ने समुद्र-मन्थन से उत्पन्न हुए भयानक, काले और कड़वे विष का स्वयं ही सेवन किया था। उन्होंने विष को अपने कण्ठ में धारण किया जबकि अमृत को दूसरों के लिए छोड़ दिया। परन्तु महत्वपूर्ण यह है कि भगवान शिव ने ऐसा दो कारणों से किया। पहला, ज्ञान के धरातल से (विष के घातक प्रभाव को जानते हुए) और दूसरा, प्रेमवश (लोगों को हानि न हो) किया, न कि अज्ञान या विनाशकारी आवेश में आ कर। इसके अतिरिक्त वे विष को अपने में समाहित कर उसे बदलने में सक्षम हैं, इसलिए उन्होंने उसे थूका नहीं। ईसाई रहस्योद्घाटन पुस्तक में इसी से मिलती-जुलती कथा सम्भवतः ईसा मसीह के पुनः आगमन को ले कर है, जिसमें उन्हें 'शैतान' को किसी बाहरी संघर्ष में हराने की अपेक्षा उसे आत्मसात करते दिखाया गया है। इस कथा में यीशु एक रचनात्मक उदाहरण स्थापित करते दिख रहे हैं, न कि वे सभी मनुष्यों को उन सभी के विरुद्ध, जो शैतान का साथ दे रहे हैं, युद्ध में अपने पक्ष में खड़ा होने को कह रहे हैं। परन्तु कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह एक काल्पनिक परिदृश्य है और अच्छाई/बुराई का यह द्वैतवाद यहूदी और ईसाई मतों में स्थायी रूप से स्थापित है।

इसी प्रकार यूनानी सांस्कृतिक कथानकों में आकाशीय देवता व्यवस्था और उजाले के प्रतीक हैं तथा अन्ततः वे धरती के देवताओं, जो अराजकता और अँधेरे के प्रतीक हैं, पर विजय प्राप्त करते हैं। हम यह भी देखते हैं कि एक प्रकार की व्यवस्था को बाद में आई अधिक सख़्ती से परिभाषित व्यवस्था द्वारा ध्वस्त कर दिया जाता है। ऐसा एक रेखीय अनुक्रम में होता है जहाँ नई व्यवस्था पुरानी के साथ मिलजुल कर रहने या उसे अस्पष्टता की स्थिति में छोड़ने की अपेक्षा उसे पूरी तरह से अधिक्रमित कर लेती है। उदाहरण के लिए उत्कृष्ट आकाशीय देवता जीउस (Zeus), टाइटन (Titans), जो बहुत अधिक अव्यवस्थित और सन्दिग्ध हैं, को पूरी तरह से हरा देते हैं।

पश्चिम की विशिष्ट 'यह या वह' की सोच इब्राहमी मतों की साम्प्रदायिक अद्वितीयता को परिलक्षित करती है, जो अतीत में बाइबल में वर्णित दस में से पहले आदेशों (Ten Commandments), 'मेरे अतिरिक्त तुम किसी और भगवान को नहीं पूजोगे,' में स्पष्ट है। या तो इस के द्वारा 'यहोवा' (Yahweh) को अन्य सभी देवताओं से बड़ा और सम्माननीय दिखाना था अथवा दूसरे देवताओं को नकारते हुए इसे सख़्त एकेश्वरवादी आदेश की तरह प्रस्तुत करना था, फिर भी इसका अर्थ बहुत ही कड़ाई के साथ लागू किया गया। इन आदेशों के मिलते ही मोजेज (Moses) ने उन सभी इज़राइलियों की हत्या का आदेश दिया जो अन्य देवताओं को पूजते थे। इज़राइलियों का मानना था कि वे प्रत्यक्ष ईश्वरीय आदेश द्वारा भाग्यवान 'चुने हुए लोग' (chosen people) हैं और बाद में इस मत का उपयोग उन्होंने अन्य देशों पर विजय प्राप्त करने एवं नरसंहारों को उचित प्रमाणित करने के लिए किया। मोज़ेक के नियम (Mosaic Law) ने उनके मत की विशिष्टता स्थापित की और परिणामस्वरूप यहूदी अपने मत और जाति के प्रति अविभाजित हैं (हालाँकि ईसाइयों और मुसलमानों की तरह उन्हें दूसरों का धर्म परिवर्तन करने का आदेश नहीं है)।

सन्दर्भगत नैतिकता

पश्चिमी लोग विशेषकर नैतिकता के क्षेत्रों में भिन्नता और सूक्ष्म अन्तर को ले कर असहज हैं। उनके अनुसार भारतीय धार्मिक नैतिकता अराजक, आवेगपूर्ण, तर्कहीन और सिद्धान्तहीन है। परन्तु भारतीय धर्म में नैतिक सिद्धान्त और व्यवहार की एक सम्माननीय परम्परा है जिसे पश्चिमी विचारक देख नहीं पाते। जैसा कि श्री अरविन्द कहते हैं—

> ''भारतीय धर्म में ऐसा कोई नैतिक विचार नहीं है जिस पर बल न दिया गया हो, इसे इसके सर्वाधिक आदर्श एवं अनिवार्य स्वरूप में न रखा गया हो या शिक्षा, आदेश, दृष्टान्त, कलात्मक रचनाओं और अनुरूप उदाहरणों द्वारा लागू न किया गया हो। सत्य, सम्मान, निष्ठा, ईमानदारी, साहस, शुद्धता, प्रेम, सहनशीलता, आत्म-बलिदान, अंहिसा, क्षमा, दया, परोपकार, नेकी इत्यादि भारतीय धार्मिक परम्पराओं के सूत्र हैं और इस दृष्टिकोण में मानव जीवन और मानव धर्म का सार हैं। बौद्ध धर्म अपनी उच्च एवं श्रेष्ठ नैतिकता, जैन धर्म अपने आत्म-विजय के तापसिक सिद्धान्तों तथा हिन्दू धर्म सभी धार्मिक पक्षों के शानदार उदाहरणों के साथ अपनी नैतिक शिक्षाओं और अभ्यास में किसी भी धर्म अथवा प्रणाली से कम नहीं है, बल्कि इनमें सर्वप्रथम है और सबसे ताकतवर प्रभावशाली व्यवस्था रखता है।[52]

भारतीय धार्मिक नैतिक सिद्धान्तों को समस्या की परिस्थिति और सन्दर्भ का सामना करने के लिए इस प्रकार निर्मित किया गया है कि पश्चिमी नैतिकता उसके सामने अनावश्यक रूप से संहिताबद्ध, जड़, एकाश्मवादी और सरलीकृत प्रतीत होती है। ए.के. रामानुजन ने अपने प्रभावशाली निबन्ध, ''क्या विचार की कोई भारतीय पद्धति भी है?'' में 'सन्दर्भ-मुक्त' तथा 'सन्दर्भ-संवेदी' शब्दावली का उपयोग करके पश्चिमी और भारतीयों के नैतिकता सम्बन्धी दृष्टिकोणों को दर्शाया है—

> ''ऐसा कहा जा सकता है कि संस्कृतियों में सामान्यत: आदर्श रूप में परिणत होने की प्रवृत्ति होती है तथा इस सम्बन्ध में वे या तो सन्दर्भ-मुक्त अथवा सन्दर्भ-संवेदी जैसे नियमों के अनुसार सोचती हैं। वास्तविक व्यवहार अत्यधिक जटिल हो सकता है, हालाँकि संस्कृतियाँ जिन नियमों के अनुसार सोचती हैं वे उनके व्यवहार का मार्गदर्शन करने में महत्वपूर्ण कारक होती हैं। भारत जैसी संस्कृतियों में सन्दर्भ-संवेदी जैसे नियमों को प्राथमिकता दी जाती है।''[53]

वे इंगित करते हैं कि भारतीय संस्कृति संस्कृत व्याकरण की तरह है और पश्चिमी संस्कृति और भाषा-विज्ञान की अपेक्षा अधिक प्रासंगिक है। इसे विस्तार देते हुए रामानुजन आगे कहते हैं—

मौसम, प्राकृतिक छवि, समय, गुण-तत्व, स्वाद, चरित्र, भावनाओं, रस इत्यादि के विभिन्न वर्गीकरण हिन्दू चिकित्सा, कविता, पाक-कला, धर्म, कामशास्त्र एवं जादू सम्बन्धी चिन्तन के मूलभूत अंग हैं। प्रत्येक जाति अथवा वर्ग एक सन्दर्भ, प्रासंगिकता की संरचना, संयोजनों का स्वीकृत नियम, सन्दर्भ का ढाँचा किसका है और क्या ऐसा हो सकता है का परा-संचरण इत्यादि परिभाषित करता है। यहाँ तक कि 'कामसूत्र' भी जो शब्दश: प्रेम-सम्बन्धों का एक व्याकरण है, स्त्री एवं पुरुष को ऐसे जोड़ता है जैसे संज्ञा एवं क्रिया को विभिन्न लिंगों, आवाज़ों, भावों और पहलुओं के साथ जोड़ा गया हो। लिंग शैली की तरह भावपूर्ण हैं। विभिन्न प्रकार के देह एवं चरित्र, अलग-अलग नियमों का पालन करते हैं तथा विभिन्न सुगन्धों एवं संकेतों से प्रतिक्रिया करते हैं।[54]

इन सभी प्रवृत्तियों में प्रत्येक के सामाजिक एवं राजनैतिक महत्व हैं। सन्दर्भ-मुक्त चिन्तन से द्वि-आधारी तर्कपूर्ण श्रेणियों, इतिहास-केन्द्रिक कालक्रमों, सिद्धान्तों तथा विभिन्न प्रकार की कानूनी-संहिताओं को दिशा मिलती है। यह प्रवृत्ति नियमों पर आधारित, शीर्ष-केन्द्रित प्रशासन तथा नियन्त्रण के लिए अनुकूल है। इस प्रकार प्रवाहमान और बदलती हुई अवस्थाओं की अपेक्षा निश्चित, स्थिर एवं ठोस चीज़ों को नियन्त्रित करना अधिक सरल है। बिना मध्य-मार्ग वाले अरस्तू के नियम का निर्देशात्मक तर्क 'हम बनाम वे' जैसे विरोधी विकल्पों की ओर ले जाता है। इस तरह का संक्षिप्त उपदेश केवल समूहों के प्रशिक्षण, जैसे सेनाओं, बिक्री विभाग या मत प्रचारकों के लिए उपयोगी है। नियन्त्रण, लचीलेपन और परिस्थितियों के प्रति संवेदनशीलता का विरोधी है।

नि:सन्देह पश्चिम ने कभी-कभी निर्देशात्मक परम्पराओं के विरुद्ध दिखावटी सांस्कृतिक विद्रोह भी प्रदर्शित किया है, जिससे उसका समाज एक नई सन्दर्भगत-संवेदनशीलता से समृद्ध हुआ है।[55] फिर भी सामान्यत: उसके प्रमुख आदर्श, निश्चितता एवं एकरूपता को बढ़ावा देते हैं जिसे पश्चिम अपनी 'सार्वभौमिकता' की तरह प्रस्तुत करता है। रामानुजन इस पश्चिमी लोकाचार को और स्पष्ट करते हैं—''पश्चिम में पुरुष का सन्दर्भ, जन्म, वर्ग, लिंग, आयु, स्थान, पद इत्यादि से नहीं होता, वह पुरुष की तरह ही सम्बोधित किया जाता है। तकनीक के अपने मापदण्डों एवं विनिमेयकारी भागों तथा पुनर्जागरण के बाद के विज्ञान ने सार्वभौमिक नियमों (और तथ्यों) की खोज के साथ सन्दर्भ-मुक्तता के प्रति उनके पूर्वाग्रह को और प्रगाढ़ ही किया है।''[56]

न केवल नैतिकता के अनुप्रयोगों के प्रति पश्चिमी अवधारणा सन्दर्भ से मुक्त है, बल्कि यह स्वतन्त्रता अपने-आप में सत्य एवं उचित कार्य की एक कसौटी के रूप में देखी जाती है। सर्वश्रेष्ठ नैतिक शिक्षा जैसे बाइबल के 'दस आदेशों' अथवा कैण्ट (Kant) के सुस्पष्ट एवं अनिवार्य उपदेश को मूल्यवान माना जाता है, क्योंकि ऐसी मान्यता है कि उन्हें तथाकथित रूप से परिस्थितियों की परवाह किये बिना सभी

कालखण्डों एवं स्थानों पर सार्वभौमिक तरीके से लागू किया जा सकता है।[s]जबकि दूसरी ओर भारतीय धार्मिक परम्पराओं ने लम्बे समय से सत्य तक पहुँचने के लिए सार्वभौमिक सत्य एवं क्रियाओं और सन्दर्भ-विशेष में निर्धारित सत्य के बीच सन्तुलन बनाया है। इस प्रकार भारतीय धार्मिक संस्कृतियाँ जटिलताओं एवं सूक्ष्म भिन्नताओं के प्रति सहजता के साथ विकसित हुई हैं और नैतिकता एवं आचरण में जड़ एवं निरंकुश आदर्शों की अवधारणाओं को नकारती हैं।

भारतीय धर्म व्यक्तियों एवं समूहों के आचरण हेतु एक नैतिक ढाँचा प्रदान करता है जो व्यावहारिक पुरुषार्थ एवं चेतना के विकास में सहायक होता है। सामाजिक स्थिरता एवं सद्भाव को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए सनातन धर्म आवश्यक है और साथ ही यह धन-धान्य एवं सुख की खोज के लिए नैतिक निर्देश भी देता है। इसकी मान्यताएँ आध्यात्मिक एवं लौकिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं, परन्तु ये सामान्य सामाजिक जीवन के लिए भी अनुकूल हैं। यह धर्म मनुष्य को उसके कुटिल एवं स्वच्छन्द आवेगों, इच्छाओं, महत्वाकांक्षाओं एवं अहंकार के दलदल में फँसने से रोकने का प्रयास करता है। उसकी सन्दर्भपरक प्रकृति, जटिल नैतिक प्रश्नों के विभिन्न उत्तरों के उभरने के लिए निष्कपट भाव रखती है।

इसी सन्दर्भ-आधारित गुणवत्ता को दृष्टिगत रखते हुए भारत के प्रसिद्ध गणितज्ञ एवं दार्शनिक 'बोधयान' (Baudhayana: 800 ई.पू.) ने उल्लेख किया कि परम्पराओं के विद्वान पुरुष अपने-अपने क्षेत्रों की प्रथाओं का पालन करते हैं। उन्होंने एक क्षेत्र की प्रथाओं को सूचीबद्ध किया जो दूसरे क्षेत्र के प्रतिकूल थीं, जबकि अपने-अपने सन्दर्भों में दोनों ने श्रुति औए स्मृति का अनुसरण किया था। भौगोलिक रूप से नीतियों को स्थानीय बनाने के अतिरिक्त धर्म विभिन्न तत्वों जैसे जीवन का पड़ाव (आश्रम धर्म), व्यवसायिक प्रवृत्ति (वर्ण धर्म), जातिगत नियम (जाति धर्म), व्यक्तिगत स्वभाव (स्वभाव धर्म) एवं अपने पथ का चुनाव (स्व-धर्म) इत्यादि को प्रतिबिम्बित करता है। धर्म असाधारण परिस्थितियों में जैसे किसी दबाव अथवा आपातकाल के समय व्यक्ति को वह सब करने की छूट देता है जो सामान्यत: गलत माना जाता है। यह 'आपद-धर्म' की श्रेणी के अन्तर्गत आता है। एक 'साधारण-धर्म' (पूर्णरूपेण सार्वभौमिकता) भी है जो शास्त्रों में 'अन्तिम उपाय' के रूप में चिह्नित किया गया है, अर्थात् यदि कोई प्रसंग लागू न हो तब इनका पालन करो।

स्मृतियों को जारी करने के लिए कोई केन्द्रीय अथवा एकमात्र सत्ता नहीं रही तथा इनको कई राजाओं, आध्यात्मिक प्रतिमानों एवं बुद्धिजीवियों ने समय-समय पर निर्मित किया।[58] कई शास्त्र जिन्हें प्राय: 'स्मृति' कहा गया है, सभी वर्णाश्रमों की श्रेणियों के नियमों को विकसित करने के लिए बनाये गये तथा इन नियमों में हर काल एवं परिस्थिति के अनुसार सुधार किया गया।[59] स्मृतियों को प्रत्येक कालखण्ड एवं सामाजिक प्रसंगों के अनुसार पुनर्लेखित करने का अभिप्राय है और इसलिए आधुनिक काल के हिन्दू इन प्राचीन स्मृतियों का पालन करने हेतु बाध्य नहीं हैं। वास्तव में इन

स्मृतियों को आधुनिक समय के अनुसार पुन: लिखा जाना और पुरानी स्मृतियों को समीक्षा करके उन्हें संशोधित भी किया जाना अपेक्षित है। भारतीय बहुलतावाद हमेशा ही किसी एक सर्वमान्य परम सिद्धान्त के हावी न होने पर आधारित रहा है।

एक ही युग में भिन्न-भिन्न स्मृतियों को विभिन्न क्षेत्रों में लागू किया जाता रहा है तथा जब ऐतिहासिक परिवर्तन ने पुराने नियमों को अप्रचलित कर दिया तब नई स्मृतियाँ बनाई गईं। विभिन्न साम्प्रदायिक, नस्लीय एवं जातीय समुदायों की आचरण-संहिताओं में विविधता को सहज स्वीकार किया गया। जब कोई स्थापित आचार संहिता लागू नहीं होती थी तब स्थानीय विद्वानों का आचरण नेकी के दिशानिर्देश के रूप में कार्य करता था। स्थानीय लोक आख्यानों ने धर्म के सार को स्थानीय सन्दर्भों में सरल दिशानिर्देशों से समझाया।[60] पारम्परिक भारत में शासक धर्म की स्थापना एक सुविधाप्रदाता के रूप में करते थे, न कि दूसरों पर अपनी प्रथाओं को थोपने के लिए। शासक का कर्तव्य था कि वह विविधता का समर्थन करे तथा व्यवसाय, परिवार तथा अन्य तत्वों को ध्यान में रखते हुए कानून को विभिन्न सन्दर्भों में अलग-अलग लागू करे। अर्थात् एक ही समाज के विभिन्न समुदायों को अपने-अपने नियम-कानूनों का पालन करने की पूरी स्वतन्त्रता थी।

प्राचीन भारत में नीतिशास्त्रों के एक प्रमुख संकलनकर्ता 'मनु' बताते हैं कि शासक को धर्म की प्रासंगिक प्रकृति को पहचानना चाहिए—राजा, जो धार्मिक नियम के बारे में जानता है, को उसमें जातियों (समुदायों), जिलों, संघों एवं परिवारों के नियमों को भी देख कर फैसला करना चाहिए।[61] महान संस्कृत विद्वान पाण्डुरंग वामन काणे (1880-1972) बताते हैं कि ''सामान्यत: राजा के पास कोई वैधानिक शक्ति नहीं थी, फिर भी ऐसे उदाहरण हैं जहाँ राजाओं ने प्राय: स्थानीय प्रथाओं को पहचानते हुए नये नियमों की रचना की। राजाओं के पास उन क्षेत्रों हेतु सकारात्मक नियम बनाने की कुछ निहित शक्तियाँ थीं जो धर्म-शास्त्रों के क्षेत्र में नहीं आते थे।[62]

यहाँ तक कि वे लोग जो संस्कृति विरोधी अथवा पक्के विधर्मी थे उन्हें भी अपनी विशिष्ट धर्म-मान्यताओं के अनुसार सम्मान दिया जाता था। श्री काणे बताते हैं—

> ''नारद (जो एक महान ऋषि थे) ने कहा है कि राजा को समाज के विधर्मी समूहों, व्यापारियों, संघों तथा अन्य समूहों की परम्पराओं को बने रहने देना चाहिए और चाहे उनकी पारम्परिक रीतियों, गतिविधियों, पूजा-विधियों एवं जीविका के तरीके कुछ भी हों, उन्हें राजा द्वारा बिना कोई फेरबदल किये उन समूहों को पालन करने की अनुमति मिलनी चाहिए। नारद ऋषि के अनुसार राजा को विधर्मियों, व्यापारियों, संघों, और लोगों द्वारा उनकी रीतियों का उल्लंघन किये जाने का ध्यान रखना चाहिए। बृहस्पति (एक वैदिक देवता) के अनुसार राजा को पतियों, कारीगरों, पहलवानों, साहूकारों, संघों, नर्तकों, नास्तिकों, चोरों इत्यादि के सम्बन्ध में उनकी परम्पराओं के अनुसार ही निर्णय दिया जाना चाहिए।[63]

शासकों की शक्तियों पर अंकुश लगाने के लिए उन पर विशिष्ट और अलग तरह के नैतिक दिशा-निर्देश लागू किये गये थे। मनु के अतिरिक्त अन्य कई कानूनी सिद्धान्तकारों ने, जिनमें किसी के पास भी पूर्ण अधिकार नहीं थे, अपने नियम-कानूनों को बना कर थोपने की अपेक्षा पूर्वजों की तत्कालीन प्रथाओं को ही संहिताबद्ध किया। पश्चिमी शैली के समान निर्देशात्मक संस्थानों के न होने के कारण कई पश्चिमी विद्वानों का निष्कर्ष था कि भारत उनकी समझ में कभी भी एक 'राष्ट्र के रूप में' नहीं था। वे यह मानने को तैयार नहीं हैं कि स्व-व्यवस्थित प्रणाली व्यावहारिक भी हो सकती है।

धर्म वर्णनात्मक या आदेशात्मक हो सकता है, अर्थात् परम्परा के अनुसार या जो होना चाहिए। वर्णनात्मक धर्म के उदाहरणों में 'गुणधर्म' है जो किसी भी वस्तु की सहज प्रकृति को इंगित करता है, जैसे बिना आँके (अच्छे या बुरे रूप में) किसी जड़ी-बूटी के गुणधर्मों की प्रकृति। धर्म उपनिषदों में, जो अधिक आदेशात्मक हैं, नैतिकता की परम्परा बताती है कि मनुष्यों का व्यवहार कैसा होना चाहिए।[64]

महाभारत किसी सूक्ष्म अन्तर या सन्दर्भ का सहारा न लेते हुए बताता है कि सत्य अपरिवर्तनीय नहीं है। सितांशु चक्रवर्ती बताते हैं कि महाभारत में नैतिकता की तीन श्रेणियाँ हैं—1) सभी सम्प्रदायों में पाये जाने वाले सार्वभौमिक आदेश, 2) प्रकृति, माता-पिता, पूर्वजों, महान शिक्षकों, वृहद मानवता एवं सभी जीवित प्राणियों के प्रति सहज सार्वभौमिक ऋण तथा 3) 'स्व-धर्म,' व्यक्तिगत आध्यात्मिक मार्ग। हालाँकि इनमें से कोई भी नियम उस व्यक्ति पर लागू नहीं होता जो 'सत्य' और 'असत्य' के औपचारिक क्षेत्रों को अपनी आध्यात्मिक ऊँचाइयों द्वारा पार कर चुका है।

धर्म आचरण को किन्हीं सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्तों की अपेक्षा विशेष परिस्थितियों में व्यावहारिक रूप से सम्बोधित करता है। महाभारत में भीष्म और श्री कृष्ण के धर्म की तुलना करके चक्रवर्ती बताते हैं कि सामान्य धर्म कहाँ लाँघा जाता है। आपात स्थिति में आचरण किये जाने वाले आपद-धर्म के बारे में अच्छी तरह जानते हुए भी भीष्म निर्देशात्मक विधानों का ही पालन करते हैं। वहीं दूसरी ओर श्री कृष्ण अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के किये, जो मानवता की भलाई के लिए थे, आवश्यकता पड़ने पर स्थापित मानकों से थोड़ा अलग हटते हैं। उदाहरण के लिए श्री कृष्ण ने सामान्य परिस्थितियों में गलत माने जाने वाले तरीकों से, द्रोण, कर्ण और दुर्योधन के वध का सुझाव दिया और स्वयं भीष्म का वध करने का प्रयास किया, केवल इसलिए कि समग्र मानवता के हित में कौरवों को हराया जाना आवश्यक था। धर्म की नई व्यवस्था के आधार की स्थापना के लिए उन तौर-तरीकों का प्रयोग करना आवश्यक होता है जिन्हें आमतौर पर अन्यायपूर्ण माना जाता है।

हालाँकि किसी भी उपाय से उपलब्ध यह सुखद अन्त न्यायोचित ठहराये जाने जैसा नहीं है। श्री कृष्ण ने स्पष्ट किया है कि इस तरह का आपात एवं असाधारण मार्ग

तभी अपनाया जा सकता है जब कर्ता अहंकार-मुक्त, निःस्वार्थ, सात्विक हो और उसका कार्य मानवता की व्यापक भलाई के लिए हो।[65]

इस प्रकार के निर्णयों में यह महत्वपूर्ण है कि धर्म व्यावहारिक एवं लाभदायक हो। इसलिए आमतौर पर महात्मा बुद्ध ने सच्चे और उपयोगी उपदेश दिये, भले ही परिस्थिति के अनुसार वे सुखद या अप्रिय लगे। केवल असाधारण परिस्थितियों में करुणा एवं मोक्ष के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए चतुराई अथवा छल का उपयोग किया जा सकता है।[66]

लेनॉय (Lannoy) इस विशिष्टता के अन्तर्निहित सिद्धान्त को बताते हुए कहते हैं—''भारतीय समावेशी परम्परा अच्छाई और बुराई के दो विरोधी ध्रुवों से भी अधिक गहराई के तल पर काम करती है।'' पारसी, यहूदी एवं ईसाई मतों में सही या गलत के विपरीत विकल्पों में से एक को चुनने की परम आवश्यकता जैसा आग्रह भारतीय धार्मिक परम्पराओं में नहीं है।[67] वह आगे कहते हैं—''भारतीय नैतिक सिद्धान्तों में अच्छाई और बुराई हमेशा सापेक्ष्य होती है और मूलभूत रूप से 'अच्छे' या 'बुरे' की किसी सटीक परिभाषा से दूर रहा जाता है।'[68]

भारतीय धार्मिक परम्पराओं में बाइबल की दस आज्ञाओं के समकक्ष जैसा कुछ नहीं हैं।[69] उदाहरण के लिए भगवद्गीता को किसी ईश्वरीय नियम-कानून या शिक्षा जैसी पुस्तक की तरह नहीं पढ़ा जाता और न ही यह कभी किसी शासक के आदेश के रूप में रही। भगवद्गीता यह भी आदेश नहीं देती कि ''तुम्हें यह करना है और वह नहीं,'' बल्कि यह धर्म और कर्म की प्रणाली की प्रक्रिया तथा विभिन्न विकल्पों के सम्भावित परिणामों को स्पष्ट करती है। गीता प्राकृतिक धर्म का एक वर्णन है। गीता का सन्देश श्री कृष्ण के अर्जुन से यह कहने पर समाप्त होता है कि वह मानव व्यवहार की प्रकृति एवं सम्भावनाओं के बारे में उनके उपदेश को सुनने के बाद वही करे जो उसे ठीक लगे। लेनॉय लिखते हैं—

> ''भारत की संयुक्त परिवार प्रणाली में सामाजिक ढाँचे का लचीलापन परस्पर निर्भरता से उपजा है—अर्थात भारतीय आग्रह की झलक सापेक्ष्य सामाजिक मूल्यों तथा अस्थिर ध्रुवों की मानवीय मध्यस्थता एवं विकल्प पर निर्भर करती है। भारतीय बच्चा अपने माता-पिता के स्पष्ट निर्देशों की अपेक्षा अपने स्वयं के देखने से अधिक सीखता है।[70]

रामानुजन अपने लेखन में भारतीय प्रासंगिक नैतिकता की तुलना पश्चिम की सार्वभौमिक नैतिकता से करते हैं—

> कैंट (Kant) को थोड़ा-सा पढ़ने के बाद मनु को पढ़ने से कैंट की सार्वभौमिकता के प्रति नासमझ स्पष्ट दिखती है। कैंट में सर्वव्यापक मानवीय प्रकृति जैसी कोई अवधारणा नहीं प्रतीत होती है जिसके अनुसार ''मनुष्य को हत्या नहीं करनी चाहिए...'' अथवा, ''मनुष्य को झूठ नहीं बोलना चाहिए...''

> जैसे नैतिक निदेशों का निष्कर्ष निकाला जा सकता हो। कोई भी परिस्थिति अथवा एकल नियम सभी के ऊपर लागू नहीं किया जा सकता। यहूदी-ईसाई मतों की प्रमुख परम्परा नैतिकता के सार्वभौमिकरण पर आधारित है। मनु द्वारा ऐसा कोई आधार प्रस्तुत नहीं किया गया है। मनु के लिए नैतिक होने हेतु परिस्थिति विशेष को जानना आवश्यक है, यह पूछने के लिए कि किसने क्या किया, किसको और कब किया। प्रत्येक जाति (वर्ग) के व्यक्ति के अपने कानून और निजी नैतिक नियम होते हैं जिन्हें सार्वभौमिक नहीं बनाया जा सकता।''[71]

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, एक सार्वभौमिक धर्म (जिसे सामान्य धर्म कहते हैं) होता है तथा यह कहना सही होगा कि धर्मशास्त्र विभिन्न सन्दर्भों में मनुष्य के व्यक्तिगत आचरण के लिए एक व्यापक रूपरेखा सहित कई सुझाव देते हैं।[72]

महाभारत में भारतीय दर्शन में विद्यमान सार्वभौम एवं प्रासंगिक जैसे विपरीत ध्रुवों के बीच तनाव के सम्बन्ध की सजीव चर्चाओं का वर्णन है। इन्हीं तनावों को मनु ने, बिना निरंकुश प्रावधानों के नियन्त्रण के, लचीले एवं संवादात्मक रूप से संहिताबद्ध किया था।[73] प्रासंगिक नैतिकता के विरुद्ध प्राय: नैतिक सापेक्षतावाद का गलत आरोप लगाया जाता है, क्योंकि किसी विवरण के सही अर्थ को समझने के लिए उसके फलस्वरूप 'आचरण' और उसके पीछे 'लक्ष्य' को ध्यान में रखना आवश्यक है। अहिंसा के सन्दर्भ में सर्वसामान्य का हित एवं भलाई सार्वभौमिक सिद्धान्त और सर्वोच्च सत्य है। बुद्ध और महाभारतकालीन सन्तों के लिए भी अहिंसा सार्वभौमिक आदर्श (अहिंसा परमोधर्म:) और सत्य सर्वोच्च धर्म है (सत्यं परो नास्ति धर्म:)। प्रासंगिक नैतिकता सार्वभौमिक नैतिकता की पूर्ति करती है और व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के रूप में परिलक्षित होती है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो प्रासंगिक धर्म विशिष्ट सन्दर्भों में परोपकार एवं दया के उच्चतम सार्वभौमिक धर्म सिद्धान्तों को लागू करता है।

इस प्रकार सनातन धार्मिक दर्शनशास्त्र सार्वभौमिक एवं प्रासंगिक दोनों ध्रुवों को अवसर देता है, केवल प्रासंगिक को ही नहीं, क्योंकि ऐसा करना नैतिक सापेक्षतावाद के समान होगा। आध्यात्मिक रूप से सर्वव्यापी (अथवा 'परा') ब्रह्म या भगवान सार्वभौमिक हैं जो प्रासंगिक या सर्वव्यापी लौकिक स्तर (अथवा 'अपरा') को आधार देते हैं। बौद्ध धर्म में इस सार्वभौमिकता का समकक्ष परस्पर अन्तर्निर्भरता के जाल के रूप में है। इसी प्रकार अस्मिता के दो स्तर हैं; सन्दर्भ-मुक्त आत्मा और प्रासंगिक मन-बुद्धि।

यह पहले चर्चित सापेक्ष्य एवं पूर्ण निरपेक्ष सत्य के समकक्ष है। सापेक्ष्य सत्य अनिवार्य रूप से प्रासंगिक है तथा केवल परम सत्य ही सभी सन्दर्भों से मुक्त है। धर्म के सार्वभौमिक लक्ष्यों को निर्दिष्ट एवं सन्दर्भ-विशिष्ट धर्म के माध्यम से ही कार्यान्वित

किया जाता है। सार्वभौमिकता का निर्वहन निर्दिष्ट करता है।[74] इस प्रकार सार्वभौमिक आज्ञाएँ और निर्दिष्ट निर्धारण एक साथ काम करते हैं।

सत्य के इन दो स्तरों के बीच सम्बन्ध द्वि-ध्रुवी नहीं, बल्कि द्वि-नाभीय होने चाहिए। द्विध्रुवीयता का अर्थ है कि व्यक्ति दो विपरीत स्तरों के बीच अवसरवादी ढंग से डोलता है। उदाहरण के लिए सांसारिक मामलों में प्रतिस्पर्धी और मेहनती व्यक्ति जीवन की मायावी प्रकृति का हवाला देते हुए धर्मार्थ उद्देश्यों के प्रति अपनी जिम्मेदारियों से बच सकता है। इस प्रकार परम-सत्य का अपनी आवश्यकता पूर्ति हेतु दुरुपयोग किया जा सकता है। दूसरी ओर एक द्वि-नाभीय दृष्टिकोण दोनों प्रकार के सत्य को हर समय साथ-साथ देखता है। वैसे लोग सापेक्ष्य धरातल के आधार पर अपना व्यवहार तो करते हैं, पर फिर भी वे परम सत्य के बारे में सचेत रहते हैं और सापेक्ष्य नैतिकता को परम सत्य की प्राप्ति के लिए एक कुशल साधन के रूप में देखते हैं।

उच्च स्तर का प्रासंगिक मार्ग अन्ततः सभी प्रकार के सन्दर्भों से मुक्ति चाहता है; इसका एक साधन 'संन्यास' है, जीवन का ऐसा अन्तिम पड़ाव जो सांसारिक सन्दर्भों, परम्पराओं, नियमों इत्यादि से मुक्त है। यह तब होता है जब गृहस्थ का सन्दर्भ-विशिष्ट धर्म उसके जीवन के अन्तिम चरण में घूमते हुए साधू की तरह सभी सन्दर्भों से मुक्ति चाहता है। इस प्रकार सन्दर्भ-विशिष्ट धर्म (अर्थात सापेक्ष्य धर्म) अन्ततः सन्दर्भ-मुक्त (सार्वभौमिक) धर्म में परिवर्तित हो जाता है। इस भाँति धर्म सांसारिक एवं परमार्थ दोनों प्रकार की चिन्ताओं को स्वीकारता है। सभी प्रासंगिक संरचनाओं के मौलिक अतिक्रमण की एक और अभिव्यक्ति गहन समर्पण की एक मुद्रा है जो जाति, प्रथाओं, लिंग, पहनावे, परम्पराओं और जीवन के पड़ाव जैसे सभी बन्धनों को तोड़ती है। इस जीवन में पूर्ण मुक्ति अर्थात् मोक्ष की स्थिति आध्यात्मिक मार्ग की अन्तिम परिणति है जहाँ व्यक्ति का जीवन पूर्ण रूप से सन्दर्भ-मुक्त हो जाता है।[75]

भारतीय धार्मिक परम्पराओं में धर्म की उच्चतम अभिव्यक्ति 'स्व-धर्म' (मेरा अपना धर्म) है जो किसी व्यक्ति एवं स्थिति के लिए निश्चित लागू होता है। यह केवल चेतना की सात्विक स्थिति में अनुभव होता है तथा यह इस स्थिति में प्रसंगानुसार स्वानुभूत एवं उसके अनुकूल होता है। चेतना के निचले स्तरों (तामसिक व राजसिक) पर अधिक कठोर एवं संहिताबद्ध नीति-नियम निर्धारित किये गये हैं। जब तक व्यक्ति सात्विक स्थिति को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक सबसे अच्छा विकल्प यही है कि वह ऐसे आध्यात्मिक गुरु के मार्गदर्शन में रहे जिसने यह स्थिति प्राप्त कर ली हो। यहूदी-ईसाई मानसिकताओं के लिए स्व-अभिव्यक्त होने वाले 'स्व-धर्म' का विचार अजनबी है, जो यह मानते हैं कि ऋषि की उच्च चेतना वाली स्थिति असम्भव है। यहूदी-ईसाई मतों में नैतिकता का एकमात्र उपलब्ध स्रोत वही है जो उनके पैग़म्बर पहले से ही उजागर कर गये हैं।

एक दार्शनिक एंटोनियो द निकोलस (Antonio de Nicolas), जिन्होंने भारतीय धार्मिक परम्पराओं का कई दशकों तक अध्ययन किया है, बताते हैं कि धर्म में पूरी तरह से भिन्न नैतिकता है जो किसी बाहरी नियम-कानूनों अथवा ऐतिहासिक रहस्योद्घाटन पर निर्भर नहीं है। वे आगे लिखते हैं—

> ''निर्णय लेने की सन्निहित तकनीक, उचित व चतुर निर्णय, जब वर्तमान धर्म और सन्दर्भ में इसकी आवश्यकता पड़ती है, लेने का अभ्यास ही उत्कृष्टता प्राप्त करने का प्रशिक्षण है। यह भगवद्गीता में अवतार श्री कृष्ण के सम्पूर्ण कार्यक्रम का लक्ष्य और नैतिकता है जिससे हताश एवं परेशान योद्धा अर्जुन को उसके वर्तमान धर्म (उसकी तत्कालीन परिस्थिति) के अनुकूल अर्थात् युद्ध क्षेत्र में निर्णय लेना, सर्वोत्तम निर्णय लेने के लिए तैयार करना है। ऋग्वेद से ले कर आधुनिक भारतीय शास्त्र तक मानव व्यवहार के लिए यही कार्यक्रम प्रस्तावित करते हैं कि बाहर के नियमों के पालन की नैतिकता की अपेक्षा स्वयं निर्णय लेने की नैतिकता अधिक आवश्यक है। भारतीय शास्त्रों में कोई बाहरी ईश्वरीय सत्ता ऐसी घोषणाएँ नहीं करती।[76]

सरलीकृत नियम या आदेश वर्तमान नैतिक परिस्थितियों से निपटने हेतु अपर्याप्त है। निकोलस (Nicolas) लिखते हैं—हमारी शिक्षा प्रणाली, विषय एवं वस्तु के मध्य वास्तविक समझौतों, तार्किक निरर्थकता एवं सत्य की खोज जैसे निर्णयों के प्रति पूर्वाग्रही है। परन्तु हमारी शिक्षा व्यवस्था में ऐसा कोई तन्त्र नहीं है जो विविध एवं अस्पष्ट स्थितियों में आत्मकेन्द्रित निर्णय, जैसे ''सम्भावित निर्णयों में से सबसे उचित कौन-सा है,'' के बारे में सिखा सके। इसे प्राप्त करने के लिए व्यक्ति और उसके आध्यात्मिक गुरु को भी नई तकनीकों को आत्मसात करना पड़ेगा, ताकि उस व्यक्ति को अपनी व्यावहारिक समझ के अनुसार सर्वोत्तम विकल्प चुनने के लिए तैयार किया जा सके। इस प्रकार गीता की युद्धभूमि मनुष्य का अपना शरीर ही है।[77]

एक टिप्पणी में अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए निकोलस कहते हैं कि समाज व्यावहारिक निर्णय लेने से किस प्रकार प्रभावित होता है—

> यहाँ पश्चिम ने अपने लोगों को ''यह सही है और यह गलत है'' जैसी व्यावहारिक सम्मतियों हेतु प्रशिक्षित किया है, परन्तु ये सभी पश्चिमी लोग जटिल परिस्थितियों में निर्णय लेने में सक्षम नहीं हैं, विशेषकर जहाँ कई विकल्प होते हैं तथा मस्तिष्क के अग्र भाग का प्रयोग स्थिति को समझने हेतु आवश्यक हो जाता है।[78]

आगे के पृष्ठ पर दिखाए गये चित्र में सन्दर्भ के आधार पर विभिन्न धर्मों की चर्चा का सार-रूप पेश किया गया है। बाँए स्तम्भ में शीर्ष पर सार्वभौमिक सनातन धार्मिक सिद्धान्त दिखाये गये हैं। ये सन्दर्भ-विशिष्ट तरह के धर्म को, जैसा कि नीचे दर्शाया गया है, विकसित करने के लिए दिशानिर्देशों के रूप में उपयोग किये जाते हैं। स्तम्भ का

निचला भाग स्व-धर्म को चित्रित करता है और व्यक्ति के निजी संस्कार, योग्यता, पूर्ववृत्ति, पसन्द तथा बाहरी परिस्थितियों को दर्शाता है। जो व्यक्ति पूर्ण रूप से शुद्ध सात्विक जीवन व्यतीत कर रहा है वही व्यक्तिगत सटीक निर्णय लेने की अन्तर्दृष्टि रख सकता है। बाकी को किसी जीवित सिद्ध पुरुष के सक्षम मार्गदर्शन या स्थापित प्रतिमान अथवा आध्यात्मिक ग्रन्थों पर निर्भर होना पड़ेगा।
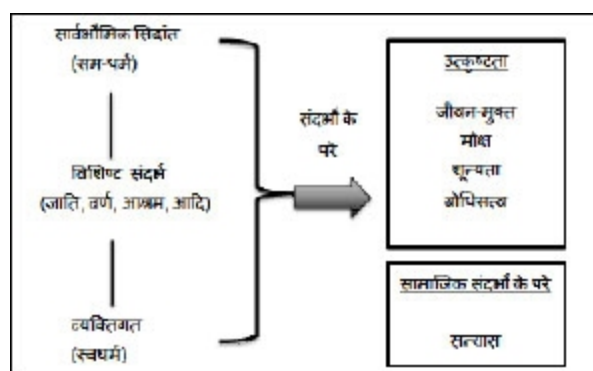
दाँई ओर का स्तम्भ सन्दर्भों के परे की स्थितियाँ दर्शाता है। यहाँ शीर्ष पर वह स्थिति है जिसमें मनुष्य अपनी समस्त शारीरिक इच्छाओं एवं संज्ञानात्मक सीमाओं से मुक्त हो चुका है। इस स्थिति को हिन्दू 'जीवन-मुक्ति' या मोक्ष कहते हैं। बौद्ध इसे 'शून्यता' कहते हैं। (हालाँकि दोनों स्थितियाँ बिलकुल एक समान नहीं हैं, परन्तु दोनों ही शारीरिक इच्छाओं से मुक्ति सम्बन्धी श्रेष्ठता का दावा करती हैं। परिशिष्ट ''क'' में इन परम्पराओं के आपसी सम्बन्धों को अधिक विस्तार से बताया गया है)। 'बोधिसत्व' वह है जो इस स्थिति को प्राप्त करने के बाद मानवों एवं अन्य जीवों की मदद करने के लिए पृथ्वी पर लौटने का निर्णय करता है। दाँई ओर के स्तम्भ में नीचे की ओर 'संन्यास' (त्याग) की जीवन शैली दर्शाई गई है। ऐसे व्यक्ति ने सामाजिक जीवन एवं उसके मानदण्डों का परित्याग कर दिया है। अत: वह सामाजिक सन्दर्भों से मुक्त है। परन्तु ऐसे व्यक्ति ने अभी तक शारीरिक संस्कारों से मुक्ति प्राप्त नहीं की है। यह रास्ता अभी अपने गन्तव्य तक नहीं पहुँचा है। इस स्थिति में व्यक्ति के प्रलोभन में आ जाने का ख़तरा रहता है तथा परिणामस्वरूप कई प्रसिद्ध संन्यासी गरिमा से गिर भी चुके हैं। संन्यासी को डिगाने में उसके अनुयायियों का विशेष रूप से हाथ होता है जो उसे सिद्धि-सम्पन्न मान लेते हैं, जिसे गुरु ने अभी तक सम्भवत: प्राप्त न किया हो।

प्रासंगिक एवं ग़ैर-निर्देशात्मक भारतीय समाज तथा निर्देशात्मक पश्चिमी समाज के बीच कुछ मतभेदों को आगे दी गई तालिका में स्पष्ट किया गया है।

गैर-निर्देशात्मक	**निर्देशात्मक**
प्रासंगिकता और जाति-विशेष के अर्थ-शास्त्र द्वारा निर्णय	समाज के लिए संहिताबद्ध सार्वभौमिक नियम

सम्प्रदायों द्वारा समकालिक निरन्तरता और बदलाव	परम्परा, ज्ञानोदय और आधुनिक काल के बीच तनाव
वर्ण और जाति के साँचे की परस्पर निर्भरता, लचीलापन और आत्मसंचालन	समरूपता और केन्द्रित व्यवस्था
बहुलवादी और सहनशील धर्मों का मिल-जुल कर रहना और पारस्परिक क्रिया करना	नियन्त्रण द्वारा विशिष्टवादी पन्थ से दूसरों का विस्थापन
संस्कृति और विचारों के माध्यम से शान्तिपूर्ण विस्तार	फौजी दमन और नरसंहार द्वारा हिंसक विस्तार

हिन्दू धर्म को समझने के लिए नैतिकता सम्बन्धी पश्चिमी विचारों का ढाँचा उपयोग में नहीं लाया जा सकता। इसका अर्थ यह नहीं है कि हिन्दू धर्म अनैतिक है, परन्तु केवल इतना है कि नैतिकता के प्रश्न को एक व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाना आवश्यक है।[79] शैक्षिक क्षेत्रों में नैतिक सापेक्षतावाद को सन्दर्भ संवेदनशील समझने की गलती करने की प्रवृत्ति है। (असमान टुकड़ों को जोड़ने का खिचड़ी प्रयास)

इस सन्दर्भ में एक है 'तन्त्र विद्या' जिसका उल्लेख मैंने ऊपर किया है कि यह आध्यात्मिक साधनाओं का एक समुच्चय है (जिसमें शमशान में ध्यान, वर्जित खाद्य पदार्थों का सेवन तथा कुछ अत्यधिक कर्मकाण्डी यौन साधनाएँ), जिनकी अनुशंसा धार्मिक क्षेत्र के कुछ उन्नत साधकों के लिए की गई है। 'तन्त्र' को पश्चिम में प्राय: हेय दृष्टि से देखा जाता है, क्योंकि यह स्वयं को कुछ निश्चित सन्दर्भों में द्वैतवाद से ऊपर उठाने के लिए नियमों के उल्लंघन को एक माध्यम बनाता है। 'तन्त्रविद्या' को समझने से पहले हमें इसके सांस्कृतिक एवं दार्शनिक सन्दर्भों को ध्यान में रखना पड़ेगा। तन्त्रविद्या का जन्म मनुष्य को श्रेष्ठ बनाने के लिए विविध शारीरिक साधनाओं के रूप में आरम्भ हुआ।

इसकी कई प्रथाएँ, शास्त्र, धारणाएँ एवं परम्पराएँ किसी स्थापित मानक व्यवस्था का विरोध करती हैं तथा ये भारत में संस्कृति-विरोधी के रूप में दिखाई देती हैं। यहाँ तक कि नियमों को अस्वीकृत करने के लिए मानदण्डों का जानबूझकर उल्लंघन किया जाता है, विशेषकर उनका जो कर्मकाण्ड की शुद्धता पर केन्द्रित है। समय के साथसाथ तन्त्रविद्या का वैदिक एवं अन्य परम्पराओं के साथ एक स्वस्थ समागम होता रहा। इसके तत्वों में वैदिक एवं अन्य रस्मों, प्रतीकों व दर्शनशास्त्र को उधार ले कर उन्हें पुनर्निर्मित, व्यवस्थित व सुसंगत करते हुए एक ऐसी एकीकृत पद्धति बनाई गई जिसे तान्त्रिक परम्परा कहा गया। मूल्यों एवं अनुष्ठानों के दो ध्रुव साथ-साथ रहते हुए और जटिल तरीके से एक-दूसरे में परस्पर समाविष्ट होते रहते हैं।[80]

भारतीय धार्मिक परम्पराओं में नैतिकता अथवा आचरण अपने-आप में एक लक्ष्य नहीं है और न ही इसे बाहर से थोपा जाता है। नैतिकता केवल पूर्णता की उच्च आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त करने का एक प्रारम्भिक साधन है। आध्यात्मिक मुक्ति के लक्ष्य को एक अलग, अधिक प्रभावशाली और तत्काल स्वरूप में सांसारिक नैतिकता की सीमाओं का उल्लंघन करके आध्यात्मिक विशेषज्ञों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। तान्त्रिक साधक, जो आध्यात्मिक मुक्ति को वाममार्ग के अनुशासित उपयोग द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, को दूसरों को नुकसान न पहुँचाने, संयम, वासनाओं से परहेज एवं सत्यवादिता जैसे कठोर नियमों का पालन करना पड़ता है।[81] उनके स्वार्थ-त्याग की प्रबलता कट्टर नैतिकतावादी प्रोटेस्टेंट को भी आश्चर्य में डाल देगी। लेकिन अन्ततः तन्त्रविद्या पश्चिमी नैतिक सन्दर्भों के विश्लेषण से परे है तथा इसे केवल भारतीय आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ही समझा जा सकता है। पश्चिमी नैतिकता सभी उल्लंघनों को अनैतिक और ख़ारिज करने योग्य मानती है।[82]

अनुष्ठानों एवं जीवनशैली के मापदण्डों तथा उनके उल्लंघन के बीच जो विरोधाभास है उसने पश्चिमी साम्प्रदायिक विचारकों को एक अवसर प्रदान किया है कि वे एक धर्मनिरपेक्ष ढाँचे के भीतर तन्त्रविद्या के प्रमुख घटकों को विखण्डित करके ध्वस्त कर सकें। इस तरह दूसरों को नीचा दिखाने की प्रवृति प्रायः उन विद्वानों का अपमान करती है जो अन्यथा सहृदय हैं और जिन में से कुछ ने अपना ज़्यादातर जीवन इसके अध्ययन, व्याख्या और अभ्यास में समर्पित किया है।[83] हालाँकि यह सच है कि तान्त्रिक प्रथाएँ और उनकी दलीलें दुरुपयोगों के अवसर देती हैं और जबकि यह प्रमाण्य है कि इस तरह के दुष्प्रयोग कभी-कभी होते भी हैं, तब भी ये चिन्ताएँ सामान्यतः अद्वैतवादी स्थिति को प्राप्त करने के उच्चतम, जोरदार तथा आत्मसंयमी मानकों एवं लक्ष्यों से अपवाद स्वरूप हट कर हैं।

सौन्दर्यबोध, नैतिकता एवं सत्य

भिन्नता एवं अव्यवस्था के बारे में पश्चिमी लोगों की चिन्ताओं को देखते हुए यह बिल्कुल आश्चर्यजनक नहीं है कि वे भारतीय सौन्दर्यशास्त्र से भी चकराये हुए और परेशान रहते हैं। पश्चिमी संस्कृति 'गोरेपन' को बोलने और व्यवहार में स्पष्टरोक्ति तथा साफ़ पुनरावृति के योग्य कलाओं को विशेषाधिकार देती है, जबकि भारतीय धार्मिक परम्पराओं का दृष्टिकोण, अँधकार, गूढ़ता, सामंजस्य, आशु-रचना एवं रहस्यमय होता है।

इसके अतिरिक्त पश्चिमी लोग प्रायः अनजाने में यह मान लेते हैं कि जो 'ख़ूबसूरत' (उनके स्वयं के विचित्र एवं सांस्कृतिक रूप से निर्मित विचार में) है वह 'अच्छा' और 'सच्चा' भी है। इसी तरह जो 'बदसूरत' है वह 'बुरा' और 'गलत' भी है (और शायद राजनैतिक रूप से विध्वंसकारी भी)। प्लेटो (Plato) के समय से ही पश्चिम ने अच्छाई, सत्य और सौन्दर्य जैसे तीन आधारभूत मूल्यों को आपस में पेचीदगी से जुड़ा

हुआ देखा है। इनमें से किसी एक के प्रति निर्णय करने में अन्य दो का भी अर्थ लगा लिया जाता है, अर्थात् इस तिकड़ी का प्रत्येक भाग दूसरों पर एकपक्षीय रूप से चित्रित हो जाता है, इसलिए जो 'सुन्दर' है वह 'अच्छा' भी होगा और इसलिए 'सत्य' भी होगा।

इसके विपरीत भारतीय दृष्टिकोण में 'सत्य,' 'अच्छाई' एवं 'सौन्दर्य' के क्षेत्र बिल्कुल भिन्न हैं तथा प्रत्येक दूसरों से अपेक्षाकृत स्वतन्त्र रूप से कार्यरत है। संस्कृत के पद 'सत्यं-शिवम्-सुन्दरम्' (सच्चाई-अच्छाई-सौन्दर्य) में 'सत्य' प्रधान है तथा यह 'शिवम' (अच्छाई) और 'सुन्दरम' (सौन्दर्य) से श्रेष्ठ है। सत्य की उपस्थिति के लिए न तो सौन्दर्य और न ही अच्छाई की उपस्थिति अनिवार्य है और न ही सौन्दर्य की कमी असत्य अथवा चरित्रहीनता की ओर संकेत करती है।[84]

जैसा पश्चिमी संस्कृति में अन्य सन्दर्भों में है, इस तिकड़ी समूह की जड़ें दोहरी हैं— बाइबल की 'चुने हुए लोग' सम्बन्धी अवधारणा तथा प्रकाश, समरूपता एवं रूप की शुद्धता सम्बन्धी पारम्परिक यूनानी पसन्द। परम्परा के इन दो आयामों ने संयुक्त रूप से जाति, नस्लीय पहचान और शारीरिक दिखावट के और कला, साहित्य और संगीत के प्रति पश्चिम का प्रचलित रवैया निर्मित किया। बाइबल शास्त्र और यूनानी प्रभाव ने मिल कर काली चमड़ी के लोगों के प्रति नस्लीय रूढ़िबद्धता को मजबूत किया। सुन्दरता और सौन्दर्यबोध के यूनानी मानदण्ड तथा बाइबल में वर्णित शुद्धता एवं विशिष्टता की वंशावली दूसरी संस्कृतियों के मूल्यांकन का आधार बनीं, जिन्हें प्राय: भद्दा, बर्बर तथा यौनिक रूप से स्वच्छन्द चित्रित किया गया तथा उनके देवताओं एवं प्रतीकों को विषमरूपी, धूसर, भयानक तथा विकृत स्वरूप में देखा गया।[85]

चाहे यह बड़ा ही बेतुका और तर्कहीन लगे (अन्य बातों के अतिरिक्त चुने हुए मूल लोग, अर्थात् इज़राइल के निवासी नस्लीय दृष्टिकोण से उतने 'गोरे' नहीं थे), परन्तु 'काले' लोगों के साथ पश्चिमी संघर्ष पर उनका उग्र प्रभाव दिखाई पड़ा। वे आज भी भारत और भारतीयों के प्रति सतही और गहन दोनों रूपों में पश्चिमी दृष्टिकोण को प्रभावित करते हैं। यह सच है कि 'गोरेपन,' समरूपता एवं निश्चित आकार की वरीयता को पश्चिमी कला के इतिहास में चुनौती दी गई है (विशेषत: पश्चिम के विलक्षण आन्दोलनों के समय जब पश्चिमी कल्पनाओं में भारत का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया था), परन्तु इन चुनौतियों ने पश्चिमी संस्कृति के विभिन्न आन्तरिक विभाजनों को और अधिक भड़काया, जिससे उन्हें नये नियम, स्पष्टता और नियन्त्रण थोपने की प्रेरणा मिली।

सच्चाई और अच्छाई के साथ सौन्दर्य का सम्बन्ध तथा पश्चिमी संस्कृति पर इन तीनों का संयुक्त प्रभाव उनके धर्मनिरपेक्ष विचार में भी प्रदर्शित होता है। उदाहरण के लिए कैंट (Kant) ने भारतीयों की कला एवं धार्मिक सौन्दर्यशास्त्रों के आधार उन पर दोष मढ़े, जिन्हें उसने हास्यापद पाया। वे लिखते हैं कि भारतीयों में विचित्रता के प्रति बड़ी रुचि है जो रोमांचकारी स्तर तक चली गई है। उनका धर्म विचित्रताओं से भरा

पड़ा है। दैत्याकार मूर्तियाँ, पराक्रमी बन्दर हनुमान का अनमोल दाँत, विभिन्न मूर्तिपूजक तपस्वियों एवं साधुओं के अप्राकृतिक प्रायश्चित् इत्यादि सब ऐसा ही बताते हैं।[86]

भारतीय धर्म में सौंदर्य के प्रति इस भयानक स्थिति के कारण स्वाभाविक रूप से उसने पाया कि महिलाओं के उत्पीड़न जैसी कई अनैतिक प्रथाएँ यहाँ पाई जाती होंगी। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को यूरोपीय लोगों ने भौतिक धरातल से ऊपर उठा कर नैतिकता, आकर्षण एवं आध्यात्मिक प्रेरणा के स्तर तक पहुँचाया। लेकिन कैंट लिखते हैं कि ऐसा एशिया में नहीं पाया जाता—

> ''चूँकि उसके (एशियाई) पास नैतिक सुन्दरता की अवधारणा नहीं है जिसे आवेग (यौन-क्रिया) से संयुक्त किया जा सके, इसलिए वह कामुक रस को भी खो देता है, अर्थात् उसका अन्त:पुर अशान्ति का एक निरन्तर स्रोत है। वह सभी प्रकार की कामुक विचित्रताओं पर फलता-फूलता है। वह अन्यायपूर्ण एवं घृणित तरीकों का प्रयोग करता है। इसलिए वहाँ स्त्री हमेशा एक कैद में होती है, चाहे वह अविवाहित रहे या फिर किसी बर्बर, निकम्मे और शंकालु पति के साथ रहे।''[87]

इन दृष्टिकोणों के कुछ इतिहास, विशेषकर उनके शास्त्रों की जड़ें तथा उनका यूनानी मूल्यों के साथ मेल का हम आगे जल्दी ही विचार करेंगे। लेकिन याद रहे है कि ये दृष्टिकोण आज भी जारी हैं और ये पश्चिम की वर्चस्व स्थापित करने वाली सर्वाधिक हिंसक और आक्रामक परियोजनाओं के लिए आज भी जिम्मेदार हैं।

जब मैंने 1970 के दशक में अमरीकी कम्पनियों में काम करना प्रारम्भ किया तब वहाँ प्रबन्धन प्रशिक्षण गोष्ठियों में विशिष्ट मानक हाव-भाव पर ज़ोर दिया जाता था, जैसे मजबूती से हाथ मिलाना विश्वसनीय और आत्मविश्वासी व्यक्ति का परिचायक है जबकि ढीले-ढाले तरीके से हाथ मिलाने को पश्चिमी संस्कृति में कमज़ोरी की निशानी तथा नैतिक अनिश्चितता के रूप में देखा जाता है। आत्मविश्वास से आँख मिलाने की मुद्रा (लगभग आक्रामक बिन्दु तक, परन्तु उचित तीव्रता और सन्तुलित मुस्कान के साथ) यह दर्शाती है कि व्यक्ति दृढ़ निश्चयी, परन्तु प्रसन्नतापूर्वक नियन्त्रण में है। कम्पनियों में सशक्त भोजन (power lunch) जैसी शब्दावली का भी प्रवेश हुआ, जिसका ''असली मर्द क्या करते हैं और क्या नहीं'' जैसे शीर्षकों वाली सबसे अधिक बिकने वाली पुस्तकों ने भी प्रोत्साहन दिया। कहीं पीछे न रह जायें, ऐसी सोच से 'असली महिलाएँ' जैसे शीर्षकों वाली पुस्तकें भी शीघ्र प्रकाशित हुईं।

पश्चिमी वकील अपने मुवक्किलों को अदालती कार्रवाई के समय औपचारिक रूप से कपड़े पहन कर और व्यवस्थित बालों के साथ उपस्थित होने का सुझाव देते हैं, क्योंकि पश्चिम में बाहरी रूप नैतिकता और सच्चाई से सम्बन्धित है। जबकि दूसरी ओर अस्त-व्यस्त बाहरी रूप को संचार माध्यम (Media) एवं प्रतिकूल पक्ष द्वारा

नियमित रूप से अनैतिक, कुटिल और ख़तरनाक की तरह दिखाया जाता है।[88] पश्चिम में 'अव्यवस्थित आचरण' एक अपराध जैसा है तथा उच्छृंखल तरह के प्रदर्शन ने कई निर्दोष व्यक्तियों को मुसीबत में डाला है। हालाँकि यह व्यंग्यपूर्ण है, क्योंकि बड़े-बड़े बदमाश और अपराधी जैसे बर्नार्ड मैडॉफ़ (Bernard Madoff), एनरान (Enron) और वर्ल्डकॉम (WorldCom) इत्यादि के दोषी वरिष्ठ अधिकारी आम जनता के बीच हमेशा साफ़-सुथरे और व्यवस्थित ढंग से ही उपस्थित होने वालों में से थे। न तो उनके सौन्दर्यशास्त्र और न ही सत्य और तर्क के प्रति उनके समर्पण ने उन्हें अनैतिकता से दूर रखा![89]

समाज और राजनीति में हाल की प्रवृत्तियों, जिनमें लोकप्रिय संस्कृतियों का वैश्वीकरण भी सम्मिलित है, ने ऐसे ग़ैर-मानकीकृत सौन्दर्यशास्त्र और अन्य विकृत धारणाओं को चुनौती दी है। 'काले विद्वानों' ने दिखाया है कि किस तरह 'काले सौन्दर्यशास्त्र' को प्राय: बुराई और तर्कहीनता से जोड़ कर रखा गया तथा कैसे इस सोच ने गोरे लोगों के मन में यह धारणा पुष्ट की कि 'गोरे' लोग ही अच्छाई और सच्चाई के रक्षक हैं।[90]

1950 के दशक में एल्विस प्रेस्ले (Elvis Presley) ने 'गोरों के समाज' में प्रचलित स्वीकार्यता की सीमारेखा को गोरे श्रोताओं के लिए काला संगीत अपना कर पार किया। इसके प्रति मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। जहाँ एक ओर उसके प्रशंसकों ने इस संगीत को सकारात्मक एवं यौन नियमों का अतिक्रमणकारी मान कर स्वागत किया, वहीं दूसरी ओर रूढ़िवादियों ने इस संगीत को 'अराजक शक्तियों' के आक्रमण के रूप में ख़तरनाक माना। कुछ समुदायों ने एल्विस प्रेस्ले के रिकॉर्ड्स को सार्वजनिक रूप से जलाया, इसलिए FBI ने इस बुराई को नियन्त्रित करने के उपाय खोजने के आदेश दिये। जब गोरों ने धीरे-धीरे इस संगीत को ऐसे आत्मसात किया कि वह अब यह कालों का संगीत न रहा, तो अराजकता का डर अन्तत: ओझल हो गया। इसी प्रकार जब जैज़ (jazz), ब्ल्यूज़ (the blues), रॉक (rock) तथा कालों के संगीत की अन्य शैलियाँ, कुछ हद तक 'हिप-हॉप' (hip-hop) संगीत की बेहद ग़ैर-मानक शैलियों भी, संगीत के विभिन्न उत्पादों के रूप में व्यवस्थित तरीके से बेची गईं तब कहीं जा कर वे ख़तरनाक का प्रतीक हटा कर मुख्यधारा में आ पाईं।[91] दूसरे शब्दों में, जब यही संगीत पश्चिमी संस्कृति में आत्मसात कर लिया गया तब यह 'अव्यवस्थित' और 'ख़तरनाक' नहीं रहा।

उन्नीसवीं सदी में जब अमरीका ने मैक्सिकन (Mexican) क्षेत्र पर कब्जा करने का निर्णय किया तब मैक्सिको निवासियों को बर्बर, अनैतिकतावादी एवं दुष्ट स्वरूप में चित्रित किया गया।[92] यहीं से 'मैक्सिकन डाकू' (Mexican Bandito) नामक रूढ़िवादी धारणा प्रारम्भ हुई। मैक्सिको से आने वाले आप्रवासियों के बारे में आजकल जो बहस होती है वह भले ही स्पष्ट रूप से नस्लीय न हो, परन्तु यह मैक्सिको निवासियों में सौन्दर्यशास्त्र एवं नैतिकता की कमी और तर्कशीलता के घटिया होने को मूर्तरूप

देती है। एक और उदाहरण यह है कि सिगरेट को तो 'वॉल स्ट्रीट (Wall Street) के पूँजीवाद के सभ्य प्रतीक' के रूप में वैधता मिली, जबकि अवैध ड्रग्स (drugs) को हमेशा काले अथवा अन्य नस्लों से जोड़ा जाता है, जैसे गाँजे (marijuana) को मैक्सिकन्स से, हेरोइन को कालों से, अफ़ीम को अफ़गानियों से और पियॉट को मूल अमरीकियों से। इस प्रकार अमरीका में 'ड्रग्स के विरुद्ध युद्ध' (war on drugs) व्यवस्था और अराजकता के बीच एक मिथकीय युद्ध के रूप में बना हुआ है। अफ्रीकी-अमरीकियों के प्रयासों को साधुवाद देना चाहिए जिन्होंने नैतिकता से श्वेत नस्ल के जुड़े होने की अवधारणा को सार्वजनिक रूप से चुनौती दी, हालाँकि यह अब भी प्रचलित है और नुकसान पहुँचा रही है।

इस प्रचलन का उल्टा भी देखने में आता है। जब पश्चिमी शैली ग़ैर-पश्चिमी संस्कृतियों में प्रवेश करती है तो वहाँ के लोग प्रबल पश्चिमी सौन्दर्यबोध की नकल करने का प्रयास करते हैं। उदाहरण के लिए पश्चिम द्वारा रची और चलाई गई अन्तर्राष्ट्रीय सौन्दर्य प्रतियोगिताओं ने भारतीय नारी की सुन्दरता के प्रतिमानों को लगातार प्रभावित किया है। जब बहुत-सी भारतीय महिलाओं ने मिस यूनिवर्स (Miss Universe) और मिस वर्ल्ड (Miss World) की उपाधियाँ जीतनी प्रारम्भ कीं तो वे भारतीय लड़कियों के लिए अनुकरणीय (role models) बन गईं। प्रान्तीय सौन्दर्य प्रतियोगिताएँ भी एकाएक भारतीय राज्यों में उभरीं, जैसे मिस उत्तरप्रदेश, मिस पंजाब, मिस केरल, मिस मध्यप्रदेश इत्यादि और विजयी लड़कियाँ राष्ट्रीय स्तर की और फिर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की सौन्दर्य प्रतियोगिताओं के लिए चुनी जाने लगीं। भर्ती क्रम (supply chain) स्थानीय स्तर पर प्रारम्भ होता है, जैसे मिस लखनऊ प्रतियोगिता, मिस कानपुर या मिस भोपाल प्रतियोगिता इत्यादि। स्थानीय प्रतियोगिता में उच्च स्थान लड़की के सामाजिक, पेशेवर और वैवाहिक स्तर को बढ़ा देता है। इन प्रतियोगिताओं की तैयारी के लिए छोटे-छोटे शहरों सहित समूचे भारत में कई मॉडलिंग स्कूल खुल गये हैं। इन स्कूलों में लड़कियों को सिखाया जाता है कि उन्हें कैसे चलना चाहिए, कैसे बात करनी चाहिए, किस तरह से पश्चिमी महिलाओं के हाव-भाव को अपनाना चाहिए, क्योंकि पश्चिम ने सभी महिलाओं के लिए सौंदर्य-मानक परिभाषित कर दिये हैं। बड़े पैमाने पर प्रसाधन पदार्थ (cosmetic products) एवं त्वचा को गोरी बनाने सम्बन्धी विज्ञापन स्पष्ट संकेत देते हैं कि सौन्दर्यशास्त्र पश्चिमी मापदण्डों द्वारा परिभाषित किया जा रहा है।[93]

भारत भर में कॉल सेण्टर (call centers) के कर्मचारियों के लिए 'उच्चारण प्रशिक्षण' स्कूल स्थापित किये जा रहे हैं। किसी युवा का उच्चारण जितना अधिक अमरीकी होगा उसे उतना अधिक वेतन मिलेगा और यह सांस्कृतिक प्रभाव समाज के अन्य क्षेत्रों में इस तरह प्रवेश कर गया है कि अमरीकी बोलचाल और शिष्टाचार भारत में एक महत्वपूर्ण सामाजिक चिह्न बनते जा रहे हैं!

पश्चिम में परम्परागत रूप से ईश्वर द्वारा चुने हुए लोगों अथवा एक वंश के विशेषाधिकार को ही सौन्दर्य आकर्षण, नैतिकता और सत्य को स्थापित करने की क्षमता हेतु उपयुक्त माना जाता है। ऐसी 'विशिष्टतावादी' धारणा कुछ हद तक बाइबल द्वारा पितृसत्ता पर ज़ोर देने से उत्पन्न हुई है, जहाँ ईश्वर, पिता और केवल एक ही पुत्र उसकी इच्छा एवं भावों का प्रतिनिधि है। बाइबल की परम्पराओं में विजयी उत्तराधिकारी प्राय: अपने भाइयों को नष्ट करके अपनी विरासत को मिलावटी या तितर-बितर होने से बचाता है। यह प्रवृत्ति हमने संसार उत्पत्ति की ईसाई पुस्तक (Genesis) में कैन और एबेल (Cain and Abel), आइजैक और इशमाइल (Issac and Ishmael), जैकब और इसाव (Jacob and Esau) के बीच आपसी संघर्षों में देखी है। हर घटना में संघर्ष है जो कभी-कभी हिंसक रहा।

ऐसा ही तनाव बाइबल में नोआ (Noah) और उसके बेटों की कहानी में भी परिलक्षित होता है। एक विनाशकारी बाढ़ में केवल नोआ अपनी पत्नी और वंशजों सहित धरती पर बचे रहे जिन्होंने आगे चल कर धरती को आबाद किया। नोआ के तीन बेटे हैम, शेम और जपेथ थे। संसार उत्पत्ति की ईसाई पुस्तक (Genesis 9:22-27) के अनुसार हैम नोआ की नग्नता पर हँसा था और अपने गौरव के अनादर करने की सजा के कारण नोआ ने हैम के वंशजों को अपने अन्य दो बेटों के वंशजों का दास बन कर रहने की सजा दी। इसलिए हैम 'बुरे' अथवा 'अशुद्ध' वंश का प्रतीक है।

प्राचीन ईसाई सभ्यता काल में हैम के बहिष्कार की इस 'घटिया' श्रेणी को प्राय: काली चमड़ी, यौनिक अशुद्धता तथा सामान्यत: बुराई के साथ जोड़ कर देखा गया। विशेषकर यूनानी प्रेम के शाब्दिक एवं अस्पष्ट विवरण को उज्ज्वल अथवा प्रकाशमान देवता की संज्ञा दे कर प्राचीन ईसाइयों ने गोरी चमड़ी को अँधेरे पर उजाले अथवा अराजकता पर व्यवस्था की विजय के रूप में पवित्र विशेषाधिकार की तरह देखा। एक ईसाई दार्शनिक ओरिगेन (Origen) ने हैम के सन्दर्भ में स्पष्ट किया है कि बिना योग्यता वाली नीच जाति अधम की भाँति ही व्यवहार करती है।[94] इस प्रकार हैम को तीन गुणा शापित बना दिया गया—वह बदसूरत, बुरा और इज़राइल की उचित धारणाओं को फैलाने के लिए अयोग्य था।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक संसार का नोआ के वंशजों द्वारा बसाने वाली बाइबल की कथा और इस कहानी की 'गोरे एवं पवित्रता' की पारम्परिक समझ के अनुसार व्याख्या को पश्चिम में प्राय: इतिहास की तरह स्वीकार किया गया था। जब यूरोप के औपनिवेशिक मत-प्रचारक संसार के विभिन्न हिस्सों में पहुँचे और उनका एवं उनके व्यापारियों का वहाँ की स्थानीय संस्कृतियों से सामना हुआ, तो उन्होंने स्वदेशी समाजों के वृत्तान्तों को अँधविश्वास कह कर ख़ारिज करते हुए उन्हें नोआ के तीन बेटों में से एक के वंशजों के रूप में सन्दर्भित किया। अभिप्राय: यह था कि एक विशेष क्षेत्र को नोआ के वंशजों की एक विशिष्ट शाखा की पहचान के रूप में स्थापित किया जाये।

अधिकांश वृत्तान्तों में काली चमड़ी वालों की पहचान हैम के वंशजों के क्रूर, असभ्य और अनैतिक होने के रूप में की गई है।[95] इस प्रकार बाइबल ने कुछ नस्लों अथवा प्रजातियों को तथाकथित अनैतिक मान कर उनके दमन का साम्प्रदायिक औचित्य प्रदान किया। यह पहचान बहुत-सी गुलाम-प्रथाओं को उचित मानने के साम्प्रदायिक तर्कों का आधार बनीं। प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन के संस्थापक मार्टिन लूथर (Martin Luther) ने कहा था कि हैम और उसके वंशज शैतान और कटु घृणा से भरे हैं और उन्हें मूर्तिपूजा और विद्रोहियों की तरह देखा।[96] हाल ही, 1964, में पश्चिम वर्जीनिया (West Virginia) के अमरीकी सभासद (senator) रॉबर्ट बर्ड (Robert Byrd) ने अमरीकी काँग्रेस दस्तावेज में 'नागरिक अधिकार अधिनियम' (Civil Rights Act) को नोआ की कहानी को पढ़ कर यह घोषणा करते हुए रोकने का प्रयास किया कि 'हैम के वंशजों के विरुद्ध भेदभाव को नोआ उचित मानता था, इसलिए सम्भवत: हमें भी वही करना चाहिए'।[97]

1517 से 1840 के दौरान लगभग दो करोड़ काले लोगों को अफ्रीका में कैद करके अमरीका लाया गया और इस तरह दास बनाया गया जिसे एक नरसंहार की संज्ञा दी जानी चाहिए।[98] 1843 में 'नीग्रो या अफ्रीकी नस्ल से सम्बन्धित दासता' (Slavery as It Relates to Negro or the African Race) नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई जो देखते-ही-देखते सर्वाधिक बिकने वाली पुस्तक बन गई।[99] इसके लेखक ने अफ्रीकियों पर लादी गई गुलामी-प्रथा को नाटकीय रूप से नोआ के हैम को दिये गये शाप से सन्दर्भित कर उचित ठहराया—

> ''अरे हैम, मेरे बेटे, तुम्हारे केवल इसी कृत्य के लिए ईश्वर के आदेश द्वारा मैंने तुम्हें और तुम्हारी जाति को शाप दिया है; ईश्वर ने मुझे कहा है कि तुम्हारे आने वाले वंशज भी उनके पिता की तरह मानव प्रजाति की सबसे गिरी हुई दशा में रहेंगे, यहाँ तक कि उन्हें सामान्य मानव समाज से भी नीचे वाली स्थितियों में जंगली जानवरों की तरह दास बनाया जायेगा; और चाहे शाँति काल हो या युद्धकाल, तुम एक तुच्छ, अपमानित और पीड़ित जाति की ही तरह रहोगे।''[100]

बाइबल में वर्णित यह शास्त्रीय नस्लीय वर्गीकरण (अपने नैतिक व राजनैतिक परिणामों सहित) पश्चिमी मानसिकता में अच्छी तरह से स्थापित हो गया था। यह न केवल अफ्रीकी गुलामों बल्कि संसार के अन्य अश्वेत लोगों के साथ व्यवहार का एक पैमाना बन गया। उनकी दुविधा यह थी कि ये लोग इज़राइल के इतिहास में कहाँ ठीक बैठते हैं? बाइबल द्वारा स्थापित इस ढाँचे में भारतीयों के स्थान के बारे में औपनिवेशिक विचारक इस प्रकार विचार करते थे कि क्या ये हैम की सन्तानें हो

सकती हैं? उनके भद्देपन, भूरी त्वचा और समझ से परे तौर-तरीकों से लगता है कि ये इसी तरह के किसी अधीनस्थ वर्ग से सम्बन्धित हो सकते हैं।

जिन दिग्गजों ने इस पहेली को सुलझाने का प्रयास किया उनमें विलियम जोंस (William Jones: 1746-1794), मैक्स म्यूलर (Max Muller: 1823-1900), ब्रायन ह्यूटन हॉगसन (Brian Houghton Hodgson: 1800 या 1801-1894) और बिशप रॉबर्ट कॉल्डवेल (Bishop Robert Caldwell: 1814-1891) सम्मिलित हैं। भाषाविद जोन्स (Jones) ने नोआ और हैम की कथा के नस्लीय ढाँचे को संसार की भाषाओं का मानचित्र बनाने में एक नमूने की तरह अपनाया।[101] जोन्स ने संस्कृत कथाओं और संस्कृत ग्रन्थों को बाइबल की घटनाओं से जोड़ते हुए यह दावा किया कि हिन्दुओं का चरित्र हैम के समान है।[102] यह सोच यूरोपीय निर्देशक प्रतिमान बन गई और आगे चल कर उन्नीसवीं सदी के उत्तराद्र्ध में यही अनुक्रम विकास की धर्मनिरपेक्ष अवधारणा में समा गया, जैसा कि जेम्स मिल (James Mill) और उसके पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) के लेखन में दिखता है।

अराजकता के प्रति पश्चिमी पीड़ा तथा व्यवस्था लाने की इच्छा, राजनीति, लैंगिक सम्बन्धों, मत तथा सामाजिक संरचनाओं में भी प्रक्षेपित की जाती है। यूरोप में बारहवीं से अठारहवीं शताब्दी के दौरान कैथोलिक धर्माधिकरण (Inquisition) ने अपने निरंकुश नैतिक एवं धार्मिक मत को हिंसक तरीके से लागू किया। यूरोपीय इतिहास की इस क्रूर अवधि के दौरान व्यवस्था को जटिलता की अपेक्षा वरीयता दी गई तथा इसे मर्दाना और जटिलता को स्त्रैण, शैतान एवं बुराई के रूप में देखा गया। नियम-पुस्तिकाओं द्वारा पैशाचिक तरीकों का प्रयोग करने वाले सन्दिग्ध लोगों को दोषी ठहराने के लिए मानक तन्त्र बनाये गये। यह दमन कई शताब्दियों तक चला और लगभग यूरोप के प्रत्येक कोने में फैला, जिसके परिणामस्वरूप जादू-टोना करने के आरोप में लाखों महिलाओं (और कई पुरुषों भी) की हत्या कर दी गई। सत्रहवीं सदी के अन्त में पूर्वी अमेरिका में 'सालेम के चुड़ैल मुकदमे' (Salem witch trial) इस नृशंस परियोजना का लगभग दम तोड़ता हुआ अन्तिम अध्याय था।

यूरोपीय प्रबोध (Enlightenment) ने इनमें से कुछ आशंकाओं को पीछे छोड़ दिया था। अपने मिथकीय और अँधविश्वासी तत्वों को परिशुद्ध करके एक नये और उन्नत ईसाई मत का जन्म हुआ जिसने अधिक तर्कसंगत और धर्मनिरपेक्ष विश्वदृष्टि को अपनाया। फिर भी उसकी अन्तर्निहित प्राथमिकताएँ और विश्वास दृढ़ बने रहे और यूरोप का सभ्यीकरण अभियान यूरोपीय मानक नियमों एवं विचारों को थोपते हुए जारी रहा। अराजकता को ख़त्म करने के लिए धार्मिक पद्धति की अपेक्षा तर्कसंगत योजनाएं चलाई गईं।

यहाँ तक कि अच्छाई और सुन्दरता के मिलन ने प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण को भी प्रभावित किया। उदाहरण के लिए 'आलू' को, जो कि दक्षिण अमेरिका की पैदाइश है, अमरीका के यूरोपीय प्रवासियों ने उसके बेडौल स्वरूप के कारण कुरूप एवं अशुभ

के रूप में निन्दित किया। और चूँकि इसकी खेती अमरीका के मूल निवासियों, जिन्हें अनैतिक एवं असभ्य समझा जाता था, द्वारा की जाती थी, आलू को इनसे सम्बधित होने के कारण सन्दिग्ध और ख़तरनाक भोजन घोषित कर दिया गया। जब यूरोप में भीषण अकाल पड़ा (और लगभग आधी आबादी के मारे जाने की आशंकाएँ उत्पन्न हुईं) तभी वहाँ के किसानों ने आलू की खेती करने का निर्णय लिया। इसी तरह के अँधविश्वासों के आधार पर इटली में टमाटर को भी प्रतिबन्धित कर दिया गया था (जबकि आज टमाटर के बिना इतालवी भोजन की कल्पना करना ही कठिन है)।

इसी काल के दौरान इतिहास सम्बन्धी दर्शनशास्त्र उत्पन्न हुआ, जिसके अनुसार सभी समाज कम व्यवस्था से अधिक की ओर बनाये गये एक सार्वभौमिक अनुक्रम का पालन करते हैं। स्वयं न्यूटन ने 1728 में अपने लेखन, ''द क्रोनोलॉजी ऑफ़ एन्शिएण्ट किंगडम्स'' (The Chronology of Ancient Kingdoms) में प्राचीन मिथकों के अनुसार नस्लीय अनुक्रम विकसित किया।[103] इसी तरह की वैचारिक अवधारणाओं के कारण यूरोप से अमरीका आ कर बसने वालों ने स्थानीय अमरीकी मूल निवासियों को पैशाचिक बीहड़ में अराजकता से रहने वाले दुष्ट या पिछड़े हुए लोगों की तरह देखा। उनको पिछड़े हुए लोग मान कर उन पर सामाजिक ग़ैर-जिम्मेदारी, तर्कशून्यता और यौन-सम्बन्धी स्वच्छन्दता जैसे विभिन्न रूढ़िवादिताएँ निर्मित की गईं। इस प्रकार ग़ैर-पश्चिमी लोगों को अराजकता की मूरत और ख़तरे के रूप में देखा गया।[104]

समय के साथ-साथ सुन्दरता के मापदण्ड प्रमुख संस्कृति के मूल्यों को प्रतिबिम्बित करने लगते हैं, जैसे काली बनाम गोरी त्वचा तथा दुबला बनाम मोटा।[105] इसी पृष्ठभूमि में हम यह जान सकते हैं कि आधुनिक पश्चिमी कला में यीशु को गोरा कैसे चित्रित किया जाने लगा। इतालवी पुनर्जागरण में जिस उच्च वर्ग ने चित्रकला को प्रायोजित किया था वह स्वाभाविक रूप से परमेश्वर के पुत्र को ठीक अपनी ही तरह 'गोरा' देखना चाहता था। तब से प्राय: यीशु को सुनहरे-भूरे बालों और श्वेत त्वचा के साथ दर्शाया गया है जबकि वास्तव में वे मध्य-पूर्वी एशियाई विशेषताओं के साथ श्यामवर्ण के रहे होंगे। जब यीशु का नवीकरण हुआ तब बीसवीं सदी के अमरीका में उनकी नीली आँखें काफ़ी लोकप्रिय हुईं।[106]

जब भारत जैसे जटिल इतिहास और धर्म वाले विशाल देश से पश्चिम का सामना हुआ तब इसे उन्हें अपने मत और राजनैतिक इतिहास के साधारण खाँचे में समाना आवश्यक हो गया। विलियम जोन्स (William Jones) ने यही करने का प्रयास किया। उसकी महत्वपूर्ण परियोजना को इतिहासकार थॉमस ट्रॉटमैन (Thomas Trautmann) ने इस तरह समझाया कि ''यह बाइबल की तर्कसंगत रक्षा के लिए पूर्वी विद्वत्ता से एकत्रित की हुई सामग्री द्वारा निर्मित की गई थी।''[107] क्योंकि जोन्स की निगाह में ईसाई मत ही एकमात्र सच्चा मत था, उसने ब्रह्मा, विष्णु और शिव की व्याख्या ईसाई त्रिमूर्ती (Trinity) के विकृत संस्करण के रूप में की। यह विकृति मूर्तिपूजकों के ईश्वर की कृपा से गिरने के कारण हुई थी। उसका मानना था कि

यूरोपीय लोगों के पास श्रेष्ठ तर्क क्षमता है, जबकि उनकी तुलना में एशियाई लोग अभी केवल बच्चे हैं। जोंस ने भारतीय समाज के चित्र को बाइबल के अनुरूप ढालने के लिए कई समझौते किये। वह हिन्दू धर्म को पचाने पश्चिमी लोगों में सबसे अग्रणी था, परन्तु उसका लक्ष्य ईसाई धर्म की विश्वसनीयता को बढ़ावा देना ही था और इस उद्देश्य को उसके रूढ़िवादी यहूदी-ईसाई पाठकों द्वारा बहुत सराहा गया।[108]

अगले पृष्ठ पर दिये गये चित्र से पता चलता है कि पश्चिमी तिकड़ी मान्यताओं के त्रिकोण को किस तरह से सत्य-अच्छाई-सौन्दर्य की उनकी विचारधारा में रच कर व्यवस्था और अराजकता तथा सभ्य और असभ्य की अवधारणा से पुष्ट किया गया है। सभ्य स्थान के आयत की तुलना अव्यवस्थित और असंगत आकार की असभ्यता के साथ करें। उपरोक्त तीन में से कोई एक या दो गुण होने का श्रेय जहाँ तक किसी को दिया जा सके, वहाँ तीनों गुण एक साथ होना पश्चिम में स्वभावत: ही मान लिए जाते हैं। दूसरी ओर भद्दी मूर्तियाँ और समाज में गन्दगी मनुष्यों की अनैतिकता दर्शाती है, जिनके पास तर्कशक्ति का अभाव है। गरीबी तर्कशक्ति और नैतिकता के अभाव की सूचक है। इसलिए इन गरीबों को उनकी स्थानीय अनैतिक संस्कृति से बचाया जाना आवश्यक है। यही विचारधारा धर्मान्तरण की वैश्विक ईसाई परियोजना के लिए कुछ तर्कों का आधार आज भी है।
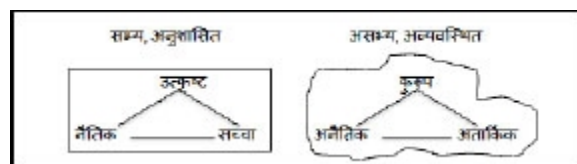
धार्मिक वन तथा यहूदी-ईसाई मरुस्थल

अराजकता और व्यवस्था के प्रति जो चर्चा ऊपर की गई है उसका दृष्टिकोण प्रकृति के प्रति रुख से प्रभावित है। भारतीय धार्मिक परम्पराओं तथा यहूदी-ईसाई सभ्यताओं में अन्तर स्पष्ट करने के लिए 'जंगल' और 'मरुस्थल' को रूपकों के तौर पर उपयोग किया गया है।

पश्चिम में प्राय: वनक्षेत्र को अराजकता, भ्रम और घबराहट के रूप में देखा जाता है। यह दांते (Dante) का 'अँधेरा जंगल' (dark wood) है जहाँ सीधी राह भटक जाती है।[109] जबकि रेगिस्तान को उजाले के स्थान की तरह देखा जाता है जहाँ अपने सादे परम तत्ववाद और सम्पूर्णता में सत्य का खुलासा होता है। यह खाली, बंजर और समतल भी है। इसके विपरीत भारतीय धार्मिक परम्पराओं में जंगल शरण देने वाला, आतिथ्य प्रदाता एवं गहन आध्यात्मिक प्रेरणा का स्थान है।

श्री अरविन्द ने वनों की सादृश्यता का उपयोग भारतीय और पश्चिमी आध्यात्मिक दर्शन के बीच कुछ अनिवार्य मतभेदों को दर्शाने के लिए किया—

''भारतीय दर्शनशास्त्र और धर्म की अन्तहीन विविधताएँ यूरोपीय मानसिकता को अनन्त, विस्मयकारी, थकाऊ और बेकार-सी लगती हैं; वनस्पति की समृद्धि और प्रचुरता के कारण वह जंगल को देखने में असमर्थ है; वह यहाँ के विविध आचारों में समान आध्यात्मिक जीवन के सूत्र भी नहीं देख पाती। लेकिन जैसा कि विवेकानन्द ने संगतिपूर्वक कहा है, 'वनों की अनन्त विविधता ही श्रेष्ठ भारतीय धार्मिक संस्कृति का संकेत है'। भारतीय मनीषा ने इस बात को जाना है कि सर्वोच्च सत्य अनन्त है; वैदिक संस्कृति के आरम्भ से ही उसने यह जाना है कि प्रकृति में आत्मा को वह अनन्त, स्वयं को सदैव ही अन्तहीन विविधताओं में प्रस्तुत करता है। जबकि पश्चिमी संस्कृति की मानसिकता ने लम्बे समय तक पूरी मानवता के लिए आक्रामक एवं अत्यन्त अतार्किक विचारों वाले एक ही मत, अपनी संकीर्णता के बल पर केवल एक ही सार्वभौमिक मत, एक ही तरह के कठोर सिद्धान्तों, एक ही पन्थ, अनुष्ठानों की एक पद्धति, निषेधाज्ञाओं तथा आदेशों की एक नियमावली एवं चर्च का एक अध्यादेश, से पोषित किया है।''[110]

भारत में वन हमेशा उपकार का प्रतीक रहे हैं, क्योंकि शायद इस उपमहाद्वीप की हरी-भरी वनस्पतियों (अब अधिकांश निरावृत) ने लोगों को गर्मी से राहत दी थी। धर्म के कुछ श्रेष्ठ प्राचीन आध्यात्मिक ग्रन्थों को 'आरण्यक' या 'वनों के प्रवचन' भी कहा जाता है तथा उन्हें रचने वाले ऋषियों को 'वनवासी संन्यासी' के रूप में जाना जाता है। व्यक्तियों के लिए जीवन के जिन विभिन्न पड़ावों का प्रावधान किया गया है उन में अन्तिम से पहले वाले पड़ाव में व्यक्ति अपने समस्त पारिवारिक बन्धनों को तोड़ कर आध्यात्मिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में लगाता है जिसे 'वानप्रस्थ' कहते हैं, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'जीवन की वन्य अवस्था।'

जंगल एक ऐसा स्थान है जहाँ अराजकता और व्यवस्था के बीच सन्तुलन लाया जा सकता है। उसकी हज़ारों प्रकार की जीव प्रजातियाँ, पौधे और सूक्ष्मजीव आपस में एक-दूसरे पर आश्रित हैं। इसमें एक वर्गफ़ुट के स्थान में ही सूक्ष्मजीव विभिन्न जीवरूपों का एक समूचा शहर अपने में समाये हुए है। किसी भी स्तर पर सूक्ष्म जीव हमेशा अपने बड़े रूप के साथ घिरा होता है, इसलिए यह 'संसार के अन्दर संसार' अलग-थलग नहीं है। वन के अन्दर बहुत सारे जटिल जैव पदार्थ होते हैं जो सतत् बदलते और विकसित होते रहते हैं। वन्य जीव एक-दूसरे के अत्यन्त अनुकूल होते हैं और एक-दूसरे में विलय हो कर नये-नये रूपों में सरलता से बदलते भी रहते हैं।

किसी भारतीय के लिए जंगल का अर्थ है—प्रजनन, बहुलता, रूपान्तरण, परस्पर निर्भरता और क्रमिक विकास। वन एक अच्छा मेज़बान होता है और बाहर वालों के लिए अपने दरवाज़े कभी बन्द नहीं करता, बल्कि प्रवासी नये जीव-जन्तुओं की प्रजातियों को मूल निवासी के रूप में पुनर्वासित करता है। यह जैविक रूप से बढ़ता है जहाँ यह पहले से उपस्थित जीवों को नष्ट किये बिना नये जीवों के साथ मिलजुल

कर रहता है। यह कभी भी अन्तिम और पूर्ण नहीं होता। इसका जीवन-नृत्य सतत् विकासशील रहता है। तुलनात्मक रूप से भारतीय सोच काफ़ी हद तक प्रक्रिया आधारित है। बौद्ध धर्म में जंगल के जीवों की आपसी निर्भरता एक तरह से समूचे ब्रह्माण्ड की आपसी निर्भरता को प्रतिबिम्बित करती है।

पक्षियों, पशुओं, पौधों इत्यादि के रूप में जंगल की विविधता ईश्वरीय विभूति की अभिव्यक्ति है। जिस तरह जंगल में अनन्त जैविक प्रक्रियाएँ हैं, उसी प्रकार ईश्वर के साथ संवाद की भी अनन्त विधाएँ हैं। वास्तव में भारत का आध्यात्मिक दृष्टिकोण इसी सिद्धान्त पर आधारित है कि ईश्वर सब में अन्तर्निहित है तथा उसे जीवन और प्रकृति के किसी भी स्वरूप से पृथक नहीं किया जा सकता। वन भी मानव शरीर की तरह बाहरी एवं अन्दर के बीच सम्बन्धों के लिए सन्दर्भ बनाते हैं या कह सकते हैं कि मानवता और जंगलीपन के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का सन्दर्भ प्रदान करते हैं। विभिन्न भारतीय धार्मिक शास्त्र और अनुष्ठान एक-दूसरे में जटिल पद्धतियों से इस प्रकार घुलमिल जाते हैं कि वे तथाकथित 'महत्वपूर्ण संस्करणों' अथवा एकरेखीय कालक्रम की संकल्पनाओं की अवज्ञा करते हैं। भारतीय धार्मिक परम्पराएँ स्वयं को बड़े ही गतिशील तरीके से पुनर्व्यवस्थित करती हैं जिससे पश्चिमी मानस में, जो सब चीज़ों को अपने उचित स्थान में देखने का आदी है, बेचैनी उत्पन्न होती है।

भारतीय परम्पराएँ बहती हुई पवित्र नदियों के किनारे स्थापित हुईं हैं जो परिवर्तन एवं विकास का प्रतीक हैं। अन्तहीन जैविक विकास का परम अनुभव भारतीय दर्शन शास्त्र के विभिन्न गुरुकुलों, शास्त्रों, देवताओं, अनुष्ठानों, आध्यात्मिक साधनाओं और त्यौहारों का अभिन्न अंग रहा है। आपसी सद्‌भावना का विचार वन से उपजा जहाँ परस्पर गुँथे होने का भाव व्याप्त है। वनवासी प्रकृति का सम्मान करते हैं और अपने समकक्ष यहूदी-ईसाइयों के विपरीत यह नहीं मानते कि ईश्वर ने मनुष्य को इस दुनिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए बनाया है। प्रकृति और इसके जीव एक ही ब्रह्माण्डीय परिवार का हिस्सा हैं।

दूसरी ओर रेगिस्तानी परिवेश ने इब्राहमी मतों को आकार दिया है। रेगिस्तान प्रतिकूल हो सकता है और वह ऐसा स्थान नहीं है जहाँ कोई जीव स्थायी रूप से रह सके या जहाँ जीवन की विविधता का अचम्भा देखा जा सके। इसका विशाल खालीपन विस्मयकारी है, परन्तु भय भी पैदा करता है। रेगिस्तान, कठोरता, जीवन का अभाव, अप्रिय वातावरण तथा ख़तरों का संकेत देता है। यहूदी-ईसाई लोक-आचरण इसी डर और अभाव की भावना पर आधारित है। प्रकृति सहायक नहीं बल्कि डरावनी है, इसलिए इसे अधीन, शिष्ट, और नियन्त्रित किया जाना आवश्यक है।

इन परिस्थितियों पर विजय पाने के लिए रेगिस्तान में रहने वाले भगवान से राहत की आशा रखते हैं। इनके अनुसार ईश्वर एक पालन-पोषण करने वाली माँ नहीं बल्कि एक कठोर और प्राय: क्रोधित होने वाले पिता के समान है। ऐसा ईश्वर "यह करो और

वह न करो" जैसे सख़्त निदेश दे कर उन्हें उबारता है। ईश्वर उन्हें जीवन चलाने के लिए केवल दस आज्ञाएँ (ten commandments) देता है! बदले में ईश्वर उनसे गहरी कृतज्ञता, पश्चाताप और प्रायश्चित की आशा रखता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रेगिस्तान अपने-आप में साम्प्रदायिक अनुभवों की चरम सीमा है; यह पश्चाताप करने का एक स्थान है।

मिस्त्र से पलायन के पश्चात और पवित्र भूमि तक पहुँचने से पहले मोजिज (Moses) और उसके अनुयायियों ने चालीस वर्ष तक रेगिस्तान की कठोर परिस्थितियों में जीवन बिताया। इज़राइल के लोगों के लिए पापों का प्रायश्चित करने का सन्देश पहुँचाने से पहले बपतिस्मा-दाता जॉन (John) कठोर तपस्या हेतु रेगिस्तान में गया था। अपने सार्वजनिक जीवन की शुरुआत में यीशु ने भी रेगिस्तान में चालीस दिनों के अपने पहले उपवास में ईश्वर को समर्पण करने से पहले शैतान के प्रलोभनों का प्रतिरोध करने के लिए संघर्ष किया। इस छवि के विपरीत महात्मा बुद्ध ने बोधिवृक्ष के नीचे जीवन के मध्यम मार्ग का ज्ञान प्राप्त किया।

वन से सम्बन्धित रूपक से बरगद के वृक्ष का सीधा सम्बन्ध है जिसे एशिया भर की कहानियों एवं मिथकों में श्रद्धा के साथ सुनाया जाता है। सभी वृक्षों में बरगद का स्थान इसलिए अद्वितीय है, क्योंकि पहले शाखाएँ अंकुरित होती हैं और अन्ततः धरती की ओर जा कर एक नये वृक्ष की जड़ें बन कर पूरे वृक्ष के लिए पोषण और स्थिरता प्रदान करती हैं। यह वृक्ष अपने आप में एकल ढाँचा है, परन्तु यह एक जटिल एवं विकेन्द्रीकृत संगठन की तरह कार्य करता है जहाँ पक्षियों, जानवरों एवं मनुष्यों को आश्रय व आहार मिलता है। इसकी विभिन्न जड़ें और शाखाएँ विविध प्रकार के मूल स्रोतों के प्रतीक हैं—सभी एक ही सजीव प्राण का हिस्सा हैं, भले ही एक दृष्टि में इसे समझा न जा सके। प्रत्येक जड़ हर तने को पोषित करती है, इसलिए वृक्ष का प्रत्येक पत्ता जड़ों की इस संयुक्त प्रणाली से जुड़ा होता है। इस वृक्ष का कोई एक मुख्य केन्द्र नहीं होता, क्योंकि इसकी कई जड़ें, तने और शाखाएँ सभी आपस में एक-दूसरे से जुड़ कर अविभाज्य हैं। बरगद के वृक्ष के कई केन्द्र होते हैं। ठीक इसी तरह भारतीय सभ्यता एक ऐसी रचना है जिसका कोई केन्द्रीय नियन्त्रक नहीं है; यह आन्तरिक एवं बाह्य रूपों में अन्तर्गठित एक खुली सरंचना है। यह स्वाभाविक रूप से समावेशी है, इसलिए विविधता को बढ़ावा देने तथा रूपान्तरण के लिए अत्यधिक प्रभावशाली प्रणाली है।

सुन्दर एवं भव्य होने के अतिरिक्त बरगद का वृक्ष विभिन्न जीवों एवं गतिविधियों को भी आसरा देता है। यह यात्रियों को छाया और आश्रय प्रदान करता है। बन्दर यहाँ अपना घर बना लेते हैं। योगी इसके नीचे ध्यान लगाते हैं। ग्रामीण दुकानदार इसकी छत्रछाया तले अपना व्यापार करते हैं। ग्रामवासी इसके नीचे अपनी चौपाल लगाते हैं और समुदाय के समाचार और घटनाओं को आपस में बाँटते हैं। यह पेड़ विशाल,

जटिल और पुरातन है, फिर भी इसके आकार और जटिलता में सामंजस्य और आकर्षण [111]

रेगिस्तान, बरगद के वृक्ष और उसकी जटिलता को आसरा देने में असमर्थ है। जंगल को रेगिस्तान बना देना विनाशकारी है जबकि रेगिस्तान में फूल उगाना उसे समृद्ध करने जैसा है। रेगिस्तानी लोग हरियाली के लिए इतना तरसते हैं कि यह उनका पवित्र रंग है (जैसा कि इस्लाम में)। उनके मध्य जीवन को खुशहाल देने वाला एक छोटा-सा वन (मरु उद्यान—oasis) उनका गन्तव्य बन जाता है। शाश्वत् स्वर्ग के बारे में उनकी सभी अवधारणाएँ वन से सम्बन्धित होती हैं। परन्तु इसका उल्टा कभी सत्य नहीं होता—अर्थात वन की संस्कृतियाँ रेगिस्तान की लालसा नहीं रखतीं। वनों की संस्कृतियाँ (अर्थात भारतीय हिन्दू संस्कृति) वैकल्पिक चारागाहों को ढूँढ़ते हुए संसार को जीतने नहीं गईं; वे अपने घर में (अथवा बरगद के नीचे) ही खुश थीं।

मात्रात्मक दृष्टि से रेगिस्तान की अपेक्षा वन कई गुना जनसंख्या का पोषण करते हैं, इसीलिए संसार भर की प्राचीन सभ्यताएँ आकार में भारत की सिन्धु-सरस्वती सभ्यता की तुलना में बहुत छोटी थीं। रेगिस्तान में जीवन के प्रकार और विविधताएँ सामान्यत: अत्यधिक कम हैं और परिणामस्वरूप रेगिस्तान के निवासियों का ज्ञान कम वस्तुओं तक सीमित होता है और इसलिए जटिल सम्बन्धों और सन्दर्भों का सामना करने में वे कम अनुभवी होते हैं।

सन्दर्भ-आधारित संस्कृति का रूपक वन के लिए ठीक बैठता है जो यह खुलासा करता है कि भारतीय धार्मिक संस्कृतियों में रहने वाले लोग संज्ञानात्मक जटिलता के साथ अधिक सहज क्यों हैं। निस्सन्देह, जो लोग रेगिस्तान से लगाव रखते हैं, उनका मानना है कि वह विस्मय और इबादत प्रेरित कर सकता है। फिर भी, अधिकांश लोगों के लिए रेगिस्तान ज़्यादती का स्थान है, जैसे अत्यधिक ठण्ड या जला देने वाली गर्मी, भूख या भोजन, पानी अथवा रेत।

पश्चिमी जोकर एवं भारतीय विदूषक

व्यवस्था एवं अराजकता के सांस्कृतिक मिथक व्यक्ति में समाविष्ट हो कर उसके अवचेतन में सन्निहित हो जाते हैं। व्यवस्था और अराजकता के प्रति मानसिक दृष्टिकोण फिर उन रचनात्मक क्रिया-कलापों में सूक्ष्म तरीकों से उभरते हैं जो आदर्शों, रूपकों एवं प्रतीकों का उपयोग करते हैं। आधुनिक समाज अपने इन मिथकों को अपने कथा-साहित्य, फ़िल्मों एवं मीडिया के अन्य माध्यमों द्वारा सांस्कृतिक भिन्नताओं को स्पष्ट करने और उनका विश्लेषण करने के लिए अभिव्यक्ति देता है। विशेषकर हॉलीवुड ने अराजकता के प्रति पश्चिमी भय को बैटमैन (Batman) की लोकप्रिय फ़िल्मों द्वारा प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। मैं संस्कृत की कुछ कविताओं एवं नाटकों में वर्णित 'विदूषक' से इसकी तुलना करूँगा।

2008 की एक फ़िल्म बैटमैन-3 : 'द डार्क नाइट' (Batman 3: The Dark Knight) में जिला वकील का चरित्र सभ्यता का मूर्तरूप है जो व्यवस्था को चुनौती देने वाले सभी प्रकार के अपराधों से लड़ता है। जबकि जोकर का चरित्र नायक-विरोधी है जो अराजकता को आदर्श बना कर जिला वकील के हर कदम पर बाधा उत्पन्न करता है। फ़िल्म के अन्त में जोकर उस वकील को अपना जीवन-दर्शन बताता है—वह कहता है कि सभ्य संसार अपनी योजनाओं के प्रति बहुत चिन्तित रहता है और अपनी नीतियों, नियमों एवं मानकों के सटीक पालन में अत्यधिक सजग है। 'जोकर' को कभी पराजित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह वर्तमान क्षण में सहजता से काम करता है, साथ ही वह निडर भी है क्योंकि उसने कुछ भी एकत्रित नहीं किया है, इसलिए उसके पास खोने के लिए कुछ नहीं है। वास्तव में लाखों डॉलर की चोरी करने के बाद जोकर धन के पहाड़ को जलाता है, ताकि वह यह सिद्ध कर सके कि भौतिकतावादी सभ्यता के पुरुषार्थों में उसे कोई रुचि नहीं है।

फ़िल्म के अन्त में हारे हुए जिला वकील को उसके आधे जले हुए और घिनौने चेहरे के साथ दिखाया गया है। जोकर बताता है कि आधा अच्छा चेहरा व्यवस्था की सुन्दरता है जिसके नीचे 'गोथम सिटी' (अर्थात सभ्यता) तथा उसके 'निरंकुशवादी नियन्त्रण' की कुरूपता छिपा दी जाती है। यह कुरूपता जिला वकील के स्वयं के ओहदे और राजनैतिक व्यवस्था में, जो सभ्यता की रक्षा करने का दिखावा करती है, अत्यधिक भ्रष्टाचार के रूप में समाई हुई है। अन्त में जिला वकील संगठित अपराध का सरगना बन जाता है और 'टू फ़ेस' (Two Face) के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार व्यवस्था का संरक्षक अराजकता का मुख्य प्रतिनिधि बन जाता है। उसका आधा सुन्दर/आधा कुरूप चेहरा यह दर्शाता है कि 'व्यवस्था' अपने भीतर अपनी ही पराजय समाये हुए है और इसके लक्ष्य कभी भी प्राप्त नहीं हो सकते तथा यह पाखण्डी है। यह परिणाम, व्यवस्था और अराजकता को परस्पर अलग एवं असंगत तत्वों के रूप में प्रस्तुत करता है।

फ़िल्म का मुख्य नायक 'बैटमैन,' ब्रुस वेन (Bruce Wayne), 'कानून से परे' है। वह बुराई के युगल जिला वकील और जोकर दोनों को ख़त्म कर देता है, परन्तु वह ऐसा उनमें से किसी को भी एकीकृत करके नहीं करता, बल्कि वह छल से 'कभी भ्रष्ट न होने वाली' मिथकीय व्यवस्था बना कर ऐसा करता है। वह वकील की दल-बदली को छिपाता है तथा इस नैतिकता के आदर्श की हत्या करने वाले अपराधी के रूप में स्वयं को रूप बदल कर दिखाता है। सम्भव है सभ्यता अराजकता की असीम ताकत पर प्रभावशाली रोक ही नहीं बल्कि उस पर जीत भी हासिल कर सकती है, परन्तु इसके लिए उसे अराजकता की रणनीति और उसके स्पष्ट स्वरूप को अपनाना होगा। परिणाम एक असहज गतिरोध होता है।

भले ही हम बैटमैन (ब्रुस वेन), एक नि:स्वार्थ परोपकारी जिसने बुराई का मुकाबला करने की प्रक्रिया में अपने को छिपा कर और स्वयं के सच्चे सदाचारों का

त्याग किया अथवा अराजकतावादी नायक विरोधी जोकर जो व्यवस्था के खोखले पाखण्ड को उजागर करता है, के पक्ष में हों, फ़िल्म का मूल सन्देश इन दो शक्तियों के प्रतिपक्षी सम्बन्धों पर ही टिका है। मूलभूत विषय का कभी सन्तोषजनक समाधान नहीं होता, यद्यपि दोनों विरोधी दावे ख़ारिज कर दिये जाते हैं।

संस्कृत नाटकों में अराजकता को जोकर (जिसे 'विदूषक' के रूप में जाना जाता है) के रूप में साकार किया गया है। यह विदूषक अपने राजा से, जो व्यवस्था के रूप में धर्म की रक्षा करता है, विरोधाभासी तथा द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध होते हुए भी विशेषाधिकार रखता है।[112] विदूषक के प्रतीक की तुलना बैटमैन फ़िल्म के जोकर के साथ है।

व्यवस्था का प्रतीक सुन्दर राजा और अराजकता का प्रतीक विकृत चेहरे वाला विदूषक न केवल अविभाज्य हैं, बल्कि वे सहकर्मी हैं तथा एक-दूसरे के प्रति अनुकूल समान मित्रता का व्यवहार भी रखते हैं। शूद्रक द्वारा लिखित संस्कृत नाटक 'मृच्छकटिकम्' में मित्रवत विदूषक मैत्रेय सक्रिय रूप से परन्तु अनजाने में ख़लनायक के ख़तरनाक उद्देश्यों को प्रोत्साहन देता है। वह यह इस हद तक करता है कि जिस नायक की वह प्रत्यक्ष सहायता कर रहा होता है वह हत्या के झूठे आरोप में फ़ाँसी के फ़न्दे तक पहुँच जाता है। हालाँकि व्यवस्था की अव्यवस्था पर जीत के साथ नाटक का सुखद अन्त होता है, परन्तु उत्कृष्ट सन्देश यह है कि यदि समाज को सही तरीके से कार्यशील रखना है तो अराजकतावादी शक्तियों को विवेकपूर्वक कुशलता से व्यवस्था में एकीकृत करना होता है। नाटक के औपचारिक आरम्भ में ही इस विचार को स्पष्ट रूप से रख दिया गया है। इन्द्र देवता एवं असुर रूपी वरुण के बीच जो झगड़ा होता है वह एक बार पुन: व्यवस्था एवं अराजकता के बीच तनाव का प्रतीक है। ब्रह्मा, जो दोनों विपरीत ध्रुवों का प्रतिनिधित्व करते हैं पर फिर भी उनसे ऊपर हैं, दोनों लड़ने वालों के बीच मेलमिलाप एवं समझौता करवाते हैं। नाटक के शुरुआत में राजसी नायक इन्द्र की भूमिका में है, जबकि ब्रह्मा उसका प्रतिपक्षी और सलाहकार मित्र बनते हैं जो अपनी कुरूपता के साथ विशिष्ट आसुरी (राक्षसी) चिह्नों वाली छवि का प्रतीक बन जाते हैं।

विदूषक एक अपराधी के रूप में है जिसके पारम्परिक व्यवस्था को भंग करने के कारनामे वास्तव में उसे मजबूत बनाते हैं। अधिकांश मामलों में इसे राजा द्वारा ही भेजा जाता है जो अव्यवस्थित शक्तियों को नियन्त्रित रूप से छोड़ता है (ठीक उसी तरह जैसे शरीर में बीमारी से प्रतिरक्षा के लिए विभिन्न प्रतिरोधी टीके लगाए जाते हैं)।[113] इस तरह 'एकीकृत अराजक तत्व' के रूप में विदूषक 'बिना योग्यता के प्राप्त हुआ' (wild card) जोकर है; उसे पवित्र 'ॐ' द्वारा संचालित एक महान ब्राह्मण के रूप में चित्रित किया गया है, परन्तु फिर भी वह संस्कृति-विरोधी तथा भृकुटी तनने लायक कई बुरे लक्षण प्रदर्शित करता है, जैसे शराब और माँस के प्रति लालसा, दासियों से अवैध सम्बन्ध, छड़ी का लैंगिक संकेत के रूप में उपयोग इत्यादि। व्यवस्था के

केन्द्र बिन्दु में इस प्रकार विरोधी अव्यवस्था को रखना हिन्दू धर्म में अराजकता के रचनात्मक रूप से मेल खाता है।

इस प्रकार संस्कृत के नाटक के मूल विषय में 'दो भिन्न धाराओं के गठबन्धन' की अन्तर्धारा सतत् प्रवाहमान रहती है, जहाँ सन्तुलन अन्ततः स्थापित होता है। 'बन्धु' का सिद्धान्त सदैव उपस्थित रहता है।[114]

इन उदाहरणों से हम फिर देख सकते हैं कि व्यवस्था और अराजकता के प्रति पश्चिमी अवधारणा दोहरे आधार वाली है; वह बेमेल प्रतिस्पर्धी है। पश्चिम के अनुसार व्यवस्था और जो कुछ भी अच्छा व पवित्र है, सभ्यता का प्रतीक है और अराजकता (या अव्यवस्था) जो अच्छाई और पवित्रता की विरोधी है, असभ्यता का प्रतीक है। भारतीय दृष्टिकोण एकीकरण का है जिसमें इन्हें एक दूसरे का पूरक और संवादात्मक मानते हुए सभ्यता के आवश्यक पहलुओं की तरह देखा जाता है, परन्तु एकता के उच्च सिद्धान्त में एकीकरण और समन्वय द्वारा अराजकता और व्यवस्था का मिलजुल कर रहना आवश्यक है जिससे दोनों अपना-अपना कार्य पूरा करके अपने पूर्ण एवं उच्चतम स्तर पर पहुँच सकें।

अध्याय 5

अरूपान्तरणीय संस्कृत शब्द बनाम पश्चिमी पाचन

संस्कृत के बहुत से शब्दों का अंग्रेज़ी अनुवाद किया ही नहीं जा सकता। प्रमुख संस्कृत शब्दों की अरूपान्तरणीयता अधिकांश भारतीय परम्पराओं के सुपाच्य और आत्मसात न हो सकने का प्रमाण है। संस्कृत शब्दावली और उसके विस्तृत अर्थों का संरक्षण करना, औपनिवेशीकरण का प्रतिरोध और भारतीय धार्मिक धरोहर की सुरक्षा करने का प्रमुख तरीका है।

पश्चिम के बहुत से लोग यह मान लेते हैं कि संस्कृत भाषा में सन्निहित भारतीय धार्मिक ज्ञान का अन्य भाषाओं में अनुवाद करके और बिना उसका मूल अर्थ बदले उसे अन्य साम्प्रदायिक या वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में ढाला जा सकता है, जैसे 'ॐ' को आमीन, 'शान्तिः' को अमन तथा 'ब्रह्म' को भगवान इत्यादि। इस अध्याय में मैं यह सिद्ध करूँगा कि ऐसा नहीं हो सकता।

प्राचीन होने के साथ-साथ संस्कृत की आज तक की महत्ता उसकी गहन रचनात्मक क्षमता में है। किसी भी शब्द के अर्थ की गूढ़ता प्राय: उसके सांस्कृतिक सन्दर्भ, शब्द उत्पत्ति की ऐतिहासिकता और उसकी बारीकियों तथा अन्तर्निहित अर्थों के व्यापक सन्दर्भ में सन्निहित होती है। प्रत्येक संस्कृति का सामूहिक संचयी अनुभव उसके विशिष्ट भूगोल एवं इतिहास के अनुसार होता है। किसी संस्कृति को समझना उसे जीने जैसा है। विभिन्न संस्कृतियों के विशिष्ट अनुभवों में परस्पर हमेशा अदला-बदली नहीं हो सकती तथा इन अनुभवों को व्यक्त करने वाले शब्दों का उनके मूल रूप में रहना आवश्यक है; यदि भाषा-सम्बन्धी श्रेणियाँ समय के साथ लुप्त हो जाती हैं तो सांस्कृतिक अनुभव की विविधताएँ भी नष्ट हो जाती हैं। बहुत-सी प्राचीन सांस्कृतिक कलाकृतियों का दूसरी संस्कृतियों में कोई समतुल्य नहीं है और इन शिल्पकृतियों को बलपूर्वक पश्चिमी-स्वीकार्य साँचे में ढालना अथवा उनके द्वारा हड़पा जाना एक तरह से उन्हें विकृत करने जैसा है। यह भी एक प्रकार का औपनिवेशीकरण और सांस्कृतिक दमन ही है।

इसलिए किसी भी शब्द की बारीकियों को समझने के लिए उसकी मूल संस्कृति को समझना आवश्यक है। अपनी गहन सरंचनाओं और श्रेणियों के कारण भाषा एक सांस्कृतिक विचारधारा को आकार दे कर प्रतिबिम्बित करती है। संस्कृत में कुछ विशेष गुण हैं जो धार्मिक दर्शनशास्त्र की विशिष्ट प्रकृति एवं अन्तर्निहित स्वाभाविक प्रसंग को प्रकट करते हैं। संस्कृत से जुड़ी अरूपान्तरणीयता का एक और गहन स्रोत है इसकी मूलभूत ध्वनियों में संयोगों और अन्तर्सम्बन्धों की परतें जो परस्पर आधारभूत कम्पनों द्वारा साझा रूप से जुड़ी हुई हैं। अत: एक बीजगणितीय सूत्र की तरह एक शब्द का पूरा अर्थ उसकी ध्वनियों का समग्र स्वरूप होता है।

इसी कारण जब एक विदेशी संस्कृति, विशेषकर औपनिवेशिक, अपना सरलीकृत अनुवाद संस्कृत शब्दों पर थोपती है तब बहुत नुकसान होता है। इससे भी ज़्यादा नुकसान तब होता है जब उपनिवेश बन चुकी संस्कृतियों के मूल निवासी इस विदेशी अनुवाद को अपनाने लगते हैं—यह क्रमिक और सूक्ष्म प्रक्रिया है जिसे हावी संस्कृति द्वारा पुरुस्कार एवं बेहतर जीवनशैली का लालच दे कर हासिल किया जाता है।

कम्पनशील अभिन्न एकता

यह समझने के लिए कि संस्कृत अद्वितीय और अरूपान्तरणीय क्यों है तथा इसमें निहित सभ्यताएँ दूसरों से अलग क्यों हैं, हमें वेदों में ध्वनि एवं भाषा की समझ को और अधिक गहराई से देखना होगा। अनादि काल से भारतीय ऋषियों एवं भाषा विज्ञानियों का मानना है कि मूल कम्पन से ही समग्र सृष्टि बनी है और यह कम्पन समूचे ब्रह्माण्ड के दिल की धड़कन है। संस्कृत भाषा के अक्षरों का गठन इस ब्रह्माण्डीय स्पन्दन की गूँज से हुआ है जो मनमाने ढंग से अर्थों का ध्वनियों से सम्बन्ध नहीं जोड़ता। मानव भाषा और उसकी अवधारणाओं एवं विषय-वस्तुओं का प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व ध्वनि के बदलते स्पष्ट स्तरों के कम्पनों की वास्तविक अभिव्यक्ति द्वारा होता है।

यह गहन वास्तविकता, जिससे ध्वनि और आकार प्रकट होते हैं, न तो पैग़म्बरों द्वारा (जो केवल ईश्वर के सन्देशवाहक थे) या बौद्धिक निरीक्षण से, बल्कि गहन ध्यान में प्रत्यक्ष अनुभव से खोजी गयी।

ऋषि वह होता है जो शाश्वत् सत्य को देखता और सुनता है। उसकी असाधारण क्षमताएँ उसे अनन्त ब्रह्माण्डीय कम्पनों और उनसे सम्बन्धित ठोस विषय-वस्तुओं से सीधे साक्षात्कार करने में सक्षम बनाती हैं। ऋषि ऋचाओं की रचना नहीं करते, बल्कि उन्हें सुन कर उनमें लीन हो जाते हैं। इन ऋचाओं को 'मन्त्र' कहा जाता है।

संस्कृत-शास्त्रों को बौद्धिक ज्ञान से समझा जा सकता है, परन्तु कुछ शास्त्र अनुभवात्मक अर्थ के साथ कम्पनों का अनुक्रम हैं और केवल योगाभ्यास द्वारा ही जाने जा सकते हैं। उनकी ध्वनि की प्रकृति ही उन्हें अरूपान्तरणीय बना देती है। उदाहरण के लिए कोई भी बाहरी शब्द आग से जलने पर होने वाले दर्द और गर्मी के अनुभव को पूरी तरह से व्यक्त नहीं कर सकता। 'जलना' शब्द आग का केवल एक वैचारिक नाम है न कि अनुभवात्मक, जबकि संस्कृत के मन्त्र का लक्ष्य उसके प्रभाव में निहित है।

इस अध्याय में मैं चर्चा करूँगा कि संस्कृत ब्रह्माण्ड की अभिन्न एकता के सनातन धार्मिक विश्वास को कैसे दर्शाती है और यह भी कि इस एकता को लाने में योगदान देती है। मैं संस्कृत की विशिष्टता को भी उजागर करूँगा कि किस प्रकार ध्वनि सभी वास्तविकताओं के सूक्ष्म कम्पनों की अभिव्यक्ति है।

यही मूल कम्पन असंख्य भौतिक प्रक्रियाओं को, जिनमें उनके नाम तथा उनके प्रति हमारी अवधारणाएँ सम्मिलित हैं, प्रकट करते हैं। इसलिए शब्दों, वस्तुओं एवं विचारों के बीच सभी भेद आपस में सापेक्ष्य हैं। अभिन्न एकता को समाविष्ट किये हुए हम जिस विविधता का अनुभव करते हैं वही वास्तविकता है। परिणामस्वरूप, संस्कृत शब्दों का अन्य भाषाओं में अनुवाद नहीं किया जा सकता।

प्रत्यक्ष अनुभव और परम्पराएँ

भारतीय भाषाई सिद्धान्त एवं शास्त्रों के उच्चारण के अभ्यास अत्यधिक परिष्कृत हैं तथा उनका अध्ययन एवं अर्थ भारतीय आध्यात्मिकता एवं धार्मिक साधनाओं से अलग नहीं है। बहुत-सी भारतीय परम्पराओं ने संस्कृत की प्राचीन गुणवत्ता को ग्रहण करने का प्रयास किया है। कुछ ऋषियों ने अपने अनुभवों को 'शक्ति' अथवा प्राचीन ऊर्जा की प्राणिक अभिव्यक्ति के रूप में प्रदर्शित किया है। जबकि दूसरों ने इस ब्रह्माण्ड की व्याख्या 'शब्द-ब्रह्म,' कम्पनशील सत्य के रूप में करने का प्रयास किया। 'स्फोट' सिद्धान्त के अनुसार 'ध्वनि' और 'अर्थ' वास्तविकता के एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और अपने अप्रकट रूप में एक जैसे हैं। प्रत्यक्ष रूप से इन जुड़वाँ में भेद अप्रशिक्षित मानस को तभी तक महत्वपूर्ण दिखता है जब तक वह मानता है कि ध्वनि और उसके अर्थ एक-दूसरे से अलग हैं।[1]

वेद इस मौलिक कम्पन को 'वाक्' देवी के रूप में प्रकट करते हैं जो मूल ध्वनियों से सभी विचारों, तालों, कम्पनों और प्रत्यक्ष वस्तुओं को हमारे समक्ष लाती हैं। वह ब्रह्माण्डों तथा उस पदार्थ की जन्मदात्री है जिससे ब्रह्माण्डों की रचना होती है। कश्मीर के शैववाद के अनुसार ''वाक्'' के चार स्तर होते हैं—परा (अव्यक्त), पश्यन्ति (सूक्ष्म), मध्यमा (वैचारिक संकल्पना) तथा बैखरी (स्थूल वाणी)।[2] शिव-सूत्र के अनुसार साधारण ज्ञान व्यावहारिक सम्पर्कों से आता है और यह ज्ञान बाहरी संसार से सम्बन्धित है। लेकिन स्वयं इन सम्पर्कों को आपस में जोड़ने के लिए जिस शक्ति की आवश्यकता होती है उसे 'मात्रिका' कहते हैं। 'मात्रिका' शब्दों एवं प्रतीकों को आपस में बाँध कर एक ऐसी भाषा का स्वरूप प्रदान करती है जिसे हम समझ सकें।[3]

तान्त्रिक परम्पराओं में प्रत्येक वस्तु की एक अन्तर्निमित ध्वन्यात्मक ध्वनि होती है। किसी एक वस्तु के दस से भी अधिक नाम हो सकते हैं, परन्तु केन्द्रीय अथवा 'बीज-मन्त्र,' जो उस विषय-वस्तु का नाभिक, केन्द्र बिन्दु तथा भावार्थ है, कभी नहीं बदलता। इसलिए यदि कोई व्यक्ति विषय-वस्तु के मूल बीजमन्त्र के साथ लय द्वारा एकीकृत होता है तब वह उसकी पूरी समझ को ग्रहण करता है। 'शब्द-ब्रह्म' ब्रह्माण्ड की प्राचीनतम ध्वनि-चेतना है। श्रीमद्भागवत में अव्यक्त 'ॐ' तथा उसकी अभिव्यक्ति से वेदों एवं समस्त सृष्टि की उत्पत्ति को बताया गया है।[4]

रिचर्ड लेनॉय (Richard Lannoy) ने कहा है कि हिन्दू स्वयं को एक ऐसे सूक्ष्म जीव के रूप में देखता है जो इस विराट ब्रह्माण्ड अथवा प्रकृति का सच्चा प्रतिरूप है। वह प्रकृति के बारे में ज्ञान अपनी तात्कालिक संवेदनशील जागरूकता को योग द्वारा परिष्कृत करके प्राप्त करता है। पतंजलि के योग-सूत्र इस 'ऋतम्भराबुद्धि' (दृष्टि-अन्तर्दृष्टि) का वर्णन करते हैं।[5] प्रकृति की ओर भारतीय दृष्टिकोण के समान भारतीय तर्कशास्त्र भी न केवल वैचारिक अवधारणाओं के साथ विकसित होता है बल्कि अनुभवों के विभिन्न तरीकों को अपना कर भी। जबकि पश्चिम में इन अनुभवों को संकीर्ण विशिष्टीकरणों द्वारा दबा दिया गया है। पश्चिम की सबसे नज़दीकी उपमा को वैज्ञानिक के पारिस्थितिक सम्बन्धों के विवरण में देखा जा सकता है, जहाँ वातावरण

और जीवों को एकीकृत इकाई के रूप में देखा गया है। अत: लेनॉय कहते हैं कि ''हिन्दुओं ने प्रत्यक्ष अनुभूति के माध्यम से संगीतमय मन्त्रोच्चार की मन्त्र प्रणाली एवं ध्वनि तरंगों के स्वर-विज्ञान को एकसाथ जान कर प्राप्त किया।''[6]

ध्वनि, उसके अर्थ एवं विषय-वस्तु की एकात्मता

जैसा कि पहले वर्णन किया गया है, संस्कृत की उत्पत्ति ऋषियों द्वारा इस संसार की प्रत्येक वस्तु के परम तत्व की खोज की प्रक्रिया में महारत हासिल करके हुई है। उनके एकता के इस सहज ज्ञान ने न केवल उनकी पौधों एवं जीवों के वर्गीकरण सम्बन्धी समझ को बढ़ाया, बल्कि ऐसे जीवों के प्रति गहरा सम्मान और समानुभूति को भी पैदा किया (जबकि इसके विपरीत आधुनिक समाज में पर्यावरण के नियमों का पालन प्राय: राजनैतिक अथवा स्पष्ट आदेशों से होता है)।

नीचे वाला रेखाचित्र दर्शाता है कि प्रत्येक वस्तु कैसे एक कम्पन के रूप में प्रारम्भ होती है जिसमें उस वस्तु का सम्भावित आकार और समतुल्य ध्वनि दोनों सम्मिलित होते हैं। ये कम्पन धीरे-धीरे प्रकट होते हैं और हम इन्हें अलग-अलग ध्वनियों के रूप में अनुभव कर सकते हैं। यह ध्वनि और भी स्पष्ट हो कर ध्वनि-अर्थ की जोड़ी में बदल जाती है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का अपना अन्तनिर्मित नाम होता है।
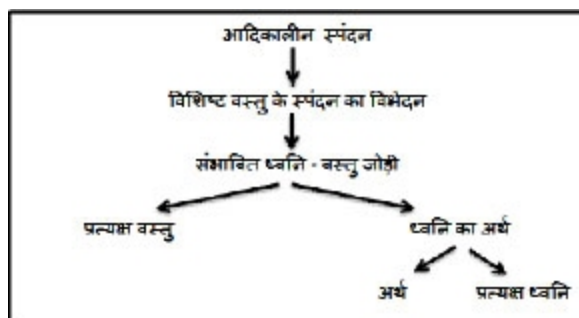
भारतीय व्याकरण के विद्वान ब्रह्माण्ड विज्ञानी भी हैं जो भाषा विज्ञान के नियमों को ब्रह्माण्ड के स्वरूप (ऋतम्) के साथ मिलता-जुलता देखते हैं। 'व्याकरण' शब्द, भाषा की अस्पष्ट स्थिति से ले कर उसकी पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति तक, व्याकरण और बोलचाल के विकास को सन्दर्भित करता है। ब्रह्माण्ड के कम्पनों के उत्पन्न होने की विभिन्न अवस्थाएँ, जैसे मूल एकीकृत स्थिति से ले कर सूक्ष्म और फिर स्थूल अभिव्यक्ति तक अस्मिता के आन्तरिक विकास के समकक्ष हैं। इस प्रकार भारतीय भाषा विज्ञान, मनोविज्ञान तथा ब्रह्माण्ड विज्ञान अपने-अपने विषयों के माध्यम से एक ही सत्य की व्याख्या करते हैं।

रिचर्ड लेनॉय कई पीढ़ियों तक खोज करने की इस वैज्ञानिक विधि को दी गई प्राथमिकता को बताते हैं—''ब्राह्मणों ने हर आने वाली पीढ़ी के मस्तिष्क पर यह

प्रभाव डाला कि उन्हें मानव चेतना पर पड़ने वाली ध्वनि के प्रभावों का अध्ययन संज्ञानात्मक केन्द्रों का रुख अदृश्य के आन्तरिक श्रवण-स्थल की ओर करके करना है।'' इन प्राचीन शरीर-वैज्ञानिकों ने शरीर की संवेदनशीलता को नैतिक महत्व दिया।[7]

योग की वैदिक समझ का निर्धारण मस्तिष्क और विषय-वस्तु की एकजुटता में निहित है। शब्दों के साथ संगीत के सम्मिश्रण को लेनॉय ने प्राचीन भारत के महान दार्शनिक चिन्तन में से एक कह कर सम्बोधित किया है।[8]

मन्त्र

जहाँ निस्तब्धता व्याप्त है, मन्त्र अस्तित्व के ऐसे सूक्ष्मतम स्तर से उत्पन्न होता है। कम्पनों के ठोस एवं वस्तु रूप में अभिव्यक्त होने की खोज के पश्चात ऋषियों ने मूल स्रोत तक वापस लौटने की पद्धतियों का भी पता लगाया। मन्त्रों के उपयोग द्वारा विभिन्न प्रकार की ध्यान-योग प्रणालियों का विकास, परीक्षण तथा प्रसारण किया गया ताकि इनका साधक चेतना की मूल एकीकृत अवस्था तक पहुँच सके। अत: आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए संस्कृत एक उत्तम माध्यम है। यहाँ यह ध्यान देना महत्वपूर्ण है कि मन्त्रों की खोज लगभग उसी प्रकार की गई जिस प्रकार से आइंस्टाइन ने $e=mc^2$ की खोज की थी। खोजे जाने से पहले भी वास्तविकता अस्तित्व में थी। यही बात मन्त्रों के लिए भी सत्य है जिन्हें 'अपौरुषेय' (अर्थात अव्यक्तिगत = अज्ञात द्वारा खोज) कहा जाता है।

प्रत्येक मन्त्र उसके वास्तविक खोजकर्ता, परीक्षक और प्रमाणक ऋषि या सन्त के साथ जुड़ा हुआ है। प्राचीनतम मौखिक प्रमाण विशिष्ट ऋषियों को स्पष्ट रूप से मन्त्रों के द्रष्टा के रूप में नामित करते हैं। श्री अरविन्द इन मन्त्रों की खोज की प्रक्रिया के बारे में बताते हैं—

> ''किसी मन्त्र की खोज के लिए ऋषि किसी गुलाब के रंग से प्रारम्भ कर सकते हैं अथवा किसी के चरित्र की सुन्दरता या शक्ति से अथवा किसी कार्य की भव्यता से या फिर इन सब से हट कर अपनी स्वयं की ही रहस्यमयी आत्मा में प्रवेश कर उसकी अति गूढ़ गतिविधियों के माध्यम से। एक बात आवश्यक है कि उसे उस शब्द अथवा छवि में सीमित हो कर नहीं बल्कि उनसे परे उस प्रकाश में जाना है, जिसके द्वारा उस मन्त्र का स्वरूप देखना सम्भव होगा तथा उस प्रकाश की बाढ़ में उन सीमाओं को तब तक डुबोए रखना है, जब तक वे उसके मन्तव्य में बह न जायें या अपने को मन्त्र के प्रत्यक्ष दर्शन में खो न दें। उच्चतम स्तर पर वह स्वयं के लिए अदृश्य हो जाते हैं, ऋषि का व्यक्तित्व उस दिव्य आभास के शाश्वत प्रवाह में खो जाता है और सभी का भावार्थ वहाँ अपने रहस्यों की सम्प्रभुता की एक बात करते प्रतीत होते हैं।''[9]

इस प्रकार संस्कृत मूल स्रोत की ओर वापस लौटने का अनुभवात्मक मार्ग प्रदान करती है। मानव ध्वनियों से आरम्भ कर उत्पत्ति के स्रोत तक जाने में संस्कृत को हम अभिव्यक्ति से पहले की दिशा में उल्टे प्रक्षेपण के उपकरण के रूप में उपयोग कर सकते हैं। मान लीजिए कि हम एक मौलिक कम्पन 'क' को खोजते हैं जिसकी मूल ध्वनि 'ख' है जो 'ग' जैसी सूक्ष्म ध्वनि बन जाती है जो आगे चल कर स्थूल ध्वनि 'घ' में बदल जाती है। तब संस्कृत के माध्यम से इस मार्ग पर वापस लौट सकते हैं, जैसे हम 'घ' (श्रव्य ध्वनि) से शुरू करते हुए अपनी चेतना को 'ग' (सूक्ष्म ध्वनि) से ले जाते हुए 'ख' (मूल ध्वनि) और अन्त में 'क' (मौलिक कम्पन) तक पहुँच सकते हैं। यह पद्धति विभिन्न प्रकार के अनुष्ठानों, तन्त्र विद्या एवं ध्यान विधियों की कई प्रणालियों का मूल सिद्धान्त है।

उदाहरण के लिए महर्षि महेश योगी द्वारा सिखाए जाने वाले भावातीत ध्यान (Transcendental Meditation) में 'बीज-मन्त्र' की ध्वनि सर्वप्रथम मौन अवस्था में उच्चरित हो कर धीरे-धीरे अन्य सभी विचारों का स्थान ले लेती है। केवल मन्त्र ही बचा रह जाता है। धीरे-धीरे यह मन्त्र भी धीमा और मद्धिम पड़ कर अन्त में लगभग फुसफुसाहट के स्तर तक पहुँच जाता है। फिर यह भी अपनी उपस्थिति का सूक्ष्म संकेत छोड़ते हुए लुप्त हो जाता है। इस गहन निस्तब्धता की अति-सचेत स्व-चेतना में उच्चतम ध्यान के अद्भुत अनुभव होते हैं। मौन जप द्वारा व्यक्ति वापस मौलिक स्रोत पर लौट आता है। वैज्ञानिक अनुसन्धान इस दावे का समर्थन करते हैं कि बिना उनका अर्थ जाने हुए भी वैदिक संस्कृत शास्त्रों को पढ़ने एवं उच्चारण करने से एक विशिष्ट शारीरिक अनुभूति एवं मन:स्थिति उत्पन्न होती है।[10]

इसलिए संस्कृत के मन्त्र कोई मनमाने ढंग से बनाये हुए श्लोक नहीं हैं और न ही उन्हें केवल वैचारिक सन्दर्भों में समझना है। इन मन्त्रों की गहन सच्चाई उनके कम्पनों की प्रकृति में है और ये कम्पन हमें चेतना के उन स्तरों तक ले जा सकते हैं जो भाषा से परे हैं। संस्कृत मन्त्रों को बचपन में ही कण्ठस्थ करवाने (भले ही बच्चे को उसका अर्थ समझ में न आता हो) का एक कारण यह है कि उनके पूरे प्रभाव और लाभ के अनुभव समय के साथ-साथ ही होते हैं। श्री अरविन्द जिसे 'संस्करण' (involution) कहते हैं वही व्यक्ति के भावी विकास का आध्यात्मिक आधार है। मन्त्र को व्यक्ति के भीतर बोया जाता है जो एक बीज के एक पेड़ के रूप में विकसित होने की भाँति फलता है। इनको दोहराने से ये व्यक्ति के शरीर के प्रत्येक भाग में कम्पन पैदा कर उसके अन्दर उसी मूल वास्तविकता का पुनर्निर्माण करते हैं जहाँ से इनकी उत्पत्ति हुई है (संस्करण की इस महत्वपूर्ण अवधारणा को परिशिष्ट ''क'' में समझाया गया है)।

श्री अरविन्द बताते हैं कि—''मन्त्र एक ऐसा शब्द है जिसमें देवतत्व की शक्ति है तथा यह देवत्व को मानव चेतना एवं उसकी कार्यपद्धति में स्थापित कर सकता है, अनन्त के रोमाँच और किसी परम शक्ति को जागृत कर सकता है व परम सत्य के गान के चमत्कार को स्थायी बना सकता है।''[11]

कविताओं के लेखन एवं पाठ से कल्पना की एक संक्षिप्त उड़ान जैसी एक आह्लाद भरी खुशी मिलती है। ऐसा ही परन्तु और भी गहन अनुभव सम्भव है जब मन्त्रों के गान हमारी अन्तरात्मा तक पहुँचाने के माध्यम हमारे कान बन जाते हैं। मन्त्रों का चिन्तन ध्वनि ऊर्जा-स्रोत के रूप में किया जा सकता है। एक शब्द मात्र के उच्चारण से एक वास्तविक भौतिक कम्पन पैदा होता है और उस कम्पन के प्रभाव की खोज उस शब्द से जुड़े अर्थ तक ले जाती है। इसके अतिरिक्त भौतिक कम्पन और वक्ता के अभिप्राय मिल कर अन्तिम परिणाम को प्रभावित करते हैं। ध्वनि एक वाहक है और अभिप्राय इसे अतिरिक्त शक्ति दे कर एक प्रभाव पैदा करता है।[12]

मन्त्रों का उपयोग एक आध्यात्मिक संस्कार और एक विशेष प्रकार की चेतना की स्थिति लाने के लिए किया जाता है। ये ऐसी ध्वनि आवृत्तियाँ हैं जो एकदम सटीक अनुक्रम में इस प्रकार स्थापित की जाती हैं ताकि कम्पन की निहित शक्ति को जगा सकें। समय के साथ मन्त्रों के जाप का अभ्यास छोटे कम्पनों को निष्प्रभावित कर उन्हें अवशोषित कर लेता है। एक अवधि के बाद (जो कि साधक के अभ्यास पर निर्भर है) साधक उस स्तर तक पहुँच जाता है जहाँ और दूसरे कम्पन शान्त हो जाते हैं और अन्ततः वह अपने मन्त्र में निहित ऊर्जा एवं आध्यात्मिक गुणवत्ता के साथ पूरी तरह से सामंजस्य स्थापित कर लेता है। मन्त्रोच्चार करने वाले साधक का सूक्ष्म रूपों में परिवर्तन हो जाता है। मन्त्र के लाभकारी प्रभाव न केवल साधक के हिस्से में आते हैं बल्कि समूची मानवता और ब्रह्माण्ड के लिए भी स्वयमेव अर्जित हो जाते हैं।

मन्त्र जीव-भाव की ऊर्जा अथवा प्राण को क्रियाशील करते हैं। कुछ आध्यात्मिक चिकित्सक प्राण-ऊर्जा को किसी रोगी में हस्तान्तरित करते हैं। यहाँ तक कि प्राण-ऊर्जा को विशेष अंगों पर भी केन्द्रित करते हुए स्वयं-चिकित्सा की जा सकती है जो बीमारी को दूर करने में सहायक हो सकती है। मन्त्र इस स्वास्थ्य प्रक्रिया का एक हिस्सा हो सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी बीमार अंग को आन्तरिक प्रकाश में नहाए हुए की कल्पना करते हुए मन्त्र का जाप करता है तो मन्त्र वहाँ केन्द्रित हो कर लाभकारी प्रभाव छोड़ता है। इसीलिए नवजात बच्चे को ध्यानपूर्वक एक उपयुक्त नाम दिया जाता है ताकि वह कम्पन के रूप में नाम का समावेश अपने अन्दर कर ले, जो समय के साथ नाम को दोहराने से सूक्ष्म रूपों में आन्तरिक परिवर्तन पैदा करे।

संस्कृत की खोज

योग के अनुभवों को संस्कृत के अतिरिक्त किसी और भाषा में सही प्रकार से प्रस्तुत करना कठिन है, क्योंकि जैसा श्री अरविन्द ने उल्लेख किया है कि केवल संस्कृत में ही वे अनुभव क्रमबद्ध किये गये हैं।[13] इस प्रकार संस्कृत 'योग की भाषा' है। संस्कृत दर्शन में कहा गया है कि संस्कृत की वर्णमाला में जो 'एकाक्षरी ध्वनियाँ' हैं वे इस सृष्टि की उत्पत्ति का मूलाधार हैं। वास्तव में संस्कृत की ध्वनिमाला भी स्वयं

प्रकृति की वास्तविकता को प्रकट करती है। इस ध्वनिमाला की मूल ध्वनि इसकी अभिव्यक्ति को दर्शाती है।

अन्य भाषाओं में 'हिब्रू' (Hebrew) भी इसी तरह का दावा करती है। हिब्रू भाषा को पश्चिम में एक 'पवित्र लिपि' के रूप में मान्यता दी जाती है और इसके अक्षरों के आकार एवं ध्वनि को ले कर कई रहस्यमयी परम्पराएँ जुड़ी हुई हैं जिनमें यह प्रबल भावना है कि इसके जो अक्षर ईश्वर के नाम में हैं, जिसे लोकप्रिय रूप में 'यहोवा' या याह्वेह कहा जाता है, इतने पवित्र तथा आध्यात्मिक ऊर्जा से भरे हुए हैं कि इन्हें किसी धर्मनिरपेक्ष सन्दर्भ में उल्लिखित अथवा उच्चारित नहीं किया जाना चाहिए। हालाँकि यहूदी परम्परा में ध्वनि के स्रोत अलग प्रकार से स्थित हैं और लिखित लिपि के आकार एवं स्वरूप पर अधिक ध्यान दिया जाता है, जबकि संस्कृत का लिखित रूप बहुत बाद में आया। दरअसल यह स्पष्ट रूप से एक मौखिक परम्परा है। यहूदी मत की रहस्यमयी (और मुख्यधारा से दूर) प्रथा 'कबला' (Kabbalah) में ही मुख्य रूप से इस भाषा और इसकी ध्वनियों की बारीकियों को समझा और जाना जाता है। इस्लाम भी अरबी भाषा में रचित कुरान के कम्पनों को विशेष बताता है (इसी कारण से कुरान को याद करना और पाठ करना अपने आप में उनके मजहब की साधना प्रणाली का महत्वपूर्ण हिस्सा माना जाता है)। परन्तु यहूदी और इस्लामी परम्पराओं में क्रमश: हिब्रू और अरबी भाषा को आमतौर पर एक बाहरी ईश्वर द्वारा रचित माना जाता है जबकि संस्कृत में ये ध्वनि कम्पन अपने आप में ही 'परम् सत्य' हैं, जिन्हें 'नाद-ब्रह्म' कहा गया है और जहाँ से सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

यह महत्वपूर्ण है कि जिस मौलिक ध्वनि/बीज मन्त्र की चर्चा हम कर रहे हैं उसे हम 'अन्य भाषाओं के शब्द' के अर्थ से अलग देखें। 'शब्द' को आमतौर पर गलती से अंग्रेज़ी के 'वर्ड' (word) के रूप में अनुवादित किया जाता है जबकि यह संस्कृत की सबसे छोटी ध्वनि इकाई (ध्वनिग्राम) है। ऐसे कई ध्वनिग्राम संयुक्त अनुक्रम में मिल कर एक 'शब्द' बनाते हैं। संस्कृत में अलग-अलग अक्षरों अथवा ध्वनिग्राम का अर्थ जानने के लिए एक शब्दकोश है जिसे 'एकाक्षरकोश' कहा जाता है।

'शब्द' कई वर्णमाला ध्वनियों का सम्मिश्रण है। अंग्रेज़ी के मामले में देखा जाये तो शब्दकोश 'शब्दों' का अर्थ प्रदान करता है, परन्तु प्राथमिक ध्वनिग्राम या अक्षरों का कोई अर्थ नहीं दिया गया है। वे मानव परम्परा द्वारा विकसित हुए हैं। तथापि संस्कृत में प्रत्येक ध्वनिग्राम के मूल स्वर का समृद्ध अर्थ है तथा साथ में प्रत्येक का चेतना पर विशेष प्रभाव है। इसलिए 'शब्द' (पवित्र ध्वनि) की शक्ति मुक्ति प्रदान करने जैसी है, क्योंकि यह हमें परम चेतना की प्रकृति की अन्तर्दृष्टि से अवगत कराती है।

बाइबल में अभिव्यक्त पंक्ति, 'सृष्टि के आरम्भ में शब्द था,' संस्कृत आधारित दर्शनशास्त्र के अनुसार सृष्टि के निर्माण का सटीक वर्णन नहीं है। यह कहना अधिक सही होगा कि ''सृष्टि के आरम्भ में एक मौलिक ध्वनि थी जो विविध मूल ध्वनियों के रूप में पहचानी गई और आगे अभिव्यक्त हो कर मिश्रित ध्वनियों के अनुक्रम के

फलस्वरूप शब्दों के रूप में प्रकट हुई।'' कहने का तात्पर्य यह है कि 'शब्द' के प्रकट होने से पहले बहुत कुछ घटित हुआ और शब्द के आकार लेने से पहले की यह कम्पन प्रक्रिया मन्त्रों के ध्यान एवं जाप करने वाले को वापस उस शब्द के मूल में ले जा सकती है। केवल संस्कृत में ही हम पाते हैं कि प्रत्येक शब्द को उसकी मूल ध्वनि में विश्लेषित किया जा सकता है जो उसके मूल और अर्थ को समाविष्ट करता है और जहाँ से वह उत्पन्न हुआ जाना जा सकता है।[14] संस्कृत के बारे में श्री अरविन्द लिखते हैं—

> इसके प्रत्येक स्वर एवं व्यंजन का एक विशिष्ट एवं अपरिहार्य बल है जो वस्तुओं की प्रकृति पर आधारित है, न कि विकास या मानवी चयन परय ये मूलभूत ध्वनियाँ हैं जो तान्त्रिक बीज-मन्त्रों की जड़ों में स्थित हैं और मन्त्रों की प्रभावकारी शक्ति का स्वयं गठन करती हैं। मूल भाषा के प्रत्येक स्वर-व्यंजन का एक प्रारम्भिक अर्थ था जो किसी आवश्यक शक्ति से उत्पन्न हुआ तथा ये ही अन्य कई व्युत्पन्न अर्थों का भी आधार बने।''[15]

संस्कृत एवं बहुलतावाद

क्योंकि संस्कृत की प्रत्येक बीज ध्वनि का अपना एक अलग अर्थ है, इसलिए इनसे उत्पन्न होने वाले सभी शब्दों में इनकी विशिष्ट पहचान दिखती है। सैद्धान्तिक रूप से शब्दों का अर्थ, अक्षरों, शब्दांशों एवं धातुओं के बीजगणितीय संयोजन के अनुसार व्यक्त किया जा सकता है। मूल ध्वनियों एवं शब्दार्थ विद्या की यही पारदर्शिता एक स्वाभाविक प्रवाह का अनुगमन करती है जो संस्कृत को स्वयं के इतिहास की खोज करने की क्षमता भी देती है। परिणामस्वरूप, संस्कृत एक सतत् रचनात्मक भाषा है जिसमें प्रत्येक शब्द विचारों का सृष्टा और रचनाकार है। 'अक्षर' का शाब्दिक अर्थ 'अविनाशी' अथवा 'अनन्त' है। 'अक्षर' एक शाश्वत् ध्वनि है जो कभी नष्ट नहीं होती, अपितु भाषा के पूर्ण रहस्य को व्यक्त करती है। अक्षर को 'वर्ण' भी कहा जाता है जिसका अर्थ है 'रंग।' इस प्रकार प्रत्येक अक्षर को एक ध्वनि के रूप में सुना जाता है और अभिव्यक्त होने पर उसका एक स्पष्ट रंग है। ऐसा कहा जाता है कि ऋषियों ने न केवल वेदों को सुना बल्कि उन्हें देखा भी। 'वर्णमाला' के वास्तविक अर्थ 'रंगों की माला' या वे गुण अथवा रंग हैं जिनसे चित्रकार वास्तविकता को चित्रित करता है।

एक ही मूल ध्वनि के विविध अनुभव

उन्हें एक दूसरे से बाँधने या जोड़ने के अनुसार मूल ध्वनियाँ विभिन्न शब्दों को जन्म देती हैं जिनके अपने विशिष्ट अर्थ, उन अर्थों के अपने आग्रह और विशेष प्रकार की बारीकियाँ हो सकती हैं। क्योंकि प्रत्येक शब्द की खोज एक समावेशी यौगिक

अनुभव का परिणाम होती है, इसलिए प्राय: मूल ध्वनि या शब्द कई अर्थों को लिए भी हो सकता है, यहाँ तक कि विपरीत अर्थों को लिए भी।[16]

इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं।[17] मूल ध्वनि ''दिह्'' का अर्थ है एकत्रित करना, ढेर लगाना इत्यादि। इसे हम ''दिह्'' शब्द का अर्थ क्रमांक 1 मान लेते हैं। एकत्रित या संकलित करने का अनुभव हमें विकास, वृद्धि, समृद्धि इत्यादि के अनुभव की ओर ले जाता है। इसलिए मूल ध्वनि ''दिह्'' का अर्थ विकास, वृद्धि या समृद्धि भी होता है (अर्थ क्रमांक 2)। जब चीज़ें बढ़ती हैं तो प्राय: वे किसी दूसरी वस्तु को ढँक लेती हैं, इसलिए ''दिह्'' का एक अन्य महत्वपूर्ण अर्थ है 'आवरण' (अर्थ क्रमांक 3)। इसे और आगे बढ़ाएँ तो इस आवरण की व्याख्या हम छिपाने, ढँकने, चिपकाने अथवा धब्बे लगाने के रूप में भी कर सकते हैं (अर्थ क्रमांक 4)। इसके अतिरिक्त मूल शब्द के साथ हम उपसर्गों और प्रत्ययों को जोड़ कर कई नये अर्थों का गठन कर सकते हैं। उदाहरण के लिए संस्कृत भाषा में शरीर को 'देह' कहा जाता है जोकि मूल स्वर ''दिह्'' से उत्पन्न हुआ है। ऐसा क्यों है? क्योंकि देह एक आवरण है जो आत्मा को ढँके रहता है (अर्थ क्रमांक 5)। हम 'देह' शब्द के आगे इसमें एक उपसर्ग 'सं' को भी जोड़ सकते हैं।) 'सं' उपसर्ग पूर्णता, समग्रता एवं प्रवीणता के अनुभव को सन्दर्भित करता है (जहाँ से अंग्रेजी शब्द 'SUM' आया है)। इस प्रकार, शब्द 'सं-देह' (सं + देह) का अर्थ है पूर्ण रूप से ढँकना या सन्देह करना (अर्थ क्रमांक 6)। अर्थात् सन्देह की स्थिति में मानव चेतना पूरी तरह छुप जाती है, वास्तविकता आवृत हो जाती है, सत्य छुप जाता है, कोई स्पष्ट दृष्टि नहीं रहती तथा चहुँओर अँधेरा और उलझन होती है। ये सारे अर्थ मूल ध्वनि 'दिह्' के हैं।

नीचे दिया रेखाचित्र दर्शाता है कि—1) एक मूल ध्वनि के विभिन्न स्तरों पर कई अर्थ होते हैं जो अलग परन्तु सम्बन्धित अनुभवों के अनुरूप होते हैं। जब हम बारीकी से इसका विश्लेषण करते हैं तो पाते हैं कि ये सभी अर्थ आपस में एक-दूसरे पर आश्रित हैं, एक-दूसरे से अलग नहीं। वे एक ही मूल ध्वनि में विविध स्तरों के अनुभवों का एक समग्र और सम्पूर्ण अनुभव रचते हैं। 2) इन विविध अर्थों में से व्याकरण के नियमों के अनुसार प्रत्येक के साथ दूसरे शब्दांश जोड़ कर नये शब्दों को प्राप्त किया जा सकता है।
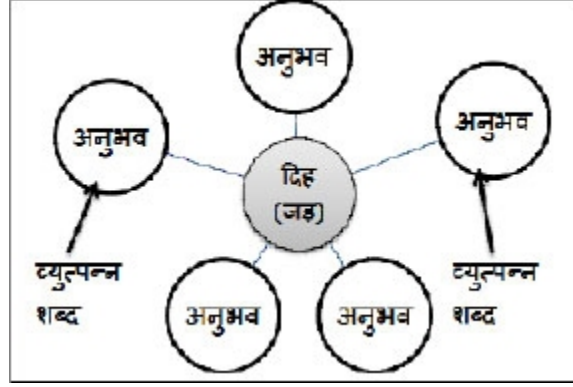
हालाँकि सभी भाषाएँ पूर्ववर्ती उपसर्ग एवं प्रत्ययों के संयोजन से नये शब्द गढ़ने में सक्षम हैं, परन्तु संस्कृत में यह क्षमता अत्यधिक ऊँचाई लिए हुए है जहाँ यह प्रक्रिया व्यवस्थित, पूर्वानुमेय एवं रचनात्मक है। जब मूल ध्वनि का उपयोग किसी शब्द की रचना में किया जाता है तो वह ध्वनि स्थापित सिद्धान्तों के अनुसार रूपान्तरित होती है। किसी विशेषज्ञ द्वारा निर्मित नये शब्द पर अपना ध्यान केन्द्रित करके सुनने वाला व्यक्ति उस शब्द के अभीष्ट अर्थ की व्याख्या कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि संस्कृत की वृहत शब्दावली खुली हुई एवं बेहद विस्तार करने योग्य है। संस्कृत को एक तरह से खुले वास्तुशिल्प की तरह देखा जा सकता है।

नये शब्दों का निर्माण (जब किसी विचार की अभिव्यक्ति करनी हो) मूल ध्वनि के उपयोग तथा शब्द गठन के नियमों का पालन करते हुए किया जाता है। उदाहरण के लिए जब वैदिक ऋषियों को 'भेड़िया' शब्द के विचार को अभिव्यक्त करना था तब उन्होंने 'वृक्' शब्द बनाया, जिसका अर्थ मूल संरचना के अनुसार 'चीरने वाला' होता है। इसलिए 'वृक्' शब्द का एक अर्थ 'भेड़िया' तो है ही, परन्तु यह अर्थ इस शब्द के कई अन्य अर्थों में से एक है। जबकि दूसरी ओर अंग्रेज़ी में wolf शब्द का अर्थ सिर्फ़ एक जानवर को सन्दर्भित करता है, परन्तु कोई ऐसा सन्दर्भ या संरचना प्रस्तुत नहीं करता जो शब्दों के एक पूरी श्रृंखलाबद्ध परिवार को जन्म दे सके। अंग्रेज़ी भाषा में उनकी प्रथाओं के अतिरिक्त कोई मूलभूत कारण नहीं है जिसके द्वारा किसी विशेष जानवर (अथवा किसी और वस्तु को) को एक विशेष ध्वनि द्वारा सन्दर्भित किया जा सके।[18] भाषाविज्ञानियों ने पता लगाया है कि हालाँकि सभी भाषाएँ एक ही तरह से कार्य करती हैं, परन्तु फिर भी एक महत्वपूर्ण अन्तर है—संस्कृत भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में अधिकांशत: ध्वनि और वस्तु के बीच आरम्भिक सम्बन्ध का प्रस्तुतिकरण बड़े ही अनियन्त्रित ढंग से किया गया है। इसलिए शब्द ध्वनियों के अन्य अर्थों के साथ जटिल प्रक्रियाओं के द्वारा सम्बन्धित हो कर विकसित होते हैं। हम संस्कृत के अद्वितीय गुण के बारे में दावा कर सकते हैं कि इसमें प्रारम्भिक ध्वनिग्राम-रूप सम्बन्ध है, जिसे 'नाम-रूप' भी कहा गया है जो परम सत्य की धार्मिक तत्वमीमांसा में क्रमिक स्तरों के कम्पनों द्वारा भौतिक रूप से अभिव्यक्त होता है। यहाँ

महत्वपूर्ण निहितार्थ यह है कि जैसे सभी मौलिक ध्वनियाँ अभिन्न एकता में अपने मूल स्रोत से जुड़ी हुई हैं वैसे ही सभी अर्थ भी जुड़े हुए और एक-दूसरे पर निर्भर हैं, इसलिए वास्तविकता यह है कि अन्ततः इस ब्रह्माण्ड की सभी वस्तुएँ आपस में अविभाज्य रूप से जुड़ी हुई हैं। सभी कुछ आपस में गुँथा हुआ है, कुछ भी पृथक नहीं है।

'उपशब्द' (पर्यायवाची) निरर्थक नहीं हैं

संस्कृत भाषा के रचयिताओं के प्रचण्ड सृजनात्मक ज्वार के कारण इसमें यहाँ बहुत से शब्दों के बड़ी संख्या में पर्यायवाची हैं, कभी-कभी तो बीस से भी अधिक। एक पर्यायवाची शब्द किसी दूसरे का स्थान नहीं ले सकता। ऐसा न केवल पर्यायवाचियों में सूक्ष्मताओं के विशिष्ट बदलाव के कारण है बल्कि संस्कृत में विशिष्ट मूल-शब्द-ध्वनि के सम्मिश्रण के कारण भी। कई सम्भावित समानार्थी शब्दों में से जो वस्तु के गुण के विवरण को सबसे सटीक बताता हो उसे ही चुनना चाहिए। समानार्थी शब्दों की सूची के प्रत्येक शब्द के गहन विश्लेषण से पता चलता है कि विभिन्न समानार्थी शब्द एक ही वस्तु को विविध प्रकार से अनुभव करने के तरीके हैं, इसलिए प्रत्येक पर्यायवाची का एक विशिष्ट एवं निश्चित अर्थ है। अगले पृष्ठ पर जो रेखाचित्र एवं उदाहरण दिये गये हैं वे इस विचार को और भी स्पष्ट करते हैं—
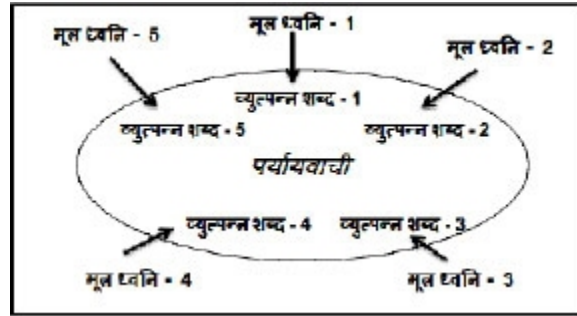
पिछले दोनों रेखाचित्र आपस में एक-दूसरे के पूरक हैं। पहले वाले रेखाचित्र में एकल मूल ध्वनि से विविध अनुभव प्राप्त होते हैं और प्रत्येक अनुभूति हमें उन विशिष्ट अनुभवों वाले शब्दों की ओर ले जाती है। जबकि दूसरे चित्र में एक ही शब्द के कई पर्यायवाची हैं जिनमें से प्रत्येक को विभिन्न मूल ध्वनियों से प्राप्त किया गया है और इसलिए प्रत्येक का सन्दर्भ और सूक्ष्म-भेद भी अलग-अलग है।

उदाहरण के लिए संस्कृत के शब्दकोष 'अमरकोष,' जो समानार्थी शब्दों को सूचीबद्ध करता है, में 'अग्नि' के लिए ही चौंतीस शब्द दिये गये हैं। ये हैं—अग्नि, वैश्वनरा, वह्नि, वितहोत्र, धनंजय, क्रिपित्योनि, ज्वालना, जातवेदा, तनुनापत, बर्हिस, सुषमा, कृष्णवर्तमा, शोचिकेशा, उषबुर्ध, आश्रयाशा, बृहदभानु, कृषाणु, पावक, अनल, रोहिताश्व, वायुसखा, शिखावन, आशुशुक्षणी, हिरण्यरेतस, हुतभुक, दहन, हव्यवधन, सप्तर्चि, श्रीमुन, शुक्र, चित्रभानु, विभावसु, शुचि एवं अप्पितम। फिर भी

इनमें से कोई भी निरर्थक नहीं है, क्योंकि प्रत्येक एक विशिष्ट गुण को ग्रहण करता है। उदाहरण के लिए 'वह्नि' शब्द, 'वाह' (ले जाना) के मूल से आया है, का अर्थ हुआ 'ले जाने वाला'—इसलिए यह शब्द देवताओं को भेंट किये जाने वाले प्रसाद को व्यक्त करने के लिए उपयोगी है; 'ज्वलना' शब्द की उत्पत्ति मूल शब्द 'ज्वाल' (जलाना) से हुई है और इसका अर्थ है 'जो जल रहा है'; 'पावक' शब्द की उत्पत्ति 'पु' (शुद्ध करना) मूल से हुई है और इसका अर्थ है 'जो शुद्ध करता है;' 'सुषमा' का मूल है 'सुष' (सुखाना) और इसका अर्थ है 'जो सुखाता है;' 'अनल' का अर्थ है 'अपर्याप्त,' यानी आग के सामने कुछ भी पर्याप्त नहीं है जो अग्नि की भक्षण प्रकृति को बतलाता है।[19] एक सक्षम लेखक को यह तय करना है कि 'आग' के इन समानार्थी शब्दों में से, दिये गये सन्दर्भ में, कौन-सा सर्वाधिक उपयुक्त है।

संस्कृत में व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को प्राय: निश्चित वर्णन की तरह देखते हैं। श्री विष्णु के एक हज़ार नाम (विष्णु सहस्त्रनाम) पुराणों में उल्लिखित उन से सम्बन्धित विभिन्न घटनाओं पर प्रकाश डालते हैं। रामकृष्ण मिशन केन्द्रों में श्री राम पर एक रचना का गायन किया जाता है जिसकी रचना वाराणसी में हुई थी तथा जिसमें उनका अनुक्रमिक निश्चित वर्णन उनके जीवन इतिहास को चित्रित करता है। इस प्रकार हम पाते हैं कि संस्कृत का प्रत्येक अक्षर एवं अक्षरों के अनुक्रम पर बना प्रत्येक शब्द अर्थों से भरा हुआ है तथा एक प्रासंगिक तन्त्र में एक गाँठ के रूप में कार्य करता है।

संस्कृत और सन्दर्भ

अपनी विशिष्ट संरचना के कारण संस्कृत शास्त्रों की व्याख्या किसी दिये गये सन्दर्भ में ही की जानी आवश्यक है। विषय-वस्तु को सन्दर्भ से अलग नहीं किया जा सकता या पूर्ण अर्थ नहीं लगाया जा सकता। ए.के. रामानुजन कहते हैं—

> ''19वीं सदी तक कोई भी भारतीय विषय बिना सन्दर्भ के नहीं होता था। इनका निर्माण 'फलश्रुति संहिता' पर आधारित होता है जो पढ़ने, मनन करने अथवा सुनने वाले व्यक्ति को यह बताता है कि पढ़ने, जाप करने अथवा सुनने पर उसे कौन-से अच्छे परिणाम मिलेंगे। वे कितने भी प्राचीन ग्रन्थ को वर्तमान पाठक की मन:स्थिति के अनुसार प्रासंगिक बना देते हैं। 'रामायण' और 'महाभारत' के प्रारम्भिक प्रसंग हमें यह बता देते हैं कि किसलिए और किन परिस्थितियों में इन ग्रन्थों की रचना हुई थी। ऐसी प्रत्येक कथा एक अन्य वृहद-कथा में लिपटी है। उस ग्रन्थ के भीतर एक कथा है जो दूसरी कथा के लिए एक सन्दर्भ बनती है; न केवल बाहरी ढाँचे की कथा आन्तरिक उपकथा को प्रेरित करती है बल्कि आन्तरिक कथा बाहरी को भी प्रकाशित करती है। यह प्राय: सम्पूर्ण ग्रन्थ के लिए एक सूक्ष्म प्रतिकृति के रूप में कार्य करता है।''[20]

शब्दों का सही उच्चारण भी उनके अर्थों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है तथा भारतीय परम्परागत मौखिक प्रसारण में इसे अत्यधिक महत्व दिया गया है।[21] स्वर के उतार-चढ़ाव और ज़ोर देने के परिवर्तन से समूचा अर्थ ही बदल सकता है।[22] लयबद्ध स्वर पाठ ने भी भाषा को एक सम्पन्न संगीतमय गुणवत्ता प्रदान की है, इसीलिए प्राचीन भारत की मौखिक परम्परा वाले ऋषि-मुनियों ने इन ग्रन्थों को सुरक्षित रखने के लिए न केवल अक्षरों-शब्दों को बल्कि निश्चित स्वरोच्चारण एवं लयबद्ध पाठ को भी महत्व दिया। इस विधि ने वेदों, उपनिषदों एवं अन्य शास्त्रों-ग्रन्थों को उनके मूल अर्थ और अभिप्राय के साथ सुरक्षित रखना सम्भव बनाया।

परिस्थिति, व्यक्ति, उच्च अनुभव और वक्ता का अभिप्राय भी सन्दर्भ को उपलब्ध करवाते हैं। एक श्लोक अथवा पंक्ति के कई अर्थ हो सकते हैं और कथाएँ एक-दूसरे में लिपटी हुई होती हैं। स्तम्भ कथा श्रोताओं के अनुसार अपनी पुनरावृत्ति-दर-पुनरावृत्ति में अलग होती है और इसलिए भिन्न-भिन्न सन्दर्भ तैयार किये जाते हैं। उदाहरण के लिए कुछ जैन कविताओं में सात अलग-अलग भिक्षुओं के जीवन का वर्णन किया गया है। यदि इन कविताओं का किसी ग़ैर-संस्कृत आधारित भाषा में शाब्दिक अनुवाद किया जाये तो वे निरर्थक और असंगत प्रतीत होगीं। प्रासंगिक रूप से निर्धारित अर्थ वाले किसी शब्द को जब उसके कई अर्थों में से केवल एक ही अर्थ तक सीमित कर दिया जाता है तो यह बीजगणित की चर राशि को एक विशिष्ट अचर राशि के गुण में निर्धारित करने जैसा है, जिस कारण चर राशि की उपयोगिता ही खत्म हो जाती है।

प्रत्येक शब्द केवल एक अर्थ में न हो कर समूचे वर्णक्रम का प्रतीक है। उदाहरण के लिए 'लिंगम्' शब्द को प्राय: गलत अर्थों में समझा जाता है, क्योंकि इसे केवल एक अर्थ/गुण में सिकोड़ कर उसी को लिंगम का सार मान लिया जाता है। इसका 'लिंग' के रूप में गलत अनुवाद करके इसका उपयोग पश्चिमी संवाद में निर्देशक की तरह किया गया है।[23] हालाँकि 'लिंगम्' शब्द के अर्थों में प्रतीक, चिह्न, स्थान, संकेत, बिल्ला, लक्षण और उभयलिंग भी हैं। ''वहाँ आग है क्योंकि वहाँ धुँआ है'' वाक्य में धुँआ लिंग का प्रतीक ही है। व्यापक रूप में यह एक संकेतक अर्थ में है जो स्वयं के अतिरिक्त किसी और चीज़ को इंगित करता है। अमरीकी ध्वज, स्वतन्त्रता की मूर्ति (Statue of Liberty) तथा अमरीका का राष्ट्रीय गान सभी अमरीका के लिए 'लिंग' हैं, फिर भी वे निरर्थक नहीं हैं क्योंकि वे अमरीका के विभिन्न पहलुओं को दर्शाते हैं। किसी कम्पनी का चिह्न उसका 'लिंगम्' है और उस कम्पनी के कई लिंग हो सकते हैं।

अर्थ भी समय के साथ बदल जाते हैं। इसलिए निश्चित, स्थिर एवं सन्दर्भ-रहित मूल्यों पर ज़ोर देना अर्थों को न्यूनकारी एवं विकृत करने जैसा है। संस्कृत व्याकरण दोनों प्रकार की चरम सीमाओं से बचती है—चाहे एक ओर परिशुद्धता-पूर्ण स्थिर ढाँचा हो अथवा दूसरी ओर अनियमित एवं मनमाने तरीके हों—संस्कृत एक प्रकार से

कम्प्यूटर की प्रोग्रामिंग भाषा के रूप में कार्य करती है जो स्थापित नियमों एवं व्याकरण के सहारे अनगिनत प्रकार की योजनाओं को जन्म देती है।

परिणामस्वरूप, विवरण की सभी व्याख्याओं को एक 'आधिकारिक' संस्करण में ढालने की कोई विवशता नहीं होती (जैसा कि एक विस्तारवादी परम्परा को अपनी परम्परा समान रूप से फैलाने के लिए आवश्यक है)। उदाहरण के लिए भारत में रामायण कई संस्करणों एवं रूपान्तरों में पाई जाती है। न ही भारतीय संस्कृति में विभिन्न गुरुओं की वंशावलियों या विभिन्न अवतारों के विवरणों अथवा अतीत की अन्य घटनाओं को एक ऐतिहासिक कालक्रम में संयोजित करने की आवश्यकता महसूस की गई है जिसे सभी को मानना पड़े। संस्कृत रचनाओं के लेखक एवं संकलक (व्यास) वैदिक संग्रहों को पुन:सन्दर्भित करते हुए प्रत्येक युग के लिए उन्हें नये सिरे से सम्पादित करते हैं।[24]

किसी शास्त्र को भारतीय शब्द में 'ग्रन्थ' कहा जाता है जो ताड़ के पत्तों को पुस्तक के रूप में बाँधने वाली गाँठों को सन्दर्भित करता है, जो इस बात का संकेत है कि विभिन्न भागों की भौतिक एकता समय विशेष के पाठक के परिवेश के सन्दर्भ से स्वतन्त्र किसी प्रकार का निर्णायक संस्करण गठित नहीं करती। यह उस पश्चिमी परम्परा से स्पष्ट रूप से भिन्न है जहाँ प्रत्येक पाठ्य विषय को 'धर्मवैधानिक संस्करण' में ढाल दिया जाता है, क्योंकि यही तब परिशुद्ध संस्करण माना जाता है। भारतीय शास्त्रों में विभिन्न सन्दर्भ-आधारित प्रतिरूप हैं तथा इस प्रकार रचित शास्त्रों का स्वरूप संस्कृति की अन्य परम्पराओं के अनुरूप तैयार किया जाता है। देखने में किसी देवता की कोई विशिष्ट 'सत्य' मानी जाने वाली स्थापित छवि नहीं पाई जाती। रामानुजन लिखते हैं—''अन्तत: अरस्तूवादी अर्थों वाली एकता नहीं बल्कि सामंजस्यतापूर्ण होना महत्व रखता है।''[25]

संज्ञानक—सन्दर्भ का हिस्सा

सन्दर्भ को उसके अनुभव करने वाले व्यक्ति से अलग नहीं किया जा सकता।[26] कर्ता और कर्म का यह अन्तर्सम्बन्ध बहुत व्यापक है। भारतीय काव्य परिदृश्यों को वनस्पतियों एवं जीवों और व्यक्तिपरक भावनाओं द्वारा विभिन्न सन्दर्भों में वर्गीकृत किया जाता है जिसे रामानुजन ने, ''ऐसा पारिस्थितिकीय तन्त्र जिसमें व्यक्ति की गतिविधियाँ और भावनाएँ उसका अंग हैं, की संज्ञा दी है।[27]

परिवेश से वक्ता की एकता संस्कृत की उस सहजता में प्रमाणित है जहाँ प्रक्रिया को कर्ता और कर्म के द्वि-विभाजन के हुए बिना व्यक्त किया जाता है। प्राचीन ऋषि जानते थे कि वक्ता कर्ता नहीं केवल साधन मात्र है। संस्कृत की संरचना इसी चिन्तन पर आधारित है और भाषा में इसकी जागरूकता होने से अकर्ता स्थिति की अनुभूति की जा सकती है। अधिकांश भाषाओं में कर्मवाच्य शब्द सकर्मक क्रियायों के उपयोग

से ही सम्भव हैं, लेकिन संस्कृत में कर्मवाच्य अभिव्यक्ति अपने आप में प्राकृतिक एवं मान्य पद्धति है और सकर्मक तथा अकर्मक दोनों प्रकार की क्रियाएँ कर्मवाच्य हो सकती है। 'अहं हसामि' (मैं हँसता हूँ) कहने की अपेक्षा 'मया हास्यते' (हँसने की क्रिया का प्रदर्शन किया जा रहा है) कहना संस्कृत में बिल्कुल भी अनुपयुक्त नहीं माना जाता। इस तरह कर्ता की अपेक्षा क्रियापद्धति एवं कार्य पर अधिक बल दिया गया है। इसके विपरीत अंग्रेज़ी भाषा में क्रिया में कर्ता द्वारा किये जा रहे कार्य पर बल देते हुए कर्तृवाच्य को वरीयता दी जाती है। दृष्टिकोणों की भिन्नता यह प्रदर्शित करती है कि एक मानसिकता (अंग्रेज़ी) कार्य पर एवं दूसरे पर नियन्त्रण स्थापित करना चाहती है, जबकि दूसरी मानसिकता (संस्कृत) उस कार्य के लिए किसी को श्रेय की अपेक्षा ही नहीं रखती।

व्यक्तिपरक तथा वस्तुनिष्ठ सन्दर्भ के बीच अन्तर्सम्बन्धों का एक उदाहरण 'वृह्दारन्यक उपनिषद' (5.2) प्रस्तुत करता है। प्रजापति द्वारा तीन भागों में की गई तीन शब्दों 'दा, दा, दा' की ध्वनि गर्जना तीन समूहों के लिए अलग-अलग अर्थ लिए हुए है—आनन्द के उपभोक्ता देवताओं ने इस पहले 'दा' शब्द को सुना जिसका अर्थ है 'दम्यता,' अर्थात् 'नियन्त्रण'। क्रूर प्रकृति वाले असुरों ने इसे सुना 'दयाध्वम्' अथवा 'दयालुता'। लालचीवृति वाले मनुष्यों को यह शब्द दूसरों को 'दान' देना सुनाई दिया। इस प्रकार जैसा बदलाव प्रजापति सुनने वालों में लाने की इच्छा रखते थे वैसे ही इस शब्द को अलग-अलग अर्थों में सुना गया।[28]

रहस्यवाद एवं बाहरी दुनिया

चेतना की उच्च अवस्थाओं में ऋषियों ने बाहरी विषय-वस्तुओं की प्रकृति के बारे में खोज की। इस खोज से उन्हें भौतिक संसार में व्यावहारिक वर्गीकरण प्रणाली विकसित करने में सहायता मिली। इसका एक उदाहरण प्राचीन भारत में पौधों के व्यापक वर्गीकरण में मिलता है। 1795 में प्रकाशित विलियम जोन्स के मूल्यांकन के अनुसार यह वर्गीकरण पश्चिमी वनस्पतिज्ञों द्वारा उपयोग किये जाने वाले लैटिन आधारित वर्गीकरण की तुलना में कहीं अधिक उन्नत था। जोन्स लिखते हैं, "मैं भारतीय पौधों को उनकी सार्थक भारतीय उपाधियाँ देने हेतु लालायित हूँ, क्योंकि मुझे पूरा विश्वास है कि यदि ख़ुद लिनेयस (Linnaeus) को इस प्राचीन और विद्वत्तापूर्ण भाषा का ज्ञान होता तो उन्होंने स्वयं इसी भारतीय वर्गीकरण को अपनाया होता...।"[29]

हिन्दू दर्शन शास्त्र के अनुसार सृष्टि के प्रत्येक तत्व में चेतना होती है, जो इसका केन्द्र या मूल कम्पन है। इसी सिद्धान्त के आधार पर प्राचीन भारतीय चिकित्सकों एवं वनस्पतिज्ञों ने पौधों का अध्ययन किया। उन्होंने अन्तर्ज्ञान की खोज के साथ-साथ 'परीक्षण' (मानसिक जाँच) का भी सहारा लिया ताकि उनके व्यवस्थित ज्ञान की पुनर्समीक्षा समकालीन विशेषज्ञों द्वारा हो सके।[30] प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध पौधों के हज़ारों नाम इसी अन्तर्दृष्टि की अभिव्यक्ति हैं। उनके सार-रूप की अनुभूति उनके

नामकरण से अलग नहीं हुई थी। आयुर्वेद में नामों से हमें न केवल किसी पौधे की भौतिक सरंचना के बारे में पता चलता है बल्कि उसके औषधीय गुणों के बारे में भी जानकारी मिलती है। प्राचीन भारतीय वैद्य अथवा चिकित्सा वैज्ञानिक प्रयोगशाला के प्रमाणों और निरीक्षण सुविधाओं के बिना ही (जिन पर आज का प्रयोगाश्रित विज्ञान निर्भर है) वनस्पतियों के सटीक गुणों तथा उनके बहुआयामी पहलुओं का पता लगा सकते थे।[31]

संस्कृत, आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता

1700 के अन्तिम वर्षों में, अर्थात् जोन्स के समय से ही, संस्कृत के विद्वानों ने पश्चिमी शिक्षा संस्थानों में भाषा विज्ञान के सृजन में अपना योगदान दिया है। औपनिवेशिक भारतविदों ने 'पाणिनी' व्याकरण के यूरोपीय अध्ययन को एक महत्वपूर्ण सफलता माना। यूरोप में संस्कृत के विद्वान आधुनिक भाषा विज्ञान को एक शैक्षिक अनुशासन के रूप में स्थापित करने वाले प्रारम्भिक विकासकर्ता थे।

पश्चिमी संरचनावाद के जनक माने जाने वाले फ़र्डिनेंड द सॉस्युर (Ferdinand de Saussure: 1857-1913) ने अपना शैक्षिक जीवन पेरिस में पाणिनी संस्कृत व्याकरण के अध्ययन और अध्यापन में बिताया। सॉस्युर की पीएच.डी. की उपाधि संस्कृत की संयुग्म क्रिया पद्धति पर आधारित थी, जिसने आगे चल कर प्रख्यात मानव-विज्ञानी क्लॉड लेवाई-स्ट्रॉस (Claude Levi Strauss: 1908-2009) को प्रभावित किया। लेवाई-स्ट्रॉस सॉस्युर के काम से प्रभावित होने वाले बहुत से पश्चिमी विचारकों में से एक थे। सॉस्युर की मृत्यु के पश्चात उनके शिष्यों ने उनकी व्याख्यान टिप्पाणियों को मरणोपरान्त प्रकाशित किया, लेकिन उनमें से संस्कृत, पाणिनी और भारतीय शास्त्रों के सभी सन्दर्भों को बड़ी सफ़ाई से हटा कर उनके स्थान पर आधुनिक यूरोपीय भाषाओं से सम्बन्धित सामान्य एवं सार्वभौमिक सिद्धान्तों को लागू कर दिया! इसमें निहित संस्कृत दार्शनिक सिद्धान्त संरचनावाद (structuralism) के नाम से जाना गया जिसने यूरोपीय कला, समाजशास्त्र, इतिहास, दर्शनशास्त्र एवं मनोविज्ञान में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया। संरचनावाद का विचार ही उत्तर-संरचनावाद का, जो उत्तर-आधुनिकता का सूक्ष्म दर्शन है, अग्रदूत था।[32]

बीसवीं सदी तक पश्चिम के प्रमुख विश्वविद्यालयों में भाषा विज्ञान में पीएच.डी. करने वाले विद्यार्थियों के लिए पाठ्यक्रम में संस्कृत का होना आवश्यक माना जाता था। एक लम्बी अवधि तक शिक्षा संस्थानों में संस्कृत का तीव्रता से अध्ययन करने (और पश्चिम द्वारा की गई इसकी खोज के दो शताब्दियों बाद) के बाद ही भाषा विज्ञान को पर्याप्त तरीके से यूरोपीय स्वरूप दे कर इसे संस्कृत से अलग किया जा सका।

अमरीकी कवि टी.एस. इलियट (T.S. Eliot: 1888-1965) उन कुछ पश्चिमी विचारकों में से एक थे जिन्होंने संस्कृत की शक्ति और भारतीय धार्मिक परम्परा के

साथ इसके सम्बन्धों को समझा। उन्होंने हारवर्ड (Harvard) में संस्कृत का अध्ययन किया, जहाँ पर यह दर्शनशास्त्र के पाठ्यक्रम का एक अनिवार्य भाग थी। परन्तु अन्ततः अपने सांस्कृतिक पालन-पोषण एवं मानसिकता के परिणामस्वरूप वे हिन्दू या बौद्ध धर्म को अपनाने से परहेज करते रहे। फिर भी ईलियट ने संस्कृत के बारे में अपनी अन्तर्दृष्टि एक प्रमुख कविता 'द वेस्ट लैण्ड' (The Waste Land) में व्यक्त की है, जिसमें न केवल उन्होंने 'दा' ध्वनिग्राम (जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है) के विविध अर्थों का अन्वेषण किया बल्कि अपनी कविता का अन्त शान्तिः शान्तिः शान्तिः के मन्त्र द्वारा भी किया। उन्हें पता था कि संस्कृत शब्दों का अंग्रेज़ी में उपयुक्त अनुवाद नहीं किया जा सकता, इसलिए उन्होंने इस मन्त्र का अनुवाद करने का प्रयास नहीं किया। अपनी पुस्तक "टी.एस. इलियट एण्ड इंडिक ट्रेडिशंस" (T.S. Eliot and Indic Traditions) में क्लियो केन्न्स (Cleo Kearns) स्पष्ट करती हैं कि कवि के भारतीय उपनिषदों एवं वैदिक शास्त्रों के अध्ययन से ही उन्हें संस्कृत भाषा के केन्द्र में स्थित श्वास, ध्वनि एवं निस्तब्धता के बारे में आभास हो सका। ईलियट समझ चुके थे कि किसी मन्त्र का प्रभाव केवल उसके अर्थ पर ही निर्भर नहीं करता, बल्कि उस मन्त्र के सटीक उच्चारण एवं उससे जुड़ी हुई श्वास लेने-छोड़ने की तकनीक पर भी। हालाँकि ईलियट ने यह नाम नहीं लिया, परन्तु वे 'मन्त्र शक्ति' का ही उल्लेख कर रहे प्रतीत होते हैं जब उन्होंने लिखा कि 'संस्कृत भाषा शब्दांशों एवं लय-ताल में काम करती है जो प्रत्येक शब्द को स्फूर्ति देते हुए चेतना स्तर के विचारों और भावनाओं के बहुत अन्दर तक जाती है; वे प्राचीनतम और विस्मृत हो रही भाषा के मूल में जा कर आरम्भ और अन्त को खोजते हुए कुछ ले कर आते हैं। यह भाषा अर्थ से जुड़ी हुई अवश्य है पर सामान्य समझ में यह अर्थों से परे ही है'।[33]

संस्कृति ही भारतीय धार्मिक सभ्यता

भारतीय धार्मिक सभ्यता को जोड़ने वाला मूल आधार संस्कृत है जिसने इसे गहराई से निर्मित किया है। व्युत्पत्तिशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार संस्कृत का अर्थ है 'विस्तृत,' 'परिष्कृत,' 'शालीन' और 'सभ्य' जो अभिव्यक्ति की पूर्णता की ओर संकेत कराता है। परिष्कृत और शिक्षित लोगों द्वारा संचार-व्यवस्था का चयनित साधन बनने से संस्कृत ने एक विशिष्ट सांस्कृतिक प्रणाली और संसार का अनुभव लेने के तरीकों को प्रभावित किया। 'संस्कृति' शब्द ऐसी ही सभ्यता और चलन के लिए उपयोग किया गया है (इस शब्द को 'सनातन धर्म' की व्याख्या हेतु भी उपयोग किया जा सकता है) जिसने आधुनिक भारत की सीमाओं को पार कर दक्षिण एशिया, दक्षिण-पूर्व और पूर्वी-एशिया के अधिकांश भागों को प्रभावित किया। विभिन्न क्षेत्रों के पारस्परिक सम्बन्धों के कारण इस अखिल-एशियाई संस्कृति में विकास और परिवर्तन हुए।

हालाँकि आमतौर पर एशिया में संस्कृत अब बोली नहीं जाती, परन्तु फिर भी यह दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशियाई सभ्यताओं का एक ठोस आधार बनी हुई है। इस प्रकार जो लोग इस भाषा को नहीं भी बोलते हैं वे भी इसकी संरचनाओं एवं सिद्धान्तों को अपनी 'संस्कृति' में अनुभव कर सकते हैं। संस्कृति, मानव विज्ञान, कला, वास्तुकला, लोकप्रिय गीतों, शास्त्रीय संगीत, नृत्य, नाटक, मूर्तिकला, चित्रकला, साहित्य, तीर्थयात्रा, धार्मिक अनुष्ठानों एवं धार्मिक आख्यानों की शिक्षा और उनका भण्डार है जिसमें अखिल-भारतीय सांस्कृतिक लक्षण दिखते हैं। यह प्राकृतिक विज्ञान एवं तकनीक की सभी शाखाओं जैसे चिकित्सा, वनस्पतिशास्त्र, गणित, अभियान्त्रिकी, वास्तुकला, आहार विज्ञान इत्यादि को समाविष्ट करती है। पाणिनी की व्याकरण इसकी विलक्षण उपलब्धियों में से एक है। यह स्पष्टता, लचीलेपन और प्रखरता की एक ऐसी मूल भाषा है जो आधुनिक संगणक विज्ञान के कई प्रवर्तकों के लिए सुझावों का स्रोत बनी हुई है।

संस्कृत को भारत के कुछ मुस्लिम शासकों ने भी अपना संरक्षण प्रदान किया जिन्होंने अपने पुरालेख पत्र (विशेषकर बंगाल और गुजरात में) इस भाषा में लिखवाये थे। यह संस्कृत का वैज्ञानिक और धर्मनिरपेक्ष पहलू ही था जिसने अरब देशों में भारतीय विद्वानों को वैज्ञानिक चर्चाओं और अपनी पुस्तकों का अरबी भाषा में अनुवाद करने के किये बगदाद में सादर निमन्त्रित किया।

संस्कृत महान एवं लघु दोनों परम्पराओं को एकजुट करती है

महान भारतीय कवि कालिदास (सन् 600) के समय तक संस्कृत विद्वज्जनों की चहेती भाषा बन चुकी थी और उनके विचारों तथा कलाकृतियों में परिलक्षित होती थी। यह एक जीवन्त भाषा की तरह विभिन्न क्षेत्रों में फली-फूली, परन्तु इसके बाद भारत पर सैन्य एवं राजनैतिक विजय अभियानों की वजह से पहले फ़ारसी और फिर अंग्रेज़ी ने संस्कृत पर ग्रहण लगा दिया। इस प्रकार संस्कृत एशिया के एक बड़े भू-भाग के आध्यात्मिक, कलात्मक, वैज्ञानिक एवं धार्मिक अनुष्ठानों की सम्पर्क भाषा थी और आज की अंग्रेज़ी की तरह स्थानीय भाषाओं को बोलने वालों के आपसी संचार का एक उपयोगी माध्यम थी। इसके अतिरिक्त संस्कृत स्थानीय भाषाओं के साथ परस्पर दो-तरफा सम्बन्धित थी। संस्कृत की विशिष्ट संरचना ऊपर से नीचे स्थानीय भाषाओं में पहुँचती थी। इसके साथ ही संस्कृत के लचीलेपन और खुली संरचना से स्थानीय संस्कृति और भाषा उसमें आत्मसात हो जाती थीं। इन दो सांस्कृतिक धाराओं, क्रमश: महान और लघु परम्पराओं के आदान-प्रदान से संस्कृति फली-फूली। त्यौहारों एवं धार्मिक अनुष्ठानों द्वारा परस्पर सम्बद्धता का जाल बुना गया था और विद्वानों ने इनके द्वारा एक दूसरे पर स्थानीय भाषाओं और संस्कृत के पारस्परिक प्रभाव को समझा। एशिया की बहुत-सी विविध भाषाओं द्वारा संस्कृत एक मूल-भाषा और श्रेणियों की रूपरेखा की तरह उपयोग में लाई गई। उत्कृष्ट संस्कृति एवं सभ्य

शहरी समाज (जिसे मानवशास्त्र में महान परम्परा कहा गया है) ने सामान्य संस्कृति को परिष्कृत एवं व्यापक स्वरूप प्रदान किया, जबकि ग्रामीण जन-साधारण समाज (लघु परम्परा) ने इसे लोकप्रियता, जीवन्तता तथा दृष्टिकोण में विविधतायुक्त बनाया।

जब एक बार स्थानीय या क्षेत्रीय सांस्कृतिक लक्षणों को संस्कृत में अभिलिखित कर मन्त्रवत् ढाल दिया जाता है तो वे संस्कृति के अभिन्न अंग बन जाते हैं। इसके विपरीत जब संस्कृति के तत्वों को स्थानीय क्षेत्रीय पहचान या रंग दे दिया जाता है तो वे एक विशिष्ट स्थानीय पहचान और रंग ग्रहण कर लेते हैं। दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया की विविधता में एकता इसी रूपरेखा को प्रतिबिम्बित करती है।

इसके अतिरिक्त संस्कृत और स्थानीय भाषाओं के बीच सम्बन्धों तथा संस्कृति की सर्वसामान्य सांस्कृतिक संरचना के कारण यह आवश्यक नहीं है कि उसमें समाये हुए मूल्यों और उनके अर्थों की श्रेणियों को समझने के लिए सभी को संस्कृत का ज्ञान हो ही। इसी तरह स्थानीय भाषा के वक्ता की भी संस्कृति के सांस्कृतिक साँचे के अन्तर्गत उसके विचारों, मूल्यों एवं श्रेणियों तक पहुँच होगी।

शास्त्रीय परम्परा (औपचारिक शास्त्रीय ज्ञान) और लोक-परम्परा (लोकप्रिय और अनौपचारिक मौखिक ज्ञान) के बीच एक समृद्ध सहजीविता है। वास्तव में लोकपरम्परा को भारतीय शास्त्रों जैसे नाट्य शास्त्र और आयुर्वेद साहित्य में सुन्दर ढंग और सम्मान के साथ स्वीकृति दी गई है। इन सभी संस्कृतियों एवं ज्ञान प्रणालियों में एक निरन्तरता बनी हुई है।

बहुत-सी आदिवासी प्रथाएँ और रिवाज मन्दिरों में अनुसरण होने वाले मुख्य रीति-रिवाजों में समाये हुए हैं। उदाहरण के लिए पुरी के जगन्नाथ मन्दिर में मुख्य मूर्तियाँ निस्सन्देह आदिवासी रूपांकनों द्वारा व्यक्त की गई हैं और ऐसा ही समन्वय मदुराई के मीनाक्षी मन्दिर में भी पाया जाता है। अमरीकन मानव विज्ञानी मैक्किम मैरियट (McKim Marriott) तथा रिचर्ड लेनॉय (Richard Lannoy) दोनों ने टिप्पणी की है कि 'लघु परम्पराओं' और 'महान परम्पराओं' के बीच पारस्परिक सम्बन्ध हैं, अर्थात् वे आपसी सद्भावना के साथ पारस्परिक रूप से एक-दूसरे पर निर्भर हैं।[34] मैरियट के अनुसार लेन-देन की पारस्परिक क्रिया एक 'स्पंज' की तरह काम करती है, जिससे ऊपर और नीचे की ओर दोहरी गतिविधि उत्पन्न होती है। ऊपर वाली महान परम्परा को ग्रामीण लोक संस्कृति के उभरते तत्वों ने पोषित किया जबकि नीचे वाली गतिविधि से सार्वभौमिक, आमतौर पर ब्राह्मणों की शहरी संस्कृति प्रसारित हुई।[35]

पुराण भारतीय संस्कृति को कुलीन वर्ग के अतिरिक्त दूसरे वर्गों में भी फैलाने के माध्यम थे और कथाओं में समाये आध्यात्मिक सन्देशों को प्रसारित करने के साथ-साथ एक प्राचीन लोकप्रिय संस्कृति की तरह भी जाने जाते थे। विजय नाथ की पुस्तक ''पुराण एवं संस्कृति संक्रमण'' (Puranas and Acculturation)) यह बताती है कि पुराणों ने विभिन्न सामाजिक स्तरों, जातियों, धार्मिक सम्प्रदायों एवं पारम्परिक

भारतीय भू-भागों को ऐसी पद्धति से जोड़ा जो विकेन्द्रीकृत एवं लचीली थी।[36] ये तत्व सामाजिक गतिशीलता का उपकरण बने जिन्होंने जनजातीय लोगों को बड़ी संख्या में समाज में ब्राह्मणों के समान प्रवेश करने हेतु सक्षम बनाया।

पुराणों की रचना अलग-अलग सदियों में होती रही थी। इनका न तो कोई विशिष्ट मूल जन्मस्थान है और न ही इनकी रचना किसी विशेष लेखक द्वारा की गई। विभिन्न संकलकों ने विकेन्द्रित तरीके से इन पुराणों को संकलित किया। आरम्भिक चरणों में लेखक गहन वैदिक ज्ञान एवं साहित्यिक कौशल लिए प्रतीत हुए और इन्होंने प्रगतिशील शैली के संस्कृत साहित्य के रूप में पुराणों को संकलित करने की दिशा व भूमिका निर्धारित की। बाद में इस प्रक्रिया को एक बड़े व्यापक समूह में आगे बढ़ाया गया जो कहानी सुनाने में तो प्रवीण थे परन्तु वैदिक योग्यता में उतने कुशल नहीं थे।

मूल स्थान से दूरस्थ क्षेत्रों में प्रवासन के कारण स्थानीय एवं प्रवासी लोगों के बीच नये प्रकार के सांस्कृतिक आदान-प्रदान की आवश्यकता हुई। प्रवासन के इस प्रवाह का प्रभाव दोनों ओर था। नीचे से आया हुआ प्रभाव आदिवासी समुदायों में अभी भी प्रचलित सामूहिक गायन और धार्मिक कृत्यों में स्पष्ट दिखता है। विविध समुदायों और भाषाओं में पारस्परिक सम्पर्क, अलग-अलग देवताओं, पद्धतियों, कथाओं, स्थानीय मन्दिरों और तीर्थों के माध्यम से होता था जो आगे चल कर पौराणिक कथाओं का अंग बन गये। इस प्रक्रिया में कई स्थानीय व्यावसायिक एवं शिल्पकारी समूहों के संरक्षक देवी-देवताओं को मान्यता प्राप्त हुई। 'आगम परम्परा' (तान्त्रिक पद्धति) के अनुष्ठान महत्वपूर्ण बने और विशिष्ट दीक्षा द्वारा गुरु-शिष्य परम्परा को औपचारिक बनाने वाली पद्धति को भी स्वीकृति मिली। मिथकों के लचीले ढाँचों का उपयोग ग़ैर-वैदिक पद्धति वाले देवी-देवताओं को आत्मसात करने के लिए भी किया गया तथा समय के साथ इन देवी-देवताओं को वैदिक परम्परा में सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रक्रिया से वेदों में कुछ अनाम देवताओं ने प्रसिद्धि प्राप्त की। उदाहरण के लिए गणेश एवं कार्तिकेय जैसे सामान्य देवताओं को भी वेदों की मुख्यधारा में आत्मसात कर लिया गया।[37] शिव के मामले में उनके परिवार के देवताओं का विस्तार करने के लिए 'यक्ष' और 'प्रेतों' को सेवकों (गणों) के रूप में सम्मिलित किया गया।[38]

पुराणों ने बड़ी संख्या में विभिन्न तीर्थों एवं पवित्र स्थलों को लोकप्रिय बनाया। पुराणों में मान्यता प्राप्त तीर्थस्थान को एक ऐसे पवित्र स्थल के रूप में माना जाता था जहाँ आध्यात्मिक शुद्धि के लिए विशेष शक्तियाँ होती थीं। धीरे-धीरे इन तीर्थस्थलों ने वैदिक यज्ञ (अनुष्ठानों) का स्थान लेना प्रारम्भ कर दिया।[39] ऐसे धार्मिक संस्कार किसी विशेष वर्ण (सामाजिक वर्ग) तक ही सीमित नहीं थे और ये कुछ औपचारिक धार्मिक अनुष्ठानों से भी अधिक लोकप्रिय बन गये। जिस तरह कोई लोकप्रिय पर्यटन स्थल स्थानीय सत्ता संरचना एवं अर्थव्यवस्था पर गहरा प्रभाव छोड़ता है उसी प्रकार ऐसे तीर्थस्थलों की लोकप्रियता में हुई वृद्धि से स्थानीय राजनैतिक प्रमुख एवं व्यवसायी लाभान्वित हुए। दूरस्थ स्थित समुदाय के लिए अपने तीर्थस्थान में तीर्थयात्रियों का

दूर-दूर से आना गौरव और महत्व का विषय बन गया। पुराणों ने भी मन्दिर निर्माण को आगे बढ़ाया, यहाँ तक कि मन्दिर वास्तुकला एवं योजना के नियमों के सबसे पहले शास्त्र वे ही थे।[40] स्थानीय आदिवासी समुदायों की नियुक्ति प्राय: मन्दिर में महत्वपूर्ण कार्यकर्ताओं के रूप में की गई और इससे भारत के दूरदराज क्षेत्रों में 'मन्दिर-आदिवासी गठबन्धन' को मजबूत बनाने में सहायता मिली।

पुराणों ने कई स्थानीय भिन्नताओं को समाविष्ट करके धर्म की प्रासंगिक प्रकृति को समृद्ध किया।[41] इस प्रक्रिया और प्रचलित ईसाई सांस्कृतिक अतिक्रमण में एक महत्वपूर्ण अन्तर है कि अपनी इतिहास-केन्द्रिकता और निहित विशिष्टता को ध्यान में रखते हुए व्यक्ति को इतिहास-केन्द्रित विश्वदृष्टि में परिवर्तित करने के दौरान ईसाइयों के लिए यह प्रक्रिया केवल एक बीच का कदम भर है। जबकि दूसरी ओर भारतीय परम्पराओं में धार्मिक परासरण (प्रवेश) ने लोगों पर महानगरीय धर्म परम्पराओं में परिवर्तन होने का दबाव डाले बिना स्थानीय विविधताओं को लम्बे समय तक अनवरत बनाये रखा।

शास्त्रीय और लोकप्रिय दोनों प्रथाएँ सर्व-समावेशी महाकाव्यों (जैसे रामायण और महाभारत) की परम्पराओं का हिस्सा हैं जो औपचारिक एवं लोक परम्पराओं में सांस्कृतिक एकीकरण को प्रदर्शित करता है। लेनॉय लिखते हैं—

> ''प्राचीन काल से भारत के गाँव-गाँव में सतत् भ्रमण करते रहने वाले पेशेवर कलाकारों की बहुरंगी गायन-टोलियों, चारण-भाट, लोक-गायकों और साधुओं को इस 'सम्पर्क भाषा' का एक महत्वपूर्ण तत्व माना जा सकता है। इसी प्रकार विभिन्न जाति और सम्प्रदायों के गुरुओं ने भी जीवन के विरोधाभासों का समाधान कर विभिन्न प्रतिद्वन्द्वी नाट्य रूपों तथा सांस्कृतिक निष्ठा की विविधता द्वारा अपना आकर्षण स्थापित किया। अन्तिम विश्लेषण में, वह अकेली एकीकरण की शक्ति ही है जिसे भारतीय संस्कृति का वाहक इस सतत् मौखिक समाज में संगीत की शक्ति से विविध लोगों को जोड़ने के लिए प्रयोग करता है। सामाजिक एकीकरण को लय, ताल और आलाप की सार्वभौमिक पसन्द के द्वारा प्राप्त किया गया।[42]

इस प्रकार अल्पसंख्यक समूहों में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व हिन्दू संस्कृति की बहुलतावाद का ही परिणाम है। यह भावना सामाजिक परिवर्तन लाने के उद्देश्य से किये गये हिंसक संघर्ष के परिणामस्वरूप प्राप्त नहीं हुई है। दुर्भाग्य से कुछ पश्चिमी और भारतीय विद्वानों का एक समूह संघर्ष लाने पर ज़ोर देता है जो वोट-बैंक की राजनीति के उद्देश्य के रूप में काम करता है। औपनिवेशिक शासनकाल में यूरोपीय आक्रान्ताओं ने अपनी साम्प्रदायिक पुस्तकों और सिद्धान्तों को अपने गुलामों पर थोपा। इससे भी बदतर, उन्होंने मूल निवासियों को ही मिटा दिया और उनके साथ उनकी परम्परा के समृद्ध और उपयोगी ज्ञान को भी। उन्होंने मूल निवासियों को 'आदिवासियों' के रूप में देखा। आजकल के कथित विद्वानों ने पश्चिम की

विभाजनकारी और संघर्ष की श्रेणियों द्वारा वही संरचनागत द्वैतवाद थोप कर भारत को समझने की झूठी आशा रखी हुई है और साथ ही विद्वत्तापूर्ण भारतीय धार्मिक परम्पराओं को मूल निवासियों के प्रति दम्भी-श्रेष्ठता और दमनकारी रूप में दिखाने का संगठित प्रयास भी किया है। परन्तु भारत में तथाकथित आदिवासी (जिनका चित्रण ग्राम्य जीवन तथा अनौपचारिक लोक-ज्ञान प्रणालियों से होता है) सदैव ही औपचारिक धार्मिक प्रणालियों के साथ सद्भावपूर्ण सह-अस्तित्व में रहे हैं।

भारतीय संस्कृति एवं अखिल एशियाई सभ्यताएँ

उदाहरण के लिए भारत भर में श्री कृष्ण की कथाएँ कई स्थानीय उप-संस्कृतियों में समाहित की गई हैं। प्रत्येक भारतीय गाँव में और लगभग हर जाति के लिए 'कुलदेवी' अथवा 'ग्रामदेवी' का स्थानीय रूप है। भारत के विभिन्न भागों में स्थानीय लोगों ने कई त्योहारों एवं धार्मिक अनुष्ठानों का रूपान्तरण किया है। परिणामस्वरूप क्षेत्रीय और लोक-परम्पराओं की आश्चर्यजनक विविधता हिन्दू धर्म की परम्पराओं से सम्बद्ध है।

अखिल-एशियाई सन्दर्भों में स्वतन्त्र धार्मिक परम्पराओं के बीच आदान-प्रदान, परस्पर प्रभाव और आमूल परिवर्तन हुए। ऐसे सांस्कृतिक आदान-प्रदान उस समय हुए जब इन संस्कृतियों का आपस में सम्पर्क अन्वेषण, व्यापार, ज्ञान प्रणालियों के प्रत्यारोपण इत्यादि द्वारा हुआ और अधिकांशत: ये किसी दृष्टिकोण-विशेष से संकल्पित या सुनियोजित कार्यक्रम से सदा मुक्त रहे। समय के साथ इस नये ज्ञान को स्थानीय सन्दर्भ में पुन: ढालने तथा सक्रिय आकार देने के प्रयास भी चलते रहे। इसीलिए रामायण को कई एशियाई संस्कृतियों और भाषाओं में रूपान्तरित और आत्मसात किया गया है। उदाहरण के लिए थाईलैण्ड में 'अयोध्या' नामक स्थान है तथा बाली द्वीप में 'वानर वन' है जहाँ हनुमान (वानर देवता जिन्होंने भगवान श्री राम की पूजा व चाकरी की थी) के वंशजों के रूप में वानरों को पूजा जाता है।

कम-से-कम ईसाई कालखण्ड की शुरुआत से ले कर तेरहवीं शताब्दी तक गाँधार (अफ़गानिस्तान और पाकिस्तान का एक भूभाग) राज्य के पुरुषपुरा (पेशावर) से ले कर अन्नम (दक्षिण वियतनाम) के पाण्डुरंग और मध्य जावा द्वीपसमूह के प्रम्बनम तक सत्तारूढ़ एवं प्रशासनिक क्षेत्रों के लिए संस्कृत प्राथमिक भाषा एवं सांस्कृतिक संचार का माध्यम थी। इसने लगभग एक हज़ार वर्ष से भी अधिक अवधि तक अधिकांश एशिया को अपने प्रभाव में रखा। संस्कृत को न तो किसी साम्राज्यवादी शक्ति द्वारा जबरन थोपा गया और न ही किसी व्यवस्थित चर्च जैसे केन्द्रीय शास्त्र द्वारा इसे लागू किया गया। इस प्रकार यह भाषा सांस्कृतिक चेतना का कारण और परिणाम दोनों रही है, जिसे धर्म, वर्ग या लिंग की परवाह किये बिना अधिकांश दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया के लोगों ने अपनाया था।

विश्व के यूरोपीयकरण से सदियों पहले तक समूचे मध्य एशिया से ले कर अफ़गानिस्तान, भारत, श्रीलंका, थाईलैण्ड, कम्बोडिया, वियतनाम और इण्डोनेशिया तक का विशाल भूभाग एक परिष्कृत अखिल-एशियाई सभ्यताओं का मिलन क्षेत्र था। अपनी पुस्तक ''ए कल्चरल हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया'' (A Cultural History of India) में ए.एल. बाशम (A.L. Basham)कहते हैं कि पाँचवीं शताब्दी तक भारतीय संस्कृतिवादी राज्यों, अर्थात् भारतीय राजनैतिक सिद्धान्तों की परम्परा वाले एवं हिन्दू/बौद्ध धर्म को मानने वाले राज्यों ने स्वयं को बर्मा, थाईलैण्ड, भारत-चीन, मलेशिया एवं इण्डोनेशिया के बहुत से क्षेत्रों में स्थापित कर लिया था।[43] इससे वर्षों पहले ब्रिटिश इतिहासकार ए.जे. टॉयनबी (A.J.Toynbee) ने टिप्पणी की कि ''सुदूर उत्तर-पूर्व में जापान से ले कर सुदूर उत्तर-पश्चिम में आयरलैण्ड तक फैली हुई विभिन्न स्थानीय सभ्यताओं की माला में भारत एक प्रमुख और केन्द्रीय कड़ी है।'' अपने इन दो छोरों के सिरों के बीच यह माला एक तोरण की तरह झुक जाती है जो भूमध्य रेखा से नीचे इण्डोनेशिया तक जाती है।[44]

हालाँकि रोमन सभ्यता के हिंसक प्रसार, जिसने लैटिन को सदियों तक यूरोपीय भाषा बनाया, के विपरीत एशिया का 'संस्कृतिकरण' पूरी तरह से शान्तिपूर्ण और बिना किसी को जीते, शासन किये या स्थानीय पहचानों को नष्ट किये हुआ था। ऐसा नहीं है कि राजनैतिक विवाद अथवा विजय के लिए युद्ध नहीं हुए, परन्तु अधिकांश घटनाओं में उद्देश्य, सांस्कृतिक या धार्मिक समरूपता आरोपित करने का नहीं था।

अरुण भट्टाचार्जी की पुस्तक ''ग्रेटर इण्डिया'' (Greater India) का निम्नलिखित गद्यांश इस बात पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है—

> ''भारत के अन्य देशों और लोगों के साथ सम्पर्क और सम्बन्धों की अनूठी विशेषता यह है कि सांस्कृतिक विस्तार को कभी औपनिवेशिक वर्चस्व और व्यावसायिक गतिशीलता की तरह असंगत नहीं माना गया, आर्थिक शोषण तो एकदम नहीं। संस्कृति बिना राजनैतिक उद्देश्यों के आगे बढ़ सकती है, व्यापार बिना साम्राज्यवादी ढाँचे के चल सकता है, बस्तियाँ बिना औपनिवेशिक अत्याचारों के बस सकती हैं तथा साहित्य, धर्म और भाषा को बिना किसी विद्वेष, अँध-राष्ट्रीयता अथवा नस्लीय भेदभाव के पहुँचाया जा सकता है। यह भारत के अपने पड़ोसियों के साथ सम्पर्क के इतिहास में अच्छी तरह प्रमाणित है। इस प्रकार हालाँकि मध्य और दक्षिण-पूर्वी एशिया के बड़े भू-भाग भारतीय संस्कृति के समृद्ध केन्द्र बने, फिर भी शायद ही वे कभी किसी भारतीय राजा अथवा विजेताओं के शासन में रहे या उन्हें किसी भारतीय सेना की दशहत या उसके द्वारा मचाई गई तबाही का सामना ही करना पड़ा। वे राजनैतिक एवं आर्थिक रूपों से पूर्ण स्वतन्त्र थे तथा उनके लोग भारतीय और स्वदेशी तत्वों के एकीकरण को दर्शाने के बावजूद किसी भारतीय राज्य से सम्बन्ध नहीं

रखते थे और भारत को मातृभूमि की अपेक्षा एक पवित्र भूमि के रूप में देखते थे—एक तीर्थक्षेत्र के रूप में, न कि अधिकार क्षेत्र के।''[45]

एशिया के सबसे प्रतिभाशाली छात्र भारत के प्रमुख शिक्षा केन्द्रों जैसे तक्षशिला और नालन्दा में शिक्षा प्राप्त करने जाते थे। इण्डोनेशिया के राजा बलदेव नालन्दा विश्वविद्यालय के इतने समर्थक थे कि उन्होंने इसे सन् 860 में प्रचुर मात्रा में दान दिया। दक्षिण-पूर्व एशिया में हज़ारों मील दूर स्थित एक राजा भारत के किसी विश्वविद्यालय को सहयोग देना चाहता हो, यह अखिल-एशियाई अध्ययनशील आदान-प्रदान के महत्व को रेखांकित करता है।

प्रारम्भिक बौद्ध ग्रन्थ पाली एवं अन्य प्राकृत (स्थानीय जनभाषा) भाषाओं में थे, परन्तु बाद वाले 'मिश्रित संस्कृत' में लिखे गये। उन दिनों मौखिक एवं लिखित संवाद के लिए परिशुद्ध पाणिनीय संस्कृत का चलन था। तिब्बती लिपि और व्याकरण संस्कृत के आधार पर विकसित की गई थी और वास्तव में वह दर्पण में संस्कृत का ही प्रतिबिम्ब हैं।[46] तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ बहुत से जटिल सांस्कृतिक तत्वों जैसे हठधर्मिता, दार्शनिक एवं आत्मविद्या के विचारों, धार्मिक एवं आध्यात्मिक प्रथाओं, सामाजिक संगठनों के स्वरूप तथा एक समृद्ध कलात्मक परम्परा का भी विकास हुआ।

सन् 1500 से ही थाईलैण्ड में संस्कृत का स्पष्ट प्रभाव रहा था। वहाँ और दक्षिण-पूर्व एशिया के अन्य भागों में संस्कृत को सार्वजनिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए उपयोग किया जाता था। आज भी वहाँ संस्कृत को शाही उत्तराधिकारी की मान्यता, वैधता एवं प्रसारण तथा औपचारिक अनुष्ठानों को प्रतिस्थापित करने के माध्यम के रूप में अत्यधिक सम्मान दिया जाता है। कम्बोडिया के खमेर समाज का अत्यधिक भारतीयकरण हुआ था तथा बाद के थाई राजाओं ने भारतीय धर्मों को अपनाया और अपने प्रशासन के सिद्धान्तों को हिन्दू प्रथाओं के आधार पर निर्मित किया।

चीन एवं भारत के बीच एक अद्वितीय और परस्पर सम्मानपूर्ण आदान-प्रदान होता था। भारत से बौद्ध विचारों का चीन में जाना सबसे उल्लेखनीय और स्पष्ट आयात था। तांग राजवंश (T'ang Dynasty: सन् 618-907) ने दक्षिण एवं दक्षिण-पूर्व एशिया से आने वाली संस्कृति के लिए अपने दरवाज़े खोले। सातवीं शताब्दी में चीन पर भारतीय प्रभाव अपनी चरम सीमा पर पहुँचा जब और किसी काल की अपेक्षा इस कालावधि में सबसे अधिक चीनी भिक्षु एवं राजकीय दूत भारत आये। नालन्दा विश्वविद्यालय ने बड़ी संख्या में एशिया भर से बौद्ध भिक्षुओं को आकर्षित किया। नालन्दा में चीनी विद्वानों ने न केवल बौद्ध धर्म, बल्कि वैदिक दर्शनशास्त्र, गणित, खगोल विज्ञान और दवाओं का भी अध्ययन किया। चीनी सम्राट ने नालन्दा में अध्ययन करने वाले चीनी विद्यार्थियों को उदार सहयोग दिया। बहुत से भारतीय ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया गया और ये चीनी विचारधारा में स्थापित हो गये।

सन् 950 से 1033 के बीच बड़ी संख्या में चीनी तीर्थयात्रियों ने भारत का भ्रमण किया तथा संस्कृति के विस्तृत ढाँचे को समझा। उन्होंने अपनी यात्राओं के शिलालेखों को पवित्र स्थलों पर छोड़ा तथा अपने सम्राट ताई-त्सोंग के सम्मान में एक स्तूप का निर्माण किया। इस बीच कई भारतीय गुरु एवं पंडित भी चीन की यात्रा पर गये जहाँ उनका ख़ूब आदर-सत्कार हुआ। भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद करने के लिए चीनी सम्राटों ने एक आधिकारिक मण्डल का गठन किया। इन प्रयासों का नेतृत्व करने के लिए प्राय: भारतीय विद्वानों को बुलाया जाता था।

एशिया भर में बौद्ध धर्म के प्रसार को अच्छी तरह से स्वीकार किया गया है, परन्तु धर्म के अतिरिक्त यह अखिल-एशियाई सभ्यता के विविध क्षेत्रों, जैसे भाषा, भाषा विज्ञान, गणित, खगोल विज्ञान, चिकित्सा, वनस्पति विज्ञान, युद्ध कलाओं (martial arts) एवं दर्शनशास्त्र के क्षेत्रों में भी ज्ञान के स्रोत बन गये थे। आधिकारिक पंचांगों (calendars) को बनाने में भारतीय खगोलविदों का परामर्श लिया जाता था। सातवीं शताब्दी में चीन में गौतम, कश्यप एवं कुमार नाम के तीन खगोलीय विद्यालय बहुत फले-फूले। नवग्रहों सम्बन्धी भारतीय सिद्धान्त को चीन ने पहले ही अपना लिया था। इनके अतिरिक्त ताँग (T'ang) के कालखण्ड में संस्कृत के कई प्रमुख खगोलीय, गणित एवं चिकित्सा शास्त्रों का चीनी अनुवाद भी किया गया। बौद्ध एवं हिन्दू धर्म के बीच सिद्धान्तों, प्रथाओं एवं संस्थाओं से सम्बन्धित विभेद धुँधले पड़ गये थे और ज्ञान प्राप्त करने वाली संस्कृतियों के लिए ये अपेक्षाकृत महत्वहीन थे। उदाहरण के लिए चीन में बौद्ध धर्म प्रचारक अपने ब्राह्मणवादी ज्ञान के लिए भी उतने ही पूजे जाते थे जितने की अपनी भिक्षुक प्रतिज्ञाओं के लिए। सामान्यत: इतिहासकार संस्कृति के इस बड़े पैमाने पर हुए निर्यात को बौद्ध धर्म के निर्यात के रूप में देखते हैं, जो आमतौर पर इस दिशा में भारतीय धार्मिक संस्कृति की भूमिका को कमजोर करता है।

कलाएँ भी चीनी और भारतीय संस्कृति के संगम का केन्द्र थीं, जिसने 'चीनी-भारतीय' (Sino-Indian) नामक कला के शिक्षा केन्द्र को जन्म दिया। यह कला केन्द्र उत्तरी वेई शासनकाल (Northern Wei: period सन् 386-534) में प्रमुख केन्द्र बन गया और थुनवांग (Thunwang), युन-कांग Yun-kang) एवं लाँगमेन (Longmen) की चट्टानों को काट कर बनाई गई गुफाओं में भित्ति चित्रों के साथसाथ बुद्ध की 60 से 70 फ़ुट ऊँची विशाल प्रतिमाएँ भी देखने को मिलती हैं। यह प्रेरणा न केवल भारत से आयात की हुई छवियों एवं तस्वीरों (उदाहरण के लिए अजन्ता एवं सारनाथ) से मिली, बल्कि उन भारतीय कलाकारों से भी जिन्होंने चीन की यात्रा की। भारतीय संगीतकारों ने अपनी प्रतिभा बाँटने के लिए चीन और जापान की यात्रा की और उनमें से कुछ यात्राओं को चीनी सम्राटों ने प्रायोजित किया था। ताँग के शासनकाल में 'बोधि' नामक भारतीय संगीतकार संगीत के दो प्रमुख प्रकारों— बोधिसत्व एवं भैरों को चीन से जापान ले गये। इस प्रकार भारतीय संस्कृति ने अपने द्वारा प्रभावित की गई प्रत्येक सभ्यता की विशिष्टता को संरक्षित रखा।

ईसाइ मत का प्रचार विश्व के किसी अन्य भाग में स्थित एक केन्द्र से था, जो इसे थोपने के राजनैतिक-धार्मिक ढाँचे का एक भाग था। ईसाइयत की इस दूरस्थ साँठ-गाँठ केन्द्र का प्राय: आर्थिक एवं राजनैतिक स्वार्थ रहता था, जो स्थानीय आबादी के हित से एकदम भिन्न था। दमन का उद्देश्य औपनिवेशिक हितों के लिए दूसरों का हर प्रकार से शोषण करना था। विजेता और पराजित तथा औपनिवेशिक सत्ता एवं अधीन लोगों के बीच विषमताएँ सांस्कृतिक चिह्न बन गये। जो लोग विजेता या उपनिवेशवादी सत्ता के अनुरूप व्यवहार करते थे उनकी प्रतिष्ठा दूसरों से अधिक थी। स्पष्ट है कि यूरोपीय शासन में जिन मूल निवासियों ने ईसाई मत स्वीकार कर लिया था वे अपने ही समाज के उन लोगों से अधिक सामाजिक लाभ एवं सम्मान पाते थे जिन्होंने अपना धर्म नहीं बदला। दमनकारी उद्देश्य, जिसे अब पूर्व के अवलोकन द्वारा आसानी से पहचाना जा सकता है, विश्व के सभी लोगों को एक सार्वभौमिक इतिहास में समाविष्ट करना था—एक कार्यक्रम जो खुल्लम-खुल्ला धर्म परिवर्तन और पश्चिमी सार्वभौमिकता द्वारा आज भी जारी है।

भारतीय संस्कृति और पश्चिमी सभ्यता के प्रसार के बीच जो अन्तर है उसे हम व्यापार के 'धक्का' बनाम 'खींचना' (push vs pull) सौदे की तरह समझ सकते हैं। 'धक्का' (push) सौदे के सिद्धान्तों में अनुचित आक्रामक विज्ञापन, दर-दर जा कर बिक्री के लिए हाक लगाना, डराने की युक्तियाँ, पुस्तिकाओं का वितरण, पोस्टर अभियान, स्पैम सहित कचरा ई-मेल भेजना, दूरभाष द्वारा बेचना, नकारात्मक राजनैतिक अभियान और छल-कपट वाली कूटनीतियाँ सम्मिलित हैं। ज़्यादातर ये तरीके अनैतिक और यहाँ तक कि अवैध भी होते हैं। पहले ईसाइयत और बाद में इस्लाम का प्रसार ज़्यादातर इन्हीं तरह के बेढंगे और आक्रामक साधनों द्वारा किया गया था। आज भी बहुराष्ट्रीय उद्योगों की तरह ईसाई संगठन भारत के प्रत्येक जिले (दूसरे देशों में भी) में धर्मान्तरण का एक निश्चित लक्ष्य निर्धारित करते हैं जिसका बजट प्रति धर्मान्तरण में होने वाले व्यय के आधार पर सुनियोजित किया जाता है।[47] वेटिकन एवं विभिन्न प्रोटेस्टेंट ईसाइयों द्वारा इसे आधिकारिक भाषा में 'आत्माओं की फसल काटना' (soul harvesting) कहते हैं, जो किसी बहुराष्ट्रीय कम्पनी द्वारा बाज़ार में अपनी हिस्सेदारी बढ़ाने जैसा अभियान है।

'खींचना' (pull) सौदा उसे कहते हैं जहाँ आपूर्तिकर्ता के किसी दबाव या धमकी दिये बिना वस्तु की माँग उसे उपभोगकर्ता की ओर भेजती है। उपभोक्ता स्वयं आपूर्तिकर्ता को ढूँढ़ने और उसके पास जाने की पहलकदमी करता है। इसके आम आधुनिक उदाहरणों में किसी निश्चित आवश्यकता के लिए वर्गीकृत विज्ञापन, जैसे पीले पन्नों (yellow pages) का उपयोग, ई-बे (E-Bay) तथा उपभोक्ता द्वारा अन्य साधन खोजना सम्मिलित हैं।[48]

संस्कृत के मामले में ग्रहण करने वाली संस्कृतियों ने इसके अपने में समाविष्ट करने को अति लाभकारी पाया और हिन्दू-बौद्ध इतिहास (अतीत के आख्यानों),

पुराणों, प्रतीकों, अनुष्ठानों, सिद्धान्तों, शासन चलाने के विचारों एवं भारतीय सौन्दर्यशास्त्र को भारत की धरती में खोजा। इसका सबसे अच्छा प्रमाण यह है कि एक हज़ार से भी अधिक वर्षों तक चीन, तिब्बत, थाईलैण्ड, म्यांमार, कम्बोडिया, वियतनाम, श्रीलंका एवं अन्य देशों के शासकों ने अपने प्रतिभाशाली छात्रों को भारत के 'विहारों' (शिक्षण संस्थानों) में ज्ञान प्राप्त करने के लिए भेजा।[49]

अरूपान्तरणीय श्रेणियाँ

इस अध्याय में पहले की गई चर्चा दर्शाती है कि संस्कृत के शब्दों का अनुवाद किया जाना क्यों सम्भव ही नहीं है। प्रमुख संस्कृत शब्दों का अनुवाद न हो सकना बहुत-सी भारतीय परम्पराओं की ग़ैर-सुपाच्यता प्रमाणित करता है। संस्कृत शब्दावलियों को सँभाले रखना और इस प्रकार इन शब्दों के सभी अर्थों की पूरी श्रृंखला को संरक्षित करना उपनिवेशवाद के प्रति अवरोध और धार्मिक ज्ञान की सुरक्षा करने का एक साधन बन जाता है।

यह सच है कि समूचे इतिहास में मानव ज्ञान और इसके विकास एवं विस्तार में अनुवादों ने एक प्रभावशाली भूमिका निभाई है। भारतीय कहानियों को यूरोप में पौराणिक कथाओं (Aesops Fables) में पुन: सुनाया गया। अरब-वासियों ने यूनानी दार्शनिक शास्त्रों और भारतीय गणित को अनुवादित करके यूरोप को नया ज्ञान दिया; ईसाइयत के इतिहास में बाइबल का अनुवाद महत्वपूर्ण था; भारत में रामायण और महाभारत के स्थानीय संस्करण सांस्कृतिक आदान-प्रदान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं।

हालाँकि ऐसे मामलों में भी जहाँ किसी अनुभव को दूसरी संस्कृति में जाना जाता है और वहाँ इसे व्यक्त करने के लिए कोई शब्द भी है, परन्तु वह शब्द केवल व्यावहार के लिए है न कि उसके कम्पन प्रभाव में मन्त्र जैसा; यह संकल्पना से भी गहरे चेतना के स्तर पर संस्कृत के मन्त्रों के समान प्रभाव उत्पन्न नहीं करता। दूसरे शब्दों में यह वैचारिक समानता केवल चेतना के सतही स्तर तक ही सीमित रहती है।

अन्तर्सम्प्रदाय संवाद में यीशु को कभी-कभी ऋषि या गुरु बताया जाता है; वेदों अथवा गीता को 'हिन्दू बाइबल,' तोराह की पुस्तकों को 'यहूदी वेद' तथा हिन्दू धार्मिक समारोहों को 'पूजा (Worship)' की विधियों जैसा सन्दर्भित किया जाता है। कुछ भारतीयों में भी 'गुरु' को 'नबी' अथवा 'सन्त' (ईसाई वाला) कहने की प्रवृत्ति पाई जाती है। साथ ही देवों को ईसाई फ़रिश्तों और असुरों को दानव (Demon) का रूप दे दिया जाता है। परन्तु इस प्रकार समानता दिखाने के लिए शब्दावलियों का आदान-प्रदान अन्तत: भ्रम और नुकसान ही पहुँचाता है। 'साधना' ईसाई पूजा या विश्वास की तरह नहीं है; 'आत्मा' यहूदी-ईसाई सोच में 'Soul' से भिन्न है; 'प्राण' शारीरिक श्वास से कहीं अधिक है; 'शक्ति' शारीरिक ऊर्जा का पर्यायवाची नहीं है; 'आकाश' भौतिक स्थान नहीं है; 'चित्त' केवल चेतना ही नहीं है और पश्चिमी संस्कृति में 'रस' का कोई समतुल्य है ही नहीं।

इसी तरह, 'सूर्य' का तात्पर्य हमारी भौतिक सौर प्रणाली के सूरज से कहीं अधिक है, उसका अर्थ 'केन्द्र' या 'मूल' की अवधारणा को भी समाहित करता है। इसलिए सूर्य-देव को पूजने का अर्थ Sun God की पूजा करने से कहीं अधिक है। इसी प्रकार

‘अग्नि’ शब्द का अर्थ केवल भौतिक आग नहीं है और इसकी पूर्ण समझ ही व्यक्ति को अनुष्ठानों में आग के प्रयोग की महिमा पहचानने के योग्य बना सकती है। क्योंकि हिन्दू सूर्य या अग्नि को अपने अनुष्ठानों में सम्मिलित करते हैं, अत: इन और प्राचीन मूर्तिपूजा सम्बन्धी रिवाजों, जो सदियों पहले पश्चिम द्वारा यूरोप में दबा दिये गये थे, में एक भ्रामक समानता ढूँढ़ी जाती है।

‘तन्त्र’ का सम्भोग और ‘स्त्रीधन’ का दहेज के रूप में गलत अर्थ लगाया गया है। जब अंग्रेजी शब्द ‘अंकल’ (uncle) विशिष्ट सम्बन्धों की विविध देशी शब्दावलियों जैसे पिता के बड़े भाई (ताऊ), पिता के छोटे भाई (चाचा), माता के भाई (मामा), माता की बहन के पति (मौसा) इत्यादि का स्थान ले लेता है तो सम्बन्धों की विविधता की बारीकियाँ लुप्त हो जाती हैं और ‘अंकल’ के अर्थ की सभी शब्दावलियों को हटा कर वह एक समरूप सम्बन्ध उनका स्थान ले लेता है। पश्चिमी लोग यदि ‘माता’ और ‘पिता’ को सर्वसाधारण शब्द अभिभावक (parent) से बदलने की कल्पना करें तो शायद उन्हें यह समस्या समझ में आ जाये।

मैं जानता हूँ कि संस्कृत के प्राचीन शास्त्रों का संरक्षण और अनुवाद करने के लिए महत्वपूर्ण पहलकदमियाँ प्राय: पश्चिमी उदार दानियों द्वारा निधिबद्ध की जा रही हैं। ये प्रयास प्रशंसनीय हैं। परन्तु फिर भी इन प्रयासों को आध्यात्मिक साधना और यहाँ तक की सामाजिक संगठन के संसाधन के रूप में मूल भाषा की संस्कृत शब्दावलियों और शास्त्रों के महत्व को समझने के लिए विकल्प नहीं बनाया जा सकता। न ही ये प्रयास आधुनिक विश्वविद्यालयों से संस्कृत को पाठ्यक्रम से हटाने के, यहाँ तक कि दर्शनशास्त्र से भी, षडयन्त्र का निवारण कर पायेंगे, जहाँ वह अभी हाल तक पश्चिम में ज्ञान का स्तम्भ थी।

अगले कुछ पृष्ठों में मैं संस्कृत के कुछ शब्दों (जो प्राय: साधारण पश्चिमी समकक्ष शब्दों से गलत अनुवादित होते हैं) का चयन करके भारतीय और पश्चिमी सभ्यताओं में मौलिक मतभेदों पर प्रकाश डालूँगा।

‘ब्रह्म’ अथवा ‘ईश्वर’ ‘God’ का समानार्थी नहीं है

‘ब्रह्म’ शब्द का मूल है ‘ब्रिह’ जिसका अर्थ है ‘विस्तार करना।’ पूर्ण विस्तारित परम सत्य, जो सब का निर्माता है, सभी में रहता है और सबके परे है, ‘ब्रह्म’ कहलाता है। यहूदी-ईसाई समझ के अनुसार इसका अनुवाद ‘ईश्वर’ के रूप में करना इसके अर्थ को कम करता है। वह गॉड—‘God’ जिसे मोज़ेस (Moses) ने साईनाई पर्वत (Mount Sinai) पर देखा तथा जिससे उसने शिलालेख प्राप्त किये थे दूर तक ‘ब्रह्म’ जैसा नहीं है। ब्रह्माण्ड का निर्माता यह यहूदी-ईसाई God उससे विशिष्ट और अलग है। इसके अतिरिक्त यह गॉड अधिनायक है जो व्यक्तियों को नियमों के उल्लंघन करने पर सज़ा देता है और इतिहास में एक विशेष समय और स्थान पर हस्तक्षेप करता रहता है। जबकि दूसरी ओर ‘ब्रह्म’ स्वयं ब्रह्माण्ड है जो प्रत्येक में अतृप्त आत्मा के रूप में रहता

है और अन्ततः हमें ब्रह्म बनाता है। यह विचार 'ब्रह्म' को सर्वसुलभ एवं सदैव-उपलब्ध बनाता है; वास्तव में हर युग में ज्ञानी तथा 'ब्रह्म' से एकीकृत हो चुके आध्यात्मिक गुरु मार्गदर्शन के लिए सदैव हमारे बीच रहे हैं। यहूदी-ईसाई मत के मुख्य अनुयायियों में परमेश्वर से अद्वैत एकता का भाव अनुपस्थित है, हालाँकि यह संस्थागत चर्चों द्वारा अधिकारहीन किये गये रहस्यवादियों में दबा हुआ रहा है।

लगभग इसी तरह 'ईश्वर' शब्द भी यहूदी-ईसाई धारणा के 'गॉड' के समान नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की निजी पसन्द (इष्टदेवता के रूप में) के अनुसार 'ईश्वर' अनन्त रूपों में अपनी अभिव्यक्ति देते हैं। प्रत्येक शब्द जैसे ब्रह्म, ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, देवी इत्यादि के समृद्ध निहितार्थ है जो एक-दूसरे से भिन्न हैं। ये और कुछ अन्य शब्द 'गॉड' की एकल अवधारणा में समेटे नहीं जा सकते।

'शिव' मात्र संहारक नहीं

'शिव' का प्रायः गलत अनुवाद 'संहारक' के रूप में किया जाता है और इसी परिप्रेक्ष्य में उन्हें ब्रह्मा ('निर्माता') एवं विष्णु ('पालक') के विरोधी के रूप में कल्पित कर लिया जाता है। हमने देखा है कि यहूदी-ईसाई अवधारणा में 'ब्रह्मा' सृष्टि निर्माता नहीं हैं और न ही आज के लेखकों की सोच के अनुसार 'शिव' एक विध्वंसक भगवान हैं। वास्तव में 'शिव' का सबसे उत्तम वर्णन एक 'रूपान्तरकर्ता' (Transformer) के रूप में किया जा सकता है जो मानवता और ब्रह्माण्ड को चेतना के उच्च विकास की ओर अग्रसर कराते हैं। इस विकास प्रक्रिया में झूठे मानसिक ढाँचों के सन्दर्भ (नाम-रूप) का विलय किया जाता है जो 'विनाश' से एकदम भिन्न है। शिव द्वारा किया गया यह रूपान्तरण एक पुनर्निर्माण प्रक्रिया है जिसे 'विनाश' के रूप में गलत चित्रित किया गया है। भौतिकता और पदार्थ की विघटन प्रक्रिया को नई सृष्टि की अभिव्यक्ति हेतु एक 'चक्र' के अन्त के रूप में भी देखा जा सकता है, ठीक उसी तरह जिस प्रकार कोई मौसम आने वाले मौसम की नई अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। यह परम्परा प्रकृति की निरन्तरता पर बल देती है, अतः विनाशकारी दिखने वाली प्रक्रिया वास्तव में मात्र एक रूपान्तरण है।

इसीलिए शिव को नृत्य एवं योग ज्ञान एवं रहस्यवाद के महेश्वर के रूप में वर्णित किया गया है और इसी कारण शिव अपने भक्तों को उतने अधिक समर्पण के लिए प्रेरित करते हैं जितना उन्हें 'विध्वंसक' मात्र मानने पर सम्भव न होता।[51]

'आत्मा' को Soul अथवा Spirit नहीं कहा जा सकता

भारत और पश्चिम के ब्रह्माण्ड सम्बन्धी मतभेद अस्मिता के परम सत्य की उनकी परस्पर सोच में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। भारतीय दर्शनशास्त्रों में अस्मिता की स्वभाविक प्रकृति सत्-चित्-आनन्द है जिसे आध्यात्म विद्या द्वारा अनुभव किया जा सकता है। जबकि दूसरी ओर पश्चिम में अस्मिता की कल्पना पापी के रूप में की गई

है जिसे केवल पैग़म्बरों के इतिहास-केन्द्रिक रहस्योद्घाटनों में विश्वास करके ही कम किया जा सकता है।

हिन्दू धर्म में व्यक्ति की सच्ची अस्मिता को आत्मा के रूप में जाना जाता है। ‘आत्मा,’ परम, सर्वोच्च एवं उत्कृष्ट ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है तथा इस प्रकार यह यहूदी-ईसाई अवधारणा की ‘Soul’ या ‘Spirit’ से एकदम भिन्न है।

क्योंकि ईसाइयत दृष्टिकोण के अनुसार मानव की प्रकृति ‘पापी’ है, इसलिए वहाँ ‘गॉड’ के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह पापी को मुक्ति देने के लिए बाहर से हस्तक्षेप करे। लोग अपनी आध्यात्मिक शक्ति के विकास के लिए आध्यात्म विद्या (जैसे ध्यान, योग इत्यादि) को अपनाते भी हैं, परन्तु यह अभ्यास उन्हें बहुत अच्छे परिणाम नहीं दे पाता, क्योंकि उनका मानना है कि एक स्तर के बाद पापों के दाग को साफ़ करने के लिए बाहर से ‘गॉड’ का हस्तक्षेप आवश्यक है। जैसा मैंने पहले कहा है, Soul का सीमा-बन्धन या उसमें दोष ईसाइयत की इतिहास केन्द्रिक तत्वमीमांसा पर निर्भर होने के कारण है।

बहुत से ईसाई इस सोच को पसन्द नहीं करते कि Soul के बारे में उनकी अवधारणा आत्मा की तुलना में सीमित है, फिर भी वे उस विशिष्ट इतिहास पर अपनी निर्भरता त्यागने के लिए तैयार नहीं हैं जो स्वयं ही इन सीमाओं का आधार है।

आत्मा की भारतीय धार्मिक अवधारणा पुनर्जन्म और कर्म की अवधारणाओं से जुड़ी हुई है। व्यक्ति के जन्म के समय एक विशिष्ट आत्मा उसमें प्रवेश करती है तथा उसके कर्म व्यक्ति के एक जन्म से दूसरे जन्म के बीच की कड़ी हैं। इसे दूसरी तरह देखें तो कर्म व्यक्ति के पिछले जन्म में किये गये चयनों का लेखा-जोखा है और आने वाले जन्मों को प्रभावित करने के लिए यह बही-खाता व्यक्ति के निधन पर आगे स्थानान्तरित कर दिया जाता है। हालाँकि भारतीय धार्मिक परम्पराओं में ‘आत्मा’ की प्रकृति के बारे में भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं, परन्तु इन सभी का केन्द्रीय विचार मनुष्य के कर्म और पुनर्जन्म पर ही आधारित है।

कुछ प्रारम्भिक ईसाइयों (विशेषकर Origen ईसाई) ने पुनर्जन्म के विचार की पुष्टि की थी, परन्तु ऐसा करते समय वे बाइबल के पूर्व विधान (Old Testament) नियमों को तोड़ रहे थे। जैसे-जैसे ईसाई मतशास्त्रों का विकास हुआ इन अवधारणाओं को मुख्यधारा के मतशास्त्रों द्वारा अस्वीकार कर दिया गया।

पुनर्जन्म-कर्म का सिद्धान्त मानता है कि व्यक्ति की प्रकृति पूर्ण रूप से उसके पिछले जन्म के कर्मों का परिणाम है। यह कोई ऐसा अवज्ञापूर्ण कृत्य नहीं है जिसे आदम और हव्वा के यौन संचरण द्वारा आगे बढ़ाया गया हो। यदि ईसाई धर्म में ‘पाप’ की मूल अवधारणा यौन-क्रिया के संचरण के सिद्धान्त पर आधारित न होती तो यीशु के ‘कुँवारे जन्म’ (virgin birth) सम्बन्धी ‘ऐतिहासिक तथ्य’ का पूरा महत्व ही समाप्त हो जाता। वास्तव में ईसाई मतानुसार मानव की अवस्था के वर्णन में ‘मौलिक

पाप' (original sin) को यदि कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त से विस्थापित कर दिया जाये तो उनका पूरा इतिहास केन्द्रिक ढाँचा अपने स्वर्ग और नरक की अवधारणाओं के साथ ही भर-भरा कर ध्वस्त हो जायेगा।

पुनर्जन्म एवं कर्म की अवधारणा से अनन्त समय अर्थात् काल के बिना आदि-अन्त के विचार को अलग नहीं किया जा सकता। इस ब्रह्माण्ड की कोई प्रारम्भिक अवस्था नहीं है, क्योंकि इससे पहले भी कोई और था और उससे पहले एक अन्य था और ब्रह्माण्डों की यह श्रृंखला अनन्त है। इसके विपरीत यहूदी और ईसाई मत एक प्रारम्भ और अन्त होने वाले निश्चित समय पर आधारित हैं। जैसा कि अध्याय 4 में चर्चा की जा चुकी है, व्यवस्था सम्बन्धी पश्चिमी विचार निश्चित और परिबद्ध इकाइयों की मान्यता पर आधारित हैं जिन्हें नियन्त्रित किया जा सकता है। जो भी असीमित या अनन्त है वह अहम की नियन्त्रण और डर पैदा करने की चाह को चुनौती देता है। पश्चिमी देशों के लिए अव्यवस्था को स्वीकार करना बहुत कठिन है।

जबकि 'आत्मा' का न तो कोई प्रारम्भ और न ही कोई अन्त है, परन्तु पश्चिमी Soul के साथ ऐसा नहीं है जो एक परिमित समय में उत्पन्न हुई जब गॉड ने धूल में फूँक मार कर आदम (Adam) को उत्पन्न किया था (जेनेसिस: 2:7)। त्रिमूर्ति वाली बाहरी पवित्र शाश्वत् आत्मा (Holy Spirit) ईश्वर में ही है और यीशु की आत्मा गॉड के साथ सह-चिरस्थायी है। परन्तु आत्मा के विपरीत व्यक्तिगत Soul एक सीमित समय में रहती है।

एक अन्य भिन्नता यह है कि यहूदी और ईसाई परम्पराओं में सभी व्यक्तिगत Soul न केवल God से ही बल्कि संसार से भी अलग क्षेत्र से हैं। इन परम्पराओं में हालाँकि आत्माएँ संसार में व्याप्त हैं, परन्तु ऐसा वे संसार से अलग हुई इकाई के रूप में ही हो सकती हैं। इसके विपरीत भारतीय परम्परा में 'आत्मा' 'ब्रह्म' से अभिन्न होते हुए किसी अन्य चेतना से भिन्न नहीं है और भौतिक संसार का ही परम तत्त्व है।

भारतीय धार्मिक प्रणाली के अनुसार 'आत्मा' केवल मनुष्यों में ही नहीं बल्कि पशुओं, पौधों और विभिन्न प्रकार के जीवों में भी रहती है। यही संचयी अनुभव व्यक्ति के वर्तमान चित्त का गठन करते हैं। विभिन्न जातीय, नस्लीय और सांस्कृतिक पहचान के साथ हर एक की अस्मिता ने पिछले जन्मों में महिला और पुरुष देहों में स्वयं को अनुभव किया है। यह सब व्यक्ति के अतीत को रक्त-सम्बन्धी अवधारणा से परिभाषित करने वाले पश्चिमी विचार से एकदम अलग है। भारतीय धारणा के अनुसार मेरा अतीत मेरे जैविक पिता की अपेक्षा मेरे पूर्व-जन्मों में निहित है और मृत्यु के बाद मेरा भविष्य मेरे अगले जन्मों में होगा, न कि मेरे बच्चों में। इसके विपरीत बाइबल के पूर्व विधान (Old Testament) ने रक्त-सम्बन्धों की विशिष्टता पर बल दे कर नस्ल सम्बन्धी कठोर अवधारणा को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त पश्चिमी परम्परा में व्यक्ति का वर्तमान देह ही है जिसके पहले उसका कोई अन्य शरीर नहीं था। परिणामस्वरूप इस शरीर के प्रति उनका अत्यधिक मोह रहता है जो अन्ततः नस्ल, लिंग इत्यादि के

प्रति मोह में परिवर्तित हो जाता है। जबकि पुनर्जन्म की अवधारणा है कि जाति, लिंग एवं पहचान के अन्य रूप केवल इस जन्म के ही सापेक्ष्य हैं। पुनर्जन्म व्यक्ति के अतीत और भविष्य के उत्तराधिकारियों के प्रति लगाव को कम करता है।

भारतीय धार्मिक परम्परा में मनुष्य का दाह-संस्कार एक तरह से इस नश्वर शरीर से लगाव को कम करता है, इसीलिए यहाँ पर कब्रिस्तान जैसा कोई स्थान नहीं है जहाँ लम्बे समय तक मृत व्यक्तियों से भेंट एवं बातचीत की जाती हो। पुनर्जन्म का सिद्धान्त मृत्यु को एक प्राकृतिक पुनरावर्तन के रूप में देखता है और इसीलिए यहाँ पश्चिमी परम्परा, जिसमें यह माना गया है कि व्यक्ति को केवल एक ही जीवन मिलता है, की अपेक्षा मानव देह के प्रति आसक्ति कम है।

ईसाई Soul से भिन्न आत्मा सभी पशु-पक्षियों, पौधों और प्रकृति में भी प्रकटित होती है जिससे पशु-पक्षियों और पर्यावरण के प्रति वास्तविक सम्मान प्रकट होता है, न कि बाद में सोच कर या धर्मविज्ञान के ऐच्छिक रूप में। यद्यपि ईसाई मत में पशु-पक्षियों के अधिकारों को ले कर छिटपुट आन्दोलन (उदाहरण के लिए सेंट फ्रांसिस St. Francis के अनुयायियों में) चले हैं और पर्यावरण वर्तमान में एक प्रचलित विषय है, परन्तु ये ईसाइयत में बाद में आने वाली बाते हैं; ऐसे आन्दोलन ईसाई तत्वमीमांसा में मूलभूत रूप से सम्मिलित नहीं हैं। बाइबल के अनुसार God ने मानव जाति को पौधों और पशुओं के ऊपर प्रभुत्व प्रदान किया है और प्रबन्धन एवं पर्यावरणवादी ईसाई प्रेरणाएँ एकात्मकता की अवधारणा से नहीं उपजी हैं, जैसा कि भारतीय धार्मिक तत्वमीमांसा में निहित है।

वेद, बाइबल अथवा गोस्पेल का समानार्थी नहीं हैं

पश्चिम में 'बाइबल' शब्द का प्रयोग अन्य परम्पराओं के पवित्र शास्त्रों का उल्लेख करने में अँधाधुँध किया जाता है। जो भी हो, यहूदी और ईसाई परम्पराओं में इसे विशेष संकीर्ण सिद्धान्तों भरे इतिहास केन्द्रिक ग्रन्थों में, जिनमें उनके मत की निर्देशात्मक और विश्वसनीय शिक्षाएँ हैं, सन्दर्भित करने के लिए ही किया जाता है। यहूदी बाइबल का मूल 'तोराह' (Torah) है जिसमें मोज़ेस (Moses) द्वारा लिखी हुई पाँच पुस्तकों (Pentateuch) के अतिरिक्त विभिन्न भविष्यवादी भाष्य, गीत, भजन, ऐतिहासिक आख्यान एवं विचारपूर्ण लेख सम्मिलित हैं। ईसाईयों की पवित्र पुस्तकों में हिब्रू बाइबल (Old Testament) और New Testament हैं जो चार ईसा चरितों (Gospels) से मिल कर बना है, जिनमें प्रचारकों के अधिनियम (Acts of the Apostles)समुदायों, व्यक्तियों या चर्चों को लिखे गये पत्र और रहस्योद्घाटन की पुस्तक (Book of Revelation) सम्मिलित हैं। कुरान मुसलमानों के लिए पवित्र ग्रन्थ है जिसे वे बाइबल के रहस्योद्घाटनों का संशोधित एवं परिपूर्ण ग्रन्थ मानते हैं, और इसमें यहूदी और ईसाई बाइबल को स्थानापन्न करने के उद्देश्य से नये रहस्योद्घाटनों को जोड़ा गया है।

सभी मामलों में इन शास्त्रों की एक विशिष्ट मतवैधानिक स्थिति है—ये आदेशात्मक हैं और कुछ परम्पराओं में अन्तिम चरण भी। इन्हें इतिहास के एक निश्चित बिन्दु पर रचा गया था, विशेषकर तब जब उनका मत उनके मूल क्षेत्र से बाहर फैलना प्रारम्भ हुआ, जिससे उसका एक मतविधान और वाचनिक आधार बनाया जा सके जो आधिकारिक और निर्णयात्मक हो। यहूदी और ईसाई परम्पराओं में इस प्रकार के 'अन्तिम मतविधान' बनाने की प्रक्रिया ईसा की पहली दो शताब्दियों में हुई, जब ईसाइयत आकार ले रही थी तथा इज़राइल को अपने मन्दिरों के विनाश एवं अपने लोगों के निर्वासन से बिख़रने जैसी स्थितियों का सामना करना पड़ रहा था।

इन परम्पराओं में पवित्र शास्त्रों की स्थिति भारतीय परम्पराओं के लिखित शास्त्रों की स्थिति से उल्लेखनीय रूप से भिन्न है। हिब्रू बाइबल स्पष्ट रूप से लम्बे और अलग-अलग समय और शैलियों में लिखे गये ग्रन्थों का एक संग्रह है, परन्तु अधिकांश ईसाई संरचनाओं में इसे ऐसे मतशास्त्र की तरह देखा जाता है मानो यह एक ही व्यक्ति द्वारा लिखा गया हो और इसमें वर्णित घटनाएँ वास्तव में घटित हुई हों। यहाँ तक कि दस आज्ञाएँ (Ten Commandments) भी इज़राइल के इतिहास में एक विशिष्ट क्षण से सन्दर्भित की गई हैं, वह क्षण जिसका वर्णन विस्तार से तो किया गया है, हालाँकि तीनों इब्राहमी मतों में उसे अलग-अलग अर्थों में लिया गया है। संक्षेप में, हिब्रू बाइबल और New Testament में विवरणात्मक इतिहास एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

वैदिक दृष्टि से देखने पर बाइबल अधिकांशत: 'स्मृति' (एक लिखित ऐतिहासिक भाग) है और इसे 'श्रुति' (प्रत्यक्ष आत्मज्ञान का अनुभव) नहीं माना जा सकता। बाइबल पूरी तरह से तीसरे पक्ष का विवरण, जैसे 'क' ने 'ख' से क्या कहा प्रस्तुत करती है। एक ईसा चरित (Gospel) यीशु के जीवन, कृत्यों, मृत्यु, दफ़न और पुनरुत्थान के इतिहास का लिखित वर्णन है, न कि यीशु द्वारा स्वयं के सारगर्भित अनुभवों का वर्णन। अत: हम 'न्यू टेस्टामेण्ट' को 'श्रुति' से अलग पहचान करने के लिए 'यीशु स्मृति' कह सकते हैं।

इसके अतिरिक्त 'न्यू टेस्टामेण्ट' को पवित्र भाषा में नहीं लिखा गया बल्कि अपने समय की लोकप्रिय भूमध्यसागरीय ग्रीक भाषा में उसकी रचना हुई। ईसाइयों के लिए यह पन्थनिरपेक्ष भाषा है तथा इसका विषय केवल किसी 'और बात' की ओर इंगित करता है। यह शाब्दिक अर्थ में यीशु की देह नहीं है। हालाँकि कुछ कट्टरपन्थी ईसाईयों का मानना है कि बाइबल सभी प्रकार के विवरणों में अचूक है, वहीं कुछ उदार ईसाइयों का मानना है कि केवल यीशु के जन्म, मृत्यु एवं पुन: जीवित होने की ऐतिहासिक घटनाएँ ही पूर्ण रूप से सही हैं, परन्तु दोनों ही पक्ष इन घटनाओं को अन्तरम सत्य के शब्द मानते हैं, न कि अपने आप में उसके कम्पनों की तरह।

इसके विपरीत जैसे कि ऊपर चर्चा की गई है, भारतीय शास्त्र 'श्रुति' और 'स्मृति' में विभक्त हैं, अर्थात् एक तो परमात्मा के प्रत्यक्ष स्वानुभूत ज्ञान का बोध कराते हैं जबकि दूसरे में ऋषियों द्वारा किये गये भाष्य एवं प्रासंगिक प्रयोगों का ज्ञान है।

भारतीय संस्कृति के सन्दर्भगत स्वभाव में स्थिरता और परिवर्तनशील स्थितियों तथा वास्तविक सन्तुलित ढाँचे और क्षणिक वास्तविकता के बीच परस्पर क्रिया होती रहती है।[52] फिर भी दोनों में भिन्नता रहती है। 'श्रुति' ईश्वर प्रेरित एवं कालातीत है जो भौतिक शास्त्र के किसी सूत्र की तरह एक शाश्वत् अनाम लेखक के ज्ञान जैसी है। जबकि दूसरी ओर 'स्मृति' में निहित सन्दर्भपरक सत्य सदैव परिवर्तनशील होते हैं तथा इन्हें किसी सिद्धान्त अथवा नियमों में नहीं जकड़ा जा सकता। नई परिस्थितियों में मानव निर्मित 'स्मृति' समय एवं स्थान के अनुकूल बारम्बार लिखी जाती है। इस आवश्यकता को श्री अरविन्द इस प्रकार समझाते हैं—

> ''सबसे पहली बात तो यह है कि निःस्सन्देह एक परम शाश्वत् सत्य है जिसकी खोज हम कर रहे हैं, जिससे अन्य सभी सत्य उत्पन्न होते हैं, जिसके प्रकाश से अन्य सभी सत्य अपना सही स्थान, ज्ञान की पद्धति से सम्बन्ध और व्याख्या प्राप्त करते हैं। दूसरे, भले ही यह सत्य 'एक' एवं शाश्वत् है, पर यह काल में और मानव मस्तिष्क से व्यक्त होता है, इसलिए प्रत्येक शास्त्र में दो तत्वों का होना आवश्यक है, एक अस्थायी व नश्वर स्वरूप जो देश-काल में उत्पन्न हुए विचारों से सम्बन्धित है और दूसरा स्थायी व शाश्वत स्वरूप जो सभी युगों और देशों में लागू हो सके।''[53]

हालाँकि 'श्रुति' (अर्थात जैसे आदि-नाद) का कोई रचयिता नहीं है, परन्तु पाठक या श्रोता उसकी व्याख्या का सन्दर्भ प्रदान करता है। 'स्मृति' के दो सन्दर्भ हैं—एक लेखक जो उसे रचता है और दूसरा पाठक जो उसकी व्याख्या करता है।

यहूदी-ईसाई मतों में 'श्रुति' और 'स्मृति' को एक ही पुस्तक में सिकोड़ कर बिना किसी विकसित सन्दर्भ के एक निश्चित काल में अवरुद्ध कर दिया गया है। यहाँ फिर से ऐसा प्रतीत होता है कि रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय कट्टरपन्थी प्रोटेस्टेंटवाद की अपेक्षा अधिक परिष्कृत दृष्टिकोण रखते हैं। प्रोटेस्टेण्ट, जो सिद्धान्ततः संस्थागत चर्च और उसके पादरीवाद के नियन्त्रण से स्वयं की मुक्ति चाहते हैं, परम्परा को आधिकारिक नहीं मानते और साधारणतः लूथर (Luther) के आदर्श वाक्य 'Sola Scriptura' (अर्थात केवल शास्त्र ही अधिकारिक हैं) को ही अपनाते हैं। उन्होंने एक सत्तावादी चर्च के स्थान पर एक सत्तावादी पुस्तक को अपनाया हुआ है।

दूसरी वेटिकन जनरल परिषद (1962-65) के बाद जिसने रोमन कैथोलिक संस्थागत चर्च के भविष्य के लिए एक साँचा तैयार किया, कैथोलिक ईसाइयों ने God के रहस्योद्घाटनों को बाइबल और परम्परा की दो धाराओं के रूप में देखा, जिसे कुछ आधुनिक मतशास्त्रियों ने क्रमशः 'श्रुति' और 'स्मृति' के समकक्ष रखने का प्रयास किया। परन्तु ऐसे कई कारण हैं जिनसे यह तुलना बहुत अधिक अर्थ नहीं रखती। पहली बात यह है कि जैसा 'श्रुति' में नहीं है, बाइबल में पहले से ही ढेर सारी इतिहास केन्द्रिक सामग्री है। यह बाइबल को 'स्मृति' के दबाव में रखती है जो यहूदी-ईसाई परम्पराओं की इतिहास-केन्द्रित तत्वमीमांसा से मेल खाती है। दूसरा, ईसाई

परम्परा विशेष रूप से 'चर्च' का अनुभव है, अर्थात् यह आन्तरिक विज्ञान के अनुभवों का दस्तावेज नहीं है, बल्कि व्याख्याओं और समय के अनुकूल बनने का उसका विवरणात्मक इतिहास है।

चर्च की मजबूत संस्थागत संरचना का अर्थ है कि इसके द्वारा शास्त्रों की व्याख्या को एक औपचारिक केन्द्रीय सत्तातन्त्र द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। हालाँकि विरोध होता है, जैसा कि वर्तमान में समलैंगिकता, महिला पादरियों, मूल कोशिका (stem cell) शोध कार्य इत्यादि के वाद-विवाद में दिखता है, परन्तु प्राय: यह चर्च द्वारा अधिकारहीन किये या सताये हुए समूहों द्वारा ही किया जाता है और इनका प्रभाव बहुत धीमा तथा अधिकारियों के भारी प्रतिरोध के बाद ही होता है। इसके अतिरिक्त चर्च के विभिन्न सम्प्रदाय इस तरह के ख़तरों से निपटने में अत्यधिक अनुभवी हो गये हैं। प्रमुख पवित्र शास्त्रों को चुनौती देना विधर्म या ईश-निन्दा माना जाता है। आवश्यकता यह प्रतीत होती है कि बदलते समय और सन्दर्भों के अनुसार 'स्मृतियों' में भी बदलाव हो। जबकि अभी स्थिति यह है कि परिवर्तन की कोई सम्भावना उन्हीं उच्च पादरियों और अधिकृत मन्त्रियों के हाथ में है जो संस्थागत अधिकार के माध्यम से अपनी सत्ता और नियन्त्रण को बनाये हुए हैं।

क्योंकि उनका उद्‌भव विभिन्न स्रोतों से हुआ है तथा उन पर किसी संस्थागत सत्ता का नियन्त्रण नहीं रहा है, इसलिए 'स्मृतियों' ने हिन्दू धर्म को बिना किसी हिंसक युद्ध या आन्तरिक फूट के ही परिवर्तन स्वीकार करने के लिए मुक्त रखा है। पश्चिमी लोग भारत की 'स्व-धर्म' (मेरा धर्म अथवा व्यक्तिगत धर्म) सम्बन्धी अवधारणा को समझने में कठिनाई का अनुभव करते हैं जोकि लचीली तथा समय और स्थान के अनुसार बदलने और रचनात्मक खोज करने से सम्बन्ध रखती है।

ईसाई और हिन्दू परम्पराओं में पवित्र शास्त्रों की समझ की तुलना को व्यापक रूप से चित्रित करने के लिए कई बिन्दुओं को एक तालिका में उदाहरण सहित दिया गया है—

ईसाइयत	**हिन्दू धर्म**
बाइबल ऐतिहासिक विशिष्टताओं से भरी हुई है, इसीलिए यह 'स्मृति' आधारित है।	'श्रुति' ऐतिहासिकता पर महत्व नहीं देती तथा यह अपने-आप में 'अपौरुषेय' (अव्यक्तिगत, अनाम लेखक) तथा 'सनातन' (कालातीत) है।
ईसाई पन्थ में केवल 'एक ही' पवित्र पुस्तक है जिसकी व्याख्या संस्थागत सत्ता द्वारा नियन्त्रित है। बाइबल में कहीं-कहीं कुछ गीत और भाव-अभिव्यक्तियाँ हैं जिन्हें भक्ति के भजन माना जा सकता	वेद प्राथमिक शास्त्र हैं। उपनिषद सर्वोच्च दार्शनिक प्रवचनों के लिए जाने जाते हैं। रामायण और गीता को दैनिक जीवन में लगातार पढ़ा-सुना जाता है। भक्तिकालीन सन्तों के गीत (भजन)

है, परन्तु अन्य प्रकार की ज़्यादातर ऐसी अभिव्यक्तियों को बाहर कर दिया गया है।	सहभागिता का सबसे प्रभावशाली तरीका है और ये बिना किसी धर्मविधान के दबाव में गाये जाते हैं।
आधुनिक समय तक बाइबल की शिक्षाओं में परिवर्तन अथवा उनकी पुनर्व्याख्या को केन्द्रीय सत्ता द्वारा नियन्त्रित किया जाता रहा है और यह परिवर्तन इतिहास के प्रभुत्व पर निर्भर है। सन्निहित आध्यात्मिकता की शक्ति के स्रोत के अभाव के कारण इनकी निर्भरता इतिहास के धरोहर पर है।	अप्रत्याशित स्थानों से नये-नये गुरु उभरते हैं जो प्राय: अपनी नूतन व्याख्याओं से कट्टरपन्थ को चुनौती देते हैं जिन्हें आध्यात्मिक साधना में जाँचा व परिष्कृत किया जाता है और इस तरह किसी केन्द्रीय कारण सत्ता-तन्त्र के लगातार नियन्त्रण की सम्भावना को रोक दिया जाता है।

‘धर्म’ शब्द, ‘रिलीजन’ अथवा कानून का समानार्थी नहीं है

प्रसंग की संवेदना के अनुसार ‘धर्म’ शब्द के अनेक अर्थ हैं। मोनियर-विलियम्स (Monier-Williams) के ‘‘संक्षिप्त संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश’’ (A concise Sanskrit-English Dictionary) में धर्म के लिए कई शब्दों को सूचीबद्ध किया गया है, जैसे—आचरण, कर्तव्य, अधिकार, न्याय, सदाचार, नैतिकता, धर्म, धार्मिक योग्यता, नियमानुसार किया गया अच्छा कार्य इत्यादि।[54] कुछ दूसरे नाम भी सुझाये गये हैं, जैसे यहूदी भावनानुसार ‘कानून’ या ‘तोराह,’ ग्रीक में ‘लोगोस’—logos, ईसाइयत में ‘way’ (मार्ग) और यहाँ तक कि चीनी भाषा में ‘ताओ।’ इनमें से कोई भी पूर्ण रूप से सही नहीं है और न ही ये संस्कृत की तरह धर्म का समग्र अर्थ प्रकट करते हैं।

धर्म शब्द संस्कृत की बीज धातु ‘धृ’ से बना है जिसका अर्थ है ‘वह जो थामे रखता है’ अथवा ‘जिसके बिना कुछ भी टिक नहीं सकता’ या ‘जो इस ब्रह्माण्ड की स्थिरता और सदभाव को बनाये रखता है।’ ‘धर्म’ में वस्तुओं के प्राकृतिक और अन्तर्निहित सहज व्यवहार, कर्तव्य, नियम, नैतिकता, सदाचार इत्यादि सभी सम्मिलित हैं। उदाहरण के लिए भौतिक विज्ञान के नियम भौतिक प्रणालियों के धर्म के बारे में मनुष्य की वर्तमान समझ को वर्णित करते हैं। ब्रह्माण्ड में प्रत्येक इकाई का अपना विशिष्ट धर्म है—इलेक्ट्रॉन, जिसका धर्म एक निश्चित पद्धति में घूमना है, से ले कर बादलों, आकाशगंगाओं, पौधों, कीड़ों और स्वभावत: मनुष्य तक सभी का अपना-अपना धर्म है।

पश्चिमी शब्दकोश में ‘धर्म’ के समकक्ष कोई शब्द नहीं है। उपनिवेशवादियों ने भारतीय परम्पराओं को ईसाइयत में निरूपित करने का प्रयास किया ताकि वे शासित लोगों को चिह्नित और उन्हें श्रेणीबद्ध कर सकें, समझ सकें व उन पर नियन्त्रण कर सकें, पर फिर भी ‘धर्म’ की अवधारणा उनके लिए जटिल ही बनी रही। ‘धर्म’ का

सामान्य अनुवाद 'religion' विशेष रूप से भ्रामक है, क्योंकि अधिकांश पश्चिमी लोगों के लिए वास्तविक religion का नमूना वह है जो—

1) ऐसे परमात्मा की पूजा की माँग करता है जो हमसे और ब्रह्माण्ड से अलग हो;
2) एक निश्चित ऐतिहासिक घटना के समय God द्वारा दिये गये शास्त्र के एकल नियम-कानून पर आधारित हो;
3) चर्च की प्राधिकारी संस्था द्वारा संचालित हो;
4) औपचारिक सदस्यों से बना हो;
5) विधिवत घोषित पादरी द्वारा संचालित हो; और
6) नियत रीति-रिवाजों का प्रयोग करता हो।

इन सब का निर्धारण एक आधिकारिक श्रृंखला के अनुसार किया जाता है जो अपना प्रमाण इस विश्व में God के ऐतिहासिक हस्तक्षेप में ढूँढ़ती है। संवाद के ऊपर प्राधिकार होने के कारण ईसाइयत ने दूसरे धर्मों का अध्ययन करने के लिए कई पूर्व-निर्णित श्रेणियाँ और चिह्न प्रस्तुत किये, जिनसे गम्भीर रूप से उनकी गलत व्याख्याएँ सामने आईं।

धर्म को ईश्वर की पूजा के साथ जोड़ने से विकृति पैदा होती है, क्योंकि 'धर्म' किसी विशेष पन्थ या विशिष्ट पूजा पद्धति तक सीमित नहीं है। किसी पश्चिमी व्यक्ति के लिए नास्तिकता एक विरोधाभासी बात हो सकती है, परन्तु बौद्ध, जैन एवं चार्वाक धर्म में सामान्य रूप से परिभाषित ईश्वर का कोई स्थान नहीं है। यहाँ तक कि कुछ हिन्दू धार्मिक प्रणालियों में ईश्वर की यथार्थ अवधारणा विवादास्पद है। किसी साधक के लिए मन्दिर जाना भी आवश्यक नहीं है, क्योंकि वह अपने घर में ही अभ्यास एवं भक्ति का वही स्तर प्राप्त कर सकता है। वास्तव में व्यक्ति अपने 'इष्टदेवता' (चयनित ईश्वर का रूप) की तस्वीर अपने बटुए या जेब में रख सकता है और हो सकता है कि वह कभी किसी पूजास्थल में जाये ही नहीं।

हिन्दू धार्मिक परम्पराओं में 'धर्म' मानव जीवन के सभी पहलुओं की सुव्यवस्थित पूर्ति का सिद्धान्त प्रदान करता है—अर्थात धन और शक्ति का संचय (अर्थ), इच्छाओं की पूर्ति (काम) तथा मुक्ति (मोक्ष)। तो religion शब्द 'धर्म' के विविध अर्थों का केवल एक छोटा-सा उपवर्ग ही है। इसे 'नवदीक्षितों का धर्म' की तरह देखा जा सकता है। एक बात और है कि religion केवल मनुष्यों पर लागू होता है, समूचे ब्रह्माण्ड पर नहीं; इलेक्ट्रॉन, बन्दरों, पौधों और आकाशगंगाओं के लिए किसी प्रकार का religion नहीं है, जबकि इन सभी का अपना-अपना 'धर्म' है। 'धर्म' प्रत्येक क्षण स्वयं को प्रकट करता है और क्योंकि मानवता का सार सत्-चित्-आनन्द है, इसलिए मानव स्वयं के अनुभव से अपने धर्म को जान सकता है। इसके विपरीत पश्चिमी

परम्पराओं में विश्व और इसके लोगों के लिए मुख्य नियम या धर्म पृथक और एकीकृत दोनों है जो किसी बाहरी शक्ति द्वारा प्रकट और शासित होता है। भारतीय धार्मिक परम्पराओं में 'अधर्म' शब्द का अर्थ है अपने कर्तव्यों से विमुखता या अनैतिकता; इसका अर्थ किसी मत-प्रणाली के प्रस्तावों को ठुकराना या आज्ञाओं अथवा स्थापित नियम-सिद्धान्तों की अवज्ञा करना नहीं है।[55]

'धर्म' का अनुवाद प्राय: 'कानून' के रूप में भी किया गया है, परन्तु कानून बनाने के लिए कुछ सिद्धान्तों का होना आवश्यक है और इन सिद्धान्तों को : (1) उस सत्ताधीश द्वारा बनाया और लागू करना आवश्यक है जिसे किसी क्षेत्र परराजनैतिक प्रभुत्व प्राप्त हो, (2) उसका पालन अनिवार्य होना आवश्यक है, (3) अदालत द्वारा वह परिभाषित, निर्णित और लागू होना है और (4) उसे तोड़नेपर दण्ड का प्रावधान हो। भारतीय धार्मिक परम्पराओं में 'धर्म' का ऐसा कोई विवरण नहीं मिलता।

मतविधान की व्यवस्था—ऐसे नियम जो चर्च द्वारा निर्धारित और लागू किये गये थे —बाद के रोमन सम्राटों द्वारा प्रारम्भ की गई थी। यहूदी कानून का सर्वश्रेष्ठ स्रोत इज़राइल का God है। पश्चिमी मत इस बात पर सहमत हैं कि God के कानूनों का पालन वैसे ही होना चाहिए जैसे कि वे किसी राजा की आज्ञाएँ हैं। इसलिए यह महत्वपूर्ण है कि 'झूठे ईश्वरों' की निन्दा करके उन पर विजय प्राप्त की जाये, अन्यथा वे पश्चिम के 'सच्चे नियमों' को कमज़ोर करने के लिए अवैध कानून बना सकते हैं। यदि विविध देवी-देवताओं की अनुमति दी गई तो यह भ्रम फैल सकता है कि कौन से नियम सार्वभौमिक हैं।

इसके विपरीत भारतीय धार्मिक प्रणालियों में ऐसा कोई दस्तावेज नहीं है जिसने किसी राजा को धार्मिक स्मृतियों या धर्म-शास्त्रों को किसी विशिष्ट समय या स्थान पर लागू करने का उल्लेख किया हो, न ही ऐसा कोई दावा किया गया है कि ईश्वर ने इन नियमों का खुलासा किया है और न ही यह कि ये किसी शासक द्वारा जबरदस्ती लागू किये जायें। प्रसिद्ध स्मृतियों के किसी भी संकलनकर्ता को शासकों द्वारा नियुक्त नहीं किया गया, न ही वे कानून लागू करने वालों में थे और न ही किसी राज्य-सत्ता में उन्हें कोई सरकारी पद प्राप्त था। वे न्यायकर्ता से अधिक आधुनिक सामाजिक सिद्धान्तवादियों जैसे थे। कोई भी वेद और उपनिषद किसी राजा, अदालत, व्यवस्थापक या संस्था द्वारा प्रायोजित नहीं थे, जैसा कि ईसाई चर्च में होता है। प्रसिद्ध 'याज्ञवल्क्य स्मृति' किसी तपस्वी के दूरदराज आश्रम में आरम्भ हुई थी। 'मनुस्मृति' मनु ऋषि के सादे निवास-स्थान से प्रारम्भ हुई थी जिसमें उनके द्वारा समाधिस्थ स्थिति में प्रश्नों के दिये गये उत्तर समाहित हैं। मनु ने ऋषियों को बताया कि प्रत्येक युग का अपना विशिष्ट धर्म होता है (मनुस्मृति VIII, 4-7)। इस सन्दर्भ में धर्म यहूदी शास्त्रों के कानून के अर्थ से मिलता जुलता है जहाँ 'तोराह' (यहूदी समतुल्य) भी प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभव से प्राप्त होता है। अन्तर यह है कि 'तोराह' शीघ्रता से ही प्राचीन इज़राइल की संस्थाओं द्वारा प्रख्यापित और लागू किया गया था।

भारतीय धर्म-शास्त्रों ने किसी भी प्रथा को न तो बनाया और न ही लागू किया, बल्कि प्रचलित प्रथाओं को ही अभिलेखित किया। बहुत-सी परम्परागत स्मृतियों में विशिष्ट समुदायों की स्थानीय प्रथाओं को प्रलेखित किया गया। एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त था कि हर समुदाय द्वारा ही स्व-शासन किया जाये। स्मृतियाँ किसी मंच से कोई रूढ़िवादी दृष्टिकोण निर्धारित करने का स्वयं कोई दावा नहीं करतीं और पहली बार ब्रिटेन के उपनिवेश काल में उन्नींसवीं शताब्दी के बाद ही स्मृतियों को सरकार ने कानून के रूप में बदला।

भारतीय धर्मशास्त्रों का एक उप-शास्त्र सामान्य मतभेदों एवं आपराधिक शिकायतों सम्बन्धी विवादों अर्थात् 'व्यवहार' को देखता है। पश्चिमी परिभाषा में केवल यह उप-शास्त्र ही 'कानून' माना जा सकता है। मनुस्मृति (VIII, 4-7) में अठारह प्रकार के व्यवहारों के विवादों की सूची दी गई है।[56] एक अन्य महत्वपूर्ण बिन्दु यह है कि ये 'व्यवहार के कानून' भी स्थानीय प्रथाओं द्वारा प्रतिस्थापित कर दिये जाते थे। जनता की इच्छा को प्रतिबिम्बित करने वाली स्थानीय परम्परा मानक कानूनों से अधिक मान्य थी।

किसी विजयी राजा को परम्परा ने वर्जित किया हुआ था कि वह पराजित जनता पर अपने कानून लागू न करे, बल्कि उसे उनके स्थानीय कानूनों का सम्मान करना पड़ता था।[57]

'धर्म' की अवधारणा को religion और कानून में ढालने के कई दुष्परिणाम हैं। इससे धर्म सम्बन्धी अध्ययन पश्चिमी हाथों में जाने से समाज से जुड़े हुए धार्मिक विद्वानों के अधिकार कम हो जाते हैं; इसके अतिरिक्त इससे यह भ्रम भी पैदा होता है कि धर्म ईसाइयों की चर्च सम्बन्धी कानून प्रक्रिया और उसकी परम्परा से जुड़ी हुई राज्य-सत्ता के संघर्ष से मिलता-जुलता है। परिणामस्वरूप, धर्मनिरपेक्षता के नाम पर भारत में धर्म को उन्हीं दायरों में देखा जा रहा है जिनमें ईसाई मत को यूरोप में देखा गया था। अत: भारत में 'धर्म' को religion के रूप में प्रस्तुत करना बहुत बड़ी भूल है।

'जाति' और 'वर्ण' शब्द, Caste के समानार्थी नहीं हैं

'जाति' (जिसे प्राय: Caste के रूप में गलत अनुवादित किया गया है) को गणित के एक समुच्चय अथवा साहित्य में उसकी शैली के रूप में सही ढंग से समझा जा सकता है। यह मनुष्यों के अतिरिक्त दूसरों पर भी लागू होती है, जैसे वृक्षों की जाति, तर्कसंगत संख्याओं की जाति, क्रियाओं की जाति आदि। मानव के सन्दर्भ में राष्ट्र एक जाति है, धार्मिक समूह एक जाति है, समलैंगिक लोगों की एक जाति है, सेना एक जाति है, किसी कम्पनी के कर्मचारी एक जाति हैं इत्यादि सभी जाति के उदाहरण हैं। इसी प्रकार 'वर्ण' का अर्थ 'रंग' है। वर्ण लोगों के विभिन्न व्यक्तित्वों और गुणों को

भी इंगित करता है। किसी व्यक्ति का 'वर्ण' उसके अतीत के कर्मों और गुणों पर आधारित होता है जिसमें 'गुण' व्यक्तिगत स्वभाव एवं प्रवृत्तियों की दशा बताते हैं। यह एक व्यापक विषय आजकल की रुचि बन गया है और पाठकों को इस सम्बन्ध में किये गये अनेक शोधों की जानकारी प्राप्त करने हेतु इस पुस्तक की ग्रन्थ-सूची देखने की सलाह दी जा रही है।[58]

'ॐ' (ओम), आमीन अथवा अल्लाह इत्यादि का समानार्थी नहीं है

अरूपान्तरणीयता का प्रश्न 'ओम' की ध्वनि और प्रतीक के अंग्रेज़ी लिप्यान्तरण में अत्यधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। 'ॐ' के महत्व को बहुत पहले से ही स्वीकारा गया है, यहाँ तक कि पश्चिम में भी, जहाँ योगाभ्यासी इसकी मूल ध्वनि को सुरक्षित रखने का प्रयास करते हैं। 'ॐ' को हिन्दू धर्म की प्रत्येक प्रणाली जैसे वैष्णव, शैव, तन्त्र, श्री-विद्या, पतंजलि योग-सूत्र, शब्द-ब्रह्म, नाद-ब्रह्म एवं नाद-योग के साथ-साथ विभिन्न वैय्याकरणीय शिक्षा संस्थानों तथा स्फ़ोट सिद्धान्त इत्यादि में एक व्यापक और गहन जाँच और अभ्यास के विषय के रूप में लिया गया है। अनगिनत वैदिक मन्त्रों में 'ओम' निहित है।[59] बौद्ध, जैन और सिख धर्मों में भी ऐसा ही है।

विशेषकर ईसाइयों के योग (Christian Yoga) के अभ्यास में एक प्रचलित किन्तु त्रुटिपूर्ण तथ्य यह है कि 'ॐ' को 'आमीन' या 'यीशु' से विस्थापित कर दिया जाता है। 'ओम' के मन्त्र वाले पहलू को किसी समानार्थी शब्द द्वारा बदला नहीं जा सकता। 'ओम' ईश्वर का कम्पन है जो अनुकूल मन:स्थिति में आसन्न है। ऋषि पतंजलि ने 'ॐ' को ईश्वर का प्रवक्ता कहा है। अत: इससे जो अनुभव प्राप्त होता है उसे ईश्वर के किसी दूसरे नाम की वैकल्पिक ध्वनि से उत्पन्न नहीं किया जा सकता।

जब 2007 में बाबा रामदेव (जो निश्चित रूप से आज भारत में योगाभ्यास के सबसे लोकप्रिय प्रतिनिधि हैं) ने अमरीका का दौरा किया था तब एक पत्रकार ने उनसे सवाल किया—''अमरीका में कुछ लोग योग को 'ईसाई योग' कहते हैं। क्या यह उचित है?'' तब बाबा रामदेव ने कहा—

> ''जब कोई योगाभ्यास कर रहा हो तब वह 'ॐ' का उच्चारण कर सकता है। जबकि दूसरा व्यक्ति 'अल्लाह-ो-अकबर' या यीशु का नाम ले सकता है। 'योग' एक विज्ञान है और सभी लोगों के लिए है। वह विज्ञान ही था जिसने बिजली का आविष्कार किया और हवाई जहाज बनाये। ये किसी विशेष वर्ग के लोगों के लिए नहीं हैं बल्कि सभी के लिए हैं, चाहे उनकी धार्मिक मान्यता कुछ भी हो। इसी तरह 'योग' भी सभी के लिए है।''[60]

लेकिन बाबा रामदेव एक मूल बिन्दु भूल गये। माना कि बिजली एक सार्वभौमिक शक्ति है, परन्तु धनात्मक छोर को ऋणात्मक छोर से बदला नहीं जा सकता या ताँबे के तार को किसी अन्य गुणधर्म के तार से बदल कर समान परिणाम की आशा नहीं

की जा सकती। साधारणत: एक औषधि को दूसरी से बदला नहीं जा सकता; प्रत्येक के अपने विशिष्ट गुण-स्वभाव होते हैं और वह विशेष परिणाम उत्पन्न करने के लिए कुछ निश्चित स्थितियों में ही अनुकूल है। महर्षि महेश योगी ने कई बार बताया कि प्रत्येक 'बीज-मन्त्रों' की ध्वनि विशिष्ट ध्वनि होती है जिसके निश्चित प्रभाव ज्ञात हैं। सार्वभौमिक प्रायोगिकता का अर्थ है कि विशेष परिस्थितियों में एक विशिष्ट प्रक्रिया समान परिणाम उत्पन्न करती है। एक 'बीज-मन्त्र' को किसी दूसरी मनमानी ध्वनि से बदलने से निवेश बदल जाते हैं और विज्ञान के अनुसार इसका स्वाभाविक अर्थ यह है कि उत्पाद भी बदल जायेंगे।

दुर्भाग्य से बाबा रामदेव यह समझाने का मौका चूक गये कि 'ओम' के उच्चारण का अभ्यास मानव मन-बुद्धि से 'नाम-रूप' (नाम और रूप सम्बन्धी सन्दर्भ) को मिटाने के लिए किया जाता है। मन्त्र के पीछे वैज्ञानिक सिद्धान्त का यही आधार है। सभी इंगित सन्दर्भों के परे जाने की उसकी क्षमता में ही उसकी सर्वभौमिकता निहित है। 'यीशु' और 'अल्लाह' व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ हैं जो ऐतिहासिक सन्दर्भों (अर्थात नाम-रूप) से लदी हुई हैं। यदि बाबा रामदेव को 'ओम' का दूसरे नामों के साथ वैज्ञानिक समीकरण बैठाना है तो आवश्यक है कि पहले वे 'यीशु' और 'अल्लाह' जैसे ऐतिहासिक सन्दर्भों वाले शब्दों के राग का आनुभविक अध्ययन करें; उसके बाद ही वे यह निर्धारित करने की स्थिति में होंगे कि इन नामों का प्रभाव 'ओम' के मान्त्रिक प्रभाव जैसा ही है।

'दु:ख,' Suffering (पीड़ा) का समकक्ष नहीं है

भारतीय धार्मिक परम्पराओं में आमतौर पर यह माना जाता है कि मानव की समस्याओं का स्रोत अधूरा या गलत संज्ञान है, जो हमारे संस्कारों का परिणाम है। अपनी वास्तविक प्रकृति की पूरी समझ हुए बिना हम इस संसार की भौतिक वस्तुओं, विचारों, अवधारणाओं और भावनाओं को, जिन्हें हम वास्तविक मानते हैं, अलगाव की अवधारणा से रंगते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो यह संसार हमारे रहने के लिए अति क्षणभंगुर लगता और नियन्त्रण करने और सुरक्षा की हमारी आवश्यकता क्षीण होती जाती। संसार को द्वैतवादी मानने से बौद्धों की मान्यता अनुसार दुख (सन्तोष की कमी, उदासी या चिन्ता) प्राप्त होता है। यद्यपि हम यह समझ पाते हैं कि शारीरिक और मानसिक इकाइयों का निर्माण उनसे छोटी-छोटी इकाइयों द्वारा हुआ है जो और भी सूक्ष्म इकाइयों से बनी हैं, परन्तु अधिकांश लोग इस विचार को स्वीकार करने में असमर्थ हैं कि संसार में कोई भी स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं। भगवद्गीता (12.5) के श्लोकों में इस समस्या की चर्चा की गई है जो यह सलाह देते हैं कि निराकार ब्रह्म के प्रति समर्पण की अपेक्षा ईश्वर के प्रति व्यक्तिगत भक्ति अधिक आसान और प्रभावशाली है। पश्चिमी दार्शनिक स्वतन्त्र अस्मिता को 'सार' या 'पदार्थ' कहते हैं,

परन्तु भारतीय धार्मिक दृष्टिकोण के अनुसार ऐसे सार और पदार्थों में आस्था करना अज्ञानता है।

अद्वैतवादी हिन्दू तथा बौद्ध दोनों ही इस व्यावहारिक वास्तविकता (संसार) का विश्लेषण करते हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न परिणामों के साथ। हिन्दू विखण्डन ब्रह्म या भगवान रूपी परमेश्वर में जा कर रुकता है जहाँ कोई अलग विषय-वस्तु नहीं रहती, न ही पृथक श्रेणियाँ हीं। दूसरी ओर बौद्ध विखण्डन किसी परमेश्वर में नहीं बल्कि क्षणभंगुर होती इकाइयों की प्रक्रियाओं, जो चक्राकार/पारस्परिक रूप में आपस में जुड़ी हुई अत: अजन्मी हैं, में रुकता है। फिर भी दोनों में कोई आरम्भ नहीं है; एक में अद्वैतवाद है तथा दूसरे में पृथक अस्थायी और सापेक्ष्य तत्व हैं।

यहूदी और ईसाई मतों में मनुष्य और परमात्मा के बीच अभिन्न एकता को न समझ सकने का कारण उनकी पूर्ण द्वैतवादी अवधारणा है, अर्थात् अनुभव होने वाली (वस्तु) और अनुभव करने वाले (व्यक्ति) को अलग मानना। द्वैतवादी सोच में जी कर अपने उद्देश्यों की पूर्ति और लालसाओं को उनका अहंकार सन्तुष्ट करता है और नापसन्द चीज़ों से बचता है, चाहे ये उद्देश्य टिकाऊ नहीं हैं। क्योंकि अहं यह मानता है कि इकाइयाँ अपने ही बल पर टिकी हैं, इसलिए उनका संग्रहण सिद्धान्तत: किया जा सकता है। उनकी अलग इकाइयों के रूप में अस्तित्व-हीनता अहं को स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि ऐसा होने से अहं की खोज भ्रामक, असम्भव और व्यर्थ सिद्ध होगी। उनके लिए अहं की सबसे अस्वीकार्य धारणा यह है कि यह अपने-आप में मन-बुद्धि का बनाया एक कृत्रिम ढाँचा है, अत: एक भ्रम है। यह साफ़ दिखाई देता है कि किस तरह अपने को अलग मानने वाला यह अहंभाव अपनी इस धारणा को भौतिक, मानसिक और भावनात्मक इकाइयों पर थोपता है। इस प्रकार अहंकार के पुरुषार्थ केवल अपने को ही पोषित और मजबूत करने के लिए ही होते हैं।

द्वैतवाद सोच वाली प्रणालियों के अतिरिक्त सभी भारतीय धार्मिक प्रणालियाँ व्यक्ति से द्वैतवाद से ऊपर उठने के लिए एक मौलिक संज्ञानात्मक परिवर्तन की अपेक्षा करती हैं, ताकि पृथक विषयों के प्रति आसक्ति समाप्त हो। पृथक इकाइयों में स्वयं ही सन्तुष्ट करने की क्षमता है, ऐसी धारणा 'अविद्या' है। परन्तु इस अविद्यामय चेतना की सामान्य स्थिति से परे जा कर तथा परम सत्य के साथ एकाकार हो कर ही परम का प्रत्यक्ष अनुभव हम कर सकते हैं। पश्चिमी दार्शनिकों के पूर्णतया काल्पनिक व देहमुक्त सार्वभौमिक सार, जो अन्तत: अज्ञेय एवं अप्राप्य माने जाते हैं, के मुकाबले आन्तरिक विज्ञान के अनुभवों और पद्धतियों द्वारा बुद्धत्व और ब्रह्म या भगवान ज्ञेय और प्राप्त होने योग्य विश्वासपूर्वक घोषित किये जा सकते हैं।

सभी भारतीय धार्मिक सम्प्रदाय मानते हैं कि अहंकार द्वैतवाद से ग्रसित होता है, इसलिए भी वे अहंकार को महत्वपूर्ण बनाने व उसे मजबूत करने को अस्वीकार करते हैं? जिस एक प्रश्न पर उनमें अनेक मत हैं वह यह है कि उसके सच्चे स्वरूप का ज्ञान होने के बाद अस्मिता या 'आत्मा' का क्या होता है। अधिकांश हिन्दू धार्मिक

मान्यताओं के अनुसार 'आत्मा' ही अन्तिम सत्य है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार माया से मुक्ति ही ब्रह्म के साथ एकाकार होना है। श्री जीव गोस्वामी (सन् 1513-98) की व्याख्या के अनुसार सभी जीव और पदार्थ भगवान के ही रूप हैं, इसलिए उनसे अलग नहीं हैं। हालाँकि बौद्ध (विभिन्न आध्यात्मिक तर्कों से) इस बात पर ज़ोर देते हैं कि जब स्वयं अस्मिता परस्पर निर्भरता के जाल से अलग नहीं है तो उससे परे कोई परमात्मा नहीं है जिससे मिलन होना हो। जो भी हो, इन जीवों में हिन्दू और बौद्ध अहंकार से मुक्ति आनन्द की एकत्वावस्था तक ले जाती है। व्यावहारिक रूप से ब्रह्म या भगवान की अवधारणा बौद्धों की परस्पर-निर्भरता के अनुरूप है जहाँ दोनों में बिना किसी असम्बद्ध विचार या द्वैतवादी अनुभव के पूर्ण अस्तित्वों से साक्षात् होता है। परिशिष्ट ''क'' में इन बिन्दुओं पर आगे चर्चा की गई है।

डेविड लॉय David Loy ने बौद्ध दृष्टिकोण से पश्चिमी इतिहास पर शोधकार्य किया है। उनकी पुस्तक 'पश्चिम का बौद्ध इतिहास' (The Buddhist History the West) बताती है कि पश्चिम और उसके अलग-अलग भाग अस्मिता की विकृत अवधारणा पर आधारित हैं।[61] इस अस्मिता का निर्माण द्वैतवादी सोच से हुआ है, जिससे अस्मिता और दूसरों के बीच तनाव अन्तर्निहित है। धार्मिक सिद्धान्तों के प्रयोग से डेविड लॉय ने बताया है कि अस्मिता की ऐसी कोई भी अवधारणा 'अभाव' की अनुभूति पर निर्भर है जो 'दुख' के समान है या मेरे विचार में 'अमूर्त होने' जैसा है। इस प्रकार की पृथकता का भाव या देहमुक्त अस्मिता की मनोवैज्ञानिक स्थिति के परिणामस्वरूप हालात के प्रति चिन्ता तो पैदा होती ही है और किसी हद तक यह भी सन्देह होता है कि कहीं न कहीं कुछ गड़बड़ है और इस बेचैनी को किसी प्रकार के बाहरी, भौतिक, मनोवैज्ञानिक या बौद्धिक परिवर्तन के उपचार की आवश्यकता है।

'दुःख' एक मनोवैज्ञानिक अवस्था है जिसमें अस्मिता जितने ज़ोर से स्वयं को दृढ़ता से आगे बढ़ाती है, उतना ही ज़्यादा उसे उस वस्तु का अभाव खटकता है जो उसके पास नहीं है। अपनी प्रकृति से ही उसमें आत्मनिर्भरता नहीं है और बाहरी वस्तुओं की लालसा से अभाव की भावना उत्पन्न होती है। इसके विपरीत दुःख जितना अधिक होगा समस्या से निपटने के लिए अस्मिता और अधिक अधिकार प्राप्त शक्तिशाली कारक के रूप में कार्य करेगी। डेविड लॉय पश्चिमी इतिहास को 'सामूहिक अस्मिता' की अवधारणा के विकास के सन्दर्भ में व्यक्त करते हैं जहाँ प्रत्येक स्तर पर उसे विभिन्न अभावों और दुख का सामना करना पड़ता है और इनके निवारण हेतु उपाय तो सोचे जाते हैं, परन्तु वे उसे मिलते नहीं।

पीड़ा के निवारण हेतु पश्चिमी मुक्ति का विचार उसे बाहर ढूँढ़ने के रूप में परिभाषित किया गया है। ओर्लैंडो पैटर्सन (Orlando Patterson) लिखते हैं कि स्वतन्त्रता का जो मूल्य पश्चिम ने स्थापित किया है वह मानव सभ्यता द्वारा सोचे गये किसी अन्य मूल्य की अपेक्षा बेहतर है।[62] परन्तु वह इस प्रयास की निरर्थकता से भी अवगत है—

''क्योंकि अस्मिता का अस्तित्व और ऐसी अस्मिता का प्रभुत्व एक भ्रम है तो ऐसी अस्मिता अपने सच्चे स्वरूप का अनुभव कभी नहीं कर पायेगी, अर्थात् वह पर्याप्त मुक्ति के अनुभव से वंचित रहेगी। यह अपने अभाव का समाधान करने के लिए अपनी स्वतन्त्रता के क्षेत्र का विस्तार करेगी जो इतना बड़ा कभी नहीं हो सकता कि सन्तोषजनक हो।''[63]

डेविड लॉय यह भी सुझाव देते हैं कि मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण इत्यादि मुक्ति की वैकल्पिक अवधारणाएँ हैं जिन पर पश्चिम ने पर्याप्त और गम्भीर रूप से विचार नहीं किया है। प्राचीनकाल के यूनानियों में सुकरात (Socrates) और प्लेटो (Plato) ने आन्तरिक क्षेत्र पर ध्यान दिया और आन्तरिक व बाह्य क्षेत्रों के बीच सामंजस्य लाने की आवश्यकता जताई। परन्तु भारतीयों से अलग, 'योग' के अभाव की वजह से, मुक्ति सम्बन्धी उनका ज्ञान अमूर्त प्रकार के तर्क पर आधारित था। लॉय का तर्क है कि मुक्ति सम्बन्धी पश्चिमी इतिहास उसकी अस्मिता की छवि के आदेश से संचालित है जो एक सीमित संसार में अनन्त विस्तार की अपेक्षा करता है। वे बताते हैं कि पाप की अवधारणा वर्तमान स्थिति में दु:खों का सामना करने की व्याख्या बन गई है; योग द्वारा आत्म-निरीक्षण करके नहीं बल्कि वर्तमान क्षण को भुला कर भविष्य में मुक्ति के सुहाने परिदृश्य में कल्पना कर। मौलिक पाप (original sin) ने ईसाइयों की व्यक्तिवादी अवधारणा को दूषित किया जो पाप के बन्धन से मुक्ति हेतु एक पूर्व शर्त है।

यीशु अवतार नहीं

ईसाइयों का मानना है कि केवल यीशु ही पूर्ण रूप से ईश्वर के साथ शारीरिक और आध्यात्मिक रूप से एक हैं। यीशु को प्राय: एक हिन्दू शब्द 'अवतार' के रूप में वर्णित करने के प्रयास होते हैं। संस्कृत में अवतार शब्द का अर्थ है 'दृश्य स्वरूप में अवतरण' तथा यह हमें पूर्णता की उच्चतर अवस्था में ले जाने हेतु भगवान का मानव (या ग़ैर-मानव भी) रूप में पृथ्वी पर आने का उल्लेख करता है।

'अवतार' के सजातीय अर्थ भी हैं। फिर भी दोनों ही सन्दर्भों में ईश्वर सर्वशक्तिमान हैं और कुछ भी कर सकते हैं, यद्यपि वे मानव नियमों के, जो उन्हीं के द्वारा निर्मित हैं, अन्तर्गत कार्य करने के लिए एक दृश्य स्वरूप में अवतार लेते हैं। विशेषकर मानव रूप में आन्तरिक विजय या नया आत्म-बोध प्राप्त करके अवतार प्रत्येक मानव की चेतना की क्षमता को विकसित करते हैं, ताकि वह स्वयं उन्हीं के समान आन्तरिक विजय या आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सके। इस अर्थ में अवतार एक प्रकार का अवतरण है, जैसा यीशु ईसाइयत में है। वे जानबूझकर स्वैच्छिक आत्म-प्रतिबन्ध अंगीकार कर अपनी गतिविधियाँ करते हैं। 'अवतार' अनन्त ज्ञान से पूर्ण होते हैं जिसका उपयोग वे कर सकते हैं, हालाँकि साधारणत: वे ऐसा नहीं करते या चुनिन्दा रूप में करते हैं। यह सब कुछ यीशु के सांसारिक जीवन के दौरान लागू होता है।

परन्तु मौलिक पाप और मुक्तिदाता की भूमिका में यीशु को देखते हुए 'अवतार' और 'यीशु' के बीच अलंघ्य भिन्नताएँ हैं। एंटोनियो डे निकोलस (Antonio de Nicolas) ने यीशु के मुक्तिदाता स्वरूप और हिन्दू धर्म के 'अवतार' सम्बन्धी अवधारणा में अन्तर को एक श्रेष्ठ उदाहरण से स्पष्ट किया है। उन्होंने यीशु का वर्णन इस प्रकार किया है—

> ''पापी मानव प्रजाति और God के बीच उद्धारकर्ता छवि मध्यस्थ के रूप में है। हम इस छवि को बलि के बकरे के रूप में भी जानते हैं जो स्थानापन्न शासक के समान है। किसी को एक निश्चित अवसर पर समूचे समुदाय के उद्धार हेतु बलि के लिए चुना गया है। वह अमर दिव्यता प्राप्त करता है, अन्य मनुष्यों को बचाता है, अपने परमपिता को रंगमंच पर लाता है, उसके अनुयायी उसके नाम पर चर्च की स्थापना करते हैं और यही अनुयायी व्यवहारिक सिद्धान्तों के आधार पर एक आख्यान, एक मतशास्त्र और व्यवहार में नैतिकता की स्थापना करते हैं। 'उद्धारक/पापी' की योजना में व्यक्तियों को अपने आध्यात्मिक ज्ञान को बढ़ाने के लिए बहुत ज़्यादा गुंजाइश नहीं है, क्योंकि अन्तत: हम पापी हैं, हमारा जन्म पाप से हुआ है और हमारा व्यक्तिगत उद्धार एक उपहार है, बशर्ते हम नैतिकता के बनाये गये सिद्धान्तों का पालन करें। ऐसा ईश्वर के उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करने या इस योजना से कतराने के परिणामस्वरूप नहीं है। यहूदी, इस्लाम और ईसाई पन्थ इस नमूने के अनुयायी और संस्थापक हैं। God और नैतिकता सम्बन्धी नियम बाहर से आते हैं और इन अनुयायियों के जीवन का लक्ष्य है कि संसार के सभी मनुष्यों को इस नमूने के समक्ष आत्मसमर्पण करवाया जाये, चाहे वह बलपूर्वक हो अथवा धर्मान्तरण द्वारा। इस नमूने में व्यक्ति केवल नाम के लिए ही व्यक्ति है, क्योंकि वास्तव में व्यक्ति की पूर्णता तो इस नमूने के सामने पूर्ण समर्पण करने में ही है। नमूने को व्यक्तियों में इस प्रकार सम्मिलित किया गया है कि व्यक्तियों के रूप में नमूना ही प्रत्येक पालन करने वाले व्यक्ति के माध्यम से कार्य करता है। अत: जहाँ कहीं हिंसा होती है वहाँ यह उद्धारकर्ता नमूना अपना काम कर रहा होता है।''[64]

परन्तु 'अवतार' एकदम भिन्न अवधारणा है—

> ''दूसरी ओर अवतार के नमूने में उद्धारकर्ता की तुलना में मानव के विकास की अपार सम्भावनाएँ हैं, 'असत्' (अराजकता) की सम्भावना की वह भाषा जहाँ मानव आकारों के सभी सम्भव रेखा-चित्र, नायकों, देवताओं, मनुष्यों इत्यादि के रूप में जन्म लेने की प्रतीक्षा कर रहे हैं, से ले कर यज्ञ और छवियों की भाषा जहाँ सभी नाम-रूपों को होम करना है। देवता सृजन के पक्ष में इस पार हैं और वे कार्यरत असंख्य मस्तिष्कों के आन्तरिक मूर्त रूप हैं। नामों की अपेक्षा अन्त:करण कार्यरत हैं। ये कार्य इतने प्रभावशाली हैं कि वे नये देवता भी गढ़

सकते हैं, कार्य के नये केन्द्र स्थापित कर सकते हैं जिनसे मानव विवेक को सही निर्णय लेने में सहायता मिले। यहाँ नैतिकता पर चलने के कोई पूर्व-स्थापित मानक नहीं हैं जिनसे समझौता होना है...।''[65]

ईसाइयत का विशिष्ट दावा कि यीशु ही एकमात्र अवतार थे भारतीय धार्मिक पद्धतियों को अस्वीकार्य है। भारतीय धार्मिक परम्परा में समय की माँग के अनुसार प्रत्येक अवतार शाश्वत् सत्य को नये सिरे से स्थापित करने के लिए आते हैं। ईसाइयत द्वारा स्थापित शर्तों के अनुसार यीशु को अवतार के रूप में स्वीकार करने का अर्थ है उसे विशिष्ट स्थान देना; इससे श्री कृष्ण जैसे और सभी अवतार अवैध हो जायेंगे।

जैसा कि श्री अरविन्द बताते हैं—

''भारत ने प्राचीन काल से ही अवतारों की वास्तविकता, विशिष्ट रूप में अवतरण और मानवता में भगवद्-चेतना के रहस्योद्घाटन के लिए माना है। वास्तव में पश्चिम में यह धारणा लोगों के मस्तिष्क पर अपनी छाप कभी नहीं बना पाई क्योंकि इसे चर्च की हठधर्मिता के रूप में बहिरंग ईसाइयत द्वारा, बिना तर्क, सामान्य चेतना और जीवन के प्रति दृष्टिकोण के किसी आधार के प्रस्तुत किया गया है। परन्तु भारत में यह सोच फली-फूली है और जीवन के वेदान्तिक दृष्टिकोण के एक तार्किक परिणाम की तरह दृढ़ बनी रही है और उसने लोगों की चेतना में मजबूत जड़ें जमा ली हैं। सभी अस्तित्व ईश्वर की अभिव्यक्तियाँ हैं क्योंकि उसके अतिरिक्त कोई भी अस्तित्व नहीं है, यदि होगा तो या तो वह एक वास्तविक रूप या फिर उस वास्तविकता के कल्पित रूप में होगा। अत: प्रत्येक चेतन जीव किसी हद तक नाम-रूप के प्रकट सीमित ढाँचे में अनन्त का ही अवतरण है। परन्तु यह आवरणयुक्त अभिव्यक्ति है और परम चेतना और जीव-चेतना के बीच के क्रमिक सम्बन्ध आंशिक या पूर्ण रूप से सीमित अस्मिता के अज्ञान के पर्दे के पीछे छुपे हुए होते हैं।''[66]

यही ईश्वर-रूपी ब्रह्माण्ड है जिसे हम 'संसार' कहते हैं और इसकी ईश्वरीय लीला विविध रूपों की विशाल श्रृंखला में प्रकट होती है; अत: वास्तव में मानव अपने-आप में ईश्वर का ही रूप है, उससे कम नहीं। ब्रह्माण्ड का विकास परमात्मा की चेतना का ही अनावरण है। इस अभिव्यक्ति का एक उद्देश्य है और उसके सत्य विभिन्न रूपों की श्रृंखलाओं, जैसे शान्ति, सद्भाव, शक्ति, युद्ध और विजय, ज्ञान और प्रकाश, सुन्दरता, प्रफुल्लता इत्यादि में व्यक्त होते हैं। श्री अरविन्द बताते हैं कि जब ईश्वर रूपी मानव अपने को पहचान लेता है और उसी मानसिक प्रारूप के अनुसार कार्य करता है तब उस नये जन्म के रूप में अभिव्यक्ति अनुकूल स्थिति की होती है; यह ईश्वर का पूर्ण चेतन अवतरण है, इसी को 'अवतार' कहते है।[67]

सृजन के उद्देश्य के लिए परमात्मा कई विशेष संचालकों का रूप लेता है; इनमें से प्रत्येक विशिष्ट सत्य की अभिव्यक्ति का निरीक्षण करता है। किसी चरित्र की

अभिव्यक्ति पूर्ण अवतरण में हो सकती है जिसे अवतार कहते हैं या फिर किसी विशिष्ट सत्य की अभिव्यक्ति के रूप में, जिसे 'विभूति' कहते हैं। इस प्रकार 'अवतार' ईश्वर का दृश्य रूप है, जबकि 'विभूति' उसके अनन्त गुणों में से एक या अधिक की अभिव्यक्ति है। दूसरे शब्दों में, एक अवतार विभूति भी है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि कोई विभूति अवतार भी हो। उदाहरण के लिए श्री कृष्ण अवतार के साथ-साथ विभूति भी हैं, जबकि अर्जुन केवल विभूति है। इसी तरह एक बहादुर शासक, उषण, भी केवल एक विभूति है।[68]

पैग़म्बरों के विपरीत 'अवतार' परमेश्वर की ओर से चुने गये मध्यस्थों के रूप में कार्य नहीं करते और न ही इतिहास को आकार देने की ईश्वर की इच्छा को समझने के लिए मनुष्यों का उन्हें जानना आवश्यक है।

'पवित्र आत्मा' (Holy Spirit), 'शक्ति' या 'कुंडलिनी' के समकक्ष नहीं

सर्वधर्म समभाव की प्रचलित खोज में प्राय: यह सुझाव दिया जाता है कि ईसाइयत की Holy Spirit हिन्दू धर्म में 'शक्ति' या 'कुंडलिनी' के समकक्ष है। हालाँकि कोई भी मत दूसरे से बेहतर नहीं है, परन्तु ये शब्दावलियाँ केवल भिन्न अर्थ में ही नहीं बल्कि ईश्वर का परस्पर बिल्कुल असंगत प्रतिनिधित्व प्रस्तुत करती हैं। अन्य बातों के साथ वे विश्व विज्ञान की असमान अवधारणाओं पर आधारित हैं।

प्राचीन वैदिक साहित्य के अनुसार परमात्मा ने अपनी रचनात्मक शक्ति से इस ब्रह्माण्ड की रचना की। आगे चल कर इसी शक्ति को सर्वेश्वरी देवी के रूप में व्यवस्थित किया गया जिसका परिष्कृत धर्मशास्त्र और पूजा की विधियाँ हैं। यह संसार उसी की अभिव्यक्ति है। वह इस ब्रह्माण्ड का साँचा और मूल पदार्थ है, चेतना और शक्ति है और सभी रूपों को पृथकता प्रदान करने का साधन है जो समरूपता में धँसने से बचाने के लिए उनकी अन्तर्निहित एकता को ढके रहती है।

परिष्कृत धार्मिक कर्म-काण्ड और ध्यान पद्धतियाँ प्रत्येक वस्तु में 'शक्ति' की दिव्य उपस्थिति का आभास एवं उससे एकता का भाव उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिए ध्यान की एक पद्धति की प्रचलित शैली के आकृति चित्र (श्रीयन्त्र) में ऊपर और नीचे की दिशा की ओर एक दूसरे को काटते हुए त्रिकोण 'शक्ति' के आरोही और अवरोही झुकाव को प्रदर्शित करते हैं।

हालाँकि ईसाइयत में भी 'पवित्र आत्मा' (Holy Spirit) मनुष्य के भीतर ही है, परन्तु वहाँ स्वयं के बाहर 'ऊपर' से हुए अवतरण पर अधिक बल दिया गया है। इसके अतिरिक्त 'शक्ति' की तुलना में Holy Spirit को मानव-अस्मिता या ब्रह्माण्ड के सार के रूप में नहीं देखा जाता। ईसाई मत ईश्वर और उसकी सृष्टि के बीच एक निहित द्वैतवाद को मानता है। इस कारण हम तक सत्य को प्रस्तुत करने के लिए ऐतिहासिक रहस्योद्घाटनों, पैग़म्बरों, पादरियों और संस्थाओं की आवश्यकता पड़ती है। लेकिन

दैवीय 'शक्ति' के सर्वव्यापी और सब में अन्तर्निहित होने के कारण इसे ईसाइयत जैसी संस्थाओं पर निर्भर नहीं रहना पड़ता; उनकी अनुभूति योग क्रियाओं द्वारा अन्तर्मन में झाँक कर की जा सकती है।

क्योंकि ब्रह्माण्ड कुछ और नहीं 'शक्ति की सर्वव्यापकता' ही है, तो यह कहा जा सकता है कि स्त्रैण प्रकृति रूप के प्रति संवेदना यथार्थ में निहित है। लगभग प्रत्येक हिन्दू गाँव में एक विशिष्ट देवी प्राय: 'ग्रामदेवी' के स्वरूप में होती है। विभिन्न हिन्दू मान्यताओं में 'शक्ति' को भिन्न-भिन्न रूपों में देखा गया है, परन्तु हिन्दू धर्म के प्रत्येक नर देवता की दिव्यता उसमें निहित स्त्री 'शक्ति' के कारण ही है।

'शक्ति' सदैव हमारे भौतिक शरीर में होती है। एक हिन्दू शास्त्र के अनुसार ''मनुष्य का शरीर देवी का मन्दिर है।'' इसलिए उसे सात नाभिकीय बिन्दुओं ('चक्र') की धाराओं की श्रृंखला के रूप में अनुभव किया जा सकता है। 'शक्ति' की केन्द्रित मनो-आध्यात्मिक ऊर्जा (कुंडलिनी) हर व्यक्ति की मेरुदण्ड के निचले भाग में स्थित है। विभिन्न आध्यात्मिक साधनाओं द्वारा कुण्डलिनी को जागृत करके चक्रों द्वारा ऊपर की ओर पहुँचाया जाता है जिससे व्यक्ति द्वैतवाद से मुक्त हो कर एकत्व चेतना प्राप्त करता है। इस एकत्व चेतना से अलग कोई स्वर्ग नहीं है।

मानव शरीर की अवधारणा ईसाइयत में अलग तरह से की गई है। एक ओर तो मानव ईश्वर की छवि में निर्मित है, वहीं दूसरी ओर शरीर को मूल पाप (original sin) के प्रसारण का माध्यम माना गया है जिससे व्यक्ति बुरी आत्माओं से प्रभावित हो सकता है। हिन्दू धर्म में कुण्डलिनी को प्राय: शुभ फण फैलाये एक कोबरा नाग के रूप में चित्रित किया जाता है। लेकिन ईसाइयत का केन्द्रीय मिथक एक ऐसा नाग है जो बुराई का अवतार है।

हिन्दू धर्म में गुरु शिष्य की कुण्डलिनी जागृत करने तथा उस अनुभव को सामान्य जीवन में समाहित करने में सहायता करता है। कई आश्रम कुण्डलिनी जागृत करने के लिए विशेष सहायता प्रदान करते हैं जिसमें कभी-कभी अस्थायी लक्षण, जैसे शरीर में कम्पन, सहज अभिव्यक्ति और गहन भक्तिभाव उत्पन्न होते हैं। यह सभी घटनाएँ व्यक्तिगत हैं और साधक की सुरक्षा को छोड़ कर आश्रम की ओर से उन्हें नियन्त्रित करने का कोई प्रयास नहीं होता। सबसे महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि इस अनुभव को ईसाइयत के किसी विशिष्ट इतिहास के माध्यम द्वारा की हुई व्याख्या जैसे व्यक्त नहीं किया जाता।

कुण्डलिनी जागरण जैसे लक्षण की घटनाएँ छिटपुट स्वरूप में ईसाइयों में भी हुई हैं, परन्तु चर्च की प्रमुख सत्ता द्वारा इसे मतिभ्रंश माना गया है और यहाँ तक कि इसे शैतान का काम बताया गया है। जिन्हें ऐसे अनुभव हुए हैं उन्हें उनके विवेक पर सन्देह करने के लिए प्रेरित किया गया और प्राय: मानसिक रूप से बीमार माना गया। यहाँ तक कि उन्हें पागलख़ाने में भी भर्ती किया गया।[69]

हिन्दू धर्म में कोई 'बुरी आत्मा' या राक्षसी शक्ति नहीं है। 'शक्ति' सभी ध्रुवों को सम्मिलित करती है जिनमें वह एकसाथ एक भी है और अनेक भी, प्रकाश भी है और अँधकार भी, सहायक भी है और हिंसक रूपान्तरणकर्ता भी; ऐसे जोड़ों के दोनों छोरों को आध्यात्मिकता में एकीकृत करने की आवश्यकता है। काली की प्रचण्डता और अँधकार से ले कर पार्वती के स्नेहिल पालन-पोषण को हिन्दू धर्म परमात्मा के सभी पहलुओं के रूप में स्वीकार करता है।

यदि कभी कुण्डलिनी जागरण का कोई नकारात्मक प्रभाव होता भी है तो वह उस व्यक्ति की धारणा और प्रकृति के कारण होता है, न कि किन्हीं बाहरी बुरी आत्माओं के कारण। यहाँ पर पुन: बिजली का उदाहरण उपयोगी है। प्रत्येक विद्युत यान्त्रिक प्रक्रिया अन्तर्निहित रूप से न तो अच्छी है और न बुरी, वह अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार प्रतिक्रिया करती है। इसी दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप हिन्दूओं ने कुण्डलिनी जागरण को ले कर साहसी प्रयोग किये हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कि वैज्ञानिक विद्युत के साथ करते हैं।

ईसाइयत में अच्छे और बुरे के बीच द्वैतवाद पर बल देने के परिणामस्वरूप बुरी आत्माओं द्वारा आधिपत्य का भय पैदा होता है। इस भय को प्राय: मूर्तिपूजकों या उनके धर्म पर प्रक्षेपित करने का प्रयास हुआ है, विशेष रूप से हिन्दू देवी 'काली माँ' पर, जिसकी प्रचण्डता और काला रंग पश्चिमी लोगों के लिए भीषण रूप से चौंकाने वाला है। ऐसी बुरी आत्माओं से छुटकारा पाने के लिए कभी-कभी यीशु का नाम लेने या पास में बाइबल रखने की धारणा है।

'शक्ति' की अवधारणा स्त्री स्वरूपा है जिसके असंख्य रूप हैं तथा जब इसे ठीक से समझा जाता है तब कोई भी रूप अराजकता या बुरी आत्माओं के प्रति भय उत्पन्न नहीं करता। यदा-कदा Holy Spirit की भी कल्पना स्त्री रूप में की गई है, विशेषकर ओल्ड टेस्टामेण्ट्स में इसे ज्ञान की देवी 'सोफ़िया' (Sophia) के कुछ भजनों के साथ जोड़ कर देखा गया है। परन्तु यह सम्बन्ध साधारणत: ईसाइयत की मुख्यधारा ने स्वीकार नहीं किया। इसके अतिरिक्त ईसाइयत की सबसे प्रमुख स्त्री पात्र, 'कुवाँरी मैरी' (Virgin Mary) Holy Spirit के समरूप नहीं है। Holy Spirit बड़े ही रहस्यमयी ढंग से यीशु को वर्जिन मैरी के गर्भ में लाती है, परन्तु यह अनुभव छिट-पुट और असाधारण है और दूसरे मनुष्यों में सम्भव नहीं है, जबकि 'शक्ति' का अनुभव कोई भी कर सकता है। कुछ प्रतीकात्मक चिह्नों को छोड़ कर मैरी के अनुभवों को सभी ईसाइयों में प्रकट करने के किये कोई आध्यात्मिक प्रक्रियाएँ नहीं हैं।

कई अन्तर्संस्कृति विशेषज्ञ कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया का सम्बन्ध 'पेंटेकोस्टल' पूजा की घटना से करते हैं जिसे Holy Spirit के कार्य के रूप में वर्णित किया गया है। गुरु द्वारा जागृत कुण्डलिनी या 'शक्तिपथ' जैसे ही पेंटेकोस्टल अनुभवों में भी तीव्र शारीरिक प्रतिक्रियाएँ किसी चमत्कारी गुरु द्वारा प्रारम्भ की जा सकती हैं। हालाँकि ऐसे अनुभवों को ईसाइयत की मुख्यधारा द्वारा सन्देह की दृष्टि से देखा जाता

है। वास्तव में ईसाइ मतशास्त्रों में Holy Spirit को एक तरह के अपूर्वानुमेय घटक (wild card) के रूप में लिया गया है जिससे समझ के द्वार खुलते हैं, परन्तु उन्हें विधर्म के रूप में निन्दित किया जाता है।

विधर्म के ख़तरे को कम करने के लिए इन अनुभवों को सावधानी से 'पाप मुक्ति के लिए जारी संघर्ष' के सन्दर्भ के साथ नियमबद्ध किया जाता है और वह मुक्ति केवल यीशु की कृपा से ही मिल सकती है। 'शक्ति' के विपरीत Holy Spirit को योग प्रक्रियाओं द्वारा व्यक्ति के निजी आन्तरिक अनुभवों के रूप में प्रकट नहीं किया जाता, बल्कि बाहरी असाधारण सामुदायिक प्रार्थना के आह्वान द्वारा उसे अपने अन्दर बिठाया जाता है। विशेषकर पेंटेकोस्टल बुरी या शास्त्र विरुद्ध आत्माओं के ख़तरे के प्रति सचेत रहते हैं और अधिकांश तो किसी दूसरे मत के आध्यात्मिक अनुभव को एकदम ख़ारिज कर देते हैं, जिसके कारण विशेषकर हिन्दू गुरु सन्दिग्ध बन जाते हैं।

शक्ति को ईसाइयत के ढाँचे में गलत चित्रण का अगला परिणाम यह होता है कि हिन्दू देवी की पूजा को प्राय: गलती से वर्जिन मैरी की पूजा के समकक्ष रख दिया जाता है।[70] इस आध्यात्मिक विसंगति का एक उदाहरण हिन्दू धर्म में 'महादेवी' का है जिसमें दूसरी सभी देवियाँ, जैसे दुर्गा, काली, लक्ष्मी, सरस्वती, अम्बिका और उमा समाहित हैं। ईश्वरीय माता जिसे कभी-कभी शक्ति भी कहते हैं, ब्रह्माण्ड की दिव्य ऊर्जा की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति हैं जिसकी रचनात्मक शक्ति और गर्भ से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और उसके सभी रूप उत्पन्न होते हैं। पूरी सृष्टि उनकी शक्ति से आप्लावित है। बौद्ध धर्म में इसे करुणा का अवतार, 'क्वान यिन' (Kwan Yin), दिव्य स्त्री 'तारा' (Tara) या अपने असाधारण साधनों द्वारा परम्परा की 'महान माता' बनने वाली 'शेरप चामा' के रूपों में देखा गया है। ईश्वर को 'देवी माता' के रूप में पूजना हिन्दू और बौद्ध धर्म के कुछ सम्प्रदायों की विशेष देन है।

परमेश्वरी माँ विभिन्न शक्तियों, व्यक्तित्वों, उत्पत्तियों एवं विभूतियों की स्वामिनी है जिनके माध्यम से वे इस ब्रह्माण्ड में अपना कार्य करती हैं। विभिन्न रूपों एवं व्यक्तित्वों की इन उत्पत्तियों को मानव ने अलग-अलग नामों के अन्तर्गत अनादी काल से पूजा है। वह अपनी किसी भी या सभी अभिव्यक्तियों में देखी और अनुभव की जा सकती है। श्री अरविन्द परमेश्वरी माता के चार मुख्य पहलुओं को रेखांकित करते हैं—

1) 'महेश्वरी' शान्ति विस्तार एवं समझ में आने वाली बुद्धिमत्ता, सहज कृपा, अपार करुणा, श्रेष्ठ एवं असाधारण तेज तथा शासन की महिमा का प्रतिनिधित्व करता व्यक्तित्व हैं।

2) 'महाकाली' अपनी शानदार शक्ति और प्रबल जोश, योद्धा मनोदशा, जबर्दस्त इच्छाशक्ति, अत्यधिक स्फूर्ति एवं विश्व को हिला कर रख देने वाली ताकत का प्रतिनिधित्व करती हैं।

3) 'महालक्ष्मी' अपनी प्रेममय, मधुर एवं अद्भुत सुन्दरता के गोपनीय रहस्यों भरी सामंजस्यता तथा सटीक लयात्मकता, अपनी जटिल और गूढ़ समृद्धि, सम्मोहक आकर्षण और मनोहर कृपाशक्ति को प्रस्तुत करती हैं।

4) 'महासरस्वती' अपने विस्तृत ज्ञान की गुप्त और अथाह क्षमता, सतर्क एवं दोषहीन कार्य और सभी वस्तुओं में शान्तिपूर्ण और पारंगत दक्षता का प्रतिनिधित्व करती हैं।

श्री अरविन्द लिखते हैं कि ''किसी भी आमूल परिवर्तन को सम्भव बनाने के लिए श्रेष्ठतम माँ के इन चारों पहलुओं को अनुभव करना पड़ेगा। जब मानव मन, जीवन और शरीर इन चारों की सामंजस्यता और गतिविधियों की स्वतन्त्रता से रूपान्तरित होता है तभी मानव प्रकृति सक्रिय दिव्य प्रकृति में परिवर्तित हो सकती है''।[71] कोई व्यक्ति किसी एक पहलू का दूसरे में आसानी से अनुवाद करके विविधता को कम नहीं कर सकता। इसका अर्थ यह है कि साधक को अनुभूति होने के पहले सम्पूर्ण परिवर्तन की प्रक्रिया से गुज़रना पड़ेगा और यह परिवर्तन 'साधना' के माध्यम से ही हो सकता है।

वैदिक परम्परा में 'अदिति' को सभी देवताओं की माता या 'अनन्त माँ' के रूप में जाना जाता है। 'अदिति' दो अवयवों से मिल कर बना है, 'अ' और 'दिति' जिसमें उपसर्ग 'अ' निषेधात्मक है। 'दिति' शब्द संस्कृत के मूल 'दि' से निकला है जिसका अर्थ है काटना, विभाजन, अलग या विखण्डन करना, अर्थात् 'दिति' द्वैतवाद या अलगाव के अर्थ को सन्दर्भित करता है। इस प्रकार 'अदिति' शब्द उस एकता को सन्दर्भित करता है जो अविभाज्य है। सभी देवताओं की माता अदिति अविभाजित चेतना हैं जबकि 'दिति' जिसके द्वारा सभी 'दैत्यों' (राक्षसों) का जन्म हुआ है, विभाजित चेतना का रूप है।[72] प्रत्येक देवी अनन्त चैतन्य शक्ति अदिति का ही एक रूप है। विभिन्न हिन्दू परम्पराओं में अदिति को संकल्प, नियम, माया, प्रकृति और शक्ति आदि विभिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है। अदिति एक अनन्त चेतना है जो ब्रह्माण्ड में सभी चेतना रूपों का स्रोत है और सभी शक्तियाँ उसकी हैं।

तन्त्र शक्ति भी एक सर्वोच्च देव को मान्यता देती है जो सबका संचालन करते हैं और यह सर्वोच्च शक्ति आद्य देवी ही हैं। उसके दस विशिष्ट चरित्र हैं जिन्हें 'दश-महाविद्या' (या ज्ञान के दस पथ) कहा जाता है।[73] यही दस ज्ञान के स्रोत सम्पूर्ण ज्ञान की प्रणाली निर्धारित करते हैं। इनमें से प्रत्येक देवी एक विशिष्ट और मौलिक दायित्व को नियन्त्रित करती हैं तथा अस्तित्व के एक विशिष्ट रचनात्मक सिद्धान्त का संचालन करती हैं।

स्पष्ट है कि जिस प्रकार ईसाइयत में वर्जिन मैरी को निरूपित किया गया है वह साफ़ तौर पर हिन्दू धर्म में 'देवी' और उसकी बहुत-सी अभिव्यक्तियों को समझने व अनुभव करने से एकदम अलग है।

भारत के दक्षिणी भाग में धर्मान्तरण करने वालों ने एक बड़ा अभियान चलाया हुआ है जिसमें वर्जिन मैरी को हिन्दू देवी के विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उसके लिए समर्पित एक गिरजाघर में पूजा जैसे अनुष्ठान किये जाते हैं जिनमें फूल-मालाओं का उपयोग, फ़र्श पर बैठना, अगरबत्ती जलाना, प्रसाद बाँटना, आरती आदि का ढोंग किया जाता है। मूल निवासियों को यह विश्वास दिलाया जाता है कि वे अपने परिचित पैतृक धार्मिक माहौल और विश्वास के क्षेत्र में ही हैं और यह नई विदेशी देवी वास्तव में उनकी देवी के समान ही है, केवल यह आधुनिक प्रणाली की है जोकि साफ़-सुथरी, पूँजीवाली और गरीबों के प्रति उदार और दानशील है इत्यादि। इसी तरह चर्च द्वारा कई ईसाई सन्तों को ऋषियों की तरह स्थापित किया जाता है; यीशु को अवतार या योगी के रूप में प्रचारित किया जाता है और बाइबल को वेद के समान प्रसारित किया जाता है। कुछ भारतीय प्रचारकों ने तो 'शक्ति' शब्द के स्थान पर Holy Spirit (पवित्र आत्मा) शब्द का उपयोग करना आरम्भ कर दिया है। इस प्रकार के धूर्त प्रयासों ने बहुत से हिन्दुओं को स्वयं उनकी धार्मिक विशिष्टता और विश्वास के प्रति उलझन में डाल दिया है।

1960 के दशक से कई ईसाई विद्वानों, विशेषकर महिलाओं ने, ईसाइयत के कई विषयों विशेषकर इसके 'पितृ सत्तात्मक' मतशास्त्र और संस्थान, कमज़ोर पारिस्थितिकीय तन्त्र, योग पद्धति और उसमें सन्निहित तकनीक के अभाव इत्यादि का समाधान करने के लिए हिन्दू देवी के पहलुओं को आत्मसात किया। हालाँकि ये प्रयास प्रशंसनीय हैं, परन्तु सावधान रहना है कि कहीं 'शक्ति' की मूल हिन्दू अवधारणाएँ केवल जोड़-तोड़ (Add-on) के लिए ही तो उपयोग में नहीं लाई जा रहीं। परम्परा को अलग-अलग टुकड़ों में बाँट कर कुछ चुनिन्दा भागों को अपनाते हुए बाकी भागों को मिटाने से मूल स्रोत विकृत और क्षीण हो जाता है। 'शक्ति' को पालतू नहीं बनाया जा सकता।

ईसाइयों द्वारा 'शक्ति' और 'कुण्डलिनी' को प्रामाणिक तौर पर स्वीकृति देना जितना साधारण रूप से माना जाता है उससे कहीं अधिक चुनौतीपूर्ण है। ऐसा करना परमेश्वर की विविध अभिव्यक्तियों के विरुद्ध चर्च की सदियों से चली आ रही प्रताड़ना को ठुकराना होगा और ईसाइयत में परिवर्तन ला कर देवी को परमात्मा के रूप में स्थापित करना होगा। इससे बहुदेववादी, मूर्तिपूजक एवं अराजकता सम्बन्धी पुरानी स्मृतियाँ फिर से जागृत होंगी तथा यह चर्च की 'पवित्र त्रितत्व' (Holy Trinity) की पारम्परिक अवधारणा को भी चुनौती देगा।

'पैग़म्बर' या 'ईसाई सन्त' शब्द 'ऋषि,' 'गुरु' अथवा 'योगी' के समानार्थी नहीं हैं

पश्चिम में 'सन्त' शब्द उसके लिए प्रयोग किया जाता है जो पवित्र या सदाचारी है, अत: इस अर्थ के अनुसार यह ऋषि, गुरु अथवा योगी के समान दिखाई देता है, परन्तु

वास्तव में ऐसा है नहीं। 'साधु' अर्थात 'त्यागी' शायद पश्चिमी सन्त के ज़्यादा अनुरूप होगा, परन्तु यहाँ भी समस्याएँ हैं।

अन्य बातों के अतिरिक्त 'सन्त' शब्द रोमन कैथोलिक एवं रूढ़िवादी ईसाइयत में विशिष्ट संकेतार्थ लिए हुए है। इस शब्द की उत्पत्ति प्रारम्भिक चर्च में हुई थी।[74] इसके आधिकारिक एवं सटीक ईसाई शब्दार्थ के अनुसार यह रोमन कैथोलिक या रूढ़िवादी चर्च द्वारा मान्यता प्राप्त किसी ऐसे मृत व्यक्ति के लिए सन्दर्भित किया जाता है जो ईसाइयत के वादे के अनुसार स्वर्ग में पूर्ण रूप से मुक्त विचरण कर रहा हो और God का दिव्य आनन्द ले रहा हो। कैथोलिक चर्च की एक विशेष औपचारिक 'सन्त घोषणा' पद्धति है जो उन 'सन्तों' को मान्यता देती है जिन्हें ईसाइयों के लिए अनुकरणीय व्यक्ति के रूप में चुना जाता है। दस हज़ार से भी अधिक मान्यता प्राप्त कैथोलिक सन्त हैं और उनसे भी अधिक रूढ़िवादी चर्च में हैं। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि पुरुष अधिकांश मान्यता प्राप्त अभिषिक्त सन्त हैं (महिलाएं बहुत ही कम हैं) तथा बहुत से प्रारम्भिक सन्त वे हैं जो ईसाइयत के प्रचार-प्रसार और उसकी रक्षा में शहीद हुए थे। इन्हें चेतना की उन्नत स्थिति प्राप्त करने के लिए नहीं बल्कि उनके बलिदानों के लिए जाना जाता है।

साधुता मुक्ति से भिन्न है जो बपतिस्मा करवा कर और God को अपने जीवन में स्वीकार करने के बाद सभी विश्वास करने वालों को तत्काल उपलब्ध है और तभी खोई जा सकती है जब व्यक्ति बिना पश्चाताप किये पाप करता जाये। साधुता—दिव्य दृष्टि की सच्ची उपलब्धि, एक उच्च स्तर की समझ और ईश्वर से सीधा सम्पर्क—एक ऐसी प्रक्रिया है जो लम्बे समय तक सत्य के दर्शन द्वारा प्राप्त की जाती है, जिसमें प्राय: शहादत, तपस्या और दूसरों की सेवा जैसी कठिन परीक्षाओं से गुजरना पड़ता है।

पश्चिम के बहुत से साधू न तो रहस्यवादी थे और न ही मतशास्त्री। साधुता ध्यान या चिन्तन में किसी विशिष्ट अनुभवात्मक प्राप्ति या किसी अभिव्यक्ति को जिसे संस्कृत में 'सिद्धि' कहते हैं, की ओर संकेत नहीं करती। ईसाई लोग सन्तों को उच्च चेतना के क्षेत्र के किसी विशेषज्ञ की तरह नहीं देखते और न ही ऐसी स्थितियों की प्राप्ति साधुता के लिए आवश्यक मानी जाती है।

सन्त घोषित होने के लिए कठिन समय में भी व्यक्तिगत श्रद्धा और चमत्कार कर सकने की क्षमता आवश्यक है; इन गुणों को एक औपचारिक प्रक्रिया द्वारा स्थापित किया जाता है जो प्राय: व्यक्ति की मृत्यु के कुछ वर्षों बाद सम्पन्न की जाती है। चमत्कार महत्वपूर्ण है क्योंकि कैथोलिक ईसाई मानते हैं कि सन्त स्वर्ग से धरती के लोगों के लिए मध्यस्थता करते हैं और 'ईश्वर के मित्र' के रूप में उनके लिए प्रार्थना करते हैं, अर्थात् वे मानव और ईश्वर के बीच मध्यस्थ हैं।

प्रोटेस्टेण्ट मत में साधुता की कल्पना कुछ हद तक इस प्रतिरूप से भिन्न है क्योंकि यह मध्ययुगीन कैथोलिक सन्तों के अत्याचारों को अस्वीकृत करता है। प्रोटेस्टेण्टों ने

इन अत्याचारों को अँधविश्वास, मूर्तिपूजा और भ्रष्टाचार के संकेत की तरह देखा। इसलिए प्रोटेस्टेण्ट 'सन्त' शब्द के उपयोग का (सामान्य रूप से आध्यात्मिक लोगों को सन्दर्भित करने के अतिरिक्त) विरोध करते हैं, हालाँकि कई प्रोटेस्टेण्ट धर्मान्तरणवादी God के साथ सीधा पैग़म्बरी सम्पर्क होने का दावा करते हैं। यह व्यवहार 'ईश्वर की इच्छा' के अनुसार चलता है, न कि भगवान से 'सत्-चित्-आनन्द' के अनुभव के लिए। रोमन कैथोलिकों की तुलना में ईश्वर के साथ सम्पर्क करने में मनुष्य के प्रयासों की किसी भूमिका को प्रोटेस्टेण्ट अधिक ज़ोर दे कर नकारते हैं, जिसे वे पूरी तरह से ईश्वर की कृपा पर आधारित मानते हैं।

अत: योगी, गुरु, आचार्य, साधु अथवा जीवनमुक्त इत्यादि को पश्चिमी शब्द 'सन्त' के समानार्थी मानना एक बड़ी गलती है, क्योंकि संस्कृत के ये सम्बोधन उन व्यक्तियों के लिए हैं जिन्होंने विभिन्न स्तरों की प्रत्यक्ष आध्यात्मिक उपलब्धि अनुभव की है। किसी 'ऋषि' के समान कोई पश्चिमी सन्त अपने सीधे आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभव के रहस्योद्‌घाटन का स्रोत नहीं है और यह भी हो सकता है कि उसने अपने जीवनकाल में मुक्ति की वैसी स्थिति प्राप्त न की हो जैसी एक जीवनमुक्त करता है। इसके अतिरिक्त इब्राहमी मतों में परमात्मा से एकाकार होने और उनसे पहचान बनाने को बिल्कुल ही नकार दिया जाता है और इस बात पर ज़ोर दिया जाता है कि ईश्वर का वर्चस्व मानव द्वारा कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता।

पैग़म्बर शब्द यहूदी, ईसाई और इस्लामी धर्मों में एक विशेष प्रकार के आध्यात्मिक मार्ग-दर्शक के लिए उपयोग किया जाता है तथा भारतीय धार्मिक परम्परा में इसका कोई समानार्थी नहीं है। पैग़म्बर, 'गुरु' के अर्थ जैसा नहीं है जो शिष्य की साधना को मुक्ति की ओर ले जाने का मार्गदर्शन देता है। और न ही वह 'ऋषि' की तरह है जो ब्रह्माण्डीय चेतना से एक हो कर शाश्वत् सार्वभौमिक सत्यों को उजागर करता है। न ही वह 'जीवनमुक्त' है जो इसी जीवन में पूर्ण मुक्ति में जीता है। इब्राहमी मतों में पैग़म्बर वह है जिसे God ने अपनी इच्छा को पृथ्वी तक पहुँचाने के लिए चुना है। उसका प्रयोग केवल God के प्रवक्ता के रूप में होता है। यह सन्देश इज़राइलियों (children of Israel), ईसाई चर्च, इंगित देशों या समूची मानव जाति के लिए निर्देशित हो सकता है। सामान्यत: इसे व्यक्तियों के लिए निर्देशित नहीं किया जाता। God पैग़म्बरों को इसलिए नहीं चुनता क्योंकि वे रहस्यवादी या मतशास्त्री हैं। उन्होंने अपना जीवन चाहे पवित्र या तपस्वी भी न रखा हो परन्तु उन्होंने व्यक्तिगत आज्ञाकारिता प्रदर्शित की होगी और चुने जाने के बाद वे मतशास्त्र के अनुसार गहन पश्चाताप और नेकी के पथ पर चले होंगे।

पैग़म्बर को एक साधारण व्यक्ति की तरह अनुकूल बनाया जाता है, चाहे उसने अपना जीवन किसी योगी अथवा यहाँ तक कि पवित्र व्यक्ति के रूप में भी नहीं बिताया हो। दूसरे शब्दों में, भारतीय सन्दर्भ में वह सामान्यत: एक मननशील अथवा त्यागी व्यक्ति नहीं है। बल्कि वह God का एक समर्पित एवं सक्रिय रूप से व्यस्त

तेजस्वी सेवक है जो तत्कालीन मानदण्डों और आधिकारिक लोगों जैसे पादरियों और शासकों को प्राय: चुनौती देता है।

मुख्यधारा के मतशास्त्रियों की दृष्टि में यह आवश्यक नहीं है कि पैग़म्बरों की राय या निजी मान्यताएँ सही हों। उनका कार्य यह है कि God के सन्देश की सही व्याख्या हो, जो उन्हें God से सीधे प्राप्त होता है। मतशास्त्रियों की दृष्टि में पैग़म्बर की व्याख्या गलत हो सकती है। पैग़म्बर स्वयं यह स्पष्ट करते हैं कि महत्व God के सन्देश को दिया जाना चाहिए न कि सन्देशवाहक को।

उदाहरण के लिए मोजेस (Moses) को एक ऐसे पैग़म्बर की मान्यता प्राप्त है जिसने God से सीधे बात की, लेकिन उन्हें 'सन्त' के रूप में नहीं पूजा जाता और इस तरह से भी नहीं कि जैसे उसने इसी जीवनकाल में मुक्ति प्राप्त कर ली हो। (हालाँकि यहाँ 'सन्त' जैसे शीर्षक का प्रयोग अनुचित ही है, क्योंकि सही बात तो यह होगी कि ईसाई शब्द केवल ईसाइयों पर ही लागू हो)। यह एक जानी-मानी बात है कि वास्तव में वह बाइबल के मुक्ति के स्थान (Promised Land) तक पहुँच भी नहीं पाया था, उसने इसे केवल दूर ही से देखा।

किसी पैग़म्बर की महिमा उसकी इस क्षमता में निहित होती है कि वह 'गॉड' की योजनाओं को कितनी ईमानदारी से मनुष्यों तक पहुँचाता है। वह योजना व्यक्तियों को माया-मोह और संसार से मुक्ति दिलाने के बारे में नहीं है। पैग़म्बर कोई दार्शनिक नहीं होता; वह वास्तविकता की परम संरचना, चेतना की प्रकृति या परमात्मा के साथ एकाकार होने के ज्ञान के बारे में नहीं बताता। वह केवल मनुष्य के कर्तव्यों और पूजा के बारे में 'गॉड' की इच्छा को उन तक पहुँचाता है। उसने चाहे उच्च स्तर की चेतना या ब्रह्माण्ड के प्रति अन्तर्दृष्टि न भी प्राप्त की हो, जैसी भारतीय ऋषियों ने की थी। जब भी इन्हें समान रूप से उपयोग किया जाता है, पैग़म्बरों और ऋषियों के बीच इस महत्वपूर्ण अन्तर को छुपाया या अनदेखा किया जाता है।

अतीत और भविष्य की भविष्यवाणियों के उदाहरण निम्नानुसार हैं—छठी शताब्दी ईसा पूर्व में सोलोमन (Solomon) के मन्दिर का विनाश और यहूदियों का बेबीलोन (Badylon) में निर्वासन; सन् 70 में दूसरे यहूदी मन्दिर का विनाश और उसके बाद यहूदियों का निर्वासन और बिखराव; यीशु की मृत्यु और उनका पुन: उद्‌भव (जिसके बारे में ईसाई मुख्यधारा का मानना है कि दूसरों के साथ यह भविष्यवाणी ओल्ड टेस्टामेण्ट के पैग़म्बर जोशुआ (Isaiah) द्वारा की गई थी); यीशु की भविष्य में पृथ्वी पर वापसी और यह विचार कि युद्ध, अकाल, महामारी और मौतें संसार के अन्त का पूर्वाभास हैं और इसके पश्चात यरूशलम की सत्ता की वापसी और इसके लोगों की बहाली होगी। इनमें से बहुत-सी बातें विवादास्पद हैं और विद्वानों ने इन पर बहस की है। लेकिन जो बात ऋषियों के कथनों के विपरीत स्पष्ट उभर कर आती है वह यह है कि ये सन्देश केवल विशिष्ट ऐतिहासिक या भविष्य की घटनाओं के बारे में ही बताते हैं।

ईसाइ समूहों में इस बारे में बहुत मतभिन्नता है कि हिब्रू बाइबल (Hebrew Bible) के स्वीकृत महान पैग़म्बरों के बाद भविष्यवाणी होना जारी रही अथवा नहीं। कुछ का मानना है कि अन्तिम पैग़म्बर यीशु के आगमन के बाद, जिन्होंने 'ईश्वर के पूर्ण सन्देशों' को आत्मसात कर वितरित किया, पैग़म्बरवाद का अन्त हो गया। दूसरों का तर्क है कि बाइबल में भी भविष्यवाणी जारी रहने के प्रमाण हैं और लगभग सभी ईसाइयों का मानना है कि उपचार तथा रहस्योद्घाटन की गहन समझ आज भी प्रकट हो रही है। सच्चे पैग़म्बरों को पहचानने या सत्य को असत्य से अलग करने के लिए कोई सुनिश्चित विधि नहीं है, सिवाय इसके कि सच्ची भविष्यवाणी पहले के पैग़म्बरों का खण्डन नहीं करती और आस्तिक चमत्कारों को प्रमाण के रूप में ढूँढ़ते हैं। झूठे पैग़म्बरों के द्वारा तबाही मचाने की सम्भावना के कारण वे एक बड़ा ख़तरा माने जाते हैं, जिससे ऐतिहासिक सत्यता के प्रति चिन्ता बनी रहती है।

आजकल के करिश्माई और धर्मान्तरणवादी ईसाई समूहों और कुछ इस्लामिक संस्थाओं तथा पश्चिम की मुख्यधारा से बाहर के कई पन्थों अथवा विधर्मियों में किसी नेता को पैग़म्बर भी मान लिया जाता है। यह शीर्षक ईसाई मत की मुख्य धारा में प्रयोग नहीं किया जाता, हालाँकि प्रायः ऐसे किसी सन्देश को आम अर्थों में पैग़म्बरी के तौर पर सन्दर्भित कर दिया जाता है, मानो वह पृथ्वी के लोगों के लिए 'गॉड' की शिक्षा या इच्छा व्यक्त कर रहा हो।

इसके विपरीत 'ऋषि' अपने अनुशासित अभ्यास द्वारा चेतना के उच्च स्तर और सामान्य से ऊँची मानव क्षमताएँ प्राप्त करने के लिए अपना जीवन समर्पित करते हैं। वे अपने अति उन्नत स्तर के अन्तर्ज्ञान और आत्मज्ञान से सत्य का साक्षात्कार करते हैं। वे अनुभव की अनन्यता में विश्वास रखते हैं और सतत् तपस्या से स्वयं को यथासम्भव इतना बढ़ाते हैं कि अपनी चेतना का विस्तार मानव स्तर को पार कर ब्रह्म चेतना में लीन हो जाते हैं। परम सत्य के सीधे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ऋषियों को कई स्तरों से गुजरना पड़ सकता है और इसे प्रत्येक मानव द्वारा दोहराया भी जा सकता है। पहले चरण में ऋषि को ब्राह्मण या ब्रह्म का ज्ञाता कहा जाता है; दूसरे चरण में उसे 'ब्रह्मिष्ट,' अर्थात् जो ब्रह्म में रमण करता है, कहा जाता है (यहाँ ब्राह्मण वर्ण से कोई सम्बन्ध नहीं है) और अन्तिम चरण में उसे 'ब्रह्मीभूत' (अर्थात जो स्वयं ब्रह्म बन गया है) कहा जाता है। ऋषियों की आकांक्षा परम सत्य के साथ एकाकार होने की होती है।[75]

ऋषियों को प्रायः प्रतीकों की अन्तर्दृष्टि सांकेतिक रूप में मिलती है जिन्हें वे मन्त्रों की भाषा द्वारा व्यक्त करते हैं। वे शिक्षक और मार्गदर्शक भी हैं; प्राचीन भारत में सामान्य जीवन मुख्य रूप से इन्हीं के प्रभाव से निर्मित हुआ था।

यहूदी-ईसाई अर्थों में भारतीय ऋषि ईश्वर का सन्देशवाहक होने का दावा नहीं करते। वे अपने चमत्कारों के लिए नहीं जाने जाते और न ही उनकी उनमें कोई रुचि ही रही है। वे मनोभावों अथवा आवेगों पर निर्भर नहीं रहते। ऋषियों की विशिष्टता यह

रही है कि वे आत्म-बोध और प्रकाश के माध्यम से परम सत्य का अनुभव करते हैं। उनके लिए 'प्रेम' एक सहज अभिव्यक्ति है जो एकत्व की भावना से उपजी है। किसी भी ऋषि को शहीद के रूप में सम्मानित नहीं किया गया और न ही चर्च के सन्तों की तरह कोई ऋषि किसी शक्तिशाली संस्था से जुड़े रहे। कोई ऋषि चाहे वह एक जिज्ञासु शिष्य के रूप में ही हो, अपने से अधिक आत्मबोध वाले दूसरे ऋषि के पास जाता था।

जो लोग अंतर्धार्मिक संवाद और सम्बन्धों में व्यस्त हैं उनके लिए यह भेद पहचानना महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि पश्चिमी मान्यताओं को सनातन धार्मिक मान्यताओं पर थोपने (अथवा इस के उलट भी) के प्रयास अपरिहार्य रूप से न्यूनकारी हो जाते हैं।

देवता, मूर्तिपूजकों के ईश्वर के समानार्थी नहीं हैं

मूर्तिपूजा और बहुदेववाद के चलन को प्राय: विविध प्रकार के धर्मों के साथ सम्बन्धित किया गया था, जिन्हें पहले प्राचीन इज़राइल द्वारा और फिर चर्च द्वारा पैशाचिक मान कर ध्वस्त किया गया। उनके अनुसार मूर्तिपूजकों में निम्न प्रकार के लोग सम्मिलित हैं—

1) पूर्व विधान (Old Testament) के समय के कनान (Canaan) के स्थानीय मतों और आसपास के क्षेत्रों के पन्थों के अनुयायी;
2) विभिन्न प्रकार के बहुदेववादी जिनमें पुराने यूनानी और रोमन भी थे जो कई देवताओं में विश्वास करते हुए प्रतीत होते थे;
3) मध्ययुगीन चुड़ैलें (अधिकाँशत: महिलाएँ) जो पृथ्वी की प्राकृतिक शक्तियों का आह्वान और उपयोग करती थीं और जिन्हें ईसाई धर्मान्तरण अभियानों के दौरान चर्च ने बड़ी संख्या में प्रताड़ित किया;
4) शैतान के उपासक जो जानबूझ कर यीशु मसीह के दुश्मन के रूप में काम करते थे और जो सीधे ईसाई दृष्टिकोण और शिक्षाओं को उलट कर उनका बलपूर्वक अतिक्रमण करते थे;
5) अन्य विभिन्न समूह जिन्हें चर्च की सत्ता ने मूर्तिपूजक माना, विशेषकर झाड़फूँक करने वाले।

इन सभी समूहों को 'मूर्तिपूजक' या 'असभ्य' माना गया। मूर्तिपूजकों को 'काफ़िर' तथा 'अन्य' या बाहरी मान कर उनकी भर्त्सना की गई। यह कहा गया कि इन्हें युद्ध में हरा कर ईसाइयत में परिवर्तित करना है।

जैसे-जैसे यहूदी और ईसाई मत विकसित हो कर फैलते गये उन्होंने 'मूर्तिपूजक' और 'बहुदेववादी' समुदायों की बहुत-सी प्रथाओं, प्रतीकों और विचारों को नई तरह से घुमा कर आत्मसात किया। उदाहरण के लिए 'क्रिसमस के पेड़' (Christmas tree) को जर्मनी के स्वदेशी प्रकृति-पूजक पन्थ से नकल करके लिया गया; मेरी (Mary) और यीशु के बाल रूप की प्रचलित छवि को कदाचित मिस्त्र के आईसिस (Isis) पन्थ के माँ-बच्चे की छवि के नमूने के रूप में लिया गया; ईस्टर (Easter) की कई परम्परागत प्रथाएँ जैसे अण्डे की सजावट तथा खरगोश का प्रतीक भी ईसा-पूर्व के प्रजनन कर्म-काण्डों से लिए गये। मूर्तिपूजकों को अपने में मिलाने के लिए उनका धर्मान्तरण करके उनके कई देवताओं और पूजनीय प्रतीकों को ईसाई पूजा की रस्मों में 'सन्तों' और स्मृति-चिह्नों के रूप में मिला लिया गया। इसके अतिरिक्त ईसा-पूर्व काल के बहुत से त्योहार और छुट्टियाँ भी ईसाई कैलेण्डर में सम्मिलित कर लिए गये

तथा धार्मिक स्थलों को पुनर्वर्गीकृत कर ईसाई इतिहास के भाग के रूप में दिखाया गया। अधिकांश मामलों में यह प्रक्रिया जबरन कब्जा करने जैसी थी।

उपरोक्त प्रक्रिया ईसाइयत की अन्य संस्कृतियों को पचाने की सामान्य प्रवृत्ति को स्पष्ट रूप से दर्शाती है। ईसाइयत ने पराजित किये धर्मों के उपयोगी तत्वों को आत्मसात कर उनके अन्य दृष्टिकोणों को 'मूर्तिपूजक' बता कर उपेक्षित कर दिया। यद्यपि ये धर्म और पन्थ भारतीय धार्मिक परम्पराओं से एकदम भिन्न थे, परन्तु ईसाइयत द्वारा उनको पचाना यह बतलाता है कि ईसाइयत अपने प्रतिद्वन्द्वियों के साथ कैसा व्यवहार करती है। अधिग्रहण की यह प्रक्रिया प्राय: अत्यधिक हिंसक होती थी। परिणामस्वरूप कई मूर्तिपूजक सम्प्रदाय लगभग विलुप्त ही हो गये और ईसाइयत एक विश्व विजेता के रूप में सुदृढ़ हुई। उनके क्रिसमस के पेड़ और ईस्टर अण्डों के प्रतीकों को अपनाने के बावजूद ईसाइयत ने मूर्तिपूजक परम्पराओं के उदारवाद को तो नहीं अपनाया, बल्कि उनके मूर्तिपूजक विशिष्ट तत्वों को पचा कर सुदृढ़ हुई अपनी पृथक विशिष्टता को और अधिक उत्साह के साथ बनाये रखा।

हिन्दू धर्म में 'देवता' एक ही ईश्वर के कई रूप हैं जो एक ही साथ सब में व्याप्त हैं। इस प्रकार वे वास्तविकता के ताने-बाने हैं और साथ ही सर्वोत्कृष्ट और अपरिवर्तनीय भी। विभिन्न भारतीय पद्धतियों ने इस विचार को व्यक्त करने के लिए अपने-अपने विशिष्ट वर्गीकरण विकसित किये और अपनी योग साधनाओं से सभी में समाई स्वभाविक सामर्थ्य की क्षमता को विकसित किया।

उदाहरण के लिए श्री अरविन्द बताते हैं कि शक्ति के तीन स्वरूप होते हैं— परा, अन्तर्निहित तथा व्यक्तिगत। इनकी व्याख्या निम्नानुसार की जा सकती है—

- 'परा' परम मूल शक्ति है जो संसार से परे है और सृष्टि को अव्यक्त से जोड़ती है।
- 'अन्तर्निहित' ब्रह्माण्डीय महाशक्ति है जो सभी प्राणियों का सृजन करती है तथा सभी प्रक्रियाओं एवं शक्तियों को धारण, प्रविष्ट, पोषण तथा उनका संचालन करती है।
- 'व्यक्तिगत' शक्ति उपरोक्त दोनों शक्तियों का व्यक्ति में सन्निहित रूप है, अर्थात् शक्ति विभिन्न देवियों के रूप में हम में है, हमारे पास है और व्यक्तित्व और ब्रह्माण्ड के बीच की मध्यस्थता कर रही है।

'देवता' हमारी अन्तर्निहित शक्ति का बाहरी ब्रह्माण्डीय और भीतरी देवत्व का साकार रूप हैं। आन्तरिक देवता वे दैवी गुण हैं जिन्हें विभिन्न रहस्यमयी योग प्रक्रियाओं और चरण-दर-चरण साधनाओं से हमारे अन्दर खोजा जाना है।

वेदों और बाद के यौगिक व तान्त्रिक ग्रन्थों में मानव के इन आन्तरिक संज्ञानात्मक केन्द्रों को 'देवता' अथवा 'देव' (सामान्य स्वरूप में देवता) के रूप में सम्बोधित किया गया है। इनका वर्णन ऊर्जा के रूप में और कहीं-कहीं व्यक्तियों के रूप में भी किया गया है। अथर्व वेद (10.2.31) में मानव शरीर को 'देवताओं का नगर' कहा गया है और बताया गया है कि मनुष्य के शरीर में आठ संज्ञानात्मक केन्द्र होते हैं। कुछ देवता मानव शरीर की स्वतन्त्र जैविक प्रक्रियाओं के समीप हैं जबकि दूसरे देवता रचनात्मक केन्द्रों में हैं। वृह्दारण्यक उपनिषद् (3.9.1) के अनुसार 33 प्रमुख देवताओं के तहत 3,306 देवता हैं जो ग्यारह-ग्यारह के तीन समूहों में व्यवस्थित हैं। सभी देवता चेतना के एक ही प्रकाश के मूर्तरूप हैं इसलिए कोई भी किसी भी देवता के माध्यम से चेतना की अन्तिम परतों तक पहुँच सकता है। यजुर्वेद (34:55) भी संज्ञानात्मक केन्द्रों की व्याख्या ऋषि, परम्परागत ज्ञानी और मनीषी जैसे वास्तविक मनुष्यों के रूप में करता है जो संख्या में सात हैं और शरीर में रहते हैं। इनका उल्लेख अथर्ववेद (10.2.6) में भी किया गया है। वृहदारण्यक उपनिषद् (2.2.3) कहता है कि इन्द्रियाँ ही ऋषि हैं। वैदिक ग्रन्थों में भी मानस की क्षमताओं को उच्च/निम्न, भावपरक/बौद्धिक, पौरुषेय/स्त्रैण इत्यादि भागों में द्विभाजित किया गया है।

अभिनवगुप्त ने देवताओं की विस्तृत श्रृंखला को चेतना के आन्तरिक कार्यक्षेत्र पर स्थापित किया है। इसलिए भैरव या शिव अथवा काली एक निपुण योगी की चेतना की मूल संरचनाएँ हैं जिन्हें वे अपनी साधना द्वारा अपने अन्दर ही खोजते, प्रस्फुटित करते और जाँचते हैं। 'शिव' वह अवर्णनीय और विरोधाभासी परम चैतन्य हैं जो व्यक्ति के अन्दर उसकी चेतना के सीमित और संकुचित रूपों में आकार ग्रहण करते हैं। शिव, भैरव और काली की इन आन्तरिक संरचनाओं के साथ-साथ अभिनवगुप्त ने अपनी पुस्तक 'तन्त्रलोक' में विभिन्न देवताओं को सन्दर्भित किया है जिन्हें व्यक्ति 'बाहरी' देवता के रूप में भी देखता है। अर्थात् उच्चतम चेतना ने स्वयं को अनगिनत दैवी जीव-स्वरूप अवस्थाओं में विभाजित कर लिया है जो मनुष्य के अन्तस में विराजमान देवता हैं और बाहरी संसार में भी।

श्री अरविन्द ने दाँए और बाँए के बीच के द्विभाजन का वर्णन इस प्रकार किया है—

> बुद्धि एक ऐसा अंग है जो कार्यों के विभिन्न समूहों से मिल कर बना है, जो दो महत्वपूर्ण वर्गों में बँटा हुआ है; दाँए अंग के कार्य और विभाग तथा बाँए अंग के कार्य और विभाग। दाहिने ओर के विभाग व्यापक, रचनात्मक और समन्वयात्मक होते हैं, जबकि बाँए ओर के विभाग समीक्षात्मक और विश्लेषणात्मक होते हैं। बाँया भाग स्वयं को सुनिश्चित सत्य तक ही सीमित रखता है जबकि दाँया भाग चक्कर में डालने अथवा अनिश्चितता को समझने का प्रयास करता है। दोनों ही मानव की तर्कसंगत समझ के लिए आवश्यक हैं।[76]

यहाँ पर यह विचारणीय है कि श्री अरविन्द ने उपरोक्त बात 1910 में लिखी थी, अर्थात् आधुनिक विज्ञान के उस विचार के बहुत पहले जिसके अनुसार मस्तिष्क के

दाँए और बाँए भाग की सोच में भिन्नताएँ होती हैं। प्राणायाम योग की ऐसी श्वसन विधि है जिसमें नासिका के छिद्रों से विशिष्ट तरीके से श्वास-प्रश्वास द्वारा मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों में तालमेल बैठाया जाता है।

अत: 'देवता' आन्तरिक और बाहरी बौद्धिक क्षमताएँ तथा शक्तियाँ हैं, फिर भी इन में से कोई भी पहलू दूसरे को हटाता नहीं है। तात्पर्य यह है कि इन गहराई और विशिष्टता-युक्त जटिल अवधारणाओं को सुरक्षित रखने के लिए इन्हें 'मूर्तिपूजकों के भगवान' (Pagan gods) के एक साधारण (और असम्मानजनक) ढाँचे में अनुवादित नहीं किया जा सकता।

'देव' शब्द को अंग्रेजी के 'गॉड' के रूप में अनुवाद नहीं किया जा सकता। देव शब्द की उत्पत्ति मूल बीज 'दिव' से हुई है जिसका अर्थ है 'चमकना' या 'दमकना।' यह केवल काव्य कल्पना नहीं है बल्कि प्रकृति की वास्तविक शक्ति का सूचक है। अत: 'देव' वे हैं जो 'प्रकाश में लीला करते हैं'। वे एक वास्तविकता के अनेकों रूप एवं व्यक्तित्वों, 'जीवन्त वास्तविकताओं,' 'प्रकाश के बच्चों' एवं 'अनन्त के पुत्रों' के प्रतीक हैं। पश्चिमी संवाद में 'गॉड' का अर्थ एकदम भिन्न है जोकि 'देव' की अपेक्षा न केवल अधिक कट्टर एवं स्पष्ट है बल्कि यह शब्द यूरोपीय ईसाइयों द्वारा मूर्तिपूजकों पर किये गये अत्याचारों (इस आधार पर कि ये झूठे भगवानों को पूजते हैं) के इतिहास से बोझिल है। इस प्रकार हिन्दू धर्म में विभिन्न 'देवता' एक ही वास्तविकता की विभिन्न मनोवैज्ञानिक स्थितियों, ऊर्जाओं तथा प्रतिभाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिए कोई भी मनमाने ढंग से किसी एक देवता को दूसरे से बदल नहीं सकता। एक विशेष देवता की पूजा करने से व्यक्ति परमात्मा के किसी विशिष्ट पहलू का आह्वान करता है। इसलिए हिन्दू धर्म में हम सभी देवताओं की पूजा कर सकते हैं और उनके प्रकाश एवं शक्ति का अनुभव कर उन सब से परे जा कर समष्टिगत ब्रह्म के उच्चतम अनुभव को प्राप्त कर सकते हैं।[77]

हिन्दू धर्म में 'इष्टदेवता' (चुने हुए देवता) की अवधारणा अद्वितीय है तथा अपने स्वभाव एवं परिस्थितियों (स्व-धर्म) के अनुसार व्यक्ति को धर्म का अनुसरण करने के आदर्श के अनुकूल है। अत: हिन्दू धर्म को केवल इस अर्थ में 'बहुदेववादी' नहीं कहा जा सकता कि वह बहुत से ईश्वरों की पूजा विभिन्न परम इकाइयों के रूप में करता है।

Idol = बुत — मूर्ति का समानार्थी नहीं है

इब्राहमी मतों में idol (बुत) शब्द नकारात्मक और राक्षसी संकेतार्थों से लदा हुआ है। यह शब्द प्राय: झूठे देवताओं की भयानक छवियों को सन्दर्भित करता है जिनके विशेषाधिकार और लाभ प्राप्त करने के लिए उन पर बलि चढ़ाई जाती है। कुरान और हिब्रू बाइबल बुत परस्तों को 'दुष्टात्मा' के रूप में चित्रित करती है। दोनों बुत परस्तों के विरुद्ध हिंसा की अनुमति देती हैं। ये तीनों पन्थ ऐसे कालखण्ड से गुज़रे हैं जिनमें

छवियों का सफाया किया गया है, क्योंकि उन्होंने महसूस किया कि इनसे बुत परस्ती पद्धति का आह्वान होता है। सुधारकों की एक गम्भीर समस्या रूढ़िवादी और कैथोलिक प्रस्तुतीकरण को ले कर भी थी, जिनके अनुसार ये दोनों पादरी-प्रथा से सम्बन्धित थे और अँधविश्वास और सनसनी फैला कर आम जनता पर नियन्त्रण कर रहे थे। फिर भी मानव की धार्मिक परम्पराओं और पूजा पद्धतियों में इस प्रकार के प्रतीकों का सहारा लेने की प्रवृत्ति जारी है और रूढ़िवादी और कैथोलिक दोनों ही चर्चों ने 'यीशु' और 'सन्त की छवियों' के रूप में इन्हें अपनाया है (हालाँकि बड़े ही सतर्कतापूर्ण और योजनाबद्ध तरीके से)।

ईसाई मत में 'सच्ची आराधना' (latria) केवल यीशु के लिए ही मान्य है, परन्तु पवित्रता की मिसाल बने हुए सन्तों की छवि को केवल उसी समय तक सहन किया जाता है जब तक कि वे केवल श्रद्धा (dulia) के पात्र रहें, न कि पूजा के। अत: 'सन्त' के लिए 'प्रतिमा' (icon) शब्द का चलन है जबकि 'बुत' (idol) शब्द 'झूठे भगवानों' अथवा दैवीय सत्ता की भौतिक छवि का प्रतिनिधित्व करता है। रूढ़िवादी (Orthodox) चर्चों में प्रतिमा को चूमा जाता है तथा इन्हें श्रद्धा से देखा जाता है, परन्तु तकनीकी रूप से उन्हें पूजा नहीं जाता। स्पष्ट रूप से कहा जाये तो ईसाई जिन का आदर करते हैं वह प्रतिमाएँ हैं, जबकि काफ़िर जिन को पूजते हैं वह बुत कहलाते हैं।

जिस समय तक ईसाई उपनिवेशवादियों ने भारतीय संस्कृति का नजदीकी से सामना किया तब तक बाइबल के ये पूर्वाग्रह मजबूती पकड़ चुके थे। इसलिए लोकप्रिय हिन्दू धर्म में प्रचलित चिह्नों और मूर्तियों की प्रमुखता आज भी यहूदी और ईसाई मतों के अनुयायियों में एक गहरे प्रकार की घृणा पैदा करती है। पश्चिम द्वारा हिन्दू धर्म का 'बहुदेववादियों' के रूप में दुष्चरित्र-चित्रण करने के परिणामस्वरूप इसके ईश्वरत्व को ईसा-पूर्व यूरोप तथा एशिया माइनर में तब प्रचलित मूर्तिपूजक प्रथाओं और विशेषताओं के साथ जोड़ा गया। इस चित्रण में अँधविश्वासजनित बलि प्रथा, नैतिकता की कमी, व्यावहारिक अस्थिरता, विचित्र यौन क्रीड़ाएँ, भाग्यवाद इत्यादि सम्मिलित हैं। विभिन्न छवियों और भक्ति की वस्तुओं को तुरन्त मनमाने तरीके से प्रतिमा न मान कर बुत के रूप में दर्ज किया गया। धर्मों के बीच आपसी संवाद में दृश्यात्मक वर्णन के प्रति सहानुभूति रखने वाले प्रारम्भिक कैथोलिक ईसाई आप्रवासियों ने भी इस का विरोध किया—विशेषकर जब इस देवत्व चित्रण में कोई स्त्री देवी सम्मिलित होती, क्योंकि उनकी ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा पूरी तरह से पुरुष-प्रधान थी।

चित्रण के प्रति, विशेषकर धार्मिक मामलों में पश्चिम का वैश्विक दृष्टिकोण उनके कई मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक संघर्षों को प्रकट करता है और इसलिए हिन्दू और बौद्ध धर्मों में प्रतिमाओं की भूमिका को पश्चिम समझ नहीं पाया है। शासकों और शासित के बीच शक्ति के असन्तुलन के कारण परस्पर संचार में बाधाएँ आईं और

दुर्भाग्यवश बहुत से अल्प-जानकार भारतीय 'बहुदेववाद,' 'मूर्तिपूजक' इत्यादि शब्दों का दुरूपयोग करके समस्या को और बढ़ा रहे हैं।

ऐसा कोई तार्किक कारण नहीं है कि ईश्वर के भारतीय चित्रणों को मूर्तियों के रूप में नहीं बल्कि प्रतिमाओं के रूप में देखा जाये। वास्तव में प्रकृति के बारे में भारतीय समझ और प्रतीकों की उपयोगिता से पश्चिम को बहुत कुछ सिखाया जा सकता है। पवित्र छवि के लिए संस्कृत में 'मूर्ति' शब्द उपयोग किया जाता है जिसका अर्थ है 'जागृत,' 'असली' तथा 'दिव्य आत्मा को दर्शाने वाला।' 'प्राण-प्रतिष्ठा' का अर्थ है कि विशिष्ट पूजा पद्धति से छवि में परमात्मा की उपस्थिति युक्त प्राण भर देना। इसी प्रकार की एक समानान्तर प्रक्रिया कट्टरपन्थी ईसाई चर्च में भी है जिसे 'प्रतिमा की स्थापना' और 'आशीर्वाद' देना कहा जाता है। तथापि हिन्दू धर्म इससे कहीं आगे जाता है। प्राण-प्रतिष्ठा का अर्थ है कि परमात्मा के निकट जाने के लिए एक गहरा, गम्भीर और देखने में कम निर्भरता वाला मार्ग प्रशस्त हो। त्योहार समाप्ति के पश्चात मूर्ति को पानी में प्रवाहित करने की प्रथा 'विसर्जन' वैराग्य का प्रतीक है। इसमें विचार यह है कि व्यक्ति को भौतिक आकृति के साथ अनुरक्त नहीं बल्कि उसकी आत्मा के साथ समाहित होना चाहिए।[78]

श्री अरविन्द कहते हैं, ''प्रार्थना पत्थर के लिए नहीं बल्कि उस पत्थर में दर्शाये गये परमात्मा के प्रति की जाती है।''[79] वे आगे स्पष्ट करते हैं कि यदि हर पूजा-विधि धार्मिक मन से पूरी की जाये तो वह हमें नश्वर में शाश्वत का स्मरण कराती है, आध्यात्मिक सहायता प्रदान करती है और इन्द्रियों पर लगे ग्रहण से चेतना का शुद्धिकरण करती है।[80] इन प्रतिमाओं को प्राचीन यूरोप के मूर्तिपूजकों की मूर्तियों के समकक्ष रखने के पश्चिमी प्रयासों पर अपनी सीधी प्रतिक्रिया देते हुए श्री अरविन्द लिखते हैं—

> ''भारतीय धर्म जो कालातीत, नाम-रूप से परे और निराकार परमात्मा की अवधारणा पर आधारित है, वह बाद की जातियों के संकीर्ण तथा अज्ञानी एकेश्वरवाद जैसे विश्वासों पर ठहरे रहने को बाध्य नहीं हुआ और उसने शाश्वत और अनन्त तक पहुँचने की सभी मध्यस्थ अवस्थाओं, नामों, शक्तियों और व्यक्तित्वों को नकारा नहीं। एक बेरंग अद्वैतवाद अथवा फीकी-सी अस्पष्ट अनुभवातीत आस्तिकता न तो भारतीय धर्म का आरम्भ था, न उसका मध्य और न ही उसका अन्तिम छोर। यहाँ पर एक ही ईश्वर की सभी रूपों में पूजा की जाती है, क्योंकि यहाँ सब कुछ उसी में समाया हुआ है अथवा उसकी प्रकृति या अस्तित्व से उत्पन्न हुआ है। भारतीय बहुदेववाद (अनेक देवताओं की अवधारणा) प्राचीन यूरोप में प्रचलित बहुदेववाद जैसा नहीं है, क्योंकि यहाँ कई देवों की पूजा करने वाले व्यक्ति को पता है कि ये एक ही ईश्वर के देवत्व के विभिन्न रूप, नाम, व्यक्तित्वों और शक्तियों के प्रतीक हैं; उसके देवता एक ही पुरुष से उत्पन्न हुए हैं, उसकी देवियाँ एक ही दिव्य शक्ति की ऊर्जाएँ हैं;

भारतीय प्रतीक-पूजा किसी असभ्य अथवा अविकसित बुद्धि की मूर्ति-पूजा जैसी नहीं है, क्योंकि अधिकांश अज्ञानी व्यक्ति भी यह जानते हैं कि छवि एक प्रतीक और सहायक चिह्न है और इसका उपयोग हो जाने पर इसे त्यागा जा सकता है।''[81]

मूर्ति को 'बुत-idol' के समकक्ष रखने का पश्चिमी प्रचलन विचारपूर्वक और सोची हुई मूर्ति के प्रति धार्मिक संवेदनशील श्रद्धायुक्त पद्धति को कमतर करता है।

'यज्ञ,' 'ईसाई बलिदान' का समानार्थी नहीं है

पश्चिमी विद्वान 'धार्मिक बलिदान' विवरण का उपयोग भगवान को सन्तुष्ट करने, उन्हें धन्यवाद देने अथवा एक उत्सव के रूप में उन्हें अन्न, वस्तु (आमतौर पर कीमती वस्तुएँ), जीवित पशु अथवा मनुष्य अर्पण करने की पूजा से सन्दर्भित करते हैं। इस तरह के बलिदान को रोमन धार्मिक सिद्धान्त की पारम्परिक समझ, do ut des या 'पाने को तुम दो' की तरह समझा जाता है। यह माना जाता है कि व्यक्ति द्वारा स्वेच्छा से अपना कुछ हित त्यागने के बदले देवता उस भक्त को आध्यात्मिक या भौतिक लाभ प्रदान करेंगे।

यहूदी और ईसाई दोनों ही परम्पराओं में (और कुरान में भी) यह बलिदान सम्बन्धी अवधारणा अति अस्पष्टता से ले कर पूर्ण बहिष्करण तक है, जैसा कि इब्राहम और आइजैक की कहानी में स्पष्ट है (जेनेसिस 22:2)। इब्राहम का पहले मानना था कि God ने उसे आदेश दिया है कि वह अपने बेटे आइजैक का मोरिया की भूमि पर स्थित एक पर्वत पर बलिदान करे। बलिवेदी पर बँधे और मृत्यु के निकट आइजैक को अचानक एक दूत ने प्रकट हो कर उसकी जगह एक भेड़े को रख कर आइजैक की जान बचाई। परम्परागत यह कहानी बताती है, जैसा नबी अमोस (Amos) ने कहा है कि ''भगवान आपके बलिदान और आहुतियों को तुच्छ मानते हैं'' (Amos 5:21-24)।

यीशु के बलिदान को 'प्रायश्चित सिद्धान्त' की तरह समझा गया है जो प्राचीन और मध्ययुगीन कानूनी प्रथाओं आदि में प्रचलित था। God ने अपने और मानवता के बीच सामंजस्य लाने हेतु और मूल पाप द्वारा आई समस्या को ठीक करने के लिए अपने एकमात्र पुत्र का बलिदान किया। God के न्याय के अनुसार मूल पाप का प्रायश्चित किया जाना था जिससे मानवता को शापित होने से बचाया जा सके। परन्तु God के प्रति किया गया अपराध असीम था और सीमित मनुष्य इस तरह के महान प्रायश्चित करने हेतु सक्षम नहीं थे। इसलिए मानवता की रक्षा हेतु God ने अपने इकलौते पुत्र को बलिदान हेतु भेजा। न्यू टेस्टामेण्ट में कहा गया है कि यह बलिदान 'सदा के लिए' किया गया है और इसे कभी दोहराया नहीं जायेगा (हालाँकि कई मुसलमान अभी भी अपनी लोकप्रिय धार्मिक प्रथाओं के अनुसार पशु बलि को जारी रखे हुए हैं)।

बाइबल में प्राचीन इज़राइल से ले कर प्रारम्भिक चर्च तक पैग़म्बरों के कार्यों की प्रक्रिया के माध्यम से बलिदान की अवधारणा लगातार 'अहंकार के बलिदान' के आध्यात्मिक रूप में परिवर्तित हो गई। ओल्ड टेस्टामेण्ट के प्रसिद्ध उद्धरणों में से एक के अनुसार God को ख़ूनी बलिदान की आवश्यकता नहीं है बल्कि उसे एक टूटे और पश्चातापी दिल का बलिदान चाहिए (Psalm 51:17)। आगे चल कर यहूदी और प्राचीन ईसाई परम्पराओं में यह अवधारणा आत्म-बलिदान के विश्वास द्वारा 'शहादत' के रूप में विकसित हुई। वास्तव में चर्च ने अपने अनुयायियों को अपने विरुद्ध हिंसा उत्पन्न कर स्वयं को नुकसान पहुँचाने के क्रम में 'शहीद' होने के लिए प्रेरित किया। चर्च द्वारा घोषित और औपचारिक रूप से महिमा-मण्डित हज़ारों सन्तों में से अधिकांश इसी तरह के शहीद थे।

एक ईसाई धार्मिक विद्वान जोनाथन किशर्च (Jonathan Kirsch) ने बताया कि चौथी सदी से ईसाइयों को दूसरों पर हिंसक आक्रामकता करने के लिए उकसाया गया, जिसे बाद में अपने ऊपर उत्पीड़न के दावों के रूप में पेश किया जा सके। अपनी पुस्तक ''God Againstn the Gods'' में जोनाथन शहीदों को महिमामण्डित करने की प्रक्रिया के बारे में बताते हैं।[82]

> ''उनमें से सर्वाधिक उत्साही लोगों ने अपने मत का सार्वजनिक प्रदर्शन कर इसे अपने पवित्र कर्तव्य के रूप में देखा, चाहे इसके लिए उनको गिरफ़्तारी, अत्याचार और मौत का सामना ही क्यों न करना पड़े। यीशु के कुछ सैनिकों ने सक्रियता से धार्मिक स्थलों और मूर्तिपूजकों के मन्दिरों में प्रवेश करके, प्रतिमाओं को तोड़ कर और यज्ञवेदियों को उलट-पलट करके अपने लिए शहादत माँगी, जैसा कि उन्हें उनके स्वयं के शास्त्रों ने करने का निर्देश दिया था, ''तुम्हें उनकी वेदियों को तोड़ना है और स्तम्भों को टुकड़े-टुकड़े करना है, क्योंकि अपना प्रभु एक ईर्ष्यालु God है।''[83]

उदाहरण के लिए मूर्तिपूजक रोम के अत्याचारों को सह कर उसमें से बच कर निकलने और कबूलने वाले को उसके साथी ईसाइयों ने बहुत महत्व दिया। उसे मूर्तिपूजा के विरुद्ध पवित्र युद्ध के एक अनुभवी यीशु के सैनिक के रूप में एक जीवित उदाहरण की तरह देखा गया और उसके घावों और उनके चिह्नों को सम्मानजनक पदकों के रूप में आदर दिया गया।[84]

दिलचस्प बात है कि मूर्तिपूजक दण्डाधिकारी अनिवार्य दण्ड देने से बचने के लिए प्रायः ईसाइयों को ग़ैर-ईसाइयों के प्रति थोड़ा-सा प्रतीकात्मक सम्मान देने का अनुरोध किया करते थे—

> ''दरअसल, अपनी स्वेच्छा से ही नहीं बल्कि जोश के साथ स्त्रियों और पुरुषों द्वारा मौत के आलिंगन का तमाशा—और लम्बे समय तक इन शहादतों की स्मृतियाँ और शहीदों के अवशेषों ने उनके विश्वास की आग को और भड़काया

> तथा लोगों को और भी अधिक कट्टर कृत्यों को करने के लिए प्रेरित किया। कभी-कभी तो मूर्तिपूजक दण्डाधिकारियों ने अपना जीवन बचाने के लिए वस्तुत: ईसाइयों को समझौता करने हेतु कुछ चेष्टा करने की प्रार्थना की।''[85]

एक शहीद की मौत को 'रक्त का बपतिस्मा' माना जाता था जिससे उसके पाप धुल जाते थे, ठीक उसी प्रकार जैसे पानी के बपतिस्मा से होता है। प्रारम्भिक ईसाई अपने शहीदों को शक्तिशाली मध्यस्थ के रूप में आदर देते थे और उनके कथनों को पवित्र आत्मा (Holy Spirit) द्वारा प्रेरित माना जाता था। शहीदों के जीवन वृतान्त ईसाइयों के लिए प्रेरणास्रोत बन गये तथा उनके जीवन और अवशेष लोगों के लिए श्रद्धेय थे। बाद के ईसाई वृत्तान्तों ने उत्पीड़नों को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया। जोनाथन किशर्च लिखते हैं कि ''यातनाओं के दिल दहला देने वाले उदाहरण उन साधुओं की कल्पनाओं से उत्पन्न हुए जो अपने कक्षों में सुरक्षित बैठ कर अनावश्यक और अशोभनीय काल्पनिक कहानियों को जन्म दे कर स्वयं का मनोरंजन करते थे।''[86]

दूसरी शताब्दी के ईसाई लेखक टरटुलियन (Tertullian) ने लिखा है कि ''शहीदों का ख़ून ही चर्च का बीज है,'' अर्थात शहीदों का स्वैच्छिक बलिदान दूसरों का धर्मान्तरण करने में सहायता करता है।[87] सन्तों के अवशेष आज भी चर्च में श्रद्धेय हैं। शहादत के युग ने इन अवशेषों को धर्मवेदियों पर स्थापित कर चर्च की वास्तुकला को प्रभावित किया। वर्तमान में कैथोलिक और पूर्वी रूढ़िवादी चर्च, यूकेरिस्ट (Eucharist) प्रथा को मनुष्य के बलिदान के रूप में बताते हैं जिसे इनके सदस्यों द्वारा याद एवं पुन: आह्वान किया जाता है (हालाँकि कई प्रोटेस्टेण्ट इस व्याख्या को अस्वीकार करते हैं)।

ईसाई मत में बलिदान करने वालों को आज भी महिमामण्डित किया जाता है। डेनवर, कोलोराडो (Denver, Colorado) स्थित जोशुआ प्रोजेक्ट (Joshua Project) अरबों डॉलर युक्त एक विशालतम वैश्विक संगठन है जिसका घोषित उद्देश्य समूची मानवता को ईसाई मत में परिवर्तित करना है। वांछित परिणाम प्राप्त करने के लिए विवादास्पद दाव-पेंचों का प्रयोग औचित्यपूर्ण बताया जाता है। ऐसी ही एक रणनीति प्राचीन काल से ले कर आज तक के ईसाई शहीदों को व्यापक रूप से प्रचारित किये जाने की है। शहीदों की सूची व्यवस्थित तरीके से प्रत्येक देश और जिले में बनती है। कोई भी व्यक्ति जोशुआ प्रोजेक्ट के आँकड़ा कोष (्database) पर भारत के किसी भी जिले में इन शहीदों के नाम खोज सकता है तथा यह सूची लगातार उद्दिनांकित (updated) होती रहती है। यह परियोजना किसी भी ईसाई मौत के लिए दूसरों को दोषी ठहराने और इसके सही आँकड़े और गलत सूचना उत्पन्न करने के लिए एक प्रामाणिक मशीन की तरह बन चुकी है। भारत के मामले में जोशुआ प्रोजेक्ट ने अपने प्रतिद्वन्द्वी के रूप में हिन्दुओं, जिनका धर्म भारत में प्रमुख है, को मात देना अपना स्पष्ट लक्ष्य बनाया हुआ है। यह विशेष रूप से विचित्र बात है कि हिन्दू धर्म की ख्याति ऐसी है जिसने ईसाई और अन्य मतों को गले लगाया है। फिर भी, जब कहीं-

कहीं हिंसा की घटनाएँ हुई हैं, उनका कारण ईसाई मत का प्रचार करने वाले रहे हैं जिन्होंने 'मूर्तिपूजक,' 'असभ्य' इत्यादि शब्दों की चोट पहुँचा कर भारतीय देवी-देवताओं, प्रतीकों और परम्पराओं का जानबूझ कर अपमान करते हुए पूरे गाँवों को ईसाई मत में परिवर्तित करने के लिए वित्तीय प्रोत्साहन भी दिये हैं। लेकिन इस तरह के भड़काने का उल्लेख कभी नहीं किया जाता। जो भी घटनाएँ सावधानीपूर्वक लिखी और प्रकाशित की जाती हैं, वे केवल अर्ध-सत्य होती हैं; जैसे बताया जायेगा कि एक ईसाई पर इसलिए हमला किया गया, क्योंकि वह ईसाई है।[88]

यह मूर्तिपूजकों के विरुद्ध प्राचीन काल से चले आ रहे ईसाई आक्रामक व्यवहार की निरन्तरता है। ईसाई मत में शहादत की अवधारणा बलिदान से जुड़ी हुई है जोकि स्वर्ग प्राप्त करने के लिए हिंसक मौत को प्रोत्साहित करने का एक ख़तरनाक विचार है। इस्लाम में 'जिहाद' की अवधारणा ईसाई मत के ऐसे बलिदान के चरम संस्करण के विस्तारवादी इतिहास का ही असर है। इसके विपरीत धार्मिक परम्परा में केवल सिक्ख मत ही ऐसा है जो औपचारिक रूप से अपने धर्मगुरुओं को 'शहीद' शब्द से महिमामण्डित करता है जिन्होंने इस्लामी शासन के एक विशिष्ट काल में इस्लामी उत्पीड़न से हिन्दू धर्म की रक्षा करने के लिए एक 'सैन्य सम्प्रदाय' का रूप लिया था। उदाहरण के लिए गुरु तेगबहादुर (1621-1675) एक वास्तविक शहीद बने जब इस्लाम मत अपनाने से मना करने पर औरंगज़ेब ने उन्हें बेरहमी से कत्ल कर दिया था।

पश्चिमी विद्वान अनुचित रूप से इस ईसाई बलिदान की अवधारणा की संस्कृत के 'यज्ञ' शब्द से बराबरी करते हैं। 'यज्ञ' का तात्पर्य है ''अस्तित्व के दो धरातलों के बीच आदान-प्रदान।'' भगवद्गीता (3:9-16) कहती है कि 'देवता' हमारा पोषण करते हैं, इसलिए हमें भी देवताओं का पोषण करना चाहिए। यज्ञ वह धागा है जो मानवता और देवताओं के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है तथा सर्वव्यापी ब्रह्म सदैव यज्ञ में स्थापित हैं। दूसरे शब्दों में, अस्तित्व के विभिन्न धरातलों में पारस्परिक पालन-पोषण होता रहता है तथा इन उच्च स्तरों में आदान-प्रदान होता है। यज्ञ के माध्यम से ही सृजन होता रहता है।[89] दूसरों की भलाई के लिए अपने जीवन का बलिदान करना ही यज्ञ के पीछे मूल सिद्धान्त है। यही वास्तव में भौतिक संसार में निहित बलिदान की समग्र योजना का हिस्सा है, जैसे पृथ्वी के खनिज पदार्थ पौधों का पोषण करते हैं; छोटे पौधे मर कर पेड़ों के लिए जैविक खाद बनते हैं; पौधों को खा कर अपना निर्वाह करते हैं और पशु बदले में मानवता को सहारा देते हैं। यज्ञ भी एक ऐसी ही प्रक्रिया है जो प्रत्यक्ष को अप्रत्यक्ष से जोड़ती है।

यहाँ दो प्रश्न खड़े होते हैं—क्या भारतीय संस्कृति में भी ईसाइयों जैसे बलिदान हुए थे? और यदि हुए थे (बिना इस पर ध्यान दिये कि कितने हुए थे) तो क्या वे वास्तव में 'यज्ञ' के समकक्ष हैं या फिर यज्ञ ऐसी गतिविधियों से अलग है?

पहले प्रश्न के सम्बन्ध में भारतियों ने भी अपना जीवन बलिदान किया जो पश्चिम के शहीदों से कुछ मिलता-जुलता है (यद्यपि ऊपर वर्णित अर्थ की तरह नहीं)। जब यह निश्चित हो गया कि मुस्लिम आक्रमणकारी जीत गये हैं तब राजपूत महिलाओं ने अपनी स्वतन्त्रता, सम्मान और जीवन को ख़तरे में देख कर 'जौहर' (आत्मदाह) किया। इस के पीछे हुए अपने सम्मान की रक्षा करते हुए पराजय स्वीकार करने की प्रेरणा थी।[90] एक और उदाहरण सन् 1906 का है जब बाली (ँBali) में हॉलैंड (Dutch) के आक्रमणकारियों से पराजित होने के बाद हिन्दुओं ने सामूहिक आत्महत्या की थी। बाली में इस कृत्य के लिए 'पुपुतान' (puputan) शब्द है।[91] परन्तु ये सभी कृत्य स्वैच्छिक आत्मसमर्पण के थे जब यह ज्ञात हो गया था कि आक्रमणकारी पराजित जनता पर निस्सन्देह अवर्णनीय हिंसा, लूट और बलात्कार इत्यादि दुष्कृत्य करेगा। इसे अधिक से अधिक 'रक्षात्मक बलिदान' के रूप में देखा जा सकता है। 'शहादत' के पश्चिमी इतिहास के विपरीत ये घटनाएँ छिटपुट थीं; ये किसी विस्तारवादी या आक्रामक रणनीति का हिस्सा नहीं थीं और न ही शहादत के लिए ये कोई केन्द्रीय योजना के तहत व्यवस्थित प्रोत्साहन थे, जैसे शहीदों को पश्चिमी आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया जाना। ईसाई जगत में शहादत को एक पन्थ के रूप में उठाया गया, परन्तु भारत में ऐसा नहीं हुआ।[92]

जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है, आगे दिये गये स्पष्टीकरण से यह पता चलता है कि यद्यपि यह सच है कि बलिदान की एक विशेष अवधारणा यज्ञ का एक महत्वपूर्ण अंग है, परन्तु पश्चिमी इतिहास के साथ सामान्यत: जुड़े हुए बलिदान के दूसरे विविध संकेतार्थ इसमें लागू नहीं होते। न ही पश्चिम में बलिदान की अवधारणा 'यज्ञ' के ब्रह्माण्डीय विशाल एवं समृद्ध महत्व की ओर संकेत भी करना आरम्भ करती है।

भारतीय ब्रह्माण्ड विज्ञान बताता है कि अस्तित्व के तीन स्तर हैं—'अव्यक्त,' 'व्यक्त' (ब्रह्माण्ड और सार्वभौमिक रूप में) तथा 'प्रकट' (व्यक्तिगत अथवा विशिष्ट) स्वरूप में। यज्ञ ब्रह्माण्ड के विशिष्ट विज्ञान में अस्तित्व के इन्हीं विविध स्तरों और उनके बीच आपसी सम्बन्धों पर आधारित है।

बाहरी अनुष्ठान व्यक्ति की उन देवताओं के प्रति समर्पित आन्तरिक बलिदान की ही एक प्रस्तुति है जो हमारे अन्दर चेतना की शक्ति के रूप में हैं और बाहर ब्रह्माण्डीय शक्ति के रूप में। श्री अरविन्द इस विचार का सार समझाते हैं—

> ''वह परम एक ही कर्ता, कर्म तथा कार्यों के उद्देश्य, ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञान के उद्देश्य के रूप में व्यक्त है। ब्रह्माण्डीय प्राण जिसमें कर्म अर्पण किया जाता है वह ब्रह्म है, अर्पण किया जाने वाला पवित्र प्राण भी ब्रह्म है; जो भी अर्पण किया जाता है वह भी ब्रह्म का ही एक रूप है; अर्पण करने वाले व्यक्ति में भी ब्रह्म ही स्थित है; कर्म, कार्य, और यज्ञ भी इस तरह स्वयं गतिविधियों में ब्रह्म हैं; अर्थात यज्ञ द्वारा लक्ष्य तक पहुँचना भी ब्रह्म है।''[93]

वैदिक मार्ग निष्क्रियता का नहीं समर्पण का है—अर्थात अपनी शारीरिक, भावनात्मक तथा बौद्धिक कर्मों को ईश्वर को अर्पण करना। देह-बुद्धि-जनित अहंकार के अधिकार और कर्म के कष्ट भोगने के दावों का खण्डन करना वृहत उद्देश्य है। अहंकार का कर्मकाण्ड द्वारा अग्नि में, जो स्वयं की उच्चता का प्रतीक है, संज्ञानात्मक समर्पण ही यज्ञ है। यजमान की प्रेरणा (भावना), सीखने की प्रक्रिया (स्वाध्याय), कर्म-काण्ड (कर्म), आहुतियाँ (त्याग), देवता जिसका आह्वान किया गया हो और परिणाम (फल) किसी यज्ञ के प्राथमिक तत्व हैं। ये घटक हमारे अन्दर होने वाली विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं का प्रतीक हैं। श्री अरविन्द इस पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं[94] कि यह प्रक्रिया आत्मचेतन, प्रबुद्ध और अपने लक्ष्य के प्रति सजग बनती हुई ब्रह्माण्डीय और व्यक्तिगत गतिविधि का मनोवैज्ञानिक प्रतीक है—

> ''प्राचीन वैदिक प्रणाली में हमेशा दो अर्थ होते थे, शारीरिक व मनोवैज्ञानिक; बाहरी व प्रतीकात्मक तथा यज्ञ अथवा त्याग के बाहरी स्वरूप एवं सभी परिस्थितियों के आन्तरिक अर्थ। आहुति मनुष्य का ही शारीरिक अथवा मानसिक प्राण है जिसे उसके शारीरिक अथवा मानसिक कार्य द्वारा देवताओं या परमेश्वर, परब्रह्म अथवा सार्वभौमिक शक्तियों को स्वयं की उच्च आत्मा या मानव जाति और सभी अस्तित्वों में व्याप्त परमात्मा को अर्पित किया जाता है।''[95]

'यज्ञ' को sacrifice = बलिदान की तरह गलत अनुवादित करने से पश्चिमी विद्वानों को मानव बलिदानों और शहादत के यहूदी एवं ईसाई इतिहास को यज्ञ जैसी धार्मिक अनुष्ठान पद्धति पर थोपने का मौका मिला।

'कर्म,' पश्चिमी Suffering की अवधारणा जैसा नहीं है

मानवीय पीड़ा एक सर्वव्यापी तथ्य है, सम्भवत: इसीलिए प्रत्येक प्रमुख वैश्विक दृष्टिकोण में पीड़ा के विचार के प्रति स्पष्टीकरण और समाधान के सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। ईसाई और यहूदी मत मूल पाप की अवधारणा पर ही अधिक निर्भर हैं। मानव जाति पर यह मूल कलंक उन्हें जीवन भर धरती पर दुख सहने के लिए श्रापित करता है। इसलिए पीड़ा अज्ञान से नहीं बल्कि पाप से उत्पन्न होती है। आदम और हव्वा (Adam and Eve) के कृत्यों के कारण, जिन्होंने प्रलोभन पर काबू न कर पाने के कारण ईडन के बगीचे (Garden of Eden) में 'अच्छे और बुरे' के ज्ञान के वृक्ष से वर्जित फल को चख लिया था, समूची मानव जाति इस मूल पाप की सहभागी है। इस अपराध के परिणामस्वरूप उनकी सभी सन्तानें (कथित रूप से सभी मनुष्य) मूल पाप से पीड़ित हैं। अत: इन पश्चिमी परम्पराओं में मुख्यधारा के मतशास्त्र व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार की पीड़ाओं को उस मूल या प्रमुख पाप से जोड़ते हैं जोकि केवल ज्ञान या समझ की कमी के कारण ही नहीं बल्कि बुरे मनोरथ की गलती और चयन से किये गये थे।

केवल God द्वारा क्षमा करने से ही बचाव हो सकता है। ईसाइयत के मामले में केवल God का पुत्र यीशु ही दूसरों को मोक्ष प्रदान कर सकता है क्योंकि केवल वही एक है जो 'मूल पाप' से मुक्त है (इस अवधारणा में कुँवारी माता के गर्भ से उनका जन्म लेना महत्वपूर्ण है क्योंकि यदि उनका जन्म स्त्री-पुरुष सम्बन्धों से हुआ होता तो वे भी मूल पाप से पीड़ित होते)। इस प्रकार ईसाई चर्चों ने समूची मानवता को बचाने के लिए यीशु की दया पर एकाधिकार का दावा किया है।

ईसाइयों और यहूदियों के अनुसार मूल पाप God जैसा 'सर्वज्ञ' बनने के प्रयास के कारण उत्पन्न हुआ था। इसलिए ईसाई और यहूदी मत सदैव मानवता के अन्तरतम ईश्वरत्व के सर्वोत्कृष्ट हिन्दू विचार को घृणित और नैतिक भ्रष्टता के प्रतीक की तरह मानते हैं।

दुख और मुक्ति सम्बन्धी बाइबल के इन लौकिक सिद्धान्तों को यूरोपीय प्रबुद्धता (European Enlightenment) ने उच्च शक्ति के प्रति संकल्पित समर्पण द्वारा मतनिरपेक्ष बनाया, परन्तु मूल तत्वों को बनाये रखा। जॉर्ज विल्हेम फ्रेडरिक हेगेल (George Wilhelm Friedrich Hegel Hegel) ने इतिहास के अपने क्रमिक विकास के (linear theory of History) सिद्धान्त में दावा किया है कि ग़ैर-पश्चिमी सभ्यताओं में पश्चिम जैसा उत्साह नहीं था और इसीलिए वे तब तक पीड़ित रहेंगी जब तक कि उनका पश्चिम द्वारा सफल उद्धार एवं समावेश न हो जाये। आगे चल कर मार्क्सवाद ने वर्गों के बीच के शोषण सम्बन्धी सिद्धान्त का उपयोग पीड़ा की व्याख्या करने के लिए किया और पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध साधारण मनुष्य के मसीहाई संघर्ष के रूप में एक समाधान प्रस्तावित किया। अत: पश्चिमी अहं भाव का, चाहे धार्मिक हो या धर्मनिरपेक्ष अथवा व्यक्तिगत हो या सामूहिक, मानना है कि उसका एक ध्येय (mission) है जिसके लिए क्रियाशील होना आवश्यक है। इसलिए वह अपने आप को इतिहास के एक प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में परिभाषित करता है जो हम सब को सम्भवत: एक समान उज्ज्वल भविष्य की ओर ले जाता है। इस परियोजना में भाग लेने से मना करना दण्डनीय है। अन्य संस्कृतियों और उनकी आध्यात्मिक परम्पराओं को समस्याओं की तरह देखा जाता है जिनका हल प्राय: विनाश अथवा उन पर कब्जा करके किया जाता है।[96]

भारतीय धार्मिक परम्पराओं में मानवीय स्थिति की अवधारणा भिन्न प्रकार से की जाती है। यहाँ लड़ाई 'मूल पाप' के साथ नहीं है और दूसरों द्वारा किये गये कार्यों से सोचे गये पाप से तो कतई नहीं। बल्कि अज्ञान से ही प्रभाव और कारण का क्रम पैदा होता है और इन्हीं कारणों से व्यक्तिगत एवं सामूहिक दोनों प्रकार की पीड़ा का निर्धारण होता है। यह समझ अलग-अलग धर्मशास्त्रों द्वारा व्यक्त की गई है जो अरूपान्तरणीय शब्द 'कर्म' के इर्द-गिर्द विकसित हुए हैं। (इसलिए ज्ञान वृक्ष के फल खा लेना किसी पाप का कारण नहीं हो सकता)।

'कर्म' सिद्धान्त द्वारा व्यक्ति के विचारों, भावनाओं एवं कार्यों द्वारा उनके वर्तमान और भविष्य के परिणाम निर्धारित होते हैं। इसलिए, उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति के बुद्धि-विकास, सौन्दर्यबोध उन्नयन या आध्यात्मिक आयाम को उन्नत करने के प्रयास स्वाभाविक रूप से इन क्षेत्रों की प्रगति में योगदान देते हैं। इसके विपरीत हिंसा, लालच या वासना के विचार अथवा कार्य इन प्रवृत्तियों को बढ़ाते हैं जिनका नतीजा इस और अगले जन्म में भुगतना पड़ेगा। 'कर्म' का आशय भाग्यवाद नहीं है बल्कि वह तो हर किसी के कर्म-फल की प्रणाली है। वास्तव में कर्म को 'नियतिवाद' के विपरीत अर्थ में लिया जाना चाहिए, क्योंकि यह व्यक्ति द्वारा स्वेच्छा से चुने गये विकल्पों के लिए जिम्मेदारी एवं दायित्व को निभाने का एक नैतिक ढाँचा प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो कर्म-सिद्धान्त व्यक्ति के जीवन और नियति के निर्माण और पुनर्निमाण को सम्भव बनाता है।

अत: कर्म-सिद्धान्त कार्य-कारण का एक मनो-भौतिक वैज्ञानिक नियम है। जान-बूझ कर किया गया प्रत्येक कार्य 'संस्कार' रूपी प्रभाव छोड़ता है जिसे एक 'बीज' भी कहा जाता है जो समुचित परिस्थितियों में अंकुरित होता है और निर्मित 'परिणाम' को कर्मफल कहते हैं। कर्मफल के पकने का समय अनिश्चित है और यह तब होता है जब इसके प्रकट होने और समाधान हेतु उचित फलदायक स्थितियाँ बनती हैं। किसी भी कर्म को बारम्बार दोहराने से 'संस्कार' दृढ़ होते हैं जो धीरे-धीरे एक आदत या प्रवृत्ति (वासना) बन जाती है जो आगे चल कर इसी कर्म की पुनरावृत्ति करवाती है। इन संस्कारों एवं वासनाओं की शक्ति ऐसी होती है कि व्यक्ति बिना जाने ही यन्त्रवत उन कर्मों को करता चला जा सकता है। यह 'सुदृढ़ व्यवहार' (reinforced behavior) की उस मनोवैज्ञानिक अवधारणा की तरह है जो और भी अधिक बन्धनकारी होता है, हालाँकि इस अवधारणा के केवल मनोवैज्ञानिक ही नहीं बल्कि धार्मिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक निहितार्थ भी हैं। यहाँ स्वयं के कार्यों द्वारा ही चरित्र का निर्माण होता है न कि किसी दूसरे के (जैसा ईसाइयत के मूल पाप में है), जो आगे चल कर उस व्यक्ति से और अधिक कार्य करवाता है। आध्यात्मिक साधना व्यक्ति को समर्पण भाव से पिछले कर्मफल का भोग करते हुए अपने पिछले कर्म के बीजों को नष्ट करने में सक्षम बनाती है, न कि इस तरह से प्रतिक्रिया देते हुए जिससे नये कर्म का निर्माण हो और क्रिया और फल का चक्र अविरत चलता रहे।

सकारात्मक कर्म को 'पुण्य' कहते हैं और नकारात्मक कर्म को 'पाप।' कोई भी किसी दूसरे के कर्मों के कारण कष्ट नहीं भोगता, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का एक अलग खाता है जिसमें उसके कर्मों के परिणाम दर्ज होते हैं।[97] भारतीय दर्शनशास्त्र की सांख्य प्रणाली के अनुसार व्यक्ति की चेतना एक पात्र की तरह है जिसमें उसके संस्कार (हमारे विकल्पों द्वारा उत्पन्न बीज) जमा होते हैं। भारतीय मनोविज्ञान में व्यक्तिवाद का यही आधार है। संक्षेप में, व्यक्ति के कर्म के परिणाम ही उसकी व्यक्तिगत चेतना में संग्रहीत होते हैं।

कर्म का उद्देश्य केवल शुद्धिकरण है। कर्म तभी संचित होते हैं जब व्यक्ति अपने को एक अलग और स्वतन्त्र इकाई के रूप में देखता है। जब व्यक्ति में 'कर्ता' का भाव नहीं रह जाता तब उसके कर्म जमा होना बन्द हो जाते हैं (हालाँकि संचित कर्मों के पुराने 'प्रारब्ध' अपना प्रभाव जारी रखते हैं)।

इस दृष्टिकोण से पुनर्जन्म एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति के पिछले जन्म के जमा कर्मों के आधार पर ही उसका वर्तमान जन्म निर्धारित होता है। इससे स्पष्ट होता है कि अलग-अलग व्यक्ति भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में कैसे पैदा होते हैं। 'कर्म' की अवधारणा ईश्वर के पाँसे खेलने या मनमाने ढंग से भाग्य निर्धारित करने जैसी नहीं है, न ही यह अनियमित है और न ही यह किसी आदिकालीन सामूहिक पाप का परिणाम है। पश्चिम के नियमित गलत प्रचार के विपरीत कर्म सिद्धान्त वास्तव में अच्छे कार्य का मार्गदर्शक है, न कि केवल वर्तमान परिस्थितियों की व्याख्या करने की एक व्यवस्था। जैसे-जैसे व्यक्ति के कर्मों के प्रभाव समाप्त होते हैं, कर्म नष्ट होते जाते हैं परन्तु खाता फिर से नये कर्मों से भरता रहता है क्योंकि अहंकार सतत् नये-नये चुनाव करता रहता है।

हिन्दुओं का मानना है कि प्रत्येक जीव परमेश्वर से उसी तरह सम्बन्धित है जैसे एक बूँद समुद्र से। ये सभी बूँदें एक सुसंगत और दिव्य नृत्य (लीला) का अंग हैं। इस नृत्य में अगणित जीवात्माएँ हैं जिनमें प्रत्येक के अपने-अपने विकल्पों के कारण परिणाम प्राप्त होते हैं। 'मुक्ति' एक ऐसी स्वतन्त्रता की स्थिति है जिसमें व्यक्तिगत अस्मिता, जो अपने कर्मों के कारण परिणामों के बन्धन में है, अपने को मूल रूप से रूपान्तरित करके परम वास्तविकता से अपना अलगाव खो देती है। इस तरह की 'मुक्ति' कोई भौतिक स्वर्ग नहीं है, वरन् चेतना की एक स्थिति है।

पहले मैंने कहा था कि धार्मिक अर्थ में संज्ञानात्मक चूक से ही मानवीय पीड़ा उत्पन्न होती है। विविध संज्ञानात्मक चूकों का व्यापक जाल ही कर्मों के संचित होने का कारण है—उदाहरण के लिए अहम को ही अपनी परम अस्मिता मानना और यह मानना कि वस्तुएँ अपने से ही अस्तित्व में हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिए उनके पीछे पड़ने के लक्ष्य और अपनी भावनाओं और अवधारणाओं को असली मान कर उन्हें पकड़े रखना इत्यादि। इन चूकों को ध्यान से देख कर व्यक्ति अपने कर्मों को सुलझा कर अहम के बोझ को हल्का कर सकता है। जैसे-जैसे संज्ञानात्मक चूकों में सुधार होगा वैसे-वैसे सम्मोहनों का पीछा करने पर भी विराम लगेगा।

पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय परम्पराओं पर व्यक्तिवाद की कमी का गलत आरोप थोपा है और यह जताया है कि केवल पश्चिम में ही यह विशेषता है। अत: यह भी महत्वपूर्ण है कि कर्म सिद्धान्त की कुछ गलत व्याख्याओं को दूर किया जाये। यह सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि विरासत में मिले पिछले कर्मों के फल (न कि मनमाने ढंग से निर्दिष्ट भाग्य) को व्यक्तिगत प्रयास (पुरुषार्थ) से सन्तुलित करना चाहिए। पंचतन्त्र[98] और अन्य बहुत-सी कहानियाँ किसी एक या दूसरे पर पूरी तरह से

विश्वास करने की अज्ञानता को चित्रित करती हैं। इसीलिए पीड़ा के प्रति भारतीय दृष्टिकोण न तो भाग्यवादी स्वीकृति की है और न ही इसके विपरीत, बल्कि यहाँ मनुष्य की वर्तमान स्थिति में पूर्ण स्वतन्त्रता में विश्वास करने को कहा गया है। अत: वांछित दृष्टिकोण व्यावहारिक है तथा यह वर्तमान, मध्यम एवं लम्बे समय के सन्दर्भों में अन्तर पहचानने की माँग करता है। वर्तमान क्षण में पीड़ा के प्रति संयमशील स्वीकृति होनी चाहिए जबकि मध्यम काल में व्यक्ति को दुखों को कम करने के लिए दृढ़तापूर्वक प्रयास करना चाहिए और अन्तत: लम्बे काल में व्यक्ति को उस चक्र से परे जाने का प्रयास करना चाहिए, जिसमें कर्म अपना प्रभाव डालते हैं।

'कर्म,' 'मुक्ति' (Redemption) का समानार्थी नहीं है

हालाँकि 'कर्म' एक धार्मिक शब्द है, परन्तु यह आज की पश्चिमी शब्दावली में लोकप्रिय है। बहुत से लोग अपनी चर्चाओं में 'कर्म' का सन्दर्भ देते रहते हैं, हालाँकि इसकी अवधारणा दोनों संस्कृतियों के बीच आसानी से अनुवाद करने योग्य नहीं है और इसलिए गलत समझी जाती रही है। कुछ ही मायनों में कर्म का सिद्धान्त बाइबल की न्याय की अवधारणा के समान है। उदाहरण के लिए बाइबल का कहना है ''जैसा तुम बोओगे वैसा ही तुम काटोगे।'' धार्मिक एवं यहूदी-ईसाई दोनों ही दृष्टिकोण इस बात पर बल देते हैं कि अच्छे या बुरे कार्य शारीरिक, मौखिक या मानसिक हो सकते हैं और दोनों ही स्वतन्त्र इच्छा को मानते हैं (हालाँकि यहूदी-ईसाई मतों में स्वतन्त्रता को पूरी तरह समाप्त भले ही न किया गया हो, पर यह 'मूल पाप' से समझौता किये हुए है जबकि धार्मिक परम्पराओं में यह 'वासनाओं' से ग्रस्त है)। और दोनों ही न्याय संगत संसार की उस अवधारणा पर आधारित हैं जिसमें अन्तत: न्याय की जीत होगी; दोनों ही एक सार्वभौमिक नियम को मानते हैं जो अनवरत सृजन का एक अन्तर्निहित लौकिक सिद्धान्त है और दोनों ही यह संकेत देते हैं कि इस सृजन के विरुद्ध जानबूझ कर किया गया कोई भी कार्य उसके परिणामों से मुक्त नहीं है। परन्तु फिर भी इन दो अवधारणाओं के बीच महत्वपूर्ण मतभेद हैं। जब हम कर्म-सिद्धान्त के अर्थ को भारतीय सन्दर्भों में नहीं देख पाते तो हम धार्मिक तथा यहूदी-ईसाई विपरीत वैश्विक दृष्टिकोणों को एक समान और समकक्ष मानने का ख़तरा उठा बैठते हैं।

यहूदी और ईसाई मतों में न्याय चाहे किसी हद तक पृथ्वी पर ही आँका जाता हो, परन्तु अन्तत: यह न्याय के दिन (Day of Judgement) पर ही सम्पन्न होगा, जब हर व्यक्ति को उसके कार्यों के लिए जिम्मेदार ठहराया जायेगा और उसी के अनुसार उसे स्थायी रूप से स्वर्ग या नरक भेजा जायेगा। काल्पनिक रूप से अन्त में एक ऐसा सर्वनाशी संघर्ष होगा जिसे समय का अन्त (End Times) कहा गया है।[99] इसके विपरीत धार्मिक 'कर्म सिद्धान्त' के अनुसार ईश्वरीय न्याय का कोई विशेष दिन नहीं है; वास्तव में ऐसे किसी समय का उल्लेख नहीं है जब पुरस्कार और दण्ड स्थायी रूप से समाप्त हो जायेंगे। 'कर्म' एक सतत् चलने वाली ब्रह्माण्डीय प्रणाली है जिसमें सभी

कर्मों के परिणाम आगे-पीछे चलते रहते हैं, ठीक वैसे ही जैसे प्राकृतिक विज्ञान में कारण सतत् कार्य करता रहता है।

न्याय सम्बन्धी ईसाई दृष्टिकोण मीमांसा प्रणाली में कर्म की व्याख्या के समान है; अच्छे कर्म से 'स्वर्ग' का आनन्द मिलता है जबकि बुरे कर्मों से 'नरक' जैसा दण्ड मिलता है। परन्तु ईसाई अवधारणाओं के निरन्तर नरक या अनन्तकाल तक स्वर्ग में जीवन के विपरीत हिन्दू विचारधारा यह है कि दोनों स्थितियों में ठहराव अस्थायी और संचित कर्मों के अनुपात में रहता है। एक प्रमुख अन्तर यह है कि स्वर्ग के ठहराव पूरी तरह से संचित कर्मों को समाप्त नहीं कर पाते और उचित स्थितियों में प्रकट होने वाले कर्मफलों के भोग के लिए पुनर्जन्म लेना पड़ता है।[100] इस प्रकार पुनर्जन्म का विचार महत्वपूर्ण है और यह भारतीय दृष्टिकोण में समाहित है।[101] जबकि ईसाई मत और साथ-साथ पश्चिमी धर्मनिरपेक्ष विचारधारा (जैसे कि मनोविज्ञान) में सामान्यत: परिणामों के लिए समय अवधि एक जीवन-चक्र तक सीमित है। दूसरी ओर भारतीय दृष्टिकोण में कार्य-कारण चक्र व्यक्ति के विकल्पों से चालित है और अनेक जीवन-चक्रों में फैला हुआ है।[102] कर्म सिद्धान्त पुनर्जन्म की अवधारणा को महत्वपूर्ण बनाता है। इससे पता चलता है कि अलग-अलग व्यक्ति क्यों एकदम भिन्न परिस्थितियों में जन्म लेते हैं। मनुष्यों के असमान पैदा होने को ईसाई God की 'रहस्यमयी इच्छा' से परिभाषित करते हैं।

ईसाई मत की 'मूल पाप' की अवधारणा के विपरीत कर्म सिद्धान्त कहता है कि केवल हमारे अतीत (पिछले या इस जन्म) के कर्म ही हमें हमारी परिस्थितियों तक पहुँचा कर हमें बन्धन में जकड़ते हैं। उदाहरण के लिए एक विमान के सभी यात्री एक दुर्घटना में मर सकते हैं, परन्तु उनमें से प्रत्येक की मृत्यु उनके व्यक्तिगत कर्मों के परिणामस्वरूप हुई है। इसलिए जो सामूहिक फल प्रतीत होता है वह वास्तव में 'सामूहिक कर्म' के कारण नहीं मिला है।

सामूहिक कर्म की अवधारणा उसी समय लागू होती है जब व्यक्तियों का एक समूह कोई सामूहिक कार्य करता है और इसलिए प्रत्येक सहभागी उस कार्य में भागीदार बनता है। लेकिन महत्वपूर्ण बात है कि यह सामूहिक कर्म किसी अन्य के कर्म के कारण उपार्जित नहीं होता, उदाहरण स्वरूप ईसाई मत के मामले में जो 'आदम' और 'हव्वा' द्वारा किया गया।[103]

हिन्दुओं के अनुसार ईसाई मत में दो प्रमुख समस्याएँ हैं—पहली तो यह कि किसी व्यक्ति (जीव) द्वारा किया गया कर्म किसी अन्य व्यक्ति को स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता, बल्कि कर्म करने वाले व्यक्ति द्वारा उसे इस या भविष्य के जीवन में भोगना पड़ेगा।[104] इसके अतिरिक्त फल कभी भी कर्म से पहले नहीं बल्कि बाद में ही मिलता है, इसलिए यीशु की पूर्ववर्ती यातनाओं से न तो उनके पूर्व के क्रियाकलापों के अनुसार (जैसा कि यहूदियों के लिए यीशु के जन्म से पहले के दावे में कहा गया है)

और न ही भविष्य में किन्हीं व्यक्तियों द्वारा किये जाने वाले कर्मों की माफ़ी हो सकती है।[105]

यहूदी और ईसाई मतों में सामूहिक एवं व्यक्तिगत दोनों प्रकार के अपराध बोध की अवधारणा है और दोनों के लिए प्रायश्चित आवश्यक है। सामूहिकता के सवाल पर यह सिद्धान्त समूची जनता जैसे कि हिब्रू बाइबल में वर्णित इज़राइल के उन सभी लोगों पर लागू होता है जो ईश्वर के प्रति विश्वास पर या तो अडिग रहे अथवा ईश्वर के ऊपर उनका विश्वास कम हुआ। परिणामस्वरूप पूरी जनता को सामूहिक रूप से पुरस्कार अथवा दण्ड मिला। कम-से-कम रोमन कैथोलिक परिप्रेक्ष्य में 'चर्च' को सामूहिक इकाई के रूप में या तो मुक्ति दी जा सकती है या उन्हें ईश्वर से विमुख किया जा सकता है। समय के साथ विविध प्रकार की सामूहिक निरन्तरता महत्वपूर्ण हो गई। इसका एक उदाहरण प्राचीन इज़राइल में पादरियों की जैविक वंशावली के रूप में देखा जा सकता है। अन्य उदाहरण पोप की परम्परा के रूप में देखा जा सकता है जिसमें ईसाई उच्च चर्च में पादरियों की अखण्डित निरन्तरता है। कर्म जैसे प्रभाव इन समूहों द्वारा हस्तान्तरित किये जा सकते हैं जो विशेष सदस्यों के व्यक्तिगत पाप अथवा अपराध से एकदम अलग होंगे।

इस प्रकार किसी पश्चिमी व्यक्ति के लिए स्वयं की प्रकृति अंशत: वंश-परम्परा द्वारा निर्मित और निश्चित रूप से विश्वास एवं सामूहिक आस्था द्वारा निर्धारित की जा सकती है; जबकि भारतीय कर्म-सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति का जन्म एक साधन मात्र है जिसके द्वारा कोई जीवात्मा अपने व्यक्तिगत पूर्व कर्मों के खाते के अनुसार जन्म लेती है तथा उसका भाग्य किसी सामूहिक पहचान से मुक्त है।

धार्मिक परम्पराओं में कर्म तथा उनका प्रभाव सीमित है, चाहे इनका फलीभूत होना लम्बे समय तक बना रह सकता है। किसी भी कर्म के लिए किसी भी प्रकार का शाश्वत् दण्ड मिल ही नहीं सकता।[106] दूसरी ओर ईसाइयत और इस्लाम में नरकवास सदा के लिए होता है और God के अतिरिक्त इसमें कोई कुछ कर ही नहीं सकता।[107] जैसे पहले चर्चा हो चुकी है, इन दो दृष्टिकोणों के कुछ अन्तर इनके ब्रह्माण्ड विज्ञान के अन्तर से स्पष्ट किये जा सकते हैं। भारतीय दर्शनशास्त्र के अनुसार काल भी बिना किसी आदि या अन्त के ब्रह्माण्ड की तरह अनन्त है, जबकि बाइबल के अनुसार समय 'एकमात्र ब्रह्माण्ड' के सृजन से प्रारम्भ हुआ है और आने वाले अन्तिम समय (End Time) पर इसका अन्त होगा। अधिकांश ईसाई इस ब्रह्माण्ड का चित्रण एक परिमित समय के क्रमिक इतिहास के रूप में करते हैं जिसके बाद अनन्त काल तक स्वर्ग या नरक होगा। ऐसे समय-मान में किये गये व्यक्तिगत कर्मों के परिणाम अनन्त काल तक चलेंगे। और इस पृथ्वी पर पाप से सामना करने के लिए एकमात्र यही जीवन है।

इस व्यग्रता के परिणामस्वरूप धर्मान्तरण करने के लिए ईसाई प्रेरित होते हैं और प्राय: ऐसे तरीकों का प्रयोग करते हैं जो यीशु के अपने उदाहरण के विपरीत हैं।

हालाँकि बाइबल में लगभग प्रत्येक दिव्य आगमन, जिसमें फरिश्तों द्वारा चरवाहों को यीशु के जन्म का सन्देश भी सम्मिलित है, 'डरो मत' जैसे आदेश देता है, फिर भी ईसाई मिशनरियों ने परम्परागत रूप से 'डर' के मनोवैज्ञानिक दबाव का इस्तेमाल किया है और लोगों को 'अच्छे समाचार' के रूप में भरमाया है कि मानव जाति की समस्त दुर्दशाओं के निवारण के लिए God ने उनकी चर्च को विशिष्ट रूप से चुना है। हिन्दू धर्म में व्यक्ति स्वयं अपने कर्मों का समाधान कर सकता है जिससे नये कर्म संचित न हों और समयानुसार उसे मुक्ति प्राप्त हो सके। यहाँ तक कि अत्यधिक नृशंस कर्मों की भरपाई करने के लिए भी दूसरा जन्म सदैव उपलब्ध है।

नीचे दी गई तालिका में इन प्रमुख अन्तरों का सार दिया गया है—

	समय (कालखण्ड)	कर्म प्रभाव (फल)	ऐतिहासिक हस्तक्षेप पर निर्भरता	मनोवैज्ञानिक निहितार्थ
ईसाइयत	सीमित	अनन्त काल तक	हाँ	तनाव, अपराधबोध
हिन्दू/बौद्ध धर्म	असीमित	अस्थायी	नहीं	सहजता

इसके अतिरिक्त कर्म-सिद्धान्त का मानना है कि मनुष्य के पास स्वयं की साधना द्वारा अपने कर्मों के बन्धनों को पूरी तरह से तोड़ने के साधन हैं और उसे यहूदी-ईसाई मतों की अवधारणा के समान किसी दैवीय हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है। यहाँ 'कृपा' (बिना योग्यता के ईश्वर की करुणा एवं दया) सम्बन्धी अवधारणा तो है, परन्तु एक पूर्वापेक्षा की तरह नहीं। अपनी मुक्ति के लिए मनुष्य स्वयं माध्यम है। इसलिए भले ही श्री कृष्ण, शिव अथवा बुद्ध की महिमा के बारे में उसने न सुना हो, परन्तु धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति एक अच्छा हिन्दू हो सकता है। इसके विपरीत यीशु के इतिहास को जाने और स्वीकार किये बिना कोई व्यक्ति 'अच्छा ईसाई' नहीं हो सकता।

भारतीय धार्मिक परम्पराओं में भौतिक अहं भाव ही संकीर्णता एवं पीड़ा का प्रमुख स्रोत माना जाता है, जबकि पश्चिमी दृष्टिकोण में अहं भाव सदैव अटल रहता है और कभी-कभी ख़तरनाक मसीहाई विस्तार भी कराता है।

धार्मिक आस्थाओं में सन्निहित ज्ञान अहंकार को ख़त्म करने के लिए एक अन्तरिम लक्ष्य के रूप में होता है। (विकल्प में अन्तिम लक्ष्य अहं का इतना विस्तार करना है कि इसमें सब कुछ समा जाये, एक ऐसी स्थिति जिसे 'पूर्णात्मा' कहा जाता है)। पीड़ा से कोई भी नहीं बचता और यह उच्च आकांक्षाओं का प्रेरणा स्रोत बनना चाहिए तथा गहन अन्तर्दृष्टि (प्रज्ञा) और दया (करुणा) के स्रोत में परिवर्तित होनी चाहिए। सन्निहित

ज्ञान संसार की मुक्ति की योजनाओं को 'खरीदने' या किसी विशिष्ट पन्थ या सम्प्रदाय के प्रति निष्ठा से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस समझ का चित्रण बुद्ध के जीवन, उनके द्वारा प्रवर्तित चार महान सत्य और तत्पश्चात् बौद्ध धर्म के इतिहास के अतिरिक्त और कहीं देखने को नहीं मिलता—जोकि संसार की सबसे व्यवस्थित शान्तिप्रिय धार्मिक संरचनाओं में से एक है।[108]

भारतीय धार्मिक परम्पराएँ आत्माओं एवं राज्य क्षेत्र को हथियाने के राजनैतिक एवं मनोवैज्ञानिक मुकाबले में नुकसान झेलती हैं क्योंकि वे धर्मांतरण में विश्वास नहीं रखतीं। ऐतिहासिक रहस्योद्घाटनों सम्बन्धी ईसाई और इस्लामी जुनून, मुक्ति और शाप की योजना तथा ईश्वरीय सत्य के विशिष्ट धारक के रूप में औपचारिक संस्थाओं ने कई बार विस्तार और नियन्त्रण की साम्राज्यवादी योजनाओं को भड़काया है। इसकी तुलना में भारतीय धार्मिक परम्पराओं में किसी अन्तर्निहित आदेश अथवा आक्रामकता के लिए औचित्य सिद्ध करने जैसी कोई सोच नहीं है। वे संघटित होने के उत्प्रेरक के रूप में किसी 'नास्तिक' (या मूर्तिपूजक) को दुश्मन के रूप में पेश नहीं करतीं और आत्म-बोध सम्बन्धी उनके दावे प्राय: गरीबों, भूखों, वंचितों एवं अशिक्षितों की निगाह में दूर की कौड़ी एवं गूढ़ प्रतीत होते हैं। पश्चिमी मतों की तरह उनमें कोई संस्थागत सत्ताकेन्द्र, नियन्त्रण तन्त्र अथवा संगठनात्मक ढाँचा नहीं है।

आईये हम पीड़ा, कर्म, मुक्ति और मोक्ष के सन्दर्भ में इन परम्पराओं की तुलना करें। प्रस्तुत तालिका के तीन स्तम्भ इस तरह की तुलनाओं और उन्हें समकक्ष दिखाने में चुनौतियों को प्रदर्शित करते हैं। पहला स्तम्भ महत्वपूर्ण ईसाई सिद्धान्त को प्रदर्शित करता है जैसा कि मुख्यधारा के ईसाइयों द्वारा समझा गया है; दूसरे में इसको भारतीय धार्मिक परम्पराओं के कर्म-सिद्धान्त के ढाँचे में दोहराया गया है और तीसरा स्तम्भ इस सिद्धान्त को कर्म के दर्शनशास्त्र के अनुसार निर्धारित करता है।

ईसाई सिद्धान्त	**कर्म-सिद्धान्त ढाँचे में परिभाषित ईसाई सिद्धान्त**	**भारतीय सिद्धान्त**
1. आदम और हव्वा द्वारा किये गये मूल पाप ने सभी मनुष्यों को हमेशा के लिए अन्तिम समय के आने तक अनन्त शापित किया है, जब तक इसे ईश्वर के अनुग्रह द्वारा संशोधित न किया जाये।	माता-पिता के कर्म आने वाली सभी पीढ़ियों में सामूहिक रूप से वितरित किये गये हैं। कर्म का फल अनन्त है।	कर्म का प्रसार सामूहिक रूप से नहीं होता। प्रत्येक जीव का कर्म उसके पूर्व-जन्म से सम्बन्धित है, न कि उसके पूर्वजों से। सभी कर्म और कर्मफल सीमित हैं, न कि अपरिमित।

2. यीशु ने समूची और भावी मानवता के पापों के लिए यातनाएँ सहीं हैं ताकि उन्हें अनन्त शापों से बचाया जा सके।	हर व्यक्ति का कर्म यीशु को हस्तान्तरित किया जाता है। भविष्य में किये जाने वाले अजन्मे व्यक्ति का कर्म यीशु के कर्मफल (यातना) द्वारा पहले ही सम्भावित रूप से चुका दिया जाता है।	कर्म अहस्तान्तरणीय है। 'फल' सदैव कर्म के बाद ही मिलता है, न कि पहले; इसे भविष्य के कर्म के लिए अग्रिम रूप से जमा नहीं किया जा सकता और न ही इसे बीती हुई बातों पर लागू किया जा सकताहै।
3. यीशु द्वारा मुक्ति दिलाने की आवश्यक और उपयुक्त शर्त है कि उसके जन्म, मृत्यु और पुन: जीवित होने जैसी ऐतिहासिक घटनाओं पर पूर्ण विश्वास किया जाये तथा बाइबल की शिक्षाओं का पालन किया जाये।[109]	मात्र यीशु में विश्वास करने से कर्मफल पर आश्चर्यजनक अनुपात में प्रभाव पड़ता है।	किसी भी प्रकार का विश्वास अपने आप में कर्मों के परिणामों को निरस्त करने में सक्षम नहीं है।

ईसाई शब्द Works, 'कर्मयोग' का समानार्थी नहीं है

'Works' एक ईसाई शब्द है जो हिन्दू-बौद्ध धर्म में 'साधना' (अनुशासित आध्यात्मिक अभ्यास) और कर्मयोग जैसा प्रतीत होता है। यह किसी जागरूक और सुविचारित आध्यात्मिक अभ्यास की ओर संकेत करता है। परोपकार से ले कर प्रार्थना, ध्यान, बाइबल के अध्ययन से ले कर समस्त ईसाई अनुष्ठानों तक में इसे उपयोग किया जाता है जिसके द्वारा व्यक्ति God के समक्ष अपना आध्यात्मिक स्तर ऊँचा करने का प्रयास करता है। कट्टर प्रोटेस्टेण्ट परम्पराओं में कोई भी किसी भी प्रकार के आध्यात्मिक अनुशासनों, परोपकार सम्बन्धी कार्यों और यहाँ तक कि आत्म-बलिदान आदि से भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसा कर पाने का भ्रमजाल प्रोटेस्टेण्टों के लिए आध्यात्मिक विकास में बड़ी बाधाओं में से एक है। परिणामस्वरूप प्रोटेस्टेण्टों में भारतीय धार्मिक परम्पराओं, जैसे योग जो यह संकेत देता है कि व्यक्ति अपने सत्कार्यों द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है, के प्रति भारी अविश्वास है जिसका अर्थ है God की कृपा के प्रति नासमझी और नम्रता का अभाव

होना। प्रोटेस्टेण्ट 'Works' के महत्व को नकारते नहीं हैं, परन्तु उन्हें मोक्ष के फल की तरह देखते हैं, न कि उसे प्राप्त करने के साधन की तरह।

कैथोलिक ईसाई प्रोटेस्टेण्टों से मुख्य रूप से सहमत हैं, हालाँकि वे 'Works' को मोक्ष प्राप्त करने की तैयारी और सम्भवत: इस स्थिति को प्राप्त करने के साधन के रूप में लेते हैं। कैथोलिक मत के अनुसार मनुष्य पूरी तरह से पतित और भ्रष्ट नहीं हैं, इसलिए वे स्वयं की मोक्ष प्राप्ति और दिव्यता का दर्शन करने का प्रयास कर सकते हैं—हालाँकि प्रोटेस्टेण्ट मत की तरह वे ज़ोर देते हैं कि मोक्ष प्रदान करने का पूर्ण अधिकार केवल God के पास ही है। इसलिए कैथोलिक ईसाइयों में कुछ आध्यात्मिक अभ्यास भारतीयों जैसे हैं, जैसे कि माला जपने की प्रथा जो हिन्दू जाप की तरह ही है।

बहुत-सी कैथोलिक एवं पूर्वी रूढ़िवादी चर्च की परम्पराएँ, जैसे प्रार्थना के साथ श्वास का समन्वय और मठों में प्रचलित शारीरिक एवं स्वानुभूत आध्यात्मिक साधनाओं के व्यापक प्रयोग, सम्भवत: भारतीय परम्पराओं से ग्रहण की गई थीं या कम-से-कम भारतीय परम्पराओं से प्रभावित थीं।[110] प्रोटेस्टेण्टों के मुकाबले कैथोलिक ईसाई कर्मकाण्ड पर अधिक बल देते हैं। इस कारण सामान्य कैथोलिक, रूढ़िवादी चर्च और उच्च वर्णीय (High Anglican) चर्च के सदस्य प्रोटेस्टेण्टों की तुलना में भारतीय आध्यात्मिकता को अपनाने में सहजता का अनुभव करते हैं। आध्यात्मिक साधना की शक्ति से कैथोलिक भलीभाँति परिचित हैं तथा आध्यात्मिक प्रयासों और उनके सुविचारित संवर्धन को सहज रूप में लेते हैं। साथ ही विडम्बना यह है कि उनमें से बहुत से तो 'योग' का प्रतिरोध करते हैं, क्योंकि वह ईसाई 'विशिष्टता' के लिए अपमानजनक है। उनकी समझ यह बनी हुई है कि आध्यात्मिक साधनाओं को पूरी तरह से उनके धार्मिक एवं ऐतिहासिक सन्दर्भों से अलग करके तटस्थ विधियों जैसा नहीं माना जा सकता।[111]

धर्म के अनुसार जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए व्यक्तिगत प्रयास एवं ईश्वर का अनुग्रह दोनों आवश्यक हैं। व्यक्ति के अन्दर की अचूक महत्वाकांक्षा और ईश्वर की ऊपर से बरसी कृपा ये दो शक्तियाँ हैं जो हमें परम लक्ष्य तक ले जाती हैं। कृपा केवल सत्य और ज्ञान के प्रकाश की स्थितियों में ही प्राप्त होती है, जिसके लिए अपनी निम्न प्रकृति का परित्याग करना होता है। इसमें मानसिक विचार, आस्थाएँ, वरीयताएँ, आदतें तथा अभिप्राय सम्मिलित हैं ताकि शान्त मन सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सके। श्री अरविन्द के अनुसार व्यक्ति को अपनी इच्छाओं, माँगों, लालसाओं, उत्तेजनाओं, जुनूनों, स्वार्थ, अभिमान, अहं भाव, वासना, लालच, ईर्ष्या, द्वेष तथा सत्य के प्रति विरोध को छोड़ना पड़ेगा ताकि ऊपर से सच्ची शक्ति और आनन्द एक शान्त, विशाल, मजबूत और पवित्र समर्पित प्राणवान जीव में उमड़ पड़े। शारीरिक स्तर पर व्यक्ति को भौतिक प्रकृति की बुद्धिहीनता, सन्देह, अविश्वास, अँधकार, हठ, संकीर्णता, आलस्य, बदलाव के प्रति अनिच्छा, तामस इत्यादि को त्यागना पड़ेगा

ताकि प्रकाश, शक्ति और आनन्द की सच्ची स्थिरता दिव्य होते हुए शरीर में स्थापित हो सके।[112] व्यक्ति का ऐसा पूर्ण समर्पण उसकी प्रत्येक हरकत में होना चाहिए; यह पर्याप्त नहीं है कि ऐसा कभी-कभार ही किया जाये, जैसे उदाहरण के लिए केवल पूजा या साधना के समय।

यहाँ पर 'समर्पण' का अर्थ इस आशा से अपनी जिम्मेदारियों को छोड़ना नहीं है कि ईश्वर सब कुछ कर लेगा (भारतीय परम्परा इसे तामसिक लापरवाही कहती है)। बल्कि यह संकेत देती है कि जीवन को इस संसार में पूर्णता से जिया जाये। इस जीवन पद्धति को अंग्रेज़ी में ''चटाई से परे का योग—Yoga off the mat'' कह कर वर्णित किया गया है जो ''चटाई पर योग—Yoga on the mat'' से भिन्न है, अर्थात जो अभ्यास केवल पृथक समय और स्थान में ही सीमित है। श्री अरविन्द बताते हैं कि—

> ''योग को श्वास का बिल्कुल विचार किये बिना भी किया जा सकता है, किसी भी आसन अथवा बिना आसन के, एकाग्रता पर कोई बल दिये बिना, पूर्णत: जागृत अवस्था में, घूमते-फिरते, काम करते, खाते, पीते, बातचीत करते, किसी भी व्यवसाय में, नींद में, स्वप्न में, अचेतन, अर्द्धचेतन अथवा दोगुनी चेतना जैसी स्थितियों में किया जा सकता है। यह कोई रामबाण दवा या स्थिर अभ्यास या प्रणाली नहीं है बल्कि ब्रह्माण्ड की मूल प्रकृति पर आधारित शाश्वत् तथ्य की एक प्रक्रिया है।[113]

भगवद्गीता 'कर्मयोग' अर्थात कर्म द्वारा मुक्ति पर बल देती है। प्रत्येक कर्म अहंकार से मुक्त, बिना फल की इच्छा किये पूरी ईमानदारी से करना होता है। इस तरह व्यक्ति परमात्मा के एक उपकरण की तरह कर्म करता है। ऐसा करने से व्यक्ति की चेतना उन्नत होती है। इसमें 'तपस्या' निहित है जिसका उद्भव संस्कृत के मूल शब्द 'तपस' से हुआ है जिसके बीज का अर्थ है उष्मा उत्पन्न करना, चमकना। यह अभिलाषा, प्रयास, तीव्रता, त्याग और पीड़ा की अग्नि की गर्माहट है जिसे सेवा और समर्पण के जीवन में अनुभव किया जाता है। इसे पीड़ा के रूप में नहीं देखा जाता बल्कि जीवन के उच्चतम लक्ष्य को साकार करने के लिए व्यक्ति की तपस्या के रूप में स्वतन्त्र भाव और हर्ष से स्वीकार किया जाता है। सभी समस्याएँ और कठिनाइयाँ मानव जीवन के इस लक्ष्य को भुला देने के कारण उत्पन्न हुई हैं। इसके स्थान पर लोगों की गतिविधियाँ एक सतही अहंकार के आसपास केन्द्रित हो गई हैं। 'तपस्या' इसी अहं भाव से मुक्ति पाने के लिए किये जाने वाली निरन्तर साधना और व्यक्तिगत संकल्प को सन्दर्भित करता है।

'Salvation' - ईसाई मुक्ति, जीवनमुक्ति और मोक्ष का समानार्थी नहीं है

कभी-कभी मेरे घर के आसपास स्थानीय चर्च से अच्छे कपड़ों में सजे-धजे कुछ ईसाई मत प्रचारक (Evangelist) युवक और युवतियाँ का समूह पड़ोस में आस-पास

चल कर ईसाइयत का प्रचार करने के लिए दरवाज़े की घण्टियाँ बजाते हैं। मैं हमेशा उन्हें चाय की पेशकश करते हुए आराम से सहज बातचीत करने के लिए आमन्त्रित करता हूँ। हालाँकि मैं एक कैथोलिक स्कूल में पढ़ा हुआ हूँ और धर्म परिवर्तन के खेल को अच्छी तरह समझता हूँ। फिर भी मैं दिखावा करता हूँ कि मैं भोले आप्रवासी की तरह बुनियादी प्रश्न पूछने के लिए उत्सुक हूँ। कुछ मिनटों की गपशप के बाद प्राय: उनमें से एक अपने विषय को खोलते हुए पूछता है, ''क्या आपको बचाया जा चुका है?''

मैं आश्चर्य प्रकट करने का प्रयास करते हुए प्रतिक्रिया देता हूँ कि ''मैं तो कभी दण्डित हुआ ही नहीं!'' मेरे युवा और आकर्षक मेहमान प्राय: हक्का-बक्का हो जाते हैं। वे मुझसे आशा करते हैं कि मैं उनसे कहूँ कि मैं पहले ही बचाया जा चुका हूँ और क्योंकि उन्हें भाषा कौशल प्रशिक्षण के हथियार से लैस किया हुआ है कि वे यह दावा करें कि मेरे वर्तमान विश्वास की अपेक्षा वे मुझे बचाने में अधिक सक्षम हैं। मैं प्राय: उन्हें अचरज में डाल देता हूँ जब मैं उनसे कहता हूँ कि ''मुझे बचने की आवश्यकता है ही नहीं।''

ईसाई मुक्ति मूल पाप (original sin) से उत्पन्न अनन्तकालीन शापों से निवारण का समाधान है। परन्तु यह समस्या भारतीय धार्मिक परम्पराओं में नहीं है। कल्पना कीजिए कि कोई आपसे पूछे कि क्या आपको जेल की सजा से क्षमादान मिल गया और आप कहें कि आपको किसी अपराध के लिए दण्डित किया ही नहीं गया, इसलिए ऐसा प्रश्न बेहूदा है। यहाँ निहितार्थ यह है कि किसी धार्मिक व्यक्ति के लिए यह कहना कि उसे बचा लिया गया है यह सूचित करता है कि वह ईसाई मत के मूल सिद्धान्त को स्वीकार करता है, जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य 'पापी' के रूप में जन्मा है और वह जब तक यीशु मसीह के समक्ष समर्पण नहीं कर देता, पापी ही बना रहेगा। यहाँ तक कि जब चर्च दूसरे धर्मों को योग्यता के आधार पर मान्यता देती है तब भी जहाँ 'उद्धार' की बात आती है वहाँ कोई भी मार्ग यीशु मसीह का स्थान नहीं ले सकता।

भारतीय धार्मिक परम्पराओं में मुक्ति—salvation की निकटतम अवधारणा हिन्दू धर्म में 'मोक्ष' और बौद्ध धर्म में 'निर्वाण' है जिन्हें सामान्य रूप से 'मुक्ति' के रूप में अनुवादित किया जा सकता है। परन्तु 'मुक्ति' सम्बन्धी धार्मिक अवधारणा और ईसाई salvation में महत्वपूर्ण अन्तर हैं।

मुक्ति salvation का आश्वासन प्राप्त करना अधिकतर ईसाइयों के आध्यात्मिक जीवन का महत्वपूर्ण क्षण होता है। यह कृपा के उपहार के रूप में मिलती है और इसका स्रोत व्यक्ति के बाहर स्थित होता है। यह पूरी तरह से योग्यता, आध्यात्मिक साधना, प्रार्थना या तपस्या के परिणामस्वरूप नहीं होती। हालाँकि ये इसकी प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं और कुछ सम्प्रदायों में आवश्यक भी हैं, परन्तु ये अपने-आप में

पयाप्त नहीं हैं क्योंकि इसाइ मत के अनुसार हम में मुक्ति—salvation प्राप्त करने की क्षमता नहीं है।

यहूदी और ईसाई परम्पराओं में मृत्यु को ‘पाप’ का परिणाम माना जाता है। ईसाई मत के अनुसार संसार के अन्तिम समय आत्मा की मुक्ति में शारीरिक मुक्ति भी सम्मिलित होगी। मृतकों का गौरवान्वित भौतिक रूप में पुनरुत्थान होगा तथा स्वर्ग और पृथ्वी के बीच की सीमा मिट जायेगी या लांघी जा सकेगी। अधिकांश ईसाइयों के लिए इस मोक्ष (Salvation) का अनुभव केवल मृत्यु के बाद ही हो सकता है।

दूसरी ओर धार्मिक मुक्ति (मोक्ष) यहाँ और अभी इसी शरीर में और इसी संसार में प्राप्त की जा सकती है। धार्मिक मोक्ष ईसाई मुक्ति—Salvation से केवल इसी अर्थ में समान है कि दोनों मानव बन्धन की स्वतन्त्रता से सम्बन्धित हैं, परन्तु धर्म में इस बन्धन की प्रकृति एकदम भिन्न है। ‘मोक्ष’ वास्तव में एक ऐसी स्थिति है जिसमें व्यक्ति अज्ञानता, पूर्वाग्रहों, और कर्मों के बोझ से मुक्त हो कर जीवन व्यतीत करता है। भगवद्गीता के अनुसार जब व्यक्ति बिना किसी इच्छा, अहंकार और मनुष्य की प्रकृति की प्रवृत्तियों से परे हो जाता है तब वह पहले महत्वपूर्ण पड़ाव पर पहुँच जाता है; इससे क्रमिक विकास के दरवाज़े खुलते हैं और पूर्ण अर्थों में सम्भावित मोक्ष की प्राप्ति होती है।

दूसरी ओर मुक्ति—Salvation में विकसित जानकारी या चेतना, गूढ़/रहस्यमयी ज्ञान या शारीरिक साधनाएँ (हालाँकि ये उपस्थित हो सकते हैं) सम्मिलित नहीं हैं। न ही यह बुद्ध धर्म के ‘निर्वाण’ जैसी अनिवार्य रूप से पूर्ण संन्यास जैसी स्थिति है। यह केवल God की इच्छा के समक्ष समर्पण से ही अनुभव किया जा सकता है और यहाँ God का अर्थ विशेष रूप से बाइबल के God से है।

संस्कृत में एक और स्थिति का वर्णन किया गया है जिसका ईसाई मत में कोई समकक्ष नहीं है। जिस व्यक्ति ने मोक्ष प्राप्त कर लिया हो वह संसार में रह कर भी आध्यात्मिक कार्यों को कर सकता है, अर्थात वह पिछले कर्मों (कर्म बन्धन) से मुक्त है और फिर भी संसार में सक्रिय है। ऐसे व्यक्ति को ‘जीवन मुक्त’ कहा जाता है। वह अपनी इच्छानुसार या तो संसार से विमुख हो सकता है या इससे प्रभावित या सीमित हुए बिना इसमें कार्य कर सकता है। ‘जीवनमुक्त’ का समकक्ष बुद्ध धर्म में ‘बोधिसत्व’ है।

नवविधान (New Testament) इस स्थिति को ‘संसार में रहते हुए भी उसका हिस्सा नहीं’ की तरह देखता है। इसमें ईसाई ‘जीवनमुक्त’ के विकास के लिए एक सम्भव अवसर है और सेंट पॉल (St. Paul) ने स्वयं के बारे में ऐसी कई बातें कही हैं जिससे संकेत मिलता है कि कुछ अन्य ईसाई सन्तों की तरह उन्होंने भी इस स्थिति का कम-से-कम स्वाद तो लिया था। लेकिन महत्वपूर्ण बात है कि बाइबल तत्वमीमांसा में इसके लिए कोई शब्द नहीं है क्योंकि इस स्थिति को सुनियोजित

तरीकों से परखा, समझा या प्रयोग में नहीं लाया गया था। जीवनमुक्त स्थिति को दर्शाने के लिए 'सन्त,' 'पैग़म्बर' या 'रहस्यवादी' शब्द भी पर्याप्त नहीं है। जब भी ईसाइयों ने इस स्थिति का अनुभव किया, वह न तो योग की एक व्यवस्थित प्रक्रिया के परिणामस्वरूप हुआ था और न ही उसे मुक्ति—salvation के रूप में देखा गया। अत: वेटिकन दस्तावेज डोमिनस जीसस (Dominus Jesus) के अनुसार ऐसा व्यक्ति उन व्यक्तियों, जो चर्च में पूर्ण मुक्ति—salvation प्राप्त करते हैं, की तुलना में गम्भीर रूप से अपूर्ण है।

जैसे ही मत प्रचारक (evangelists) मेरे घर से बाहर निकलते हैं मैं हमेशा यह आशा करता हूँ कि हमारी इस चर्चा ने उनकी लोगों (जिन्हें वे अपने मत का उपदेश देते हैं) के बारे में इन धारणाओं को चुनौती दी होगी और सम्भवत: वे इस विचार का पुन: गम्भीर परीक्षण करेंगे कि उनके चर्च के बाहर के सभी लोग आध्यात्मिक अपूर्णता की स्थिति में हैं। परन्तु जब तक वे ऐसा नहीं करते तब तक मैं उन्हें अपने घर में स्वागत करते हुए बुलाता रहूँगा, उनसे चाय की पेशकश करूँगा और उनके साथ यह अच्छा समाचार साझा करूँगा कि 'मूल पाप' (original sin) जैसी कोई चीज नहीं है।

अध्याय 6

पश्चिमी सार्वभौमिकता से मुकाबला

जहाँ ईसाइयत एक ओर अपनी इतिहास-केन्द्रिकता को समूचे विश्व पर थोपने के ईश्वरीय आदेश का दावा करती है, वहीं दूसरी ओर यूरोपीय ज्ञानोदय (ल्दिर्जीह ष्ठंल्पुहसद्द) के विचारकों ने भी विभिन्न प्रकार की अपरिवर्तनीय अवधारणाओं को विकसित करके उन्हें 'सार्वभौमिक' ओहदा दे दिया है। गहरी अवधारणा यह बना दी गई है कि विश्व इतिहास की धारा का समग्र रूप और दिशा एक ही पश्चिमी उद्देश्य की ओर जा रही है, चाहे वह मुक्ति (salvation) हो अथवा वैज्ञानिक धर्मनिरपेक्ष विकास। इसे प्राप्त करने के लिए सभी लोगों और उनकी संस्कृतियों को उन विविध योजनाओं में ढकेला जाता है जिन्हें सफल बनाने के लिए प्रस्तुत किया जाता है। वास्तव में आधुनिक कानूनों, नियमों, परम्पराओं और आम प्रथाओं का निर्माण इसी मानसिकता (जानबूझ कर या अनजाने में) से किया जाता है। परिणामस्वरूप विभिन्न ग़ैर-पश्चिमी सभ्यताओं की बौद्धिक एवं सांस्कृतिक सम्पत्तियों को पश्चिम द्वारा हड़पा गया है और ऐसा अब भी किया जा रहा है। इनमें सम्मिलित हैं ब्रह्माण्ड, अन्तरिक्ष, समय और सामाजिक सम्बन्धों की समग्र स्वदेशीय अवधारणाओं का विनाश और वास्तव में अस्मिता और श्रेष्ठ आदर्शों से उनके सम्बन्धों का भी नाश। प्रत्येक स्वदेशी संस्कृति की एकता को कई टुकड़ों में खण्डित किया जाता है, फिर इन्हें पश्चिमी वर्गीकरण में ढाला जाता है जिसे अधिक विषयपरक या सही आध्यात्मिकता पर आधारित दिखाया जाता है। यह औपनिवेशिक संसार को योजनाबद्ध तरीके से बेदख़ल करने (एक तरह की बौद्धिक नरभक्षता) से कम नहीं है। जब लक्षित संस्कृति के उपयोगी तत्वों को (पश्चिमी आवश्यकताओं के अनुसार) निचोड़ लिया जाता है तब जो बचता है वह जर्जर हो चुकी संस्कृति की निष्प्राण भूसी की तरह होता है। शिकार को उसी की दुर्दशा का कारण और स्रोत होने के लिए भी दोषी ठहराया जा सकता है। इस प्रकार की सार्वभौमिकता मानव आवश्यकताओं का समाधान करने में विफ़ल रहती है; अधिक से अधिक यह पश्चिमी भूमिका के तहत विभिन्न सभ्यताओं के बीच 'कृत्रिम एकता' ही ला सकती है।

इस पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है पश्चिमी सार्वभौमिकता के दावों का खण्डन करना। इन दावों के अनुसार पश्चिम ही इतिहास का चालक और उसका लक्ष्य है तथा एक साँचा प्रदान करता है जिसमें सभी सभ्यताओं और संस्कृतियों को बैठना ही है। यह दृष्टिकोण यूरोपीयों और अमरीकियों की चेतना में इस तरह समाया हुआ है कि यह उनकी पहचान का एक प्रमुख हिस्सा बन चुका है। फिर भी स्वयं पश्चिमी परिप्रेक्ष्य के भीतर यह लगभग अदृश्य-सा ही है। पूर्वपक्ष या 'अवलोकन को पलटने' (reversing the gaze) से हम इस दृष्टिकोण पर प्रकाश डाल सकते हैं, ताकि उन

तरीकों का पर्दाफ़ाश हो सके जिन्होंने भारत और भारतीय धार्मिक परम्पराओं के प्रति गलतफ़हमियाँ फैला कर उनकी अवमानना की है।

पश्चिमी सार्वभौमिकता ने सबसे पहले अठारहवीं शताब्दी के अन्त और उन्नीसवीं के प्रारम्भ में यूरोप के रूमानी आन्दोलन के समय अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त की। इसके चार महत्वपूर्ण परिणाम निकले जिनमें प्रत्येक ने भारत और उसकी धार्मिक परम्पराओं को प्रत्यक्ष रूप से फँसाया : (1) आध्यात्मिक और सांस्कृतिक के साथसाथ आर्थिक संसाधन के रूप में 'पूर्व' की खोज; (2) पश्चिमी नस्लीय पहचान, विशेषकर जर्मनी को सहारा देने के लिए संस्कृत का प्रयोग; (3) सार्वभौमिक विश्व भावना के विकास के लिए विश्व इतिहास का विवरण प्रदर्शित करना, विशेष रूप से यूरोपीय और अमरीकी देशों के अनुसार, न कि एशियाई देशों के (इन विवरणों को मोटे तौर पर एक ही व्यक्ति, 'हेगेल'—Hegel द्वारा प्रचारित किया गया); और (4) इन विवरणों को पुन: वापस भारत भेजना, जिसका प्रभाव यह हुआ कि पश्चिम के इस शक्तिशाली सार्वभौमिक मिथक के प्रकाश में भारतीय अपने अतीत की पुनर्व्याख्या करने की गहन आवश्यकता महसूस करने लगें।

जैसा कि हम देखेंगे, इन चार परिणामों के प्रभाव पश्चिम से भारत की टक्कर करवाने की शर्तें स्थापित कर अपना असर आज भी छोड़ रहे हैं और बहुत-सी उन अवधारणाओं को निर्धारित कर रहे हैं जिन पर यह टक्कर जारी है। एक नया कथानक गढ़ा जाता है और तथ्यों की व्याख्या इसी के अनुसार करते हुए उसमें समा दी जाती है। पश्चिमी इतिहासकार विकल्प के रूप में उपलब्ध जानकारी में आधिकारिक निश्चितता के साथ हेरफ़ेर करते हैं और बाद के इतिहासकार इसी प्रक्रिया को आने वाले पश्चिमी आक्रान्ताओं और शासकों की आवश्यकताओं के अनुरूप जारी रखते हैं। प्रत्येक स्तर पर कुछ चुने हुए पहलुओं का चयन करके उन्हें पश्चिमी विचारों के अनुकूल बनाया जाता है जो आगे चल कर सामूहिक स्मृति और कल्पना का अंग बन जाते हैं। इस तरह का इतिहास लोगों के मन में प्रतीकों, कथानकों, अलंकारों, पहचानों, पूर्वजों, स्थानों इत्यादि के रूप में घर कर जाता है। यह सही हो या गलत परन्तु यह उनकी सामूहिक पहचान के कथानक के रूप में असर करने लगती है।[1] हालाँकि इस तरह की प्रवृत्तियाँ सभी सभ्यताओं में पायी जाती हैं, परन्तु अपने इतिहास, दर्शन और पहचान के विवरणों को पश्चिम दूसरों पर थोपने में विशेषकर सफ़ल रहा है।

इस प्रक्रिया के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक था कि दूसरों के इतिहास और पहचानों को इस तरह से पचाया जाये कि उपयोगी दिखने वाले अंश पश्चिम का हिस्सा बन जायें। यह प्रक्रिया अहंकार की व्यग्रता से संचालित होती है जो विषम दृष्टिकोणों को कृत्रिम रूप से जोड़ने के प्रयासों और सत्ता के विस्तार की अनगिनत परियोजनाओं से ईंधन पाती है। जैसा कि हमने पिछले अध्यायों में देखा है, पश्चिमी संशोधनवाद या तो ईसाइयत की मुक्ति (salvation) के इतिहास के मंच पर ग़ैर-पश्चिमों को मामूली

खिलाड़ी दिखाने का प्रयास करता है या फिर उन्हें उस मिथक की ओर ले जाने का प्रयास करता है कि पश्चिमी तर्क और विज्ञान ने कैसे आदिम मानसिकताओं और संस्कृतियों पर विजय प्राप्त की। इब्राहमी परम्पराएँ और धर्मनिरपेक्षता दोनों इस मामले में दोषी हैं—एक तरफ़ ईसाई मत का दावा है कि उन्हें अपने इतिहास-केन्द्रिक विचारों को समूचे विश्व पर थोपने का ईश्वरीय आदेश मिला हुआ है, वहीं प्रबुद्धता के विद्वानों ने भी विविध अपरिवर्तनीय वैचारिक मान्यताओं को विकसित कर उन्हें 'सार्वभौमिक' महिमा से सम्मानित किया।

गहन अवधारणा यह है कि विश्व इतिहास का आकार और दिशा-धारा एक पश्चिमी उद्देश्य की ओर जा रही है—चाहे वह मुक्ति (salvation) हो अथवा वैज्ञानिक धर्मनिरपेक्ष विकास। इसके लिए सभी लोगों और संस्कृतियों को उन विविध योजनाओं में कृत्रिम रूप से डाला जाता है जो इस उद्देश्य के लिए प्रस्तुत की जाती हैं। वस्तुत: आधुनिक कानूनों, नियमों, परम्पराओं और आम प्रथाओं को इसी विचारधारा से निर्मित किया जाता है (चाहे जानबूझ कर या अनजाने में)।

परिणाम यह हुआ है कि पश्चिम ने विभिन्न ग़ैर-पश्चिमी सभ्यताओं की सांस्कृतिक और बौद्धिक सम्पदाओं को हड़पा और आज भी ऐसा हो रहा है। इनमें सम्मिलित हैं ब्रह्माण्ड, अन्तरिक्ष, समय और सामाजिक सम्बन्धों की समग्र स्वदेशीय अवधारणाओं का विनाश और वास्तव में अस्मिता और श्रेष्ठ आदर्शों से उनके सम्बन्धों का भी नाश। स्वदेशी संस्कृति की एकता को कई टुकड़ों में खण्डित किया जाता है, इन्हें फिर पश्चिमी वर्गीकरण में ढाला जाता है जिसे अधिक विषयपरक या सही आध्यात्मिकता पर आधारित दिखाया जाता है। यह औपनिवेशिक संसार को योजनाबद्ध तरीके से बेदखल करने (एक तरह की बौद्धिक नरभक्षता) से कम नहीं है। जब लक्षित संस्कृति के उपयोगी तत्वों को (पश्चिमी आवश्यकताओं के अनुसार) निचोड़ लिया जाता है तब जो बचता है वह जर्जर हो चुकी संस्कृति के निष्प्राण भूसी की तरह होता है। शिकार को उसी की दुर्दशा का कारण और स्रोत होने के लिए भी दोषी ठहराया जा सकता है।

इस प्रकार की पश्चिमी सार्वभौमिकता मानव की आवश्यकताओं का समाधान करने में विफ़ल होती है; अधिक से अधिक यह पश्चिमी भूमिका के तहत विभिन्न सभ्यताओं के बीच 'कृत्रिम एकता' ही ला सकती है। समस्या का एक पहलू यह है कि पश्चिमी दृष्टिकोण दूसरे को कम करके आँकने का रहा है और उसके द्वि-आधारी (binary) मापदण्डों को विश्व भर में लागू करने का परिणाम हिंसा के रूप में उभरता है। उदाहरण के लिए पवित्र/धर्मनिरपेक्ष, एकेश्वरवादी/बहुदेववादी, सृजन/क्रमिक विकास तथा राजनैतिक वाम/दक्षिणपन्थ जैसी द्वि-आधारी श्रेणियाँ भारतीय धार्मिक सभ्यता को समझने के आरम्भिक प्रयास के लिए अनुपयुक्त हैं। पूर्व/पश्चिम अथवा पूर्वात्य/ पाश्चात्य विचार का विभाजन भी एकपक्षीय है तथा यह 'पश्चिम' कहलाने वाले क्षेत्र से सम्बन्धित ऐतिहासिक घटनाओं के परिणामस्वरूप ही सामने आया है।[2]

पाश्चिमी शिक्षाविद् न केवल भारतीय धार्मिक ग्रन्थों के महत्वपूर्ण संस्करणों को अपने अनुसार बनाते हैं, बल्कि संवाद की श्रेणियों, जटिल शब्द और स्थितियाँ किस तरह सन्दर्भित की गई हैं, क्या रोचक है और प्रसंग के रूप में सम्मिलित किया गया (और क्या छोड़ा गया), कौन-से सामाजिक सिद्धान्तों और शब्दों के भाष्य विज्ञान का उपयोग किया जाना है और व्याख्या के मामले में कौन आधिकारिक हैं इत्यादि का भी निर्धारण करते हैं। व्यापक साधारणीकरण में लगे पश्चिमी शोध संस्थान हिन्दू धर्म की वैधता पर नियमित रूप से अपने निर्णय देते रहते हैं और इसकी चर्चा कब और कैसे की जानी चाहिए (यदि हो तो), इसके अधिकृत प्रवक्ता कौन हैं इत्यादि पर भी अपनी टीका-टिप्पणियाँ करते रहते हैं। इस कारण, विशेषकर पश्चिम द्वारा प्रचलित वर्गीकरण को देखते हुए, भारतीय धार्मिक परम्पराओं के बहुत से लोग अपनी संस्कृति की वैधता पर ही सन्देह करने लगते हैं।[3]

पाश्चात्य पाचन एवं संश्लेषण विषय के अध्ययन में जर्मनी का स्थान

17वीं शताब्दी के अन्त और 18वीं के प्रारम्भ में जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड के तथाकथित रूमानी आन्दोलन (Romantic movement) के नेताओं ने प्राचीन भारत का अध्ययन करने में विशेष रुचि ली। भारत को यूरोपीय संस्कृति का मूल माने जाना वाला सिद्धान्त उसका मूल यहूदी होने के पहले के दृष्टिकोण का प्रतिस्पर्धी बनने लगा। यह बदलाव इसलिए हुआ क्योंकि संस्कृत को कुछ यूरोपीय भाषाओं से मिलता-जुलता पाया गया—जबकि हिब्रू ऐसी नहीं थी — और यूरोपीय लोग संस्कृत में लिखे महान भारतीय ग्रन्थों की खोज से भावविभोर थे क्योंकि इससे उनके विगत इतिहास का पुनर्निमाण हो सकता था। भारत के पारम्परिक शास्त्रों ने ऐसी सभ्यता की ओर इंगित किया जिसने नाटक, धर्म और महाकाव्य, नीतिकथा, विकसित अमूर्त विचार, चिकित्सा, गणित और खगोल विज्ञान में महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त की थीं।

सन् 1800 से 1850 के बीच लगभग प्रत्येक यूरोपीय शिक्षा केन्द्र में संस्कृत अथवा भारतीय विद्या विभाग की स्थापना की गई, कभी-कभी तो ग्रीक और लैटिन भाषा की वरीयता गिराने की कीमत पर। एक महान भारतीय संस्कृति से करीबी के विचार ने वहाँ के बुद्धिजीवियों को एक साझा यूरोपीय इतिहास खोजने के लिए प्रेरित किया। तब से बीसवीं सदी के आरम्भ के कुछ समय तक संस्कृत ने भाषा विज्ञान के क्षेत्र में यूरोप और अमरीका में अपना प्रभुत्व जमाये रखा और यूरोप के कुछ प्रमुख इतिहासकारों, दार्शनिकों और अन्य बुद्धिजीवियों ने इसकी गूढ़ता के विषय में विविध सिद्धान्त प्रतिपादित किये। हालाँकि बीसवीं सदी के मध्य तक संस्कृत का अध्ययन कम हो गया और आज यह शिक्षा केन्द्रों में लगभग विलुप्त-सी हो रही है।

पुनर्जागरण (Renaissance) और उपनिवेशवाद (colonialism) के काल ने यूरोप की 'पहचान' की राजनीति के सन्तुलन पर असमान प्रभाव डाला। फ्रांसीसियों ने कैथोलिक चर्च और ग्रीको-रोमन उत्कृष्ट सहित्य की विरासत के गौरव का दावा

किया; ब्रिटिश लोगों ने अपनी पौराणिक वंशावली को वर्जिल (Virgil) के (Aenas) के साथ जोड़ कर और भारत को ब्रिटिश साम्राज्य के मुकुट के एक हीरे की तरह दिखा कर अपनी राष्ट्रीयता की भावना को सुदृढ़ किया; स्पेनिश और पुर्तगालियों ने अपनी समुद्री-खोजों तथा अमरीका के उपनिवेशन का महिमागान किया और इटली वासियों ने पुराने रोमन साम्राज्य की मधुर यादों को संजोया। इस तरह के भव्य कथानकों ने प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों की पहचानों को मजबूत किया और उनके नागरिकों में गर्व की भावना विकसित की।

जर्मनी के पास ऐसा कोई भव्य दावा नहीं था, क्योंकि उनके पास न तो कोई विदेशी साम्राज्य था और न ही कोई उत्कृष्ट वंशावली जिस पर गर्व किया जा सके। जर्मनी की हीन भावना सांस्कृतिक उन्नति की व्यापक रूप से स्वीकृत उड़ान के साथ बढ़ने लगी, जिस के द्वारा सभ्य यूरोप को यूनान, इज़राइल और फिर रोम में प्रमुख औपनिवेशिक शक्तियों के रूप में प्रारम्भ होता और चोटी तक पहुँचता दिखाया गया था। इससे यूरोप के उच्च संस्कृति केन्द्र में फ्रांस नवजागरण के उत्तराधिकारी के रूप में स्थापित हो गया जबकि जर्मन लोगों के पास ऐसा कोई कथानक नहीं था। वस्तुत: यूरोप में इस काल की पाठ्यपुस्तकों में जर्मन लोगों को असभ्य दर्शाया गया था जिन्होंने पहले रोमन साम्राज्य को और फिर फ्रांस में यूरोप की उच्च संस्कृति को नष्ट किया था।

ऐसी परिस्थितियाँ में जर्मनी के लोगों को गर्व का भाव तब हुआ जब यह ज्ञात हुआ कि संस्कृत न केवल उन्नत सभ्यता का प्रमुख संकेतक है बल्कि अन्य किसी यूरोपीय भाषा की तुलना में जर्मन भाषा से अधिक समानता रखती है। इसने जर्मन बुद्धिजीवियों को उत्साहित किया और जर्मन लोगों की पहचान को निर्मित करने की दिशा में भारत उनके लिए एक प्रमुख स्रोत बन गया।

जिन जर्मन लेखकों की रचनाओं पर भारत का प्रभाव पड़ा था उनमें जर्मन रूमानियत के अग्रदूत, जैसे—जोहान गॉट्फ्राइड वॉन हर्डर (Johann Gottfried von Herder, 1744-1803) तथा कार्ल विल्हेम फ्राइडरिक वॉन शेगेल (Karl Wilhelm Friedrich von Schlegel, 1772-1803); उनके साथ जर्मनी की आदर्शवादी व्यवस्था के प्रसिद्ध पक्षधर वॉन शेलिंग (F.W.J. von Schelling, 1775-1854), आर्थर शोपेनहावर (Arthur Schopenhauer, 1788-1860) और नि:सन्देह जॉर्ज विल्हेम फ्राइडरिक हेगेल (Georg Wilhelm Friedrich Hegel) सम्मिलित थे। भारतीय विद्याओं का अपने पेशे में अधिकांश समय तक गहराई से अध्ययन करने वाले शताब्दी के अन्य प्रमुख जर्मन विचारकों में विल्हेम वॉन हम्बोल्ट (Wilhelm von Humboldt, 1767-1835), फ्रांज़ बॉप (Franz Bopp, 1791-1867) तथा मैक्स म्यूलर (Max Muller, 1823-1900) प्रमुख थे। भारतीय दर्शन ने नीत्शे (Nietzsche) के दार्शनिक कार्य को भी प्रभावित किया, जबकि गेटे (Goethe) कालिदास के संस्कृत नाटक ''अभिज्ञान शाकुंतलम्'' से इतना उल्लासित था कि उसने फ़ॉस्ट (Faust) की

प्रस्तावना को संस्कृत नाटक की परम्परा के अनुरूप ही लिखा। इन जर्मन विद्वानों ने जीवन्त ब्रिटिश एवं फ्रांसीसी भारतीय विद्या के विद्वानों के साथ विचार-विमर्श किया और इससे जो गहरा प्रभाव पड़ा उसे आधुनिक पश्चिमी विचार के नाम से जाना जाता है।

भारत के प्रति यह रूमानी आकर्षण, विशेषकर संस्कृत के शास्त्रीय काल का, सदैव स्वार्थ-भाव के कारण ही रहा। यहाँ तक कि जर्मन रूमानियत के आरम्भिक चरणों में भी, जब पौराणिक और उत्कृष्ट भारत के प्रति गहरा प्रेम और सम्मान था, यूरोप-केन्द्रिक ढाँचे और हितों को थोपने की प्रवृत्ति बनी हुई थी। भारतीय विचारों को धीरे-धीरे उनके सन्दर्भों से हटा कर उन्हें नये उभरते जर्मन ढाँचे में चुनिन्दा तरीके से पचाया गया। इन भारतीय विचारों की उत्पत्तियों के नवीन स्रोतों का पता लगाने का प्रयास किया गया और प्रमुख यूरोपीय विचारकों द्वारा कई वैकल्पिक कल्पनाएँ प्रस्तावित की गईं।

उदाहरण के लिए पहला प्रमुख जर्मन संस्कृतज्ञ शेगेल (Schlegel) भारतीय दृष्टिकोण का एक बड़ा समर्थक था। उसने संस्कृत शास्त्रों से कई विचारों को ले कर प्राचीन जर्मनी एवं पश्चिम के नये इतिहास को निरूपित किया। लेकिन अचानक शेगेल ने फिर से ईसाई मत को अपना लिया और भारत को प्राचीन जर्मनी की जन्मभूमि मानने के अपने पहले के शोध निबन्ध को अस्वीकार कर दिया। उसने भारतीय धर्म को संस्कृत शास्त्रों से अलग करने का प्रयास किया ताकि संस्कृत सभ्यता के ग़ैर-धार्मिक पहलुओं को चुनिन्दा रूप से हड़प कर जर्मनी की ईसाई पहचान में स्थापित किया जा सके। भारत के प्रति रूमानियत धीरे-धीरे कम होती गई और शेगेल सहित अन्य जर्मनों ने भारत को कई बुराइयों से युक्त एक आदिम समाज के रूप में देखना प्रारम्भ कर दिया।

हेगेल का पश्चिमी मिथक

परन्तु सभी जर्मन विचारकों में हेगेल (Hegel) ही था जिसने पश्चिमी विचारधारा और पहचान पर सबसे गहरा और स्थायी प्रभाव छोड़ा। इसे प्राय: भुला दिया जाता है कि उसका कार्य भारत के अतीत के प्रति फैले रूमानियों के जुनून की प्रतिक्रिया के रूप में था। उसने अद्वैतवाद जैसे भारतीय दृष्टिकोणों को ग्रहण किया और साथ ही भारतविदों से भारतीय सभ्यता की उपयोगिता के विरुद्ध वाद-विवाद भी किया। उसने यह माना हुआ था कि पश्चिम और केवल पश्चिम ही इतिहास और प्रयोजनवाद का एकमात्र प्रतिनिधि है। भारत को उसने 'जड़ सभ्यता' मान कर उसकी तुलना में पश्चिम को परिभाषित किया।

इस प्रकार हेगेल ने कुछ हद तक भारत से सामना करते हुए जर्मन लोगों के लिए एक पहचान बनाने का प्रयास किया। प्रबुद्धता (Enlightenment) के संस्थापक के

रूप में और यूरोपीय विचारों की नामी हस्तियों में से प्रमुख की हैसियत से उसने इतिहास के एक शक्तिशाली और प्रभावकारी दर्शनशास्त्र का विकास किया जिसमें सभी सभ्यताओं का भूतकाल, वर्तमान और भविष्य एक ही साँचे में समाहित कर दिया गया।

यह सच है कि अपनी शिक्षा के दौरान हेगेल को इब्राहमी मतों के प्रति गहरी अरुचि पैदा हुई। उसने इनके संकीर्ण और दर्शन-विरोधी पहलुओं को अनुभव किया कि किस तरह उनका अधिकतर ज्ञान उसकी निगाह में असभ्य प्राचीन मध्यपूर्व के विशिष्ट सांस्कृतिक परिवेश में बन्ध गया था। साथ ही हेगेल ने इब्राहमी परम्पराओं की इतिहास-केन्द्रिकता और उनके वृहत मुक्ति — Salvation के कथानकों को गहरे रूप में आत्मसात कर अनिवार्य रूप से (या शायद अनजाने में) फिर से निर्मित किया। हालाँकि यह अधिक धर्मनिरपेक्ष व व्यापक सन्दर्भों में किया गया।

धर्म से अलग होते हुए और एक विशुद्ध ग्रीक धर्मनिरपेक्ष तर्कशक्ति को अपनाने से उसका भव्य कथानक कई मायनों में यहूदी-ईसाई मुक्ति (salvation) के इतिहास की प्रतिछाया जैसा है। इस तरह हेगेल की Weltgeist (World Spirit) अर्थात 'विश्व-प्रवृत्ति' इसी इतिहास की समर्थक है, जिसके अनुसार 'पश्चिम' असाधारण है क्योंकि इस यात्रा में वह नेतृत्व करने के लिए पूर्वनिर्दिष्ट है, जबकि अन्य सभ्यताओं को पीछे-पीछे चलना पड़ेगा या मिट जाना होगा।

हेगेल की 'विश्व-प्रवृत्ति' समग्र मानवता को लिए हुए एक कृत्रिम एकता है। यह पश्चिम को विशेषाधिकारी बनाती है और जो इस योजना के अनुरूप नहीं बैठते वे इतिहास का हिस्सा नहीं हैं, हालाँकि यह प्रवृत्ति उन्हें उस तरह उपयोग कर सकती है जैसे पौधों, पशुओं और जमीन इत्यादि को किया जाता है। हालाँकि सभी मानवों का एक भूगोल है, परन्तु इस अर्थ में इतिहास नहीं। इतिहास-बोध का यह अभाव संस्थागत कमी के कारण है, अर्थात् स्वतन्त्र रूप से सक्षमता के साथ कर्म द्वारा विश्व में परिवर्तन लाने में वे सक्षम नहीं हैं। 'प्रवृत्ति' (Spirit) की यह यात्रा विभिन्न चरणों के क्रम से गुजरती हुई आत्म-बोध के सर्वोच्च स्तर तक पहुँचती है जिसे 'पूर्ण प्रवृत्ति' (Geist) कहते हैं। यह प्रवृत्ति विशिष्ट आकार उत्पन्न करती है और ये आकार विश्व इतिहास के भिन्न-भिन्न राष्ट्र हैं। उनमें से प्रत्येक राष्ट्र के विकास की एक विशेष अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है जिससे वे विश्व-इतिहास के युगों के अनुरूप बनें।[4]

यह प्रवृत्ति निम्न से उच्च स्वरूप में विकसित होती है, इसलिए हेगेल ने विभिन्न देशों को विकास के अलग-अलग चरणों में रखा है। वे स्पष्ट करते हैं कि "यह ईश्वर की योजना है और विश्व इतिहास विधाता की योजना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विश्व ईश्वर द्वारा संचालित होता है और विश्व-इतिहास उनके प्रशासन का तत्व और उनकी योजना का क्रियान्वयन है।"[5]

जो एकता वह प्रस्तावित करता है वह जातिवादी है जहाँ पश्चिमी लोगों को, जिनकी वह जाति के रूप में अन्य सभ्यताओं जैसे अफ़्रीकी, एशियाई, मूल अमरीकियों इत्यादि से तुलना करता है, वह ब्रह्माण्ड के केन्द्र में रखता है। जो भी तथ्य उसके शोध-निबन्ध से मेल नहीं खाते उन्हें सुविधाजनक रूप से नकारते हुए वह यूरोप और अमरीका को मानव विकास के जुड़वा शिखर जैसे दिखाने के प्रयास में घटनाओं का एकतरफ़ा कालक्रम निर्मित करता है। वह कालक्रमों के इस साँचे को सार्वभौमिक इतिहास घोषित करता है और उदाहरण के लिए यह दिखाता है कि ''वैश्विक इतिहास पूर्व से पश्चिम की ओर जाता है।'' यूरोप पूर्णतया सार्वभौमिक इतिहास का अन्तिम छोर है जबकि एशिया उसका प्रारम्भ।[6] वह 'प्रागैतिहासिक' मंच की कल्पना कर उसमें उन सभी देशों को रखता है जो उसके अनुसार विश्व इतिहास में नहीं चुने गये हैं। अमरीका के मूल निवासियों को हेगेल 'स्पष्ट रूप से मूर्ख' कह कर ख़ारिज कर देते हैं और उन्हें ऐसे 'अज्ञानी बच्चों' की तरह बताते हैं जिन्हें सभी पहलुओं में केवल हीनता से परिभाषित किया जा सकता है। वे यह भी दावा करते हैं कि भारत का कोई इतिहास ही नहीं है।[7]

इसके अतिरिक्त, क्योंकि ईश्वर स्वयं तर्कसंगत है, विश्व इतिहास के समूचे तत्व तर्कसंगत हैं और वास्तव में उन्हें ऐसा होना ही चाहिए; एक सर्वोच्च दैवी शक्ति इस समूचे तत्व का निर्धारण और उसे प्रमाणित करने में सक्षम है।[8] हेगेल के अनुसार केवल पश्चिम को ही तर्कबुद्धि से सम्पन्न किया गया है, इसलिए वह ईश्वर की योजना के अनुसार संचालक के पद पर है। हेगेल विधि के अनुसार तर्कसंगत पश्चिम को इतिहास के केन्द्रीय प्रतिनिधि के रूप में देखना चाहिए—एक ट्रेन के इंजन जैसा। दूसरों को अतीत में फेंक दिया गया, अर्थात् उनके दिन पूरे हो गये। इसलिए उन्हें भविष्य की किसी भी योजना से बाहर कर दिया गया।

इस प्रकार की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से पश्चिमी है। दूसरी संस्कृतियों को या तो इतिहास के कूड़ेदान में फेंक दिया गया (यदि वे इतिहास से सम्बन्ध रखती हों तो) या फिर पश्चिम का अनुकरण करने हेतु मजबूर कर दिया गया, अन्यथा उन्हें कुचल दिया गया। विश्व इतिहास और दर्शन को विकास के एकमात्र और समय की क्रमिक उड़ान में विश्व प्रवृत्ति को प्रगतिशील आन्दोलन के रूप में देखा गया।

एशिया और विशेषकर भारत के प्रति हेगेल विचित्र रूप से भयभीत और अँध प्रतिक्रियाग्रस्त हैं। वह परिश्रम-पूर्वक संस्कृत और भारतीय सभ्यता की आलोचना करते हैं और अपने दर्शन में चुने हुए कुछ विचारों (जैसे पूर्ण आदर्शवाद) को समाहित करने के लिए यूरोपीय भारतविदों से वाद-विवाद करते हैं तथा भारत को निम्नस्तरीय दिखाते हुए अपने पश्चिमी सिद्धान्त का निर्माण करते हैं, जैसे—एशिया इतिहास में एक बच्चे के समान है जबकि पश्चिम पूर्ण विकसित और सभी के अन्तिम गन्तव्य की तरह।

उपनिवेशवाद एवं नस्लवाद तर्कसंगत दिखाये गये

हेगेल-रचित इतिहास का क्रमिक सिद्धान्त इतिहास की प्रगति सुनिश्चित करने के लिए पश्चिमी औपनिवेशिक शोषण के औचित्य के रूप में लोकप्रिय हुआ। लेकिन हेगेल इस विचार को और आगे ले जाते हुए कहते हैं कि इतिहास को आगे बढ़ाने में यूरोपीय लोगों द्वारा किया गया कोई भी कृत्य, चाहे वह कितना ही निन्दनीय क्यों न हो, मानव विकास के नाम पर न्यायोचित है। वे लिखते हैं—

> ''क्योंकि इतिहास घटनाओं के रूप में 'विश्व प्रवृत्ति' का एक नक्शा है, इसलिए जो लोग एक प्राकृतिक सिद्धान्त के रूप में इस 'प्रवृत्ति' (Spirit) को पाते हैं वे ही विश्व इतिहास के उस युग पर अपना प्रभुत्व जमाते हैं; जो लोग वस्तुत: 'विश्व प्रवृत्ति' के वाहक हैं उनके पूर्ण अधिकार को छोड़ कर दूसरों की विचारधारा का और कोई अधिकार नहीं बनता।''[9]

अत: उद्देश्यवादी अनिवार्यता के रूप में औपनिवेशीकरण वांछनीय है जिसके द्वारा श्रेष्ठ यूरोपीय लोग दूसरों को हड़प सकते हैं। वे आगे लिखते हैं—

> ''ऐसा समाज (अर्थात् पश्चिम) स्वयं से आगे देख कर उपभोक्ताओं की ओर प्रेरित है। इसलिए वह अपनी आजीविका के साधन उन लोगों के बीच खोजता है जो उससे नीचे हैं, जो संसाधनों के मामले में बहुतायत में हैं, जैसे कि उद्योगों से सम्बन्धित। ऐसे आपसी सम्बन्धों के विस्तार से, कहीं व्यवस्थित तो कहीं छिटपुट रूप में, उपनिवेश स्थापित करना सम्भव होता है और एक पूर्ण स्थापित नागरिक समाज प्रेरित होता है।''[10]

इस प्रकार सभी ग़ैर-यूरोपीय लोग यूरोपीय लोगों के हाथ में केवल वस्तुओं के समान हैं। अपने सिद्धान्तों को अफ्रीकियों पर लागू करते समय हेगेल दो टूक नस्लवादी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—''अश्वेतों का यह लक्षण है कि उनकी चेतना अभी तक निष्पक्षता के अन्तर्ज्ञान पर ही नहीं पहुँची है, उदाहरण के लिए ईश्वर अथवा कानून की अवधारणा तक, जिन से मानवता को संसार से सम्बन्ध रख कर उसके सार का अन्तर्बोध होता है। वह (अश्वेत व्यक्ति) अभी भी अर्धनिर्मित इंसान है।''[11]

हेगेल का तर्क है कि अफ्रीकियों के लिए यही बेहतर होगा कि वे तब तक गुलाम बने रहें जब तक वे परिपक्वता की प्रक्रिया से गुज़र कर ईसाइयत में पूर्ण रूप से धर्मांतरित नहीं हो जाते। अफ्रीकियों के लिए वह आगे कहते हैं—''गुलामी अपने आप में अन्यायपूर्ण है क्योंकि असल में मनुष्य स्वतन्त्र है, परन्तु स्वतन्त्र होने से पहले उसे परिपक्व होना पड़ेगा। इसलिए यही उचित और सही है कि दास प्रथा को एकदम नहीं बल्कि धीरे-धीरे समाप्त किया जाये।'' अफ्रीका पर अपनी चर्चा को समाप्त करते हुए हेगेल टिप्पणी करते हैं कि ''इस बिन्दु पर हम अफ्रीका को यहीं छोड़ते हैं, अब दोबारा इसका उल्लेख नहीं होगा। क्योंकि यह विश्व इतिहास का कोई हिस्सा नहीं है और न ही यहाँ कोई विकास हुआ और न ही इसका कोई अभियान है।''

भारत — इतिहास बिना जड़वत

1828 में शेगेल (Schlegel) पहले से ही यह दावा कर रहे थे कि ''भारतीयों के पास न तो कोई नियमित इतिहास है और न ही इतिहास के वास्तविक विज्ञान पर कोई दस्तावेज़। उनकी मानवीय मामलों और घटनाओं सम्बन्धी सभी अवधारणाएँ पूरी तरह से पौराणिक हैं''।[12] इसके दो साल बाद स्वयं हेगेल ने भी इसी तरह का दृष्टिकोण व्यक्त कर भारत को सुविदित रूप से बिना इतिहास वाला देश कहा— अर्थात यह देश जागरूकता से इतिहास बनाने में अक्षम है। हेगेल के विचार में भारत स्वयं कुछ ठोस कार्य करने के बजाय विश्व इतिहास के नायकों का पिछलग्गू बना रहा। उन्होंने कहा, भारतीय मनीषा की सहज प्रकृति ऐतिहासिक सत्य नहीं केवल 'सपने' ही पैदा करने में सक्षम है।[13]

इसके विपरीत पश्चिमी भाव स्वतन्त्र है और इस स्वतन्त्रता पर कार्य कर रहा है। इसी कारण पश्चिम ने पूर्व पर अधिकार जमाया है और उनके आपसी सम्बन्ध स्वाभाविक रूप से 'पश्चिम की अधीनता' के ही हैं। पश्चिम को यदि भारत का अध्ययन कर कुछ सीखना है तो वह यह है कि उसे क्या नहीं करना और क्या पीछे छोड़ना है, न कि वह क्या अपना सकता है। वह लिखते हैं, यदि पश्चिमी लोग प्राचीन भारत को आदर्श मानें अथवा उसका महिमागान करें तो यह उनकी मूर्खता ही होगी।[14]

हेगेल का भारत कल्पना और चैतन्यता का क्षेत्र है[15] जहाँ कुछ-कुछ 'डरपोक और स्त्रैण' जैसा भाव व्याप्त है।[16] हिन्दुओं में मानव जीवन के प्रति नैतिकतापूर्ण सम्मान की भावना[17] का अभाव है और विशेषकर ब्राह्मणों में 'सच के प्रति कोई विवेक भाव' नहीं है।[18] वे लिखते हैं कि भारतीय अव्यावहारिक अनन्त में खोये हुए हैं और अभी तक सीमित और ख़ास की सच्ची प्रकृति नहीं खोज सके हैं। भारतीय बुद्धि कल्पना और अराजकता में खोई हुई है और उसमें विशिष्टता के स्पष्ट भाव की और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की कमी है। यह एक ऐसा दमनकारी समाज है जिसमें धार्मिकता और निरंकुश कामुकता अपने चरम पर है। इसीलिए भारत शैशवावस्था में फँसा हुआ है, उसका विकास ठहर गया है और वह स्वयं परिपक्व होने में असमर्थ है।

ऐतिहासिक प्रगति असम्भव है क्योंकि ब्रह्म की एकता हेतु पीछे की ओर जाते हुए भारतीय रहस्यवाद पलायनवादी है, जबकि पश्चिमी भाव अभिव्यक्ति की उच्च स्थितियों की ओर आगे बढ़ता जा रहा है। पुनर्जन्म को हेगेल एक कच्ची सोच कह कर ख़ारिज कर देता है जिसने भारतीय योगियों को कठोर तपस्या में लिप्त किया है जो उन्हें मध्ययुगीन यूरोपीयों की याद दिलाता है। वे 'योग' को न तो कला की प्रशंसा में न ही विश्लेषणात्मक अनुभव में विषय-वस्तु की बहिर्मुखी तल्लीनता जैसा देखते हैं और न ही व्यक्तिगत मजबूती की अन्तर्मुखी तल्लीनता के रूप में, बल्कि उसे 'काल्पनिक भक्ति' जैसा मानते हैं जो उनके अनुसार एक 'नकारात्मक दृष्टिकोण' चित्रित करती है। 'मोक्ष' को वे एक काल्पनिक एवं नकारात्मक मुक्ति मानते हैं।

दर्शनशास्त्र के इतिहास सम्बन्धी अपने व्याख्यान में हेगेल कहते हैं कि उनके मन में भारतीयों के प्रति कोई सम्मान नहीं बचा क्योंकि उनमें सामंजस्य का अभाव है। वे इतिहास के अयोग्य हैं—

> पहले हमें भारत के प्राचीन ज्ञान के प्रति तसल्ली और आदर का भाव था, परन्तु भारतीयों के विशिष्ट खगोलीय कार्यों से परिचित होने और उन्हें जाँचने के बाद सभी आँकड़ों में त्रुटियाँ दिखाई दीं। भारतीयों के कालक्रम से ज़्यादा कुछ भी भ्रमपूर्ण और दोष-युक्त नहीं हो सकता; कोई भी खगोलशास्त्री, गणित आदि में पारंगत हो कर इतिहास के सन्दर्भ में इतना अनाड़ी नहीं हो सकता जिस पर भारतीयों में न तो धीरज है और न ही सामंजस्य।[19]

भारत के उपनिवेशीकरण को हेगेल एक अनिवार्य होनी मानते हैं—''ब्रिटिश या यूँ कहें ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत के शासक हैं, क्योंकि एशियाई साम्राज्यों की घातक नियति यही है कि वे यूरोपीयों के अधीन रहें।''[20]

इसलिए भारत को एक 'जड़' तथा स्वयं अपने बूते पर प्रगति करने में असमर्थ घोषित कर दिया गया था और यह पश्चिम का दायित्व था कि वह भारत को उपनिवेश के रूप में स्थापित कर उसके ऊपर 'शल्यक्रिया' करे, जैसे कोई डॉक्टर मरीज के हित के लिए करता है। यह विचार यूरोपीय उपनिवेशवाद के दृष्टिकोण से मेल खाता है जो हेगेल के समय अपने चरम पर था। उस समय यूरोप शक्तिशाली था और दूसरों के ऊपर अपनी नैतिक और बौद्धिक श्रेष्ठता के कट्टर राष्ट्रवादी दावे थोप सकता था। भारत के प्रति अपने सभी वक्तव्यों में हेगेल स्वयं को 'यूरोपीय मिट्टी का सपूत' के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

भारतविद् विल्हेम हब्फ़ास (Wilhelm Halbfass, 1940-2000) बताते हैं कि ''हेगेल को शास्त्रीय भारतीय विचारों की व्यवस्थित जटिलता और इतिहास-जनित परिवर्तनशीलता का पर्याप्त ज्ञान नहीं था।'' हेगेल को संस्कृत की व्यावहारिक जानकारी नहीं थी। उसका भारतीय संस्कृति का विवादात्मक प्रयोग पूर्णत: काल्पनिक था जो उसकी अपनी सनक व तत्कालीन समय की विशेष आवश्यकताओं पर आधारित था। वह अनुभवजन्य परख के प्रति भी चिन्तित नहीं था और केवल निराधार कल्पनाओं पर ही निर्भर था जो प्राय: भारत को एक हास्य-चित्र की तरह दिखाती थीं।[21] अपने पूरे पेशे में हेगेल ने भारतीय दर्शनशास्त्र को अपमानजनक रूप में प्रस्तुत किया और इसे यूरोपीय विचारधारा के अधीन बताया।

हब्फ़ॉस (Halbfass) व्याख्या करते हैं कि हेगेल ने दर्शनशास्त्र की दिशा को इस तरह परिभाषित किया जिससे 'पूर्वी दृष्टिकोण' उपेक्षित हो जाये—

> हेगेल हमारे समक्ष भारतीय दर्शन की एक गम्भीर और व्यापक परिचर्चाका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। फिर भी उनके द्वारा धर्म से दर्शनशास्त्र का ऐतिहासिक अलगाव, खोई हुई एकता की प्राप्ति हेतु किसी भी ललक का

> उसका अवमूल्यन तथा उनका यह विश्वास कि केवल यूरोप द्वारा ही वास्तविक 'असली' दर्शनशास्त्र के विकास से 'मुक्त विज्ञान' को लाये जाने के कारण पूरब पीछे छूट गया, जैसे विचारों ने 'पूर्वी दृष्टिकोण' की उपेक्षा की और दर्शन की अवधारणा के संकुचित प्रयोग तथा इतिहास दर्शन के आत्म-बन्धन को प्रोत्साहित किया।[22]

भारत की जड़ता और इतिहास के न होने की हेगेल की समझ को कार्ल मार्क्स (Karl Marx) द्वारा बनाये रखा गया। उसने भारत का वर्णन 'एशियाई उपज प्रणाली' (Asiatic Mode of Production) में जकड़े होने जैसा किया। उनका मानना था कि भारत एक आर्थिक दलदल में फँस गया है जिसमें निरंकुश रजवाड़े भरपूर शक्ति का उपयोग करते हुए अपरिवर्तनशील श्रेणीबद्ध गाँवों पर शासन चलाते हैं। उनके विश्लेषण में भारत के वास्तविक आर्थिक इतिहास का गम्भीर अज्ञान प्रदर्शित होता है। एक अमरीकी समाचार-पत्र के लिए लिखे गये लेखों की श्रृंखला में वह अपना गलत निष्कर्ष पेश करता है—

> भारतीय समाज का कोई इतिहास है ही नहीं, कम-से-कम जो ज्ञात इतिहास हो। जिसे हम उसका इतिहास कहते हैं वह और कुछ नहीं बल्कि एक के बाद एक आने वाले घुसपैठियों का इतिहास रहा है, जिन्होंने निष्क्रिय व जड़ समाज पर अपना साम्राज्य स्थापित किया। विलायती निगरानी में भारत के मूल निवासियों का अनिच्छा और अपर्याप्त रूप से कलकत्ता में शिक्षित एक नया वर्ग प्रकट हो रहा है जिसे शासन व्यवस्था की आवश्यकताओं एवं यूरोपीय विज्ञान से सम्पन्न किया गया है। भाप शक्ति ने भारत और यूरोप के बीच नियमित एवं द्रुत-गतियुक्त संचार स्थापित किये हैं। उसके मुख्य बन्दरगाहों को पूरे दक्षिण-पूर्वी समुद्र से जोड़ा है तथा उसे अलग-थलग स्थिति से फिर से मुक्त किया है जोकि उसकी निष्क्रियता का प्रमुख विधान था।[23]

भारतीय इतिहासकार रंजीत गुहा बताते हैं कि किस तरह इस प्रकार के पृथकतावादी विचार कि 'किसके पास इतिहास और तर्क शक्ति है और किसके पास नहीं' ने औपनिवेशिक शासन को उचित ठहराया—

> पराजित हो चुके 'इतिहास-शून्य' लोगों का अतीत पश्चिम को अपनी जीत को शासनतन्त्र में बदलने के प्रयासों में बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की वित्तीय प्रणाली, न्यायिक संस्थाएँ, प्रशासनिक तन्त्र—औपनिवेशिक राज्य के प्रमुख और रचनात्मक पहलू—उस अतीत पर अत्यधिक निर्भर रहे जिसकी आवश्यकता कानून बनाने और शासन की व्यवस्था जमाने के मुख्य स्रोत के रूप में पड़ती थी। इस मामले में शासन द्वारा स्वयं को सही आकार देने के लिए प्रागैतिहासिक उपयोग चिकनी मिट्टी के रूप में किया गया। परन्तु इससे उपनिवेशवाद को भारतीय अतीत में स्वयं के विवरणों को संस्थापित करने की जगह भी मिली। उन्होंने उपनिवेशिक ज्ञान का

> महल खड़ा करने के लिए भारत को एक सामग्री की तरह प्रयोग किया। इस प्रकार उपमहाद्वीप की 'इतिहासविहीन जाति' को सभ्य यूरोप एवं विश्व इतिहास की अधीनता स्वीकार करने के पुरस्कार स्वरूप एक इतिहास मिला, ठीक उसी तरह जैसे प्रागैतिहासिक काल में धँसे हुए मुक्ति के अयोग्य अधीन लोगों को जिनके पास जूते और आस्था नहीं थे जूते और बाइबल प्रदान की गई।[24]

गुहा आगे कहते हैं—

> पूरब में उपनिवेशवादी इतिहास लेखन का उत्पादन और प्रसार ब्रिटिश सत्ता की सबसे बड़ी उपलब्धियों में से एक था। यह प्रागैतिहासिकी के खाली स्थानों पर बोया गया। जो बीज के रूप में बोया गया वह वास्तव में सीधे उत्तर-प्रबुद्धवादी (post-Enlightenment) यूरोपवासियों और विशेषकर अंग्रेज़ी ऐतिहासिक साहित्य से सुगठित हो कर भारतीय पाठशालाओं एवं विश्वविद्यालयों के उपयोग के लिए आया। यह कृति इतिहास के रूप में स्वयं भारतीयों ने पश्चिमी नमूने की निष्ठावन नकल कर के बनाई।[25]

इस प्रक्रिया को अपमानजनक और विनाशकारी होने के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है—

> जो विवरण छूट गये उन्हें जातीय अथवा भौगोलिक कल्पना-मात्र नहीं कहा जा सकता। वे अपनी संस्कृति, साहित्य, धार्मिक गतिविधि, दर्शनशास्त्र इत्यादि सहित मानवता का एक बड़ा हिस्सा हैं। व्यवस्थित तरीके से इन्हें एक-एक कर के खोज कर पश्चिमी दार्शनिक प्रागैतिहासिक जंगल में रखते गये। जो फेंक दिया गया वह न केवल इन तथाकथित इतिहास-हीन लोगों के रोजमर्रा अस्तित्व में जिया हुआ अतीत है बल्कि इन अतीतों को उनके विशिष्ट-संसार के गद्य में एकीकृत करने वाली भाषाई प्रणालियाँ भी हैं। इस प्रकार निर्मित विश्व-इतिहास ने दूसरों के ऐतिहासिक विवरणों के ऊपर एक विशेष शैली के प्रभुत्व को बढ़ावा दिया।[26]

'पश्चिमी स्वतन्त्रता' का खण्डन

अपने पेशे में हेगेल ने इस प्रश्न को कई बार सम्बोधित किया कि क्या भारत और चीन की कला, साहित्य, दर्शन और भाषाओं ने इन सभ्यताओं को उनके द्वारा निर्मित विश्व-इतिहास की संरचना में कोई स्थान दिलवाया और हर बार वह प्रभावपूर्ण रूप से इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ऐसा नहीं है। भारत और चीन के बारे में वे लिखते हैं कि—

> वास्तव में इन देशों में स्वतन्त्रता की अवधारणा के बारे में आवश्यक आत्म-चेतना का गहरा अभाव है और विषय भोग, इच्छाओं और सांसारिक स्वार्थ के त्याग के बारे में भारतीय सिद्धान्त में सकारात्मक नैतिक स्वतन्त्रता का न तो

लक्ष्य है और न ही दिशा, बल्कि यह चेतना का अन्त तथा आध्यात्मिक और यहाँ तक कि भौतिक जीवन में भी व्यवधान डालता है।[27]

हेगेल ग्रीक कविता की प्रशंसा करते हैं क्योंकि उनके अनुसार इसमें 'स्वतन्त्र व्यक्तित्व की मुक्ति' को दर्शाया गया है जबकि भारत के रामायण और महाभारत के बारे में उनका मानना है कि ये 'स्वतन्त्रता और नैतिक जीवन की उच्च आकांक्षाओं के परित्याग की ओर प्रवृत्त हैं'।[28] स्वतन्त्रता का यह विचार या स्थिति उनके लिए निर्णायक है और इसे पश्चिम के ईसाई होने से जोड़ा गया। वे लिखते हैं कि 'ईसाई युग में ही दिव्यात्मा संसार में आई है और उसने व्यक्ति में अपना निवास बनाया है, जोकि अब पूरी तरह मुक्त है तथा पर्याप्त स्वतन्त्रता से सम्पन्न है'।[29]

गुहा (Guha) बताते हैं कि हेगेल (Hegel) जहाँ एक ओर तो भारत और चीन को नकारते हैं वहीं प्राचीन ग्रीक, रोम, मध्ययुगीन यूरोप एवं अमरीका के गुलाम प्रथा वाले समाजों की प्रशंसा करते हैं। यह विडम्बना है कि हेगेल ईस्ट इण्डिया कम्पनी के दमनकारी शासन को 'सभ्य देशों की सच्ची वीरता' और 'राज्य की सेवा में किये गये बलिदान' के रूप में देखते हैं।[30]

वास्तव में भले ही हेगेल ने इस तरह न देखा हो, परन्तु ईसाइयत के बहुत से पहलू व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से मेल नहीं खाते जिनमें स्थापित मत और साम्प्रदायिक रिवाजों के आज्ञापालन का आग्रह सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त अन्तिम समय (End Times) में मुक्ति (Salvation) दिलाने में चर्च की भूमिका व्यक्तिगत आध्यात्मिक स्वतन्त्रता में बाधा है। इसकी तुलना भारतीय आन्तरिक विज्ञान के महत्व और उसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता से करके देखें। भारतीय धार्मिक परम्पराओं की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं—अपना मार्ग चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता और किसी धार्मिक हठधर्मिता, चर्च या राजनैतिक सत्ता का न थोपा जाना। इन परम्पराओं को पश्चिम से कम स्वतन्त्र और व्यक्तिवादी कह कर ख़ारिज नहीं किया जा सकता। क्या बुद्ध, अशोक और गाँधी जैसी हस्तियाँ स्वतन्त्र रूप से क्रान्तिकारी ऐतिहासिक और बौद्धिक परिवर्तन लाने के उदाहरण नहीं हैं?

पश्चिम में उभरी व्यक्तिवाद की अवधारणा अपेक्षाकृत नया विकास है जिसे प्राचीन शास्त्रों और इब्राहमी साम्प्रदायिक सिद्धान्तों से प्राप्त होने का दावा किया जाता है। पूर्व के तथाकथित वैयक्तिकता-विहीन चिन्तन की अवधारणा के मुकाबले पश्चिम की विशिष्ट और निर्धारक पहचान का संशोधनवादी दावा उनके द्वारा झूठी बातें गढ़ने के कारण किया जा सका।

जर्मन प्रभुत्व का जन्म

विशिष्ट पश्चिम की अवधारणा इतिहास में अपेक्षाकृत हाल ही में आई है। इससे पहले अंग्रेज़ी, आयरिश, जर्मन, इटैलियन, यूनानी और स्पेनिश लोगों ने अपने आप को

एक-दूसरे से सतत् संघर्षरत विशिष्ट संस्कृतियों के रूप में देखा था, किसी संयुक्त यूरोपीय सभ्यता के हिस्से के रूप में नहीं। हेगेल इस तथ्य को अनदेखा करते हैं कि पश्चिम का बनना बाकी विश्व के कारण ही सम्भव हुआ, जिस पर उसका निर्माण और जीविका पूर्णत: निर्भर है। हम उसके लेखन में पृथक संस्कृति समूहों के बीच 'पश्चिम' नामक कृत्रिम एकता बनाने का संघर्ष भी देखते हैं, न केवल ग्रीक, रोमन और इज़राइली बल्कि फ्रेंच, जर्मन, ब्रिटिश और स्पेनिश इत्यादि में भी।

हेगेल के अनुसार जबकि 'पश्चिम' शुद्ध है, परन्तु कुछ पश्चिमी लोग दूसरे पश्चिमी लोगों की अपेक्षा अधिक शुद्ध हैं। जर्मनी की एक विशेष नियति है और ईसाई मत उसके दिल में है। हेगेल लिखते हैं—''जर्मन भाव (germanische Geist) ही नये विश्व (neuen Welt) की आत्मा है जिसकी नियति पूर्ण सत्य का बोध है। जर्मन जाति की नियति ईसाई सिद्धान्त के वाहक के रूप में अपनी सेवाएँ देना है।''[31]

भारतीय सभ्यता के पश्चिमी श्रेणियों में विलय को हेगेल एक स्वाभाविक और आवश्यक प्रक्रिया मानते हैं। जैसा कि हब्फ़ॉस (Halbfass) बताते हैं—''विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं का मूल्यांकन और उनमें तुलना के उपयुक्त दृष्टिकोण (अर्थात ज्ञानशास्त्र) को इतिहास ने निर्धारित कर दिया है और यह यूरोप के पक्ष में ही तय किया गया है। यूरोपीय विचार को ही सभी चिन्तन परम्पराओं के अन्वेषण की श्रेणियाँ और सन्दर्भ प्रदान करने हैं।[32]

इससे पता चलता है कि आखिर क्यों हेगेल ने तुलनात्मक दर्शन एवं धर्म और संस्कृतियों के मध्य तटस्थ एवं पारस्परिक समझ बनाने के सभी प्रयासों का विरोध किया। इसके बदले यूरोपीय दृष्टिकोण की संरचनाओं में अन्य सभी परम्पराएँ सम्मिलित हैं तथा यह ज्ञान को एकीकृत करने का एकमात्र साधन है। इसके अतिरिक्त अन्य सभ्यताओं को अप्रचलित और अनावश्यक बताया गया। पश्चिम को इनमें जो भी उपयोगी दिखता है उसे वह आसानी से आत्मसात कर पचा लेता है। विश्व भाव (World Spirit) की उन्नति के लिए हेगेल अन्य 'तुच्छ' संस्कृतियों का 'श्रेष्ठ' पश्चिम द्वारा हड़पे जाने को वैध करार देते हैं।

हेगेल की मृत्यु के बाद उनके इतिहास सम्बन्धी व्यापक 'यूरो-केन्द्रिक' विवरणों और नियति के सामान्यीकरण के फलस्वरूप 'आर्य पहचान' का विकास हुआ। पारम्परिक रूप से भारतीय बोलचाल में 'आर्य' शब्द नैतिक एवं आध्यात्मिक गुणवत्ता की ओर संकेत देता है न कि जाति के रूप में, जैसा कि प्राचीन बौद्ध शास्त्रों में इसके नियमित उपयोग से स्पष्ट है जहाँ इसका नि:सन्देह विशिष्ट नैतिक और धार्मिक महत्व है।[33] यह अर्थ सभी स्थानीय सन्दर्भों में सर्वव्यापी है। बौद्ध स्रोतों से लिए गये उपरोक्त उदाहरण पूर्णतया प्रतीकात्मक हैं और इस शब्द के प्रकट होने की प्रारम्भिक एवं प्रतिनिधि चरण को प्रतिबिम्बित करते हैं। भगवद्गीता (2.2) में श्रीकृष्ण इस शब्द का उपयोग बिना किसी जाति के अर्थ में करते हैं। एक 'आर्य' जाति के आविष्कार और निर्माण का प्रारम्भ भारतीय आर्य के काल्पनिक सिद्धान्त से हुआ जो जर्मनी के पूर्वज

थे, जिसे बाद में इस तरह संशोधित किया गया कि जर्मन जाति स्वयं ही 'आर्य' जाति बन बैठी। आगे चल कर इस 'आर्य' पहचान को व्यापक रूप से तुलनात्मक भाषाशास्त्र के दुरुपयोग से यूरोपीयों ने ग्रहण कर लिया। इस प्रकार के बौद्धिक छल के महत्व को कम नहीं किया जा सकता क्योंकि इसी ने यूरोप में 'नाजीवाद' तथा औपनिवेशिक भारत में 'द्रविड़वाद' को जन्म दिया।[34]

सारांश चित्र

प्रस्तुत चित्र में भारत से यूरोपीय मुठभेड़ के दौरान भारत समर्थक और भारत विरोधी दोनों शक्तियों के कार्य का सारांश दिया जा रहा है। बाईं ओर विभिन्न यूरोपीय पहचानों के बीच की पूर्व-वर्णित प्रतिद्वन्द्विता को दर्शाया गया है। दाँई ओर दर्शाया है
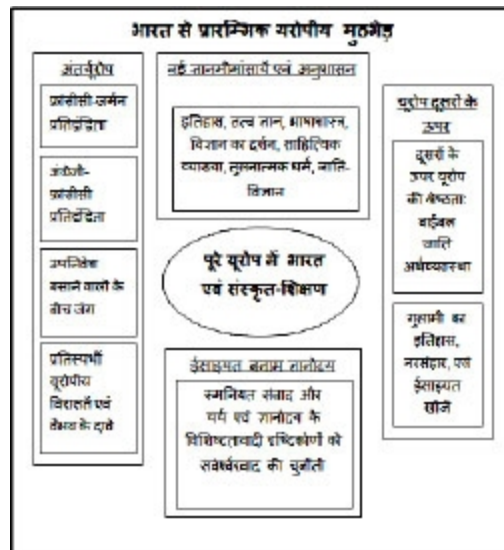
कि जहाँ एक ओर आन्तरिक प्रतिद्वन्द्विताएँ चल रही थीं वहीं अन्य जातियों पर यूरोपीय श्रेष्ठता का भाव भी था, जो विश्व सन्दर्भ में मूल अमरीकियों के नरसंहार और अफ्रीकियों की दासता का कारण बनी। इस श्रेष्ठता को न्यायसंगत दिखाने और दूसरों पर अत्याचार करने को उचित ठहराने की माँग सदैव बनी रही। चित्र का निचला हिस्सा दिखाता है कि किस तरह चर्च और प्रबुद्ध विचारधाराओं के प्रभुत्व के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप यूरोप में रूमानी आन्दोलन एक प्रकार का संस्कृति-विरोधी आचरण बन गया था। यह रूमानियत कुछ हद तक उस आदर्श अतीत की ओर लौटने की दिशा में प्रेरित थी जब ईश्वर, मनुष्य और प्रकृति में सामंजस्य था। मानवता की पाप रहित जड़ों को खोजने का प्रयास किया गया जो एक लोकप्रिय प्रस्तावना पर आधारित था कि इतिहास को ईश्वर द्वारा मार्गदर्शन मिल रहा है, जिसे केवल ईसाई रहस्योद्घाटनों के माध्यम से ही समझा जा सकता है। चित्र के बीच का ऊपरी भाग

यह दिखाता है कि किस तरह संस्कृत से मुठभेड़ से निपटने के लिए विभिन्न व्यवस्थाओं और ज्ञानशास्त्रों की एक श्रृंखला विकसित हुई।

हेगेल की विरासत एवं भारतीय संस्कृति

भारतीय विचार-दर्शन को पारलौकिक चित्रित करने वालों में हेगेल अकेले नहीं थे। पश्चिम के आरम्भिक रूमानियों ने भारत के रहस्यवादी और अनुभवातीत विचारों को भौतिकवाद की अस्वीकृति के रूप में महिमामण्डित किया। न केवल पश्चिम के प्रमुख विचारकों ने यह अवधारणा मजबूत की कि भारतीय लोग पलायनवादी और व्यक्तिवाद के प्रति उदासीन होते हैं, बल्कि स्वयं भारतीय विद्वानों ने भी भारतीय दर्शन पर अपनी प्रस्तुति में गूढ़ और अनुभवातीत विचारों को आवश्यक बताना आरम्भ किया। इस प्रकार भारतीय दृष्टिकोण की 'धार्मिक' प्रकृति का एकतरफ़ा आग्रह अनावश्यक रूप से उभरा। इसके कारण पश्चिमी लोगों पर यह अमिट प्रभाव पड़ा कि भारत में धार्मिक आग्रह के प्रबल होने के कारण उसकी दार्शनिक प्रणाली सिद्धान्ततः अविकसित है।[35] आजकल के बहुत से भारतीय विद्वान इस सोच को अपने स्वयं के प्रतिमान के रूप में अपनाते हैं।[36]

हेगेल के भारत की इतिहास-हीनता के विचारों के कारण ही भूतकाल में भारत और भारतीय दर्शन को नकारा गया और आज भी वे भारत के प्रति प्रचलित दृष्टिकोण को आकार देते हैं। भारत के बहुत से विश्वविद्यालयों के दर्शनशास्त्र के विभाग हेगेलवादी (Hegelian) विचारों और उनकी सोच पर आधारित हैं। जब उत्पीड़ितों के मन में यह स्थापित हो जाता है कि आक्रान्ताओं के भेंट स्वरूप दिये गये इतिहास के अतिरिक्त उनका अपना स्वयं का कोई इतिहास नहीं है तब आक्रान्ताओं द्वारा लिखे गये इतिहास को न केवल वैधता मिलती है बल्कि वह गौरवान्वित भी हो जाता है। बहुत से भारतीय आज भी लॉर्ड मैकॉले (Lord Macaulay) की छाया में जी रहे हैं जिसके भारतीय संस्कृति के प्रति कुख्यात विचारों ने पीढ़ियों तक ब्रिटिश औपनिवेशिक मानसिकता को आकार दिया। कुछ भारतीय उपनिवेशवादियों के प्रति ऐसे आभारी हैं जैसे उन्होंने ही भारतीयों को इतिहास का अनुभव करवाया। यह उनकी मानसिकता में बैठ चुका है कि पश्चिमी शासनकाल के पहले उनके पास इतिहास का कोई बोध नहीं था।

हेगेल की विरासत ऐसी है जिसने पश्चिम को उसकी तथाकथित 'सार्वभौमिकता' की संकीर्णता के प्रति अँधा बना दिया और भारत के प्रति उनके गलत तर्कों को मजबूत किया। हेगेल सभी संस्कृतियों को अतीत/वर्तमान, उच्च/निम्न, महान/लघु इत्यादि विभिन्न श्रेणियों में बाँधते हैं। यह परम तत्व (Absolute) की अनुभूति के लिए सामयिक स्थिति में तर्क के आगे बढ़ने जैसा है। इतिहास के उसके क्रमिक सिद्धान्त (linear theory of History) (जिनमें इतिहास के बहुत से मार्क्सवादी और मानवतावादी वृत्तान्त और इन पर आधारित विभिन्न दर्शन सम्मिलित हैं) ने जिस हद

तक पश्चिमी विद्वत्ता को प्रभावित किया वह वास्तव में आश्चर्यजनक है। हेगेल के विचारों को पश्चिम में व्यापक स्वीकृति मिली तथा इन्होंने ही भारत के प्रति बदले हुए नज़रिए को गढ़ा।[37]

हेगेल के इतिहास के सिद्धान्त ने पश्चिम की उदार-पन्थी श्रेष्ठता को बढ़ाने में प्रमुख भूमिका निभाई जो 'सार्वभौमिकताएँ' प्रदान करने की धारणा के पीछे छुपी रहती है। यूरोपीय प्रबुद्धता से युक्त ये पूर्वधारणाएँ शैक्षणिक दर्शन, भाषाशास्त्रों, सामाजिक सिद्धान्तों एवं वैज्ञानिक पद्धतियों के संगम में सम्मिलित कर ली गईं और ये सभी ईसाई मतशास्त्र के साथ-साथ विभिन्न साम्राज्यवादी और औपनिवेशिक मूल्यों से संचालित थीं।

ये प्रभाव तब न केवल भारतीय विद्याओं में समा गये बल्कि आज भी इनका दक्षिण एशियाई अध्ययनों पर कब्जा है।

पश्चिमी सार्वभौमिकता पर सामान्य प्रतिक्रियाएँ

पश्चिमी सार्वभौमिक दावों के लिए प्राय: तीन प्रतिक्रियाएँ प्रस्तुत की जाती हैं। इनमें से एक मुख्य रूप से यहूदी-ईसाई मत आधारित दावों को सम्बोधित करती है जबकि दूसरी उनके दार्शनिक दावों को सम्बोधित करती है। पहली, जिसकी चर्चा आगे की गई है, समाधान के रूप में धर्मनिरपेक्षता की वकालत करती है, अर्थात् यह विचार की इन अन्तर्धार्मिक मुद्दों को धर्म के सन्दर्भ से दूर रख कर सुलझाया जा सकता है, यहाँ तक कि धार्मिक संस्कृतियों को सार्वजनिक क्षेत्र से ही हटा दिया जाये तो और भी अच्छा। दूसरी प्रतिक्रिया, जिसकी भी चर्चा आगे की गई है, उन सभी वृहत कथानकों के उत्तर-औपनिवेशिक विखण्डन की वकालत करता है जिनकी मैंने पूर्व में चर्चा की है। तीसरी प्रतिक्रिया सभी परम्पराओं की समानता या उनमें नगण्य अन्तर मान कर भिन्नता की व्यग्रता से बचने का एक उपाय बन गया है। ये तीनों ही दृष्टिकोण दोषपूर्ण हैं और दुर्भाग्य से इन्हें सन्दिग्ध रूप से भारत में पुनर्नियात किया गया।[38]

पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता—ईसाइयत की दोहरी नीति

पश्चिमी सार्वभौमिकता का धर्मनिरपेक्ष नमूना पश्चिमी सभ्यता की बनावटी एकता का एक हिस्सा है। इतिहास के अन्त में भौतिकवादी स्वप्नलोक बनाने के इब्राहमी-मसीहाई अभियान का मार्क्सवाद के सम्प्रदाय पर हमले से मुकाबला हुआ। परिणामस्वरूप जो धर्मनिरपेक्षता उभरी वह अव्यक्त रूप से यहूदी-ईसाई विषयों को धारण करती थी और इसीलिए वह विश्व के विभिन्न धर्मों के प्रति तटस्थ नहीं है। यह ब्रह्माण्ड की प्रकृति, मानव पहचान और भिन्नता सम्बन्धी पश्चिमी मूल्यों और मान्यताओं से व्याप्त है।

स्वयं धर्मनिरपेक्षता की समूची अवधारणा उन्हीं समाजों से उत्पन्न हुइ एवं लागू होती है जहाँ धर्म इतिहास-केन्द्रिक, राजनैतिक रूप से स्थापित, विस्तारवादी और विज्ञान के साथ तनाव से ग्रस्त हैं। यह पूर्णतया पश्चिमी समस्या के लिए पश्चिमी समाधान है। भारतीय धार्मिक परम्पराओं में इन मुद्दों का कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि न तो वे इतिहास-केन्द्रिक हैं न ही वे धर्म-परिवर्तन में संलग्न हैं और न ही वे वैज्ञानिक खोजों से भयभीत हैं। इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता समस्या के मूल तक नहीं जाती और केवल एक नये भेष में पश्चिमी विचारों को प्रस्तुत करती है।

इस प्रकार की विकृत एवं शुष्क धर्मनिरपेक्षता का, जो आध्यात्मिक संस्कृति की महिमा को नष्ट करती है, प्रतिरोध होना शुरू हो गया है। अमरीकी मतनिरपेक्षतावादी यह दावा करते हैं कि उन्होंने पश्चिमी आधिपत्य के मामलों को अपनी ऐतिहासिक-धार्मिक पहचान के रूढ़िवादी पहलुओं को मानते हुए अब अस्वीकार करके सुलझा लिया है और आगे बढ़ चुके हैं। परन्तु क्या वास्तव में ऐसा किया भी है? यद्यपि अमरीकी उदारवाद आर्थिक एवं जातीय समतावाद को आत्मसात करता है, परन्तु धार्मिक उदारवाद की सामान्य आवश्यकता केवल सहनशीलता तक ही सीमित है न कि सच्चे आपसी सम्मान तक। सहिष्णुता का विचार लोकप्रिय तो हुआ, परन्तु जैसा कि प्रथम अध्याय में चर्चा की गई है यह सहिष्णुता दूसरों पर कृपा मात्र है जो श्रेष्ठता स्थापित करने के तात्पर्य से है। बहुत से उदारवादी नेता जैसे हिलेरी क्लटिंन Hillary Clinton) और जिमी कार्टर (Jimmy Carter) पूर्णतया ईसाई हैं और उन्हें अच्छी तरह पता है कि ईसाई पन्थ मूलत: विशिष्टता की माँग करता है। ईसाई विशिष्टतावाद और सच्चे उदारवाद के बीच विरोधाभासों पर शायद ही कभी खुल कर (और शायद निजी बातचीत में भी) चर्चा हुई होगी।

बाराक ओबामा (Barack Obama) से ले कर प्रत्येक अमरीकी राजनेता को वोट लेने के लिए अपने आप को अच्छा ईसाई घोषित करना पड़ता है। यथार्थ में अमरीकी धर्मनिरपेक्ष उदारवाद ने अभी तक सच्चा बहुलतावादी रूप प्राप्त नहीं किया है। इसका अर्थ केवल इतना है कि सरकारी संस्थान पन्थों के बीच हस्तक्षेप नहीं करेंगे, परन्तु यहाँ पर यह प्रश्न पूछना प्रासंगिक है कि क्या ईसाई राजनेता अपनी चर्चों से निकलने के बाद अपनी अँध-देशभक्ति और श्रेष्ठताबोध को त्याग कर जनता के अधिकारियों के रूप में कार्य कर सकते हैं? ईसाई सच्चे उदारवादी तभी बन सकते हैं जब वे अपने विशिष्टताबोध, जिसके कारण वे मात्र सहिष्णुता तक सीमित हैं, को न केवल मानें और उसे पार करें बल्कि दूसरे धर्मों का सम्मान और समर्थन करना भी सीखें।

़फ्रांसीसी क्रान्ति के पश्चात ही धार्मिक एवं धर्मनिरपेक्ष वैश्विक दृष्टिकोणों के बीच विभाजन ने अपना महत्वपूर्ण आधुनिक रूप ग्रहण किया। कैथोलिक चर्च को अभिजात एवं मध्यवर्गीय रूढ़िवाद के साथ जुड़ा हुआ देखा गया जबकि 'स्वतन्त्रता, समानता और भाईचारे' की मान्यताएँ केवल तर्क से उत्पन्न हुई मानी गईं। उदारवादी

बुद्धिजीवियों ने तर्क को ब्रिटिश साम्राज्य एवं रूसी राजशाही जैसे कई शक्तिशाली शासनों के विरुद्ध एक हथियार के रूप में प्रयोग किया।

तर्क और धर्म के बीच एक नई एवं सर्वथा कृत्रिम एकता, उत्सवों एवं प्रतीकों के सहारे स्थापित करने के प्रयास हुए। हालाँकि ये प्रयास जल्दी ही ढह गये परन्तु इन्होंने समूचे यूरोप और अमरीका में कैथोलिक मत एवं धर्मनिरपेक्ष राज्य के बीच वर्चस्व हेतु हिंसक संघर्ष की एक विरासत छोड़ी। कैथोलिक मत और धर्मनिरपेक्ष राज्य के बीच सम्बन्ध सामान्य करने में पीढ़ियाँ लग गईं परन्तु अभिन्न एकता फिर भी हाथ नहीं लगी, बल्कि इसे चर्च और सत्ता संस्थान को अलग करके प्राप्त किया गया— यही वह सिद्धान्त था जिसकी वकालत अमरीका के संस्थापकों ने की थी। अन्तत: वेटिकन द्वितीय (Vatican II) के समय 1960 के दशक में कैथोलिक चर्च ने औपचारिक रूप से इस विभाजन को सिद्धान्तत: स्वीकार किया।

इसका परिणाम मात्र एक राजनैतिक गतिरोध और संघर्ष विराम ही अधिक था, सच्ची एकता नहीं। किन्हीं भी अर्थों में इसने विभाजित और विदीर्ण वैश्विक सोच एवं दर्शनशास्त्र की अन्तर्निहित समस्याओं का समाधान नहीं किया। उन्नीसवीं सदी के अन्त एवं बीसवीं सदी के प्रारम्भ में यूरोप के सबसे बड़े और प्रभावशाली चिन्तक डार्विन (Darwin), मार्क्स (Marx) और फ्रोयड (Freud) पूरे धर्मनिरपेक्ष माने गये, जबकि ईसाई मतशास्त्रों की बौद्धिक प्रतिष्ठा में निरन्तर गिरावट आती गई। फिर भी ईसाइयत कहीं जाने वाली नहीं थी, वह उग्र कट्टर तरीके से वापस आने के लिए भूमिगत हो गई तथा धर्मनिरपेक्ष राज्य और धार्मिक दक्षिण पन्थ के बीच असहज संघर्ष विराम आज भी अमरीकी राजनीति को अस्थिर किये हुए है।

जबकि ईसाइयत विज्ञान की ख़ातिर अपनी इतिहास-केन्द्रिक मान्यताओं के साथ समझौता करने को तैयार नहीं है, वहीं बहुत-सी यहूदी और ईसाई मान्यताओं और विश्वासों ने इस धर्मनिरपेक्ष संवाद की संरचना को निर्धारित किया है।[39] विज्ञान/ धर्म का यह संघर्षग्रस्त आधार बहुत से प्रसिद्ध धर्मनिरपेक्ष पश्चिमी विचारकों के बाइबल के मिथक या अँधविश्वास-मिश्रित विचित्र धर्मनिरपेक्षतावाद में, विज्ञान और दर्शन दोनों में चित्रित होता है। उनके कार्य के इस पहलू को प्राय: धर्मनिरपेक्ष चर्चाओं से दूर रखा जाता है, परन्तु इन विरोधाभासों का पता लगाना आवश्यक है ताकि यह उजागर हो सके कि पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता में बाइबल सम्बन्धी संवाद कितना महत्वपूर्ण है।

उदाहरण के लिए फ्रांसिस बेकन (Francis Bacon), जिन्हें आधुनिक पश्चिमी विज्ञान का पैग़म्बर माना जाता है, ने पतन से पूर्व के आदम (Adam) की अवस्था प्राप्त करनी चाही, एक ऐसी स्थिति जो प्रकृति और उसके ज्ञान की शक्तियों से शुद्ध और निष्पाप सम्पर्क कराती है—अर्थात प्रगति जो वापस आदम तक ले जाये।[40] आईज़क न्यूटन (Isaac Newton) ईसाई सहस्त्राब्दी के उत्साही समर्थक थे और अपना अधिकांश समय बाइबल की भविष्यवाणियों की व्याख्या करने में लगाते थे। थॉमस हॉब्स (Thomas Hobbes) की प्रकृति की अवस्था बिना ईश्वर का उल्लेख किये जॉन

केल्विन (John Calvin) के 'प्राकृतिक मनुष्य' (natural man) के धर्मनिरपेक्ष संस्करण की भाँति है और हॉब्स की 'लेवायथन' (Leviathan) में बाइबल का 657 बार उल्लेख किया गया है और इसी प्रकार की प्रवृत्ति उसके अन्य प्रमुख राजनैतिक लेखों में भी दिखाई देती है।[41] बहुत से यूरोपीय समाजवादियों द्वारा निजी सम्पत्ति की आलोचनात्मक व्याख्याएँ आदम के पतन और उसे मिले ईश्वरीय श्राप की विवेचनाओं से उत्पन्न हुई हैं। लॉके (Locke) द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिगत अधिकारों का सिद्धान्त ईश्वर के साथ मानवता के सम्बन्ध की प्रोटेस्टेण्ट समझ में निहित है। अमरीका के अद्वितीय नागरिक समाज का जन्म एक नये फिलिस्तीन (Promised Land) में ईश्वर का एक और साम्राज्य स्थापित करने के लिए मतवादी इच्छाओं के कारण हुआ है जिसमें सख़्त नियमों और विरोध का दमन एवं आगे चल कर धर्मनिरपेक्षतावादियों की उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। यहाँ तक कि पश्चिमी मतों पर हमला करने वाले मार्क्सवाद ने भी परोक्ष रूप से उन्हीं आधारभूत संरचनाओं और भव्य कथानकों का सहारा लिया और धर्मनिरपेक्ष वैश्विक दृष्टिकोण की ये अनकही मान्यताएँ बन गईं।[42]

भारतीय नकली-धर्मनिरपेक्षता

धार्मिक हिंसा से निपटने के लिए धर्मनिरपेक्षता का एक अन्य संस्करण पश्चिमी शिक्षा पद्धति में शिक्षित (और प्राय: पश्चिम द्वारा प्रायोजित) भारतीय उच्च-वर्ग की ओर से आता है। ये बुद्धिजीवी बिना समझे-बूझे भारतीय धार्मिक दृष्टिकोण पर दोषारोपण करते हैं। ये लोग परम्परागत भारतीय समाज और संस्कृति के दुर्व्यवहारों की सूची बनाने को तैयार रहते हैं (और नि:सन्देह यहाँ न्याय-संगत चिन्ताएँ हैं) और उन विचारों से साँठ-गाँठ करते हैं जिनके अनुसार भारत के पास विश्व को देने के लिए कुछ सकारात्मक नहीं है। उनकी दृष्टि में यदि भारत को आगे बढ़ना है तो उसे पश्चिमी मूल्यों और प्रथाओं की नकल करनी पड़ेगी।

भारत की वर्तमान धर्मनिरपेक्षता को पश्चिम से आयात किया गया जहाँ मत अलगाववादी और धुर संस्थागत रूप लिए हुए हैं, परन्तु भारतीय समाज का इतिहास और परिस्थितियाँ एकदम भिन्न हैं। भारत में धर्मनिरपेक्षता साम्प्रदायिकता को रोकने के लिए है जबकि यूरोप में इसे चर्च की संस्थागत स्थापना को रोकने के लिए अपनाया गया।

भारत की स्वतन्त्रता के बाद गाँधी जी ने परम्परागत धार्मिक समाज को बलशाली बनाने की वकालत की। परन्तु नेहरू इस से असहमत थे और चाहते थे कि भारत पश्चिम के नक्शेकदम पर चले। भारत की आत्मा के इस संघर्ष में नेहरू जीत गये। इस प्रकार विकेन्द्रीकृत पारम्परिक समाज बनाने के गाँधी जी के सपने की जगह नेहरूवादी समाजवाद आया जिसे इंग्लैंड और सोवियत संघ के प्रारूप के अनुसार बनाया गया था।

1977 में प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी ने भारत के संविधान में एक संशोधन प्रस्तुत किया जिसकी प्रस्तावना में 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द को औपचारिक रूप से प्रतिस्थापित किया गया। स्वर्गीय एल.एम. सिंघवी, जो एक सलाहकार के रूप में कार्यरत थे, ने इस प्रारूप के हिन्दी अनुवाद पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया जिसमें 'सेक्यूलर' शब्द का अर्थ 'धर्मनिरपेक्ष' रखा गया था (शब्दश: जिसका अर्थ होता है धर्म से उदासीन)। उन्होंने कहा, क्योंकि धर्म भारतीय समाज का आधार है इसलिए 'सेक्यूलर' शब्द का सही हिन्दी अनुवाद 'पन्थनिरपेक्ष' (अर्थात किसी 'संगठित सम्प्रदाय' के प्रति तटस्थ या उदासीन) होना चाहिए। इन्दिरा गाँधी इस पर सहमत हुई और (एक किस्से के अनुसार) उन्होंने अपना पेन उन्हें दिया और तब सिंघवी ने संविधान के अन्तिम प्रारूप में सुधार किया जो अब राष्ट्रपति भवन में रखा हुआ है। इसका अर्थ है कि सरकार संगठित धर्मों के प्रति न केवल तटस्थ बल्कि उदासीन भी रहेगी। परन्तु भारतीय शिक्षाविदों, बुद्धिजीवियों, मीडियाकर्मियों और नेताओं ने उत्कृष्ट और सही अन्तर, जिस पर सिंघवी अड़े रहे थे, को अनदेखा किया हुआ है।

संस्कृत के दो विपरीत अर्थों वाले शब्द, 'निरपेक्ष' और 'सापेक्ष,' का अनुवाद नहीं किया जा सकता और ये बहुलतावादी धार्मिक दृष्टिकोण को समझने के लिए महत्वपूर्ण हैं। उन्हें नीचे प्रस्तुत किया गया है—

- 'निरपेक्ष' निष्क्रियता और गतिहीनता से सम्बन्धित है जहाँ कोई प्रयास, इच्छा, आशा अथवा क्रिया की ओर कोई प्रवृति नहीं है; इसका अर्थ है उदासीनता। 'पन्थ' को संगठित सम्प्रदायों के रूप में देख कर धर्मनिरपेक्षता को 'पन्थनिरपेक्षता' कहा जा सकता है। सभी मतों के प्रति सरकार का रवैया उदासीनता और तटस्थता का होना चाहिए और विभिन्न मतों के बीच आपसी सहिष्णुता की प्रवृति होनी चाहिए।
- 'सापेक्ष' का वस्तुत: अर्थ पारस्परिक आदान-प्रदान और आपसी सम्मान की अपेक्षा के साथ होता है।[43] यह विभिन्न पन्थों और पहचानों में आपसी-व्यक्तिपरकता, एकता, और भाईचारे के अर्थों में 'बन्धुत्व' के (जिसकी चर्चा अध्याय 3 में की गई है) सिद्धान्त को सुगम बनाता है। जहाँ तक आपसी सहयोग और निर्भरता का भी प्रश्न है इसका अर्थ अनेकता में एकता है। इस प्रवृत्ति को 'सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता' कहा जा सकता है, न कि श्रेष्ठता की स्थिति में अन्तर्निहित उदासीनता और तथाकथित उदारता।

'धर्म' अपने आप में किसी भी सम्प्रदाय अथवा संगठित पन्थ की तुलना में अधिक व्यापक है, हालाँकि यह उनका आधार हो सकता है। अन्य बातों के अतिरिक्त ईसाई अर्थों में यह किसी विशेष मत के प्रति स्वीकार्यता या उसकी सदस्यता की माँग नहीं करता; न ही यह वैचारिक स्वतन्त्रता, वैज्ञानिक निरीक्षण या

ऐसे लोगों के विश्वासों एवं परम्पराओं के लिए ख़तरा है जो इसके अनुकूल नहीं हैं। मैंने इसकी सहजता और प्रासंगिक गुणवत्ता के बारे में अध्याय 4 में विवेचना की है। शरीर, परिवार, समाज, पशु, प्रकृति और वृहद ब्रह्माण्ड की नैतिकता से धर्म को अलग करना असम्भव है। जैसा कि हम देखेंगे, भारतीय सन्दर्भ में धर्म को सार्वजनिक जीवन से अलग करने का अर्थ है उसके परिष्कृत सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक संसाधनों की जड़ों को उखाड़ना।[44]

'धर्म' का religion के रूप में गलत अनुवाद करने (अध्याय 5 में बताया गया है) 'सार्वजनिक क्षेत्र में कोई religion नहीं' के पश्चिमी विचार का अर्थ बहुत से भारतीयों ने 'सार्वजनिक क्षेत्र में कोई धर्म नहीं' की तरह लगाया हुआ है। धर्मनिरपेक्ष बनाये गये भारतीय यह मानने में विफ़ल रहे हैं कि एक धर्मनिरपेक्ष समाज—अथवा धर्म के बिना समाज (जैसा कि प्राय: सेक्यूलेरिज़्म का अनुवाद किया जाता है)— ख़तरनाक रूप से नैतिक व्यवहार के प्रति दोहरी वृत्ति वाला सिद्ध होगा। नीरद चौधरी ने भारत को धर्मनिरपेक्षता अपनाने के विरोध में चेतावनी दी थी चाहे वह उच्चतम यूरोपीय ही क्यों न हो, क्योंकि धर्म की नैतिकता एवं आध्यात्मिक गुणों के बिना समाज अनैतिक और सांस्कृतिक रूप से भ्रष्ट हो जायेगा।[45] 'नास्तिक' होने से फिर भी नैतिक व्यवहार समाप्त नहीं होता, परन्तु धर्म-विहीन होना तो भ्रष्टाचार और दुर्व्यवहार के समान है। सेक्यूलरिज़्म को भारतीय धार्मिक समाज में आयात करने का परिणाम कई प्रकार से विनाशकारी रहा है।

अधिकांश भारतीय अभिजात वर्ग और राजनैतिक नेताओं ने पश्चिमी नमूने को एकदम गलत समझा है। उदाहरण के लिए अमरीकी संविधान में चर्च और राज्य सत्ता के विभाजन के भाव को ही ले लें। जिन संस्थापकों ने इस संविधान का प्रारूप तैयार किया था उन्होंने सार्वजनिक या निजी रूप से धर्म के बिना समाज की कल्पना नहीं की थी, बल्कि एक ऐसे समाज का सपना देखा था जहाँ विभिन्न प्रकार की धार्मिक अभिव्यक्तियाँ फले-फूलेंगी। यह सब राज्य सत्ता के हस्तक्षेप या प्रत्यक्ष समर्थन के बिना होगा, परन्तु इसमें राज्य सत्ता का नियन्त्रण या दबाव भी नहीं होगा। इन नेताओं के व्यक्तिगत विचार रूढ़िवादी से ले कर उदार दृष्टिकोण के थे (थॉमस जेफ़रसन Thomas Jefferson तो ईसाई विशिष्टतावाद के प्रति अत्यधिक शंकास्पद थे और एक तरह के सदाबहार दर्शन के समर्थक थे)। फिर भी वे इस बात पर सहमत हुए कि एक स्वस्थ समाज का आधार गम्भीर रूप से आध्यात्मिक होता है और लोकतन्त्र के अस्तित्व के लिए विश्वास और विवेक किसी न किसी रूप में महत्वपूर्ण हैं।

भारत की नकलची धर्मनिरपेक्षता अमरीकी धर्मनिरपेक्षता से कई स्पष्ट अर्थों में अलग है। कई अमरीकी यहूदी और ईसाई सार्वजनिक रूप से अमरीकी होने के अर्थों में अपने-अपने पन्थों पर दृढ़ रहते हैं और इस दृढ़ता को धर्मनिरपेक्षता से विरोधाभास के रूप में नहीं देखते। भारतीय धर्मनिरपेक्षता ने धर्मों की भिन्नताओं को तनाव और समस्याओं का स्रोत मानते हुए मिटाने का प्रयास किया है, परन्तु इन हस्तक्षेपों का

कभी-कभी विपरीत प्रभाव पड़ा है और अपनी विशिष्टता बनाये रखने और हड़पे जाने से बचने के लिए कुछ साम्प्रदायिक पहचानें इस कारण अधिक हठी हुई हैं।

उत्तर-औपनिवेशिक समीक्षा

हाल के वर्षों में जैक्स डेरिडा (Jacques Derrida) जैसे लोग अपने उत्तर-आधुनिक सहयोगियों का अनुसरण करते हुए उत्तर-उपनिवेशवादियों ने पश्चिम की दार्शनिक सार्वभौमिकता को विखण्डित करने के कई प्रयास किये हैं। हालाँकि उनके प्रयास सामान्यत: शून्यवाद पर समाप्त होते हैं क्योंकि वे 'धर्म' और 'धर्मनिरपेक्ष' के बीच विभाजन जैसी बुनियादी पूर्वधारणाओं से नहीं बच सकते। भव्य कथानकों के विखण्डन में उत्तर-आधुनिकतावादी यह अनदेखा कर देते हैं कि उनकी सोच अप्रत्यक्ष रूप से धर्मनिरपेक्षता के भव्य कथानकों पर टिकी हुई है। धर्म-आधारित दर्शन और धर्मों ने धर्मनिरपेक्षता जैसे चरम आवरणों को ओढ़े बगैर पश्चिमी दर्शनशास्त्र की बहुत-सी उन दुविधाओं को हल किया है जो उनके सामने खड़ी हुईं। हालाँकि हाल के वर्षों में उत्तर-आधुनिक चिन्तक धर्म/धर्मनिरपेक्ष विभाजन पर कुछ नरम तो पड़े हैं, परन्तु फिर भी (कुछ मुख्य अपवादों को छोड़कर) धार्मिक दृष्टिकोणों को स्वीकार नहीं कर पाये हैं। इसका कारण यह है कि वे ठीक उस बिन्दु पर ठहर जाते हैं जहाँ पर उन्हें पश्चिमी ब्रह्माण्ड विज्ञान को मूल रूप से छोड़ना पड़ेगा।

उत्तर-औपनिवेशिक विद्वान अपनी भारतीय पहचान का प्रयोग तब करते हैं जब उन्हें प्रवक्ताओं के रूप में विश्वसनीयता मिलती है और वास्तव में उन्होंने पश्चिम की तिरस्कारपूर्ण समीक्षाएँ भी की हैं। कुछ ने तो इससे भी आगे बढ़ कर भारतीयों की औपनिवेशिक बुद्धि की भी आलोचना की जिन्होंने पश्चिमी विचार की श्रेणियों को आत्मसात कर इस प्रक्रिया में स्वयं अपनी श्रेणियों को ही भुला दिया। उदाहरण के लिए उत्तर-आधुनिक दर्शन और उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययनों में हेगेल की परियोजना भली-भाँति विखण्डित एवं अप्रतिष्ठित की जा चुकी है और प्राय: ऐसा उसके राजनैतिक एवं सांस्कृतिक ख़तरों को भली प्रकार से समझते हुए किया गया।

समस्या यह है कि इस प्रकार के विखण्डित और सामाजिक रूप से प्रगतिशील विश्लेषण भी पश्चिमी परम्परा के दायरों में ही किये जाते हैं जहाँ से समस्या पैदा हुई। जैसा कि हमने देखा है, उत्तर-आधुनिक समीक्षा प्राय: 'शून्यवाद' पर समाप्त होती है क्योंकि वह रचनात्मक दर्शन प्रस्तुत करने में विफल रही है। फिर भी इन दार्शनिकों में एक हल्की-सी स्वीकृति है कि भारतीय धार्मिक दर्शन के परिष्कृत और संवाद-आधारित चरित्र में अटल-सी प्रतीत होने वाली समस्याओं को हल करने की क्षमता है और कुछ ने इस क्षमता को समझने का प्रयास भी किया। हालाँकि कुछ अपवादों के साथ वे इसमें पूरी तरह सफल नहीं हो पाये हैं। इसका कारण, कुछ हद तक, उनकी बुद्धि में पैठे 'धर्म' और 'धर्मनिरपेक्षता' के विभाजन का भाव है और दूसरा उन्हें

आन्तरिक विज्ञान एवं सन्निहित ज्ञान की विधियों के बारे में पता न होना है (और प्राय: इनका विरोध करना) जो उन्हें उनके मानसिक गतिरोध से बाहर निकाल सकती हैं।

इसके अतिरिक्त, हालाँकि अभिप्राय: ऐसा नहीं होते हुए भी इन समीक्षाओं का परिणाम प्राय: 'समानता' की प्रतिक्रिया जैसा ही हो जाता है (नीचे देखें), अन्तर यह है कि जैसा आध्यात्मिक समानता में नहीं होता यहाँ अन्तिम स्थिति उदासीनता की हो जाती है। दूसरे शब्दों में, प्रमुख संस्कृति के आध्यात्मिक और दार्शनिक विवरणों का विखण्डन करने के बाद उनके स्थान पर रखने के लिए कुछ नहीं बचता, जबकि सच्चे पूर्वपक्ष के द्वारा आध्यात्मिकता और धर्म में प्रतिष्ठित आत्मज्ञान की धार्मिक अवधारणा सकारात्मक अस्तित्व की नींव प्रदान करती है। इस प्रकार शून्यवाद, उदासीनता और उपेक्षा उत्पन्न होती है, क्योंकि इन पश्चिमी मान्यताओं को चुनौती देने वाली भारतीय धार्मिक परम्पराओं की महत्वपूर्ण क्षमता को प्राय: अनदेखा किया जाता है।

इसके अतिरिक्त अधिकांश भारतीय विद्वान प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पश्चिमी शैक्षणिक संस्थानों, प्रकाशन समूहों अथवा धन के स्रोतों पर निर्भर रहते हैं। दूसरे शब्दों में, ये विद्वान अपनी सीमा जानते हुए नपी-तुली आलोचना कर एक तरह से पश्चिम के 'पालतू पशु' के रूप में कार्य करते हैं या फिर अपने पश्चिमी मालिकों द्वारा दी गई आत्म-आलोचनाओं को ही उगलते रहते हैं।

विशेष रूप से जब हिन्दू धर्म की बात आती है तब वे परम्परा की अवहेलना करते हुए प्राय: उन्हीं औपनिवेशिक पूर्वधारणाओं पर निर्भर रहते हैं जिन्हें वे कमजोर करने का दिखावा करते हैं। मुझे उत्तर-आधुनिक और उत्तर-औपनिवेशिक क्षेत्र के किसी ऐसे विद्वान की जानकारी नहीं है जिसने संस्कृत का अध्ययन कर भारतीय धार्मिक मतों के 'सिद्धान्त' को पश्चिम की समीक्षा करने में उपयोग किया हो। मैं इस समूह की आलोचना करने वाला पहला व्यक्ति नहीं हूँ। रोनाल्ड इण्डेन (Ronald Inden) कहते हैं कि ऐसे विद्वानों ने भारतीय धार्मिक परम्पराओं पर विचार करते समय अपने अवचेतन की औपनिवेशिक मान्यताओं के कारण अपने आपको नव-उपनिवेशवादियों में बदल लिया है। उनका दावा है कि ऐसे भारतीय बुद्धिजीवियों में—

> पुरानी औपनिवेशिक कल्पनाओं को पुन: स्थापित करने की प्रवृत्ति है। ''महिलाओं के प्रति व्यवस्थित दुर्व्यवहार (पितृसत्तात्मकता), बच्चों के शोषण (बाल-श्रम), आर्य-कुल की परजीवी ब्राह्मण जाति का वर्चस्व, जातियों के आधार पर भेदभाव (छुआछूत) एवं पुरातन हिन्दू धर्म को विजेता के रूप में दोहराने से भारत की प्राचीन अन्तर्निहित और विशिष्ट रूप से विखण्डित और दमनकारी स्थिति वाली छवि चित्रित हुई है।''[46]

एस.एन. बालगंगाधर (S.N. Balagangadhara) ने इस लक्षण को इस प्रकार समझाया है—''इन भारतीय विद्वानों को स्वयं को ऐसे प्रस्तुत करना होता है जिससे

गोरों को अपने अपराध-बोध का ध्यान आये और ऐसे भारतीयों को शैक्षणिक जगत में नौकरी दे कर वे अपने पिछले पापों से मुक्ति पा सकें। लेकिन कोई भी ग़ैर-पश्चिमी व्यक्ति के रूप में उत्तर-औपनिवेशिक होने में पश्चिम का मुकाबला नहीं कर सकता।[47]

पश्चिमी धर्मनिरपेक्षता से प्रेरित ये उत्तर-उपनिवेशवादी भारतीय धार्मिक परम्पराओं और उनकी वर्तमान प्रासंगिकता का नया परीक्षण करने में असफ़ल रहे हैं; इसके बदले इन्होंने मानविकी दर्शन के पश्चिमी विचारों की नकल करके उन्हें गम्भीर रूप से एक भिन्न परम्परा पर प्रक्षेपित किया है। संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं को निर्बल करने से वे कई मामलों में प्राय: समाप्त ही हो गई हैं, क्योंकि अंग्रेज़ी भाषा और पश्चिमी साहित्य को प्रगति के मार्ग की तरह प्रस्तुत किया गया है। प्रगति को कभी-कभी परम्परा के विरोधी के रूप में परिभाषित किया जाता है और परम्परा की वकालत करने वालों पर प्राय: पुरातनपन्थी अथवा कट्टरपन्थी की छाप लगा दी जाती है। कई भारतीय विद्वानों ने पश्चिमी नक्शेकदम पर चलते हुए भारतीय धार्मिक परम्पराओं को ऐसे रूढ़िग्रस्त दिखाया है, जिसे मैं caste (जाति), cow (गाय) और curry (कढ़ी) कहता हूँ।

औपनिवेशिक प्रभावों को समाप्त करने के दावों की भारतीय समीक्षाएँ दो प्रकार की हैं और प्रत्येक अपनी ही तरह से त्रुटिपूर्ण है। नीचे दी तालिका में उनका संक्षिप्त विवरण दिया गया है। ऊपर बाँया हिस्सा भारत के पश्चिमी अध्ययनों के बारे में है जिसमें बड़ी संख्या में भारतीय विद्वानों को हड़प लिया गया है।[48] ऊपर दाँयें हिस्से में उन्हें दिखाया गया है जिन्होंने भारत के अध्ययन में धार्मिक शब्दावलियों का उपयोग करते हुए महत्वपूर्ण योगदान दिया है; हालाँकि वे इन धार्मिक शब्दावलियों का उपयोग पश्चिम की ओर अवलोकन करने में असफ़ल रहे हैं—या कहें कि पर्याप्त आग्रह से कोई विशेष अन्तर पैदा नहीं कर सके। नीचे का बाँया हिस्सा उन विद्वानों के सन्दर्भ में है जो पश्चिम की घोर निन्दा तो करते हैं परन्तु भारतीय धार्मिक श्रेणियों के प्रयोग में प्रशिक्षित नहीं हैं और इसके अतिरिक्त वे अपनी आजीविका और पेशे हेतु पश्चिम पर ही विशेषत: निर्भर हैं।

तालिका में नीचे दाँयें हिस्से में विवरण प्रस्तुत करने हेतु और काम करने की आवश्यकता है और इस पुस्तक का लक्ष्य उस रिक्त स्थान में योगदान करने का है।

	पश्चिमी श्रेणियों का उपयोग	**धार्मिक श्रेणियों का उपयोग**
भारतीय सभ्यता का अवलोकन	आज के दक्षिण एशियाई अध्ययन में अधिकांश औपनिवेशिक भारतीय विद्या एवं मानविकी सम्बन्धी विचार	इण्डेन (Inden), मैरीयोट (Marriott), और रामानुजन (Ramanujan) ने पश्चिमी दायरे में ही सीमित रह कर भारतीय धार्मिक श्रेणियों के

		उपयोग को प्रोत्साहन देने का प्रयास किया।
पश्चिमी सभ्यता का अवलोकन	उत्तर-उपनिवेशवादी भारतीय विद्वान जिन्होंने पश्चिमी विचारोंपर हमला तो किया, परन्तु धार्मिक आधारों, जिसकी वे अवहेलना करते हैं पर खड़े हो कर नहीं।	बहुत ही दुर्लभ—ऐसे विद्वानों की संख्या बढ़ाना मेरा लक्ष्य है।

आध्यात्मिक समानता का भोलापन

पश्चिमी सार्वभौमिकता की समस्या की एक घटिया प्रतिक्रिया का तर्क यह है कि सभी संस्कृतियों और धर्मों में अन्तर्निहित समानता के लिए एक आग्रह हो सकता है जो सदभाव और न्यायसंगत एकता को सुनिश्चित करेगा। ऐसा हो सकता था, यदि कुछ मत अपनी अन्तर्निहित विशिष्टता के दावों पर अड़े नहीं रहते, परन्तु वे ऐसा करते हैं। इस प्रकार अव्यक्त रूप से पश्चिमी विचार और मूल्य सार्वभौमिक तत्वों की भाँति चित्रित हो जाते हैं।

समानताओं पर ही महत्व देने की गलत नीति के कारण बहुत से भारतीय गुरु और अन्य सांस्कृतिक राजदूत इस विचार को बढ़ावा देने के लिए जिम्मेदार हैं (जोकि पश्चिमी सार्वभौमिकता को साझा ढाँचा मान कर किया जाता है) और वे भिन्नताओं की बात करने से बचते हैं। आज का गहरा संकट यही है कि लोगों की विचारधारा में 'विशिष्टता' का स्थान 'सामान्यता' ने ले लिया है। इसके दो कारण हैं—पहला यह कि सर्वमान्य 'समानता' भिन्नता के मुद्दों को टाल देती है और दूसरा यह कि 'सर्वमान्य विचारों' के पीछे अनजान बनने का दिखावा किया जा सकता है। 'सभ्यताओं के संघर्ष' में 'धार्मिक भिन्नता' के आकार और दायरे को न समझ पाने का एक कारण यही गलतफ़हमी है। 'इतिहास से स्वतन्त्र' के धार्मिक विचार और उसकी अन्तर्निहित अभिन्न एकता के आग्रह के कारण कई लोग इस बात पर विश्वास करने लगे हैं कि आधार रूप में भारतीय धर्म भी वही चीज़ें सिखलाते हैं जो इब्राहमी परम्पराएँ या धर्मनिरपेक्ष विज्ञान सिखाता है। जब विभिन्न धार्मिक मार्गों अथवा सत्य की अवधारणाओं की बात आती है तो वे कहते हैं, 'सभी एक हैं।' 'फिर समस्या क्या है?' और फिर भी इसी सतही समानता को बढ़ावा देने वाले भारतीय, स्वयं के बारे में अनभिज्ञ, उन वैश्विक दृष्टिकोणों और प्रस्तावनाओं को स्वीकार करते हैं जो तर्कसंगत हैं ही नहीं। हम पहले ही देख चुके हैं कि 'समानता' का यह पश्चिमी दाँव अस्वीकरण

का एक ख़तरनाक रूप है जो विभिन्न संस्कृतियों में से कमज़ोर पक्ष को आक्रामक रूप से उनके हड़पने के लिए खुला छोड़ देता है।

मतभेदों का सामना करते समय प्राय: भारतीय लोग 'अनेकता में एकता' अथवा संस्कृत के वाक्यांश 'वसुदेव कुटुम्बकम्' (अर्थात समूची दुनिया एक परिवार है) के जाने-पहचाने नारे लगाते हैं। लेकिन एक परिवार में कभी भी समान भाव के व्यक्ति नहीं होते। एक व्यक्ति के माता-पिता, दादा-दादी, भाई-बहन आदि सभी अलग व्यक्ति हैं जिनके साथ उसके विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। और न ही किसी परिवार में सभी व्यक्तित्व एक जैसे होते हैं। वास्तव में अधिकांश परिवारों में नकारात्मक गुणों वाले सदस्य भी होते हैं जिन्हें डाँट-फटकार लगानी पड़ती है। यदि परिवार की उपमा देनी हो तो वह 'आन्तरिक विविधता के प्रति आपसी सम्मान है' न कि समानता।

धार्मिक विद्वानों ने अन्य परम्पराओं के समकक्ष पूर्वपक्ष हेतु आवश्यक सैद्धान्तिक साधनों का विकास नहीं किया है—कम-से-कम उतनी कड़ाई के साथ नहीं किया जितना प्राचीनकाल में किया जाता था। यह कमजोरी भिन्नता के डर से भी जुड़ी हुई है। 'निवृत्ति' (निषेध, निष्क्रियता, त्याग) पर अधिक बल दिया जाता है जबकि 'प्रवृत्ति' (सकारात्मक क्रिया, नेक सांसारिक जीवन) को किनारे कर दिया जाता है। समाज के मार्गदर्शक सम्भाषण कौशल्य, प्रतिस्पर्धात्मक विश्लेषण और रणनैतिक विचार प्रणाली में भली-भाँति प्रशिक्षित नहीं हैं। प्रासंगिक स्वतन्त्रता की प्रचुरता ने ग़ैर-जिम्मेदारी, पलायनवाद और अकुशलता पैदा कर दी है। दुर्भाग्य से किसी ऐतिहासिक कानून एवं केन्द्रीय अधिकृत सत्ता के अभाव के साथ-साथ आध्यात्म विद्या के सन्निहित उदाहरणों पर अधिक निर्भरता आज के युग में अत्यधिक आदर्शवादी साबित होती दिखती है, अर्थात् समाज को सुरक्षित रखने में निष्प्रभावी।

इन कमियों के परिणामस्वरूप भारतीय गुरु की पश्चिमी छात्रों के प्रति समझ उनकी भावनात्मक और मानसिक स्थितियों तक ही सीमित रहती है और उनकी पश्चिमी पहचानों अथवा किसी अन्य ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों पर वे अधिक ध्यान नहीं दे पाते। इसलिए गुरु उनके क्रोध, भय, वासनाओं, आदतों इत्यादि जैसे सामान्य मनोवैज्ञानिक विकारों से ही निपटते हैं। परन्तु न तो गुरु और न ही शिष्य की ओर से ही पश्चिमी अनुबन्धन-सम्बन्धित गहरी समस्याओं को समझने का कोई प्रयास होता है। अधिकांश पश्चिमी लोगों का पालन-पोषण और शिक्षा इस प्रकार होती हैं कि वे अपनी सभ्यता पर ही बल दें, अर्थात् संस्थापकों, प्रत्यक्ष नियति तथा विश्व में उनकी विशिष्ट हैसियत पर। अल्प काल में छात्र के लिए गुरु के साथ पारस्परिक आदान-प्रदान में इन अन्तर्निहित प्रवृत्तियों और पूर्वधारणाओं का विलय करना या उनके प्रभाव को कम दिखाना व्यावहारिक और राजनैतिक रूप से सही हो सकता है, परन्तु दीर्घ काल में ये प्राय: भारी गलतफ़हमियाँ ही पैदा करती हैं। (इन प्रवृत्तियों और पूर्वधारणाओं से मुकाबला करने का दायित्व भी गुरु का ही होता है)।

निष्कर्ष—पूर्वपक्ष और भविष्य की राह

''महाभारत में नये राजा के राज्याभिषेक शपथ ग्रहण समारोह में एक चेतावनी दी जाती है—'हे राजन, आप एक माला बनाने वाला बनें, न कि कोयला फूँकने वाला।'' यह वास्तव में 'धर्म-सापेक्षता' के प्रति एक आह्वान है। माला धार्मिक विविधता का एक रूपक है जिसमें विभिन्न रंगों और आकृतियों के फूल सुखदायक प्रभाव देने के लिए आपस में तालमेल के साथ गुँथे हुए होते हैं और यह सामाजिक सामंजस्य का प्रतीक है। इसके विपरीत कोयला विविधता को समरूपता में बदलने का, उसे निर्जीव एवं भस्मीभूत करने का एक रूपक है।''

पूर्वपक्ष एवं सापेक्ष धर्म

पिछले अध्यायों में पश्चिम और भारत के बीच कुछ मूलभूत मतभेदों के बारे में जानकारी दी गई है। मैंने तर्क दिया है कि ये मत-भिन्नताएँ केवल पूर्वपक्ष के प्रखर अभ्यास अथवा सीधे पारस्परिक शास्त्रार्थ से ही उजागर हो सकती हैं। प्रश्न यह उठता है कि आज पूर्वपक्ष सामाजिक और आध्यात्मिक विकास के सामंजस्यपूर्ण दृष्टिकोण स्थापित करने के लिए किस तरह से योगदान दे सकता है और किस आधार पर इसे उचित एवं प्रभावशाली ढंग से जारी रखा जा सकता है?

यहाँ पर मेरा सुझाव है कि हमें मार्गदर्शन के लिए धर्म का सहारा लेना चाहिए, विशेषकर भगवद्गीता के केन्द्रीय कथानक का। उस कथानक में नायक अर्जुन को युद्धक्षेत्र, जिसे कुरुक्षेत्र कहा गया है, में युद्ध करने का आदेश मिला है। आरम्भ में वह इस टकराव से बचने की इच्छा करता है क्योंकि उसे आशंका है कि इस युद्ध से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होगी। उसके सारथी श्री कृष्ण को उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा देने हेतु काफ़ी समझाने-बुझाने की आवश्यकता पड़ती है। उसके सामने सभी दिशाओं से खुला एवं दृष्टिगोचर होता जो विशाल मैदान है जहाँ एक ही परिवार के सदस्य दूसरे के सामने तैनात हैं और दोनों ही ओर के प्रियजनों का विनाश निश्चित है। परन्तु वास्तव में जैसा श्री कृष्ण खुलासा करते हैं, भ्रम के अतिरिक्त और कुछ भी नष्ट नहीं होगा। हालाँकि अर्जुन इसे तभी समझ सकता है जब वह धर्म की रक्षा के लिए जोखिम उठाने का निर्णय ले और स्वेच्छा से अहम का त्याग करे।

ऐसा जोखिम उठाने के लिए उपस्थित मुद्दों की गहरी समझ होना आवश्यक है। अर्जुन केवल अपने पक्ष के लिए ही नहीं बल्कि न्याय और धर्म की व्यापक स्थापना के लिए भी लड़ रहा था जो ब्रह्माण्डीय (अन्तर्निहित प्रकृति) ऋतम के समान है। जिस राज्य के लिए उसे लड़ना है वह वास्तव में उसी का है, जिसे उसके बहुत से विपक्षी भी स्वीकार करते हैं। विपक्षियों की लड़ाई उनके पक्ष में धर्म के होने से नहीं बल्कि अज्ञानता, आसक्ति और लालच के कारण है। इसके अतिरिक्त अर्जुन अपनी शक्ति अथवा अहम को बढ़ाने के लिए नहीं लड़ रहा। उसने कई वर्षों के योगाभ्यास और परीक्षाओं से स्वयं को पहले ही निपुण बना लिया था और उस अवस्था को पा चुका था जहाँ वह इन सब को श्री कृष्ण के समक्ष समर्पित कर सकता था। और न ही उसकी यह क्रियाविधि बाहर से उसके ऊपर थोपी गई थी। बल्कि इस संघर्ष में उसका होना उसकी स्वयं की प्रकृति और सामाजिक दायित्वों के कारण है, विशेषकर उसके 'स्व-धर्म' के। या यूँ कहें कि संघर्ष करना उसका कर्त्तव्य है जबकि किसी भिन्न जीवन वृत्ति वालों के लिए सम्भवत: यह स्थिति लागू न होती।

इस कथानक का उपयोग करते हुए, जो कि यहाँ समझाने के किये अति गूढ़ और बहुआयामी है, हम प्रभावी पूर्व पक्ष हेतु शास्त्रार्थ की कुछ अनिवार्यताओं और नियमों

का निर्धारण कर सकते हैं। उदाहरण के लिए—

1) इसे आपसी सहमति से शास्त्रार्थ के नियमों, समय और स्थान के साथ सभी को समान अवसर मिले ऐसा सुनिश्चित करते हुए निर्धारित करना होगा। दूसरे शब्दों में, असली सामना पश्चिमी संस्थाओं के संरक्षण में, पश्चिमी कसौटी पर, पश्चिमी पूर्वाग्रह-ग्रस्त संचार माध्यम की देखरेख में और चयनित पश्चिमी अधिवक्ताओं द्वारा संचालित नहीं हो सकता।

2) प्रतिभागियों का उद्देश्य एक-दूसरे का धर्म-परिवर्तन करना या इसके विपरीत बुनियादी मतभेदों को छिपाने के लिए लुभावनी भाषा के प्रयोग का नहीं होना चाहिए। उद्देश्य सत्य की खोज का होना चाहिए।

3) इस तरह के 'प्रतीकात्मक द्वन्द्व' का परिणाम शायद दोनों पक्षों की अहंकारी स्तर पर 'विजय' के रूप में सदैव नहीं हो सकता। इसमें कई चहेती योजनाओं और मान्यताओं को भी त्यागना होगा।

4) वैचारिक द्वन्द्व में उतरने से पहले आध्यात्म-विद्या के गम्भीर अभ्यास द्वारा अहम पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है।

5) स्वयं को आध्यात्मिक रूप से प्रमाणित सिद्ध करने के अतिरिक्त धर्म के रक्षकों को अपने विरोधियों और उनकी परम्पराओं एवं मत-शास्त्र की गहन जानकारी होनी चाहिए। इसी तरह पश्चिमी मतों का प्रतिनिधित्व करने वालों को भी उनकी परम्परा और वैश्विक दृष्टिकोण के गम्भीर विकल्प की सम्भावना के रूप में भारतीय धर्म की ओर खुले भाव से देखना होगा।

इस तरह की योजना की तैयारी के लिए यह पुस्तक एक भूमिका प्रदान करती है। सम्भवत: ऐसे वैचारिक द्वन्द्व हेतु 'सापेक्ष-धर्म' ही सबसे अच्छा सार्वजनिक ढाँचा है (अध्याय 6 में चर्चित)। हमें याद है कि सापेक्षता (सापेक्ष धर्म का गुण) का अर्थ है 'आपसी सम्मान और आदान-प्रदान के साथ' तर्क। ऐसा दृष्टिकोण सभी मार्गों और पहचानों के बीच अन्तर-अहंभाव, एकत्व और भाईचारे के अर्थों में 'बन्धु' के सिद्धान्त के अनुरूप है। जहाँ तक आपसी सहयोग और आपसी निर्भरता का प्रश्न है इसका अर्थ अनेकता में एकता भी है। यह वैचारिक ढाँचा उस लोकाचार के अनुरूप है जिसे 'सकारात्मक बहुलतावाद' कहा जा सकता है, न कि केवल उदारता या कल्पित श्रेष्ठताबोध की स्थिति से निकली उदासीनता।

सापेक्षता अभिन्न एकता में विश्वास से उपजती है जिसके अनुसार भिन्नता और अन्तर्निहित एकता परस्पर विरोधी नहीं हैं। इसके विपरीत 'निरपेक्षता' पश्चिम के सेक्यूलरिज़्म के ज़्यादा समीप है जिसे अस्थायी और अस्थिर गतिरोध से उत्पन्न होने वाले संघर्षों की रोकथाम करने के लिए इलाज के रूप में विकसित किया गया।

धर्मनिरपेक्षता सभी सीमाओं के पार व्यापक मानवता को बढ़ावा देने के बजाय केवल भौतिक समानता का वादा करती है, चाहे यह वादा भी कभी पूरा न किया गया हो। कभी-कभी तो सेक्यूलरिज़्म का उपयोग फूट डालने के लिए भी किया जाता है। इसके बावजूद इसने बुद्धिजीवियों के मध्य एक उत्कृष्ट स्थान प्राप्त किया हुआ है।

'सापेक्षता' किसी प्रकार का नकारात्मक सिद्धान्त नहीं है, जैसा कि अमरीकी संविधान में वर्णित है कि सरकार को साम्प्रदायिक प्रथाओं में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। बल्कि यह आध्यात्मिक साधना के विविध रूपों से सक्रिय सहयोग का सिद्धान्त है। प्राचीन भारतीय राष्ट्र के बहुलतावादी चरित्र का श्रेय धर्म-सापेक्षता को जाता है। उदाहरण के लिए अल्पसंख्यकों का संरक्षण बहुसंख्यकों की सदभावना पर निर्भर करता है और सापेक्ष-धर्म के कारण ही भारत की ऐसी अद्वितीय परम्परा रही है कि इसने विश्व के कोने-कोने से आये विभिन्न समुदायों का अपने यहाँ स्वागत किया है और उनकी पहचान या साम्प्रदायिक परम्परा को बचाते हुए उन्हें समृद्ध होने का अवसर दिया है।

हाल में पश्चिम से आयात किये गये 'सेक्यूलरिज़्म' के आधार 'Religion' को 'धर्म' का स्थान दे कर पश्चिमी सामाजिक और कानूनी ढाँचों को अपनाना है। इसने धर्मनिरपेक्षता के नाम पर विभाजक वोट बैंक की राजनीति को जन्म दिया है और जवाबी प्रतिक्रिया में हिन्दू राजनेताओं के एक वर्ग ने राजनैतिक रूप से सशक्त 'हिन्दू' धर्म स्थापित करना चाहा है। इस तरह की क्रमबद्ध प्रतिक्रिया हिन्दुओं और अल्पसंख्यकों दोनों के लिए ही विनाशकारी रही है। इसलिए यह पुस्तक भारत में धर्मनिरपेक्षता के निहितार्थ पर जोरदार बहस में एक योगदान है।

विशेष रूप से इस बात पर बल देना होगा कि 'सापेक्ष-धर्म' हिन्दू धर्म के प्रति निष्ठा की माँग नहीं करता और न ही यह अपना सरोकार केवल परम्परागत हिन्दुओं तक ही सीमित रखता है। 'जातिधर्म' की अवधारणा पहले से ही प्रत्येक जाति के अपने अलग धर्म के प्रति आदर का भाव रखती है, इसलिए सापेक्ष-धर्म प्रणाली में मुस्लिम जाति अपने आन्तरिक मामलों के लिए शरीयत को अपने जाति-धर्म के रूप में रख सकती है। पूर्वपक्ष के सहभागियों के रूप में सार्वजनिक रूप से मुस्लिम अपने कानूनी और नैतिक सिद्धान्तों की मुक्त भाव से वकालत कर सकते हैं (हालाँकि काफ़िरों की हत्या करने जैसे निर्देश दूसरी जातियों के साथ आपसी सम्मान के सिद्धान्त का उल्लंघन करते हैं और इसलिए उन्हें ख़ारिज करना होगा)।

''महाभारत में नये राजा के राज्याभिषेक के शपथ-ग्रहण समारोह में एक चेतावनी दी जाती है—'हे राजन, आप एक माला बनाने वाला बनें, न कि कोयला फूँकने वाला।'[1] यह वास्तव में 'धर्म-सापेक्षता' के प्रति एक आह्वान है। माला धार्मिक विविधता का एक रूपक है जिसमें विभिन्न रंगों और आकृतियों के फूल सुखदायक प्रभाव देने के लिए आपस में तालमेल के साथ गुँथे हुए होते हैं और यह सामाजिक सामंजस्य का प्रतीक है। इसके विपरीत कोयला विविधता को समरूपता में बदलने

का, उसे निर्जीव और भस्मीभूत करने का रूपक है।'' शपथ-ग्रहण करते समय राजा से अनुरोध किया जाता है कि वे सुसंगत विविधता को समर्थन देने का दृष्टान्त दें जिसमें अत्यधिक प्रासंगिक और विविध संस्कृति को अलग-अलग मतों (फूलों) की एकता (माला) में गूँथा जाये। यह फूलों के अव्यवस्थित बिखराव की असम्बद्धता और न्यूनकारी एकरूप सार्वभौमिकता जैसी पराकाष्ठाओं से बचती है।[2]

मैं पश्चिमी सेक्यूलरिज़्म के विकल्प के रूप में 'सापेक्ष-धर्म' को प्रस्तावित करता हूँ। सेक्यूलरिज़्म को सम्भवत: 'पन्थ-निरपेक्ष' की तरह व्यक्त किया जा सकता है जिसका अर्थ है किसी एक पन्थ (सम्प्रदाय) के प्रति दूसरे की अपेक्षा तरफ़दारी न करना। सापेक्ष-धर्म पर आधारित समाज से यह आशा की जाती है कि वह उच्चतम धर्म को बनाये रखेगा, न कि केवल सहिष्णुता या उदासीनता का व्यवहार करेगा। धर्म की प्रकृति ही विभिन्न समुदायों की विविधता के प्रति संवेदनशील होना है। नागरिक पहचान, दैनिक चर्या, राजनीति और प्रशासन के कौशल विभिन्न स्तरों के पारस्परिक सम्बन्धों का पोषण करते हुए इसी अवधारणा से सूचित और मार्गदर्शित होते हुए सम्पन्न होंगे। यह पूर्वपक्ष के लिए भी एक सुरक्षित ढाँचा प्रदान करेगा, क्योंकि आपसी सम्मान की नैतिकता मतभेदों को विषैला होने से पहले ही पछाड़ देगी।

इसके अतिरिक्त 'धर्म' कभी भी अन्तिम रूप से निश्चयात्मक नहीं हो सकता। वह ऐसी मुक्त वास्तुकला की तरह है जो लगातार विकसित होते हुए समावेशी है। इन शर्तों के आधार पर पूर्वपक्ष किसी बहस से निपटने या एकता जताने का माध्यम नहीं है बल्कि वह सभ्यताओं में चल रहे संघर्ष के दौरान क्षण-प्रतिक्षण एकता को उभरने, घुलने, बिखरने और पुनर्जीवित होने का अवसर देता है।

अपेक्षित पश्चिमी प्रतिक्रियाएँ

इब्राहमी परम्पराओं के मेरे स्वयं के गम्भीर अध्ययन तथा कई वर्षों से किये गये संवाद एवं वाद-विवाद के आधार पर मैं यहूदी और ईसाई पक्षों की ओर से निम्नलिखित प्रतिक्रियाओं की अपेक्षा करता हूँ।

कट्टरपन्थी विरोध

इन मतों के अधिकतर लोग पूर्वपक्ष के आधार और उपयोगिता को ख़ारिज कर देंगे। इस अस्वीकृति के कुछ कारण संकीर्ण अज्ञानता, अज्ञात का भय, मनोवैज्ञानिक संस्कार और अँधविश्वास भी हैं। उनकी ऐसी सैद्धान्तिक समझ भी हो सकती है कि 'आध्यात्म-विद्या' (जिसे मैं ऐसे शास्त्रार्थ की आवश्यक शर्त मानता हूँ) उनके मतानुसार गलत और ईशनिन्दातुल्य भी है, क्योंकि यह ईश्वर की कृपा के बजाय स्वयं की साधना से स्वर्ग प्राप्ति का प्रयास करती है। इस समूह के कई लोग शरीर के विरुद्ध, अध्याय 2 में वर्णित, बाइबल के निषेधों का पालन करते हैं।

इसके पहले कि हम इस समूह को हल्का समझें हमें यह याद रखना चाहिए कि इसमें अमरीका के चर्च जाने वाले ईसाइयों का एक बहुत बड़ा प्रतिशत सम्मिलित है, जिनका सेना, स्थानीय और राष्ट्रीय सरकारों और यहाँ तक कि विदेश नीति में प्रभावकारी राजनैतिक दखल है। बहुत से सभासद (senators), महासभा के सदस्य (congress persons), संघीय व राज्य के अधिकारी (federal and state officials) और सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश भी ऐसे विचारों का समर्थन करते हैं। हालाँकि सभी अमरीकी ईसाई इन सभी दृष्टिकोणों से तादात्म्य नहीं रखते, परन्तु इस ईसाई समूह में सबसे अधिक आन्तरिक सामंजस्य है, इन्हें व्यापक रूप से प्रतिबद्ध समर्थन प्राप्त है और इन्होंने हाल में घरेलू और विदेशी मोर्चों पर अपनी संगठित एवं आक्रामक राजनैतिक कार्रवाई की क्षमता का प्रदर्शन भी किया है।

यही वह समूह है जो गर्भपात और समलैंगिक अधिकारों के विरुद्ध है तथा पाठशालाओं में क्रमिक-विकास के पढ़ाये जाने का भी विरोध करता है। इस समूह का एक बड़ा उपवर्ग इस बात पर भी पूरी तरह समर्पित है कि 'प्रलय का दिन' (End of time) तब आयेगा जब God की सत्ता (Kingdom of God) के बाहर वाले लोग बेरहमी से पूर्णतया नष्ट कर दिये जायेंगे। इसके पहले विश्वास का परीक्षण होगा जिसमें जो यीशु के पक्ष में नहीं है उन्हें यीशु के विरुद्ध और 'शैतान' के पक्ष में माना जायेगा।

ऐसा विश्वास करने वालों के लिए धर्म के साथ परस्पर सम्मानपूर्वक शास्त्रार्थ करना शैतान से सम्बन्ध रखने जैसा है। प्रतिपक्ष के धर्मान्तरण के स्पष्ट अभिप्राय: के अतिरिक्त ऐसा संवाद किसी अन्य शर्त पर करना 'पाप' है।

इतिहास-केन्द्रिकता की सीमाओं में ही उदारता

यहूदी, ईसाई या धर्मनिरपेक्ष पृष्ठभूमि के कई पश्चिमी लोगों की रुचि पूर्वपक्ष में हो सकती है, यहाँ तक कि वे ऊपर दी गई पूर्व-निर्धारित शर्तों को पूरा करते हुए भी अपने को देख सकते हैं। कई पश्चिमी लोगों ने आध्यात्म-विद्या का अभ्यास किया है और इसके शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक लाभों की सराहना भी वे करते हैं। बहुतों ने भारतीय धार्मिक साधनाओं में गहरे उतरने के परिणामस्वरूप अपने स्वयं के मतों के नये अर्थ भी समझे हैं। कई तो इसे एक वैध और प्रभावशाली आध्यात्मिक मार्ग के रूप में भी देखते हैं।

इस समूह के बहुत से लोग फिर भी इतिहास-केन्द्रिकता और विशिष्टता-बोध, जिसे वे अपने मत का महत्वपूर्ण अंग मानते हैं, के साथ समझौता करने को बिल्कुल भी तैयार नहीं होंगे। आखिरकार ईसाइयत के विश्वास के स्वर्ण-मानक (gold standard) नायसीन मत (Nicene Creed) को विश्वास के बन्धनों को तोड़े बिना ऐसे ही नहीं फेंका जा सकता। इसके अतिरिक्त बहुतों के लिए नरक-दण्ड का गहरा बैठा हुआ डर और पश्चिमी पहचान से जुड़े हुए व्यक्तिगत और सामूहिक अहम के आनन्द (ईसाई

मत से गुंथी हुई पहचान) के पार जाना बहुत कठिन है। इनके साथ गहरी और वास्तविक अन्य आपत्तियाँ भी हो सकती हैं और केवल पूर्व-पक्ष ही इन मामलों को उजागर कर सकता है।

अरबों डॉलर वाले बहुत से संस्थान (जैसे प्यु चौरिटेबल ट्रस्टस्—Pew Charitable Trusts तथा जॉन टेम्पलटन संस्थान—John Templeton Foundation) यद्यपि शालीन और कूटनैतिक हैं—मुख्यधारा के नागरिक समाज में ईसाई सिद्धान्तों के प्रभाव को फैलाने के लिए प्रतिबद्ध हैं और इस स्तर पर पूर्वपक्ष में हिस्सा लेने के लिए राजी भी हो सकते हैं। हालाँकि मैंने पाया है कि वे अपनी इतिहास-केन्द्रिकता की खुलेआम चर्चा करना पसन्द नहीं करते।

धर्म के गम्भीर खोजकर्ता

अभ्यासकर्ताओं का एक बहुत छोटा समूह न केवल पश्चिम की मूल मान्यताओं और ऐतिहासिक योजनाओं पर प्रश्न खड़े करने को तैयार होगा, बल्कि इनसे स्वयं को पूरी तरह से दूर भी रखेगा। इस समूह में मानवतावादी, आत्मनिर्भरता के समर्थक, सामाजिक कार्यकर्ता और अन्य ऐसे लोग सम्मिलित हैं जिनको परम्परागत पश्चिमी साम्प्रदायिक परिप्रेक्ष्य के रहस्यमयी अनुभव हुए हैं।

इस समूह का एक उपवर्ग इस बात का पता लगाना चाहेगा कि क्या ख़तरे में पड़ी पश्चिमी अवधारणाओं को कम विभाजनकारी बनाने के लिए भारतीय धर्म के प्रकाश में पुन: प्रतिपादित किया जा सकता है। (इस समूह में यहूदी लेखक रोजर कामेनेट्ज़—Roger Kamenetz, विख्यात रोमन कैथोलिक मतशास्त्री डॉम बीड ग्रिफ़िथर—Dom Bede Griffiths और रैमाण्डो पणिक्कर—Raimondo Panikkar जैसी हस्तियों को मैं सम्मिलित करूँगा)।

इससे आगे के उपवर्ग में वे आते हैं जो सबसे दूर तक जाने के इच्छुक हैं, वे जो यहूदी और ईसाई मतों की महत्वपूर्ण आध्यात्मिकता का व्यापक रूप से अनुवाद भारतीय धार्मिक परिप्रेक्ष्य में करने की वकालत करते हैं। ये जिज्ञासु यीशु को हिन्दू अवतारों के समकक्ष स्वीकार करने को तैयार हैं और इस प्रकार वे उनकी पूजा भारतीय धार्मिक शर्तों पर अपने 'इष्टदेवता' के रूप में करने को तैयार हैं। पश्चिम के बहुत से व्यक्तिगत साधक पहले से ही चुपचाप अपने निजी अभ्यास में इस प्रस्तावना पर कार्य कर रहे हैं।

हालाँकि इस प्रकार के प्रयास उल्लेखनीय हैं, किन्तु ये प्राय: अल्पजीवी होते हैं क्योंकि जिज्ञासुओं ने अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं, विशेषकर इतिहास-केन्द्रिकता और विशिष्टताबोध की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया होता है, बल्कि इन मामलों की या तो उपेक्षा की है या फिर उन्हें एक ओर रख दिया है। सच्चे भारतीय धार्मिक परिप्रेक्ष्य को अपनाने के लिए उन्हें कितनी बौद्धिक, मानसिक और आध्यात्मिक तैयारी की

आवश्यकता है इसका उन्हें पूरी तरह से भान नहीं है। यदि वे ऐसा कर भी पायें तब भी पश्चिमी सार्वभौमिकता और 'विश्व-शक्ति' होने का अचेत आवरण वे सम्भवत: ओढ़े रहेंगे। ऐसे जिज्ञासुओं की सामान्य प्रवृत्ति एक काल्पनिक 'सदाबहार दर्शन' की स्वीकृति की हो सकती है या फिर वे अपनी पूर्व मान्यताओं और साम्प्रदायिक मार्ग की ओर चले (U-turn) जाते हैं। सम्भव है कि कुछ लोग अपरिपक्व और अल्पजीवी रूप से हिन्दू या बौद्ध धर्म में 'परिवर्तित' भी हो जायें।

कई तो 'भारत-विशेषज्ञ' या आत्मनिर्भरता के `एकीकृत दार्शनिक' के वेष में पश्चिम में भारतीय धर्म की व्यापक रुचि को देखते हुए स्वयं की प्रशंसा करवाने की दृष्टि से इसका पूरा लाभ उठायेंगे। कोई दुर्लभ ही पश्चिमी जिज्ञासु होगा जो बिना पीछे मुड़े हुए अपनी खोज पूरी कर पाता हो। उससे भी दुर्लभ वह है जो आध्यात्मिक उपलब्धि का एक पूर्णतया नया और निजी मार्ग बना पाता हो।

इस मोड़ पर पूर्वपक्ष के परिणामस्वरूप जो विकल्प और मार्ग खुलते हैं वे बहुत से हैं एवं जटिल भी। इन कठिनाइयों के बावजूद भी मैं यह तर्क दूँगा कि पूर्वपक्ष से सभी ओर के व्यक्ति इन दृष्टिकोणों को स्पष्ट करते हुए अपने विकल्प खोज सकते हैं।

धार्मिक गुरुओं को चुनौती

किसी भी तरह से पूर्वपक्ष केवल पश्चिमी लोगों के लिए ही चुनौतीपूर्ण नहीं है। भारतीय धार्मिक पक्ष वालों में भी इसके अध्ययन और सच्ची एवं खुली प्रतिबद्धता की आवश्यकता है। जैसा कि अध्याय 1 में समझाया गया है, पूर्वपक्ष का अभ्यास पिछली सहस्त्राब्दि के दौरान भारत से लगभग लुप्त हो गया। इसे वापस लाना इतना आसान नहीं होगा। 18वीं और 19वीं शताब्दी में लगातार होने वाले उपनिवेशी आक्रमणों के कारण भारतीय धार्मिक नेताओं ने या तो शास्त्रार्थ बन्द कर दिया या फिर पश्चिमी परिप्रेक्ष्य को ही अपना लिया। उपनिवेशवादियों ने केवल अपने लाभ के लिए संस्कृत और इसके ग्रन्थों को सीखने का वृहत प्रयास किया। दुर्भाग्यवश भारतीय धर्म-नेता पश्चिमी अध्ययन की वस्तु होने से सन्तुष्ट और कई मामलों में गर्वित भी थे और प्रतिबद्धता और कड़ाई से पश्चिम का अध्ययन करने हेतु अवलोकन को उलटने में विफ़ल रहे।

स्वामी विवेकानन्द ने वास्तव में पश्चिम का अन्वेषण किया और कुछ नेताओं जैसे राममोहन रॉय ने 'ब्रह्मो समाज' जैसे समन्वयात्मक आन्दोलन चलाने का प्रयास किया। किन्तु ऐसे प्रयासों में पश्चिमी मत, दर्शनशास्त्र और इतिहास की ठोस समझ पैदा करने का अभाव था जोकि पश्चिम का सही पूर्वपक्ष करने के लिए आवश्यक है। विवेकानन्द और दूसरे लोग पश्चिम का व्यवस्थित अध्ययन धार्मिक शर्तों के बिना किये ही सन्तुष्ट थे और वही पढ़ते थे जो पश्चिम के समर्थक और समीक्षक लिख रहे थे, न कि धार्मिक सन्दर्भों में पश्चिम के औपचारिक अध्ययन के उपरान्त। इसके

अतिरिक्त महत्वपूर्ण बात यह थी कि पश्चिम का ऐसा यदा-कदा अवलोकन उस तरह से संस्थागत और समय के साथ परिपूर्ण नहीं किया गया था जिस तरह से पश्चिम ने भारतीय धार्मिक समाजों के अध्ययन के लिए किया था। पश्चिमी विद्यालयों (convent schools) की तुलना में भारत में धार्मिक संस्थानों का कोई विकास नहीं किया गया, कोई स्थान नहीं हैं जहाँ विश्व के मतों का तुलनात्मक अध्ययन पढ़ाया जाता हो ताकि दूसरे मतों से वैचारिक मुकाबला करने के लिए भविष्य के ऐसे मार्गदर्शक तैयार किये जा सकें जो पूरे ज्ञान से सराबोर हों। दूसरे शब्दों में ईसाई और तथाकथित सेक्यूलर संस्थाएँ भारतीय धर्म का अध्ययन गहनता से करती हैं जबकि विपरीत दिशा में ऐसा अध्ययन कदाचित् ही किया जाता हो।

समकालीन गुरु और आचार्य भी पश्चिम के गम्भीर अध्ययन के प्रति अनिच्छुक दिखाई दिये हैं। दम्भ और सतही ज्ञान के पीछे उनकी अयोग्यता छिपी हुई है। उनकी यह प्रवृत्ति उनके इस कथन में व्यक्त होती है—''सत्य हमारे साथ है तो फिर हमें दूसरों के अज्ञान का अध्ययन करने की चिन्ता क्यों करनी चाहिए?'' अन्य लोग अतिरंजित विनम्रता के दम्भी प्रदर्शन को मात देते हुए पूछते हैं—''दूसरे लोगों के मतों का अध्ययन करने वाला मैं कौन होता हूँ?'' कुछ और लोग तो पश्चिम से मुकाबले की चुनौती से हताशापूर्वक पीछे हट जाते हैं।

इसके अतिरिक्त भारत की स्वतन्त्रता के बाद पश्चिम-परिभाषित धर्मनिरपेक्षता ने भारत के विश्वविद्यालयों में धर्म-सम्बन्धी औपचारिक मानविकी शिक्षण को रोका है। सामाजिक विज्ञान में धर्म का वर्णन मुख्यत: मार्क्सवादी है जो ऐसा विचार प्रचारित करता है कि धर्म पिछड़ेपन की समस्या है जिसे आर्थिक प्रगति से हल किया जाना है।

अपने पश्चिमी शिष्यों की सामूहिक पहचानों को समझने में असफ़ल रहने के कारण अधिकांश गुरु उन्हें सच्चे रूपान्तरण की तैयारी करवाने में भी असफ़ल होते हैं जहाँ इन पहचानों को त्यागना पड़ता है। यह महत्वपूर्ण है कि पश्चिमी शिष्यों को आध्यात्मिक यात्रा में इतिहास-केन्द्रिक परवरिश के कारण उत्पन्न होने वाली बाधाओं के बारे में बताया जाये। किन्तु इसके लिए पश्चिमी मानसिकता, परिप्रेक्ष्य और इतिहास का परिष्कृत ज्ञान आवश्यक है। क्योंकि ज़्यादातर गुरुओं को सन्निहित ज्ञान के प्रति पश्चिमी तिरस्कार के गहन इतिहास की समझ नहीं है इसलिए उनके अधिकतर छात्र (रूमानी आकर्षण की आरम्भिक अवधि के बाद) अचानक या तो चले जाते हैं या उनकी साधना धीरे-धीरे फ़ीकी पड़ती जाती है। पश्चिम के भारतीय धर्म से संघर्ष में उत्पन्न होने वाली इन और अन्य समस्याओं को मैंने अपनी आगामी पुस्तक 'यू-टर्न थिओरी' (U-Turn Theory) का विषय बनाया है। इसमें मैंने दोनों पक्षों के वैचारिक विनिमय में सुधारों की आवश्यकता को समझाया है जिसमें गुरुओं द्वारा पश्चिम का औपचारिक और गहन रूप से अध्ययन करने की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है, ताकि वे अपने पश्चिमी शिष्यों को उचित रूप से प्रभावित कर सकें।

पूर्व-पश्चिम की दरार के पूर्वपक्ष के निश्चित परिणाम का पहले से अनुमान नहीं लगाया जा सकता और प्रतिभागियों को सभी सम्भावनाओं के द्वार खुले रखने होंगे। जिस बात की तत्काल आवश्यकता है वह है भिन्नताओं की स्वीकृति और उन भिन्नताओं का आदर करने की आवश्यकता। मुझे आशा है कि यह पुस्तक आपसी संवाद का एक खुला क्षेत्र (एक कुरुक्षेत्र) स्थापित करने में योगदान देगी जहाँ अतीत की अपेक्षा पूर्व और पश्चिम अधिक समान शर्तों पर मिल सकेंगे।

गाँधी जी का 'स्व-धर्म' और 'पूर्वपक्ष'

मैं यहाँ गाँधी जी का उल्लेख कर ऐसा सर्वोत्कृष्ट उदाहरण देते हुए अपनी बात समाप्त करना चाहूँगा जिन्होंने निर्भीकता से बिना किसी को नुकसान पहुँचाए अथवा अँधराष्ट्रीयता के साथ अपनी भारतीय धार्मिक भिन्नता का दावा दृढ़ता से किया। वे भारतीय सांस्कृतिक आचार-व्यवहारों से ओत-प्रोत थे और वे अपने जीवनपर्यंत धर्म के साथ परीक्षण करते रहे। बहुत ही सरल और सटीक बोल बोलते हुए वे इतिहास के प्रवाह को बदलने में सफल रहे।

एक शताब्दी पूर्व प्रकाशित उनकी एक छोटी-सी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' अथवा 'Indian Home Rule' ब्रिटिश साम्राज्य को लक्ष्य करते हुए पूर्वपक्ष का एक शानदार उदाहरण है। इसमें वे ब्रिटिश शासन की जाँच भारतीय दृष्टिकोण से करते हैं जिसमें उस भारतीय अभिजात वर्ग की आलोचना भी सम्मिलित है जिन्होंने ब्रिटिश सरकार से हाथ मिला लिया था। यह पुस्तक उनकी आरम्भिक कृतियों में से एक है जो उपनिवेशवाद की समस्याओं के बारे में जागरूकता फैलाने की एक मार्गदर्शक है। उन समस्याओं ने अब नया रूप ले लिया है और दूसरे उत्कृष्ट साहित्यों की तरह हिन्द स्वराज ने भी एक ताजी और भिन्न प्रासंगिकता प्राप्त कर ली है।

'हिन्द' का अर्थ है भारतीय और 'स्वराज' अर्थात स्व-शासन। भारत पर शासन करने के लिए इंग्लैंड ने साम्राज्य के आधीन बड़ी संख्या में भारतीयों का ही नौकरों की भाँति उपयोग किया। भारतीय स्वतन्त्रता सेनानियों के विरुद्ध लड़ने वाली पुलिस और सेना में अधिकांश भारतीय सैनिक थे जो ब्रिटिश वर्दी पहने और ब्रिटिश झण्डा उठाये हुए थे। शीर्ष पर पूरी लोक सेवा ब्रिटेन के नियन्त्रण में थी जिसमें न्यायाधीश, राजनीतिज्ञ और विभिन्न सरकारी अधिकारी सम्मिलित थे। औसतन एक अंग्रेज़ के आदेश तले दस, बीस या पचास भारतीय काम करते थे। 'हिन्द स्वराज' में गाँधी जी ने अंग्रेज़ साम्राज्य का विश्लेषण किया और भारतीयों को टोका कि वे उस साम्राज्य की सेवा करना बन्द करें जो उन्हें गुलाम बना रहा था। उनका तर्क था कि यदि वे साम्राज्य की सेवा करना बन्द कर देंगे तो वह अपने-आप ही ढह जायेगा। वह आत्मनिर्भर नहीं वरन् कहा जाये तो परजीवी था। वह जिन्दा था और फल-फूल रहा था क्योंकि भारतीय उसके कामकाज में सह-अपराधी बने हुए थे। बहुत सारे भारतीयों ने स्वयं का उपयोग अपने ही लोगों के उत्पीड़न हेतु होने दिया।

जब गाँधीजी ने ब्रिटिश जीवन पद्धति की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करते हुए उनकी शोषणकारी प्रथाओं, वर्गीकृत व्यवस्था और औद्योगिक उपभोक्तावाद की आलोचना की तो वे सचमुच ही उस सभ्यता को उकसाने वाला `विपरीत अवलोकन' (reversing the gaze) कर रहे थे जिसे वे भली-भाँति लम्बे समय से अपने व्यक्तिगत निरीक्षण और अध्ययन से जानते थे। यह ठीक वही है जिसे मैं पूर्वपक्ष कहता हूँ और मेरी पुस्तक मेरे स्वयं के जिए हुए अनुभवों और अमरीकी विचारों के अध्ययन का ही परिणाम है।

गाँधी जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वास्तव में ब्रिटेन और भारत के बीच सभ्यताओं का एक गहरा सैद्धान्तिक संघर्ष है। जब एक पत्रकार ने इंग्लैण्ड में उनसे पूछा कि वे ब्रिटिश सभ्यता के बारे में क्या सोचते हैं तो उन्होंने कहा, 'वह एक अच्छा विचार होगा।'

उनकी चिन्ताओं में ब्रिटिश औद्योगिकीकरण का अल्पजीवी होना भी प्रमुख था जो निर्विवाद रूप से उन्हें पहला आधुनिक पर्यावरणवादी बनाता है। उन्होंने देखा कि औद्योगिक अर्थव्यवस्था में लगातार बढ़ता उपभोग प्राकृतिक संसाधनों को कम करके गाँवों की आत्मनिर्भरता को नष्ट कर रहा है जो भारत के सामाजिक ढाँचे का ताना-बाना है। इस समस्या की प्रतिक्रिया में उन्होंने सादी जीवन-शैली की वकालत की और अपनायी। कुल मिला कर उनकी पूँजी थी उनका चश्मा, एक जोड़ी चप्पल, एक पैन और कुछ धोतियाँ।

धर्म की विशिष्टता का एक अन्य महत्वपूर्ण बिन्दु जिस पर गाँधी जी ने ज़ोर दिया वह था 'सच्चाई की अवधारणा,'—संस्कृत में 'सत्य।' गाँधीजी का 'सत्य' केवल एक बौद्धिक प्रस्ताव नहीं था बल्कि जीवन जीने का एक तरीका था जिसे प्रत्येक व्यक्ति द्वारा प्रत्यक्ष साकार रूप से अपने अन्दर जिया जाना था। उन्होंने 'सत्याग्रह' (सत्य का आग्रह) की वकालत की और इसकी केवल कल्पना मात्र न कर उसे जिये जाने पर भी ज़ोर दिया। इसलिए उनके चिन्तन में सत्य को लिपिबद्ध या नियमित करने की कोई जगह नहीं थी। 'सत्य' को किसी पुस्तक अथवा नियमावली में कैद नहीं किया जा सकता; वह अपने अन्दर जिया जाना है और अपने से अलग नहीं किया जा सकता। यह दार्शनिक विशिष्टता गाँधी जी की सफ़लता के मूल में थी। उन्होंने न केवल एक स्थायी समाज की वकालत की, वे उसी तरह जिये भी। उन्होंने न केवल आवश्यक वस्तुओं के स्थानीय उत्पादन की वकालत की, बल्कि स्वयं तकली से सूत कात कर अपना कपड़ा बनाया और अपनी बकरी को स्वयं दुह कर वैसा उदाहरण स्थापित किया।

सभ्यताओं के बीच एक और मौलिक अन्तर जिसे 'हिन्द स्वराज' में प्रस्तुत किया गया वह है 'अहिंसा' का विचार। यह शब्द जिसका अनुवाद साधारणतया 'Non-Violence' के रूप में किया जाता है पश्चिमी विचार के शान्तिवाद जैसा नहीं है। यह उससे कहीं व्यापक है। 'हिंसा' का अर्थ है नुकसान पहुँचाना जबकि 'अहिंसा' का

अर्थ है नुकसान न पहुँचाना। अहिंसा प्राप्त करने के लिए सक्रियता और आमना-सामना आवश्यक है। बड़े पैमाने पर हिंसा करने वाले विश्व के शक्तिशाली साम्राज्य को चुनौती देने के लिए असाधारण शक्ति की आवश्यकता थी। यह विरोधाभास लगता है कि अहिंसा को यथार्थ के धरातल पर उतारने के लिए एक योद्धा की आवश्यकता पड़ती है। गाँधी जी एक ऐसे योद्धा थे।

अहिंसा को सत्याग्रह से जोड़ने पर गाँधी जी के निरन्तरतापूर्वक अन्याय से लड़ने के आदर्शों ने जन्म लिया। उन्होंने सामाजिक सक्रियता को निचले तबके से ऊपर की ओर ले जाने की वकालत की जहाँ लोग अपने में ही वह बदलाव लायें जो वे विश्व में देखना चाहते हैं। अहिंसा मात्र बातें या कानूनन लागू करने की चीज़ नहीं है; इसे व्यक्तियों द्वारा जिया जाना है। लेकिन इसके लिए एक कार्यशील और टिकाऊ समाज की आवश्यकता है जहाँ निचले स्तर के लोग अपने सत्य को स्वतन्त्रतापूर्वक आत्मसात कर सकें। इस कारण से, न किसी शुगल में ही, उन्होंने 'स्वराज' की माँग की थी। इसके अतिरिक्त ठीक से समझे जाने पर 'हिंसा' सभी प्रकार के नुकसान की द्योतक है। पर्यावरण को नुकसान पहुँचाना भी हिंसा है, क्योंकि गहन हिन्दू विचार के अनुसार समूची प्रकृति दिव्य है। अमरीका में 1970 के दशक में वन्दना शिवा के प्रयासों से लाया गया आधुनिक नारीवादी पर्यावरण आन्दोलन गाँधी जी के अहिंसा के आदर्शों पर आधारित है। पशुओं को नुकसान पहुँचाना भी हिंसा है और इसीलिए शाकाहार अहिंसा का एक महत्वपूर्ण गुण है। गाँधी जी ने तर्क दिया कि माँसाहार की तुलना में शाकाहार से पर्यावरण का कम नुकसान होता है, इसलिए एक शाकाहारी समाज किसी माँसाहारी समाज की तुलना में पारिस्थितिकीय रूप से अधिक टिकाऊ है।

'अहिंसा' संस्कृतियों पर पूरी तरह से लागू होती है। संस्कृतियों का विनाश एक विशिष्ट प्रकार की हिंसा है जिसे अहिंसा के प्रचलित विवरणों में प्राय: मान्यता नहीं दी गई है। उदाहरण के लिए जब संयुक्त राष्ट्र ने 'नरसंहार' पर अपने कानूनों का मसौदा तैयार किया तब ऐसे वाक्यांश निकाल दिये गये जो 'सांस्कृतिक नरसंहार (या सफ़ाए)' का उल्लेख करते थे। संयुक्त राष्ट्र के अधिकृत परिभाषित कानून में 'सांस्कृतिक नरसंहार' निषिद्ध नहीं है। गाँधी जी इस तरह की हिंसा को पूरी तरह समझते थे और प्राय: इसकी चर्चा भी करते थे। सांस्कृतिक नरसंहार एक समूह के द्वारा दूसरे के स्थानीय धर्म, भाषा, पहनावे, जीवनशैली, प्रथाओं, प्रतीकों इत्यादि को व्यवस्थित और पूर्ण रूप से ख़त्म या दमन करना है। चाहे ख़तरे में आये ऐसे लोगों को मानवीय सहायता, शिक्षा और चिकित्सा सुविधायें मिल भी जायें, परन्तु यदि उनकी पहचान, इतिहास-बोध, विरासत की अवधारणा और प्रकृति के साथ उनके सम्बन्धों को व्यवस्थित रूप से नष्ट कर दिया जाये तब भी यह हिंसा ही होगी। अस्मिता की सामूहिक अवधारणा एक जाति को अलग करना उन्हें पचाने की प्रस्तावना और उपनिवेश की प्रक्रिया का एक प्रमुख अंग है। इस प्रकार की हिंसा आज 'विकास' के

नाम पर सतत् रूप से जारी है जिसमें सफ़लता को पाश्चात्यीकरण की कसौटी पर आँका जाता है। अधिकांशत: इसे 'सार्वभौमिक' नाम से जाना जाता है—यहाँ तक कि मानवाधिकार-सम्बन्धित संवाद भी वास्तव में सांस्कृतिक नरसंहार है और इसलिए गाँधी की परिभाषा में हिंसा ही है।

गाँधी जी ने इस तरह के उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष किया और उसकी भौतिक एवं राजनैतिक अभिव्यक्तियों के विरुद्ध भी लगातार संघर्षरत रहे। यद्यपि वे ईसाइयत के विरुद्ध नहीं थे (और वास्तव में प्राय: यीशु को उद्धृत किया करते थे) पर भारत में ईसाई मत प्रचारकों (missionaries) का विरोध करते थे। वे कहते थे कि उन्हें केवल नि:स्वार्थ काम करना चाहिए, धर्मान्तरण नहीं। यदि वे कोई पाठशाला या औषधालय चलाते हैं या गरीबों को खाना देना चाहते हैं तो ये चीज़ें धर्मान्तरण का माध्यम नहीं बननी चाहिए।

इसी दिशा में गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक (Gayatri Chakravorty Spivak) ने ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय (Oxford University) में एमनेस्टी इंटरनेशनल ((Amnesty International) द्वारा प्रायोजित एक कार्यक्रम में उन लोगों का सन्दर्भ दिया जो ''गलतियों को सही करना चाहते हैं'' और वे ''जिनकी गलतियों को ठीक किया गया।''[3] उसने तर्क दिया कि मानवाधिकार सक्रियतावाद केवल ऐसे अधिकार होने से ही सम्बन्धित नहीं है, बल्कि यह भी है कि उन अधिकारों को कौन देने वाला है और कौन नहीं। मानव अधिकारों के पश्चिमी तरीके ''शिखर से नीचे की ओर'' एक ऐसी शक्ति संरचना में क्रियान्वित होते हैं जिसमें सशक्त लोग (जैसे वैश्विक मीडिया और वित्त पोषण की पहुँच वाले राजनैतिक कार्यकर्ता, राहतकर्मी, स्वयं-सेवी संगठन—NGOs) अपने को उनके प्रतिनिधि (agent) के रूप में तैनात किये हुए होते हैं और अपने ऊपर ही मानवाधिकारों को सुनिश्चित करने वाली एजेंसी (agency) का 'बोझ' और जिम्मेदारियाँ लिए हुए हैं। ऐसी केन्द्रीयकृत संरचना लोगों को समर्थ बना कर स्वयं के सत्याग्रह में लगने के गाँधी जी के आदर्शों से सर्वथा असंगत है।

गाँधी जी की सोच की सूक्ष्मता में व्यक्ति जब गहरे उतरता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जो लोग उन्हें अपना आदर्श मान कर काम कर रहे हैं, उनके और गाँधी जी के आदर्शों के बीच गहरी दरार है। बहुत से तथाकथित गाँधीवादी एक संस्थागत संरचना के अंग के रूप में काम करते हैं जो हिंसा पैदा करती है। गाँधी एक व्यापारिक नाम (brand name) की तरह बन चुके हैं और यह छाप गाँधी पर ही उपयुक्त नहीं बैठती।

गाँधी जी का मानना था कि सांस्कृतिक भिन्नता को ख़त्म नहीं बल्कि उनका स्वागत करना है। यही एक प्राचीन हिन्दू विचार भी है। यह ऐसे भी कथन के अनुरूप है कि केवल एक ही प्रकार का फूल या वृक्ष नहीं होना चाहिए। ब्रह्माण्ड विविधता पर निर्मित है। वास्तव में Uni-verse शब्द का अर्थ ही यही है—'एक में बहुत।' प्रत्येक जाति की उप-जाति और फिर उसकी भी उप-उपजाति होती है तथा विविधता का यह घोंसला बढ़ता रहता है। यह विविधता जड़ स्वरूप नहीं है क्योंकि ये इकाइयाँ एक

क्षण से दूसरे क्षण में सदैव परिवर्तित होती रहती हैं। इन सब से पता चलता है कि भिन्नता ब्रह्माण्ड का अन्तर्निहित सिद्धान्त है। इसके अनुसार कहना तर्क-संगत होगा कि सांस्कृतिक एकरूपता अप्राकृतिक और अव्यावहारिक है। किसी एक ही प्रकार का मत या जीवनशैली नहीं होनी चाहिए।

गाँधी जी आश्चर्यजनक रूप से भिन्नता की व्यग्रता से मुक्त थे। वे एक पारम्परिक धोती पहनते, नंगे पैर और खुली-छाती चलते और जमीन पर बैठने में संकोच नहीं करते थे। वे अपनी बकरी स्वयं दुहते और केवल बकरी का ही दूध पीते थे। यहाँ तक कि 1931 में जब वे इंग्लैण्ड गये और किंग जॉर्ज पंचम (King George V) ने बकिंघम पैलेस (Buckingham Palace) में उनके सम्मान में एक स्वागत समारोह आयोजित किया, वहाँ भी उन्होंने बकरी का ही दूध पिया। वे वही घिसी हुई चप्पलें पहने थे जो उन्होंने भारतीयों द्वारा नमक बनाने पर प्रतिबन्ध के कानून को तोड़ने के लिए अपनी प्रसिद्ध सविनय अवज्ञा (civil disobedience) यात्रा के समय पहनी थीं। यही उनका जीवन जीने का तरीका था। वे पारम्परिक ग्रामीण भाषा में बोलते थे और गरीबों के साथ रहते थे। जब वैश्विक मीडिया के लोग उनसे साक्षात्कार करने आते थे तो वे उन्हें प्राय: आश्चर्यजनक स्थानों पर पाते; उदाहरण के लिए सड़क-किनारे किसी गरीब आदमी के साथ बैठे हुए। वास्तव में वे दूसरों से भिन्न थे और अपने इस रूप पर वे ज़ोर देते थे, न कि उसका महत्व कम करके उसे छोड़ते थे।

गाँधी जी का संस्कृत के 'अनुवाद-अयोग्य' शब्दों का प्रयोग करना अपनी सभ्यता को सांस्कृतिक नरसंहार की हिंसा से बचाने के रास्तों में से एक था। 'सत्याग्रह' का उल्लेख मैं पहले ही कर चुका हूँ। उन्होंने 'स्व-धर्म' (मेरा धर्म) को अपना मार्गदर्शक सिद्धान्त तथा भगवद्गीता के कुरुक्षेत्र को 'युद्ध का मैदान' बताया जहाँ हमें अपनी चुनौतियों का सामना करना पड़ता है।

गाँधी जी ने समझाया कि संस्कृत शब्द 'स्वराज' का अर्थ केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता ही नहीं है, बल्कि यह विविध प्रकार की स्वतन्त्रता को सूचित करता है। 'करने को स्वतन्त्र होना' और 'किसी से स्वतन्त्र होना' में अन्तर है। पश्चिम में 'स्वतन्त्रता' (Freedom) की कल्पना कार रखने, कहीं भी जाने, कुछ भी खरीदने या कुछ भी बोलने की स्वतन्त्रता की तरह की जाती है। यह सब है, 'करने को स्वतन्त्र होना'—ऐसा या वैसा कुछ भी करने की स्वतन्त्रता। यह बहिर्मुखी स्वतन्त्रता है। किन्तु इस तरह का स्वतन्त्र व्यक्ति यह नहीं कह सकेगा कि वह क्रोध, इच्छा, ईर्ष्या, बुरी आदतों और विवशताओं से स्वतन्त्र है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता एक आन्तरिक स्थिति को दर्शाती है। इसका वास्तविक अर्थ है अपनी अनुकूलित अस्मिता या अहंभाव से स्वतन्त्र होना। गाँधी जी ने इसी तरह की आन्तरिक और बाह्य निर्भरताओं से स्वतन्त्र होने की स्थिति को प्राप्त और आत्मसात करने की दिशा में सदैव कार्य किया।

एक और अनुवाद-अयोग्य शब्द जिसका उपयोग गाँधी जी ने किया वह था 'स्वदेशी,' जिसका अर्थ है 'मिट्टी से उत्पन्न'। देशी उत्पाद जिसे आज पश्चिम में 'स्थानीय खरीदो' (buy local) आन्दोलन के बढ़ते हुए चलन की तरह देखा जा सकता है। गाँधी जी के स्वदेशी विचार में वस्तुओं की लम्बी दूरी से परिवहन की आलोचना और स्थानीय उत्पादन तथा मौसमी भोजन को प्राथमिकता देना सम्मिलित था। यह केवल आर्थिक प्राथमिकता से ही नहीं बल्कि अहिंसा के आदर्शवादी सिद्धान्तों से भी सम्बन्धित था। पर्यावरण और व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिए भी स्वदेशी उत्तम होता है, क्योंकि यह 'व्यक्ति जो उपयोग करने का आदी है' पर आधारित है। समय के साथ-साथ लोगों का सम्बन्ध अपने निवास के प्राकृतिक स्थान से हो जाता है। स्वदेशी का तात्पर्य है स्थानीय पैदा किया हुआ अन्न खाना, स्थानीय बने कपड़े पहनना और जहाँ तक सम्भव हो स्थानीय बनी हुई वस्तुओं को खरीदना।

इन सभी विचारों ने गाँधी जी की राजनैतिक सोच में योगदान दिया। उन्होंने 'पंचायत' के स्थानीय शासन पर आधारित भारतीय समाज की वकालत की जो गाँव के स्तर से प्रारम्भ हो कर 'नीचे से ऊपर' गठित होने वाली पारम्परिक विकेन्द्रीकृत व्यवस्था है। भारत का यह विचार ब्रिटिश शासन से सीधी टक्कर लेता था। वे सदैव चिन्तित रहते थे कि कहीं भारतीय भूरी चमड़ी वाले अंग्रेज़ न बन जायें (जो दुर्भाग्य से अधिकांशत: सच हुआ) और वे सदैव कहते थे कि यदि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत को अंग्रेज़ी सभ्यता ही अपनानी है तो अंग्रेज़ों को यहीं बने रहने दिया जाये क्योंकि इस काम को वे ज़्यादा अच्छी तरह कर सकते हैं।

दुर्भाग्यवश गाँधी जी की मृत्यु के पश्चात संवाद की श्रेणियों को नियन्त्रित करने के उनके प्रयास लुप्त हो गये। उनके कई विचारों को इस तरह अनुवादित किया गया कि उनका मूल सूक्ष्म अर्थ ही खो गया। मृत्यु के बाद गाँधी 'पालतू' बना दिये गये। गाँधी के स्थान पर गाँधीवाद आ गया। यह गाँधी जी के प्रति हिंसा है।

गाँधी जी के आदर्शों को कमज़ोर करने का एक घातक तरीका स्वयं हिन्दू परम्परा से ही आया है। वेदान्त की उत्कृष्ट ऋचाओं का गलत अर्थ और सन्दर्भरहित उच्चारण कर लोगों को निष्क्रियता, शिथिलता और पलायनवाद की ओर प्रोत्साहित किया गया। लेकिन विडम्बना यह है कि जो लोग निष्क्रियता और श्रेष्ठता के बारे में बड़ी-बड़ी बातें करते हैं वही लोग स्वार्थ के लिए सौदेबाज़ी करते देखे जाते हैं। यदि वे माता-पिता हैं तो वे चाहते हैं कि उनके बच्चे परीक्षाओं में अच्छा नतीजा ले कर भौतिक रूप से सफ़ल बनें। यदि वे प्राध्यापक हैं तो वे अच्छा अनुबन्ध लेने के लिए अपने कार्यकाल हेतु सौदेबाज़ी करते हैं। इस प्रकार अपने निजी जीवन में वे जितने ज़्यादा प्रतिस्पर्धी बन सकते हैं बनते हैं, परन्तु जब समाज और धर्म के लिए सत्याग्रह की जिम्मेदारी उठाने की बात आती है तब वेदान्त के निष्क्रिय होने के उनके आदर्श उन्हें भागने का अवसर दे देते हैं। वास्तव में वेदान्त 'प्रवृत्ति' (अर्थात कर्म का मार्ग) और 'निवृत्ति' (कर्म से छूटने का मार्ग) दोनों को सम्मिलित करता है। जब व्यक्ति सक्रिय

रूप में तटस्थ ढंग से कर्म करता है वहाँ 'निवृत्ति' एक आन्तरिक स्थिरता की भाँति है। यह आलस्य, भाग्यवाद या पलायनवाद नहीं है।

प्रचलित कल्पना में गाँधी जी को एक निष्क्रिय और 'नुकसान न पहुँचाने वाले' व्यक्ति की तरह चित्रित किया जाता है। जबकि वास्तव में वे दुस्साहसी और मुखर (जिसे आज हम 'राजनैतिक रूप से गलत' कहा करते हैं) थे और किसी भी संस्था द्वारा हड़पे जाने के विरुद्ध थे। कुरुक्षेत्र में बीसवीं सदी के अर्जुन की तरह उन्होंने अधर्म का विरोध किया और ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा करने वाले न्यायाधीशों, राजनीतिज्ञों और वकीलों को चुनौती दी।

रचनात्मकता के सागर के अपने एक दशक लम्बे मन्थन में मैंने गाँधी जी के सिद्धान्तों से प्रेरणा ली है। उनका जीवन इस पुस्तक के बहुत से महत्वपूर्ण बिन्दुओं में झलकता है। पश्चिम के प्रति उनका पूर्वपक्ष चुनौतीपूर्ण और दुस्साहसी था; सभ्यताओं के आपसी संघर्ष को उन्होंने कुरुक्षेत्र की तरह देखा जहाँ उन्होंने 'स्व-धर्म' का पालन किया; संस्कृति के बारे में होने वाले संवाद को नियन्त्रित करने के लिए उनका अनुवाद-अयोग्य शब्दों का उपयोग एक कूटनीतिक तरीका था और उनकी जीवन पद्धति यह प्रदर्शित करती थी कि अपने विरोधियों के प्रति आदर रखते हुए भी किस तरह रचनात्मक रूप से भिन्नता का दावा किया जा सकता है। कई मामलों में यह सम्मान भले ही परस्पर न रहा हो, परन्तु महत्वपूर्ण यह है कि गाँधी जी ने उदाहरण स्थापित किया और उसे जिया।

परिशिष्ट क

धर्म की अभिन्न एकता

विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के बीच परस्पर शास्त्रार्थ का एक सतत् इतिहास है और इसे लिखने और इसके विश्लेषण करने के लिए कई ग्रन्थ संकलित किये गये हैं। मेरा अभिप्राय इन प्रणालियों की व्याख्या अथवा उनके आपसी सम्बन्धों का तकनीकी विवरण प्रस्तुत करना नहीं है। बल्कि मैं धार्मिक परम्पराओं के विराट इन्द्रधनुष के अन्तर्गत मैत्री सम्बन्धों को चिह्नाँकित करना चाहता हूँ जिसे मैं 'धर्म की अभिन्न एकता' कहता हूँ। यह एकता वेदों में शास्त्रीय रूप में वर्णित है, परन्तु यह उन सम्प्रदायों तक ही सीमित नहीं है जो वेदों को प्रामाणिकता का विशेषाधिकार देते हैं।

विभिन्न सम्प्रदायों के बीच यह आपसी सम्बद्धता उस कृत्रिम एकता से भिन्न है जो सामंजस्य स्थापित करने के लिए स्वतन्त्र इकाइयों के परस्पर विलय से बनायी जाती है। यह ऐसी विविधता है जो ठीक उस समग्रता से उपजती है जो उसे आधार देती है। जिन बिन्दुओं की समानता का उल्लेख किया गया है वे पश्चिमी परम्पराओं से परस्पर तुलना का आधार बनेंगे। इस तरह के प्रयोग का अभिप्राय पश्चिम के सापेक्ष भारतीय धर्म के अद्वितीय और मूल विचारों को चिह्नाँकित करना है।

धार्मिक सम्प्रदायों में अधिकतर वेदों का प्रभुत्व स्वीकार करते हैं जबकि कुछ ऐसा नहीं भी करते। जैसे न्याय, वैशेषिका, सांख्य और योग वेदों का प्रभुत्व तो स्वीकार करते हैं परन्तु उन्होंने अपनी स्वतन्त्र दर्शनशैली विकसित की है। जो वेदों को स्वीकार नहीं करते उनमें बौद्ध, जैन, चार्वाक और लोकायत सम्मिलित हैं (इनमें से अन्तिम दो भौतिकतावादी सम्प्रदाय हैं)।

हिन्दू धर्म की 'ईश्वर-ब्रह्माण्ड-मानव' सम्बन्धी अभिन्न एकता

वेदान्त के सभी सम्प्रदाय इस बात से सहमत हैं कि ब्रह्माण्डीय चेतना ही परम सत्य है और इस वास्तविकता से परे कुछ भी नहीं है। यही 'परम सत्य' ब्रह्माण्ड की सृष्टि का मूल है।

अद्वैत-वेदान्त के निमित्त सिद्धान्त के अनुसार संसार ब्रह्म में आरोपित दिखता है जो एक संज्ञानात्मक दोष है। इस आरोपण की तुलना मोती की चमक या आकाश के नीलेपन से की जा सकती है जहाँ चमक या नीलापन इन इकाइयों के लिए महत्वपूर्ण नहीं है। एक और प्रचलित उदाहरण सर्प-रज्जू भ्रम अर्थात रस्सी का साँप जैसा दिखने का है; शाम के धुँधले में रस्सी को साँप समझने से देखने वाले व्यक्ति को भय लगता है; हालाँकि दिन के प्रकाश में यह रस्सी की कुण्डली के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और डर गायब हो जाता है। रस्सी को साँप समझ लिया गया था क्योंकि धुँधले में वह ठीक से दिख नहीं रही थी और इसलिए भी कि व्यक्ति के मन में पहले से ही कुण्डली मारे साँप की छाप स्थापित है (संस्कार, वासना)।

ठीक इसी प्रकार ब्रह्म की गूढ़ रहस्यमयी शक्ति माया द्वारा मानव और संसार को अपरिवर्तनीय ब्रह्म पर आरोपित किया हुआ है जो वास्तव में स्वयं ही ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। 'ब्रह्म' अद्वैत (non-dual), निर्विशेष (homogeneous) और अन्ततः निर्गुण (without qualities) और बिना उपाधियों (adjuncts) वाला है। मकड़ी द्वारा किसी बाहरी साधन के बिना अपना जाल बुनने को ब्रह्म के लिए एक रूपक की तरह प्रयोग किया जाता है जो ब्रह्माण्ड का निमित्त व भौतिक कारण है। यह रूपक अद्वैत के सिद्धान्त के अनुसार कारणत्व के एकमात्र विवरण के अनुरूप है जहाँ कोई बाहरी साधन का हस्तक्षेप नहीं होता। अपने में कोई बदलाव लाये बिना मूल कारण परिणाम उत्पन्न करता है। रस्सी साँप में नहीं बदलती (जैसे दूध से दही बनता है) बल्कि साँप केवल एक आभास के रूप में रस्सी पर आरोपित दिखाई देता है।

वेदान्त को मानने वाले सम्प्रदायों में मतभेद केवल इस बात पर है कि वे 'परम सत्य' को लौकिक या सांसारिक जगत से कैसे सम्बन्धित देखते हैं, परन्तु उस परम सत्य के एक होने में कोई मतभेद नहीं है। आदि शंकर (788-820 ई.) को उस सम्प्रदाय का सबसे प्रबल समर्थक माना जाता है जिसने परम सत्य की कल्पना अव्यक्तिगत के रूप में की थी, जबकि रामानुज (1055-1137 ई.) जिन्होंने शंकर के दृष्टिकोण को चुनौती दी, को उस सम्प्रदाय का प्रमुख प्रतिनिधि माना जाता है जिसके अनुसार परम सत्य व्यक्तिगत भी है।

शंकर परम सत्य को 'ब्रह्म' मानते हैं। यद्यपि हम ब्रह्म ही हैं परन्तु माया (भ्रम का परदा) हमें उस सर्वव्यापी 'ब्रह्म' से अलग होने का अनुभव कराती है—वह भी स्वतन्त्र अहंभाव के साथ। इससे द्वि-आधारी सत्य का आभास होता है जो इस पर निर्भर करता है कि व्यक्ति माया के जाल में फँसा हुआ है या नहीं। इस दोहरी स्थिति को कई प्रकार से वर्णित किया गया है, जैसे सापेक्ष और परमय निराकार और साकारय निर्गुण और सगुण। प्रत्येक स्पष्टीकरण में सापेक्ष सत्य—माया का ही दूसरा रूप— नश्वर, अपूर्ण, मूल रूप से असत्य और दुःखों का कारण है।

बाद में रामानुज के विशिष्ट-अद्वैत (विभेदित अद्वैतवाद) सम्प्रदाय ने 'माया' के कारण अलगाव के अनुभव की अवधारणा को अलग रखते हुए शंकर को चुनौती दी और यह विचार प्रस्तुत किया कि सभी विशिष्ट स्वभाव, गुण और सम्भावनाएँ ब्रह्म में निहित हैं। समष्टि (सामान्य) और विशिष्ट (विशेष) अविभाज्य हैं; सामान्य व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है और विशिष्ट उसके अन्दर विविधता लिए हुए है।[1] इस प्रकार ब्रह्म को विशिष्टता-रहित अथवा भेद-रहित नहीं देखा गया (जैसा शंकर ने बताया था)। ब्रह्म की प्रकृति और मूल भाव अपने विविध रूपों में सम्पूर्ण अस्तित्त्व को समेटे है जो एक शरीर-धारी के शरीर के साथ सम्बन्ध से प्रदर्शित होता है। सभी चेतन और अचेतन इकाइयाँ मिल कर ब्रह्म के शरीर का निर्माण करते हैं और शरीर-

रूपी ब्रह्माण्ड की चेतना और आन्तरिक नियन्त्रक ब्रह्म है। इस प्रकार परम और सापेक्ष एकीकृत ही हैं।

विशिष्ट इकाइयाँ अवास्तविक नहीं हैं बल्कि परम सत्य की प्रकृति को मूलत: भेद-जनित बनाती हैं। कोई गुण-रहित या समरूप पदार्थ सम्भव नहीं है। गुण प्रत्येक पदार्थ में निहित हैं, इसलिए पदार्थ और उसके गुणों को अलग नहीं किया जा सकता। इस प्रकार ब्रह्म और संसार की अन्तर्निहित एकता अविभाज्य है। उदाहरण के लिए नीलकमल के मामले में नीलापन (गुण) उसके मूल पदार्थ, कमल, से अलग नहीं किया जा सकता। अर्थात ब्रह्म ऐसा तत्व है और व्यक्ति ब्रह्म से अलग न होने वाला गुण है।

श्रीमद् भगवद्गीता हमें शिक्षा देती है, ''स्वयं को सभी प्राणियों में तथा सभी प्राणियों को स्वयं में देखना चाहिए।'' विशिष्ट में सामान्य का अनुभव होने से मुक्ति या मोक्ष के द्वार खुलते हैं। यह केवल काल्पनिक तर्क-वितर्क या किताबी ज्ञान द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता बल्कि आत्मानुभूति से ही मिलता है।

सन्दर्भों से मुक्ति की परम स्थिति में सभी सन्दर्भ एक उप-समूह के रूप में सम्मिलित हैं, किन्तु सन्दर्भ तब कोई बाधा प्रस्तुत नहीं करते। यथास्थिति से पार होना 'पूर्णता' (अनन्त परिपूर्णता) की एक ऐसी स्थिति है जिसमें सभी सन्दर्भ सम्मिलित हैं लेकिन वह फिर भी सभी सन्दर्भों से परे है। यह कोई सन्दर्भ-रहित या एकसमान सत्ता नहीं है।

हिन्दू धर्म सामान्य अवस्थाओं को विशिष्टताओं से परिपूर्ण अभिन्न इकाइयों की तरह देखता है। सामान्य और विशिष्टताओं के परस्पर सम्बन्ध कभी भी किसी एक छोर की ओर नहीं लुढकते; न तो सर्वव्यापी पारलौकिक रुझान की ओर (जिसमें सांसारिक विशिष्टताओं की अनदेखी होती हो) और न ही सांसारिक विशिष्टताओं की अतिवादी भौतिकता की ओर (सर्वव्यापी आध्यात्मिकता की कीमत पर)। यह दृष्टिकोण उस पश्चिमी दर्शन से भिन्न है जिसमें विशिष्टताओं-रहित एकपक्षीय सीधी-सपाट एकता दिखाई पड़ती है।

रामानुज के उत्तराधिकारी श्री जीव गोस्वामी ने उनके सिद्धान्त को परिष्कृत किया और उन्हें आदि शंकर के विचारों के साथ एकीकृत कर एक व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि परम सत्य व्यक्तिगत एवं समष्टिगत दोनों एक साथ होता है। शंकर के निर्गुण ब्रह्म के विचार की बजाय श्री जीव गोस्वामी ने रामानुज के उस दृष्टिकोण को अपनाया जिसके अनुसार रूप और गुण अलग तत्व नहीं हैं, बल्कि ब्रह्म की ही प्रकृति हैं।[2] वास्तविकता विविध सम्भावनाओं से लबा-लब भरी है जिनका अलग से कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

श्री जीव गोस्वामी ने वास्तविकता की तीन अभिव्यक्तियों को और अलग करते हुए बताया कि ये साधक की क्षमता के अनुसार अनुभव की जाती हैं—

(क) **समष्टिगत, निराकार (ब्रह्म)**—यह उस अविभाज्य परम सत्य का अनुभव है और अनुभवकर्ता उससे अलग नहीं हो सकता। जिन्होंने सभी सुखों को त्याग दिया है और बिना किसी विशिष्टता, आकार या आन्तरिक विविधता के परम सत्य की खोज में लगे हैं, उन्हें अपने प्रचण्ड अभ्यास द्वारा उस आनन्दपूर्ण वास्तविकता से एक होने का अनुभव होता है।

(ख) **व्यक्तिगत, साकार (भगवान)**—यह उन साधकों का अनुभव है जिनकी इन्द्रियाँ परमानन्द से भरे ब्रह्माण्ड का सम्पूर्ण अनुभव लेने में भक्ति और अभिलाषा से व्याप्त हैं। इस परा-स्थिति की प्राप्ति पर उन्हें भगवान (परम सत्य की व्यक्तिगत आनन्दमयी विभूति) का अनुभव होता है। आन्तरिक और बाह्य इन्द्रियों को भगवान के दर्शन होते हैं जो इस प्रयोजन के लिए विशिष्टता धारण करते हैं।

(ग) **वह जो हमारे अन्तर्मन में विराजमान है (परमात्मा)**—वह 'परम-आत्मा' (परम सत्य) है जिसे सभी जीवों और वस्तुओं के नियन्त्रक के रूप में अनुभव किया जाता है।

जिस प्रकार एक नीलकमल अपनी नीलिमा से युक्त कमल है उसी प्रकार भगवान (ख) भी सभी विभूतियों से युक्त परम सत्य हैं और इसलिए वे परम सत्य की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति हैं। जिस प्रकार 'कमल' नीलकमल की तुलना में अपूर्ण है क्योंकि वर्णन करने में 'नीलिमा' नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म (क) भी विशिष्ट गुणों को प्रदर्शित नहीं करता और इसलिए उस वास्तविकता की अधूरी अभिव्यक्ति है। अन्तर केवल साधक के अनुभव पर निर्भर है। श्री जीव गोस्वामी के अनुसार साकार (ख) से व्यक्तिगत अनुभव परम सत्य की अधिक सटीक अभिव्यक्ति है क्योंकि समष्टिगत अवस्था (क) में भाव अप्रत्यक्ष रहते हैं। अत: 'क' को 'ख' के उप-समूह के रूप में देखा गया है।

ज्ञान और भक्ति के दो मार्गों के कारण ही 'क' और 'ख' के बीच अन्तर दिखता है। भक्ति भगवान की विभूतियों-युक्त 'परम सत्य' की ओर ले जाती हैं जबकि ज्ञान उसी 'परम सत्य' को अविभाज्य चेतना (ब्रह्म) का अनुभव प्रदान करता है। इस प्रकार 'भगवान' के साक्षात अनुभव में 'ब्रह्म' का अनुभव सम्मिलित है।[3] दूसरे शब्दों में, भगवान = ब्रह्म + सभी विभूतियाँ, लक्षण, और भाव। यदि भगवान की वास्तविकता का अनुभव हो गया तो 'ब्रह्म' की अनुभूति स्वाभाविक ही हो जायेगी, जैसे यदि कोई 'नीलकमल' को समझ ले तो वह कमल को भी समझ लेता है।

भगवान और परमात्मा के बीच कोई विशेष अन्तर नहीं है—परमात्मा भगवान की ही एक आंशिक अभिव्यक्ति है। सृजन के निमित्त ही परमात्मा भगवान की अभिव्यक्ति है; वे व्यक्तियों और वस्तुओं (प्रकृति के आदिकालीन—अव्यक्त पदार्थ समेत) में प्रवेश कर उन में प्राण संचारित करके आन्तरिक नियन्त्रक के रूप में उनके क्रियाकलापों को निर्देशित करते हैं।

श्री जीव गोस्वामी बताते हैं कि भगवान की शक्ति और विभूतियाँ मानव की समझ से बाहर (अचिंत्य) हैं तथा सामान्यत: असम्भव लगने वाले परिणाम पैदा कर सकते हैं (उदाहरण के लिए कुछ मन्त्रों की शक्ति से असाध्य रोगों का उपचार)। हालाँकि ये शक्तियाँ भगवान की ही हैं, पर वे इनसे परे हैं। ये शक्तियाँ न तो भगवान से भिन्न हैं और न उनके समान ही। एक ही साथ समान और भिन्न होने का यह अनूठा सम्बन्ध (भेद-अभेद) एक अद्वितीय सिद्धान्त है जो भारतीय संगीत, नृत्य, मूर्तिकला, पूजा-पद्धति, कर्म-काण्ड, नैतिकता, नीतिशास्त्र, धर्म इत्यादि में भी व्याप्त है। इन शक्तियों के अलग-अलग नाम, रूप और व्यक्तित्व हैं जिन्हें प्राय: भगवान की पत्नियों के रूप में चित्रित किया जाता है। यह शंकर के अद्वैत सिद्धान्त के विपरीत है जिसमें निर्गुण, निराकार और अनाम ब्रह्म को परम सत्य कहा गया है तथा व्यक्तिगत देवी-देवता 'माया' के रूप हैं।

भगवान का कोई भी भौतिक स्वरूप नहीं है, उन्हें अस्तित्व, चेतना और परमानन्द के अनुभव से जाना जाता है; हालाँकि वे भक्तों के भावानुसार असीमित पहलुओं में असीमित स्थानों पर एक साथ प्रकट होते हैं। धरती पर अवतार के रूप में प्रकट होने के अतिरिक्त भगवान अपने नाम को भी उसी तरह प्रकट करते हैं। इस प्रकार 'भगवान' का नाम भगवान ही है और उसमें भगवान जैसी शक्ति भी है। यहाँ तक कि उसके नाम के शब्दांश में भी व्यक्ति को सांसारिक बन्धन से मुक्ति दिलाने की शक्ति है। इसीलिए 'नाम-जप' (मौन रूप से ईश्वर का नाम गुनगुनाना) तथा 'नाम-संकीर्तन' (सामूहिक रूप में वाद्य यन्त्रों के साथ उसके नाम को गाना) लौकिक को भावातीत क्षेत्र से जोड़ता है।

सांसारिक मनोकामनाओं वाले प्राय: किसी देवता की पूजा करते समय उन्हें ही परमेश्वर मान लेते हैं।[4] इससे उच्च स्तर के व्यक्ति पूजे गये देवता के विग्रह में ही परमेश्वर को अपने इष्टदेव की तरह समाया हुआ देखते हैं और इस प्रकार वास्तव में उनके द्वारा परमेश्वर की ही पूजा होती है। पूजा का एक और उच्च स्तर है जिसमें पूजे गये देवता को ही परमेश्वर की विभूति माना जाता है। श्री कृष्ण कहते हैं—

> जिनका ज्ञान अनगिनत कामनाओं से हरा जा चुका है, वे अपने स्वभाव से प्रेरित हो कर अन्य देवताओं की विशिष्ट प्रकृति से संचालित अलग-अलग साम्प्रदायिक नियमों का पालन करके उनको पूजते हैं। वे जिस भी देवता की निष्ठापूर्वक पूजा करना चाहते हैं मैं उनकी श्रद्धा को स्थिर करता हूँ। ऐसी श्रद्धा से युक्त हो कर वे उस देवता की पूजा करते हैं और उस देवता से मेरे द्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगों को नि:सन्देह प्राप्त करते हैं (गीता 7.20-22)।

अद्वैत और वैष्णवमत के बीच अन्तर को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है— अद्वैतमत में पहचान पूरी तरह से समाप्त हो जाती है जबकि रामानुज और श्री जीव गोस्वामी के मतों में पहचान रहती है, परन्तु वह ईश्वर से अलग नहीं, उसी का एक

रूप है। अद्वैतवादी मानते हैं कि जीव और परमात्मा एक ही हैं; जबकि वैष्णव मत वाले मानते हैं कि दोनों का अस्तित्व सदैव अलग रहता है। वैष्णव मत वाले प्राय: गीता (15.7) का सहारा लेते हुए दावा करते हैं कि जीव परमात्मा का अंश ही नहीं बल्कि सदैव से वही है, अर्थात् 'सनातन' है। क्योंकि जीव का कोई विघटन नहीं होता इसलिए यह ध्यान देने योग्य है कि 'मोक्ष' एक ईश्वरीय लीला है जहाँ जीव सदैव ईश्वर की सेवा का आनन्द ले रहा है (ईश्वर के ही अंश के रूप में)। यह परमानन्द की उच्चतम अवस्था है क्योंकि पवित्र भाव वाला भक्त ईश्वर की सेवा के लिए किसी भी शर्त को स्वीकार करता है, यहाँ तक कि जिसमें दूसरे उसे शारीरिक अथवा भौतिक रूप से दरिद्र ही क्यों न पायें। फिर भी दोनों सम्प्रदायों में अभिन्न एकता अलग-अलग इकाइयों का आधार है।[5]

श्री अरविन्द का प्रत्यावर्तन और क्रमिक विकास का सिद्धान्त

बीसवीं सदी में श्री अरविन्द ने सभी भारतीय धर्म सम्प्रदायों का अध्ययन किया, किन्तु उनका प्रमुख योगदान प्रत्यावर्तन और क्रमिक विकास की वैदिक अवधारणाओं को विस्तार से समझाना था जिसे उन्नीसवीं सदी के अन्त में स्वामी विवेकानन्द पश्चिम के समक्ष ले गये थे। (स्वामी विवेकनन्द को शिकागो—Chicago में 1893 में सम्पन्न हुई विश्व धर्म संसद—Parliament of World Religion—में गरजते हुए भाग लेने तथा विभिन्न अमरीकी दार्शनिकों, जैसे विलियम जेम्स—Williams James और जोशुआ रॉयस—Josiah Royceपर अपना प्रभाव छोड़ने के लिए जाना जाता है)।

स्वामी विवेकानन्द और श्री अरविन्द के अनुसार प्रत्यावर्तन ही क्रमिक विकास का आधार है। यह ऐसी विधा है जिसके द्वारा वह एक अनेक रूपों में अभिव्यक्त होता है। यहाँ अपरिवर्तनशील परम सत्य अपनी अदृश्य क्षमता द्वारा विभिन्न शक्तियों और रूपों को प्रकट करता है जो सभी उसी के रूप हैं, क्योंकि वह पूर्ण परम सत्य सभी अंशों में एक साथ निहित है।

परम सत्य अपरिवर्तनशील एक और उसकी विभिन्न अभिव्यक्तियाँ दोनों एक साथ है, फिर भी उसकी अपरिवर्तनशील एकता पर इस तरह परदा पड़ा है (उसकी अभिव्यक्ति थमी है) कि उसके विविध रूप उसकी विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ होते हुए भी उस से अपनी अन्तर्निहित एकता से अनभिज्ञ हैं।

इस प्रकार अंश विशेष यह नहीं जानता कि वह व्यापक की मात्र एक अभिव्यक्ति है। दूसरी तरह से कहें तो अंश यह नहीं जानते कि वे स्वतन्त्र इकाइयाँ नहीं हैं और उस पूर्ण के ही रूप हैं।

हमारी चेतना पर पड़े परदे को एक उपमा की सहायता से समझा जा सकता है। कभी-कभी कोई अभिनेता अपने अभिनय में इतना खो जाता है कि एक क्षण के लिए

अपनी असली पहचान का बोध तक खो बैठता है। इसी प्रकार प्रत्यावतन में सच्ची अस्मिता की पहचान को यदि इंगित भूमिका से तादात्मय निभाने की चरम सीमा तक ले जायें तो वहाँ सच्ची चेतना पर पर्दा पड़ा रहता है और वह पूरी तरह से छिप जाती है। क्योंकि सच्ची परम अस्मिता अन्तर्निहित है, इसलिए क्रमिक विकास की लम्बी प्रक्रिया द्वारा पदार्थ अपनी असली पहचान प्राप्त करने के लिए प्रेरित होता है जोकि नि:सन्देह अस्तित्व के उच्च तथा अधिक चैतन्य होने के बोध के कारण होता है।[6]

श्री अरविन्द बताते हैं कि परमेश्वर ‘समग्र और आश्चर्य-वत ज्ञान’ की दोहरी क्षमता रखते हुए दोनों स्तरों को एक साथ समझते हैं—इनमें एक निहित आत्म-बोध की क्षमता है जिसमें ‘सभी वस्तुओं का अस्तित्व, चेतना, इच्छा, आत्मानन्द और सबका प्रवाह एक और अविभाज्य है’। दूसरी क्षमता इसकी ‘एकता से विविधता और विविधता से एकता’ की चलायमान क्रिया है जिसके द्वारा उनके बीच एक सतत् व्यवस्थित सम्बन्ध स्थापित रहता है और उनकी अभिव्यक्ति बन्धनकारी भेद या एक सूक्ष्म अविभाज्य अन्तर न हो कर उसी एकता के भीतर ही सीमांकन और निर्धारण करती रहती है।[7]

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसी ‘एक’ की ही अभिव्यक्ति है जो सतत् उसी से निकल कर उसी के रूप में प्रवाहमान है। यह उसी ‘एक’ की शक्ति है जो उसके अपने विभिन्न रूपों में स्वयं ही प्रदर्शित होती रहती है और जो आत्म-विभाजन की क्रिया को दोहराती रहती है। अभिन्न, विकासरत और स्वयं-चैतन्य ब्रह्माण्ड और कुछ नहीं ईश्वर का सर्वव्यापी रूप ही है।

> सब में वही आत्मा है वही अस्तित्व है; केन्द्रों का बहुल्यीकरण मात्र उस चेतना की व्यावहारिक क्रिया है जिसका अभिप्राय भिन्नता की लीला, पारस्परिकता के व्यवहार, आपसी ज्ञान, आपसी शक्ति के झटके, आपसी आनन्द, अनिवार्य एकता पर आधारित भिन्नता और भिन्नता के व्यावहारिक आधार पर अनुभूत एकता को स्थापित करना है। फिर भी यह उसका अपना ही अस्तित्व है जिसका आनन्द वह भोक्ता के रूप में लेता है, भले ही वह विविधता में हो।[8]

प्रत्यावर्तन (Involution) की यह अवधारणा परम सत्य की प्रकृति की अवधारणा से भिन्न नहीं है और यह विश्व दर्शन को भारत का एक प्रमुख योगदान है। डार्विन (Darwin) के क्रमिक विकास के सिद्धान्त में प्रत्यावर्तन का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि ‘धर्मनिरपेक्ष/पवित्र’ का विभाजन ऐसी सम्भावना को नकारता है। अत: यह क्रमिक विकास कृत्रिम है जिसमें पहले से उपस्थित अलग-अलग मूलभूत इकाइयाँ जुड़ कर प्रत्यक्षत: अनियमित तुक्के-बाजी (प्रयत्न-त्रुटि—trial and error) विधि द्वारा क्रमश: और अधिक विकसित रूप लेती हैं। परन्तु हिन्दू दर्शन में प्रत्यावर्तन क्रमिक विकास से पहले होता है और उसके लिए विधि हेतु और सामान्य दिशानिर्देश प्रदान करता है। यह धर्म की अभिन्न एकता का मूल है।

अतः विश्व 'ऋत/धर्म' द्वारा स्व-शासित है, यह देखना हिन्दुओं के लिए स्वाभाविक है। नदियाँ ऋत (प्राकृतिक व्यवस्था का नियम) के अनुसार बहती हैं। यह नहीं कि वे बहें ही परन्तु बहना उनकी प्रकृति है। यह पानी का ऋत धर्म है कि वह निरुद्देश्य नीचे की ओर जाये; पौधे भी स्व-व्यवस्थित हैं; प्रत्येक जीव-जन्तु में स्वयं को नियन्त्रित करने की अपार क्षमता है और मानव स्तर पर सामाजिक ढाँचे अपने आप को प्रभावशाली ढंग से स्वयं चलाते हैं। परमात्मा का प्रत्यावर्तन पदार्थ में होता है और इसलिए उन सभी रूपों में भी जो पदार्थ से क्रमशः विकसित हुए हैं। ऐसी व्यवस्था में 'सृष्टि और क्रमिक विकास' में कोई दुराव नहीं है।

'अभिन्न एकता' के प्रति बौद्ध धर्म का दृष्टिकोण

बौद्ध धर्म भी अभिन्न एकता की अवधारणा पर आधारित है। बौद्ध धर्म यह दर्शाता है कि धार्मिक परम्पराएँ तत्वमीमांसा के मामले कितने ही व्यापक रूप में एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी गहरे और अभिन्न रूप से एकीकृत हैं (मैं इस अभिन्न एकता को दर्शाने के लिए बौद्ध धर्म की माध्यमिका शाखा पर ध्यान केन्द्रित करूँगा)। बौद्ध धर्म वेदान्त के प्रमुख सिद्धान्तों में से एक की पुष्टि करता है, जिसके अनुसार सामान्य बुद्धि के द्वारा अनुभव किये गये वे प्रकरण आखिरकार वास्तविक नहीं हैं जब वे पृथक इकाइयों के रूप में दिखाई देते हैं। परन्तु वह वेदान्त परम्पराओं को मौलिक चुनौती देते हुए दावा करता है कि ब्रह्म या भगवान के रूप में परम सत्य की अवधारणा भी भ्रामक है।

बौद्ध सिद्धान्त यह है कि घटना-क्रम अस्तित्व की 'वास्तविक वस्तुएँ' नहीं हैं। वह सभी पदार्थों के परम अस्तित्व का स्पष्ट खण्डन करता है। वस्तुओं के निज-अस्तित्व के बिलकुल भी न होने की अवधारणा को 'शून्यता' (खालीपन) कहा जाता है। यह निष्कर्ष दो दावों से निकला है—(1) सब कुछ क्षणिक घटनाओं का प्रवाह मात्र है (संस्कृत में इसे 'क्षण' कहा गया है), और (2) ये क्षण एक के बाद दूसरे क्षण की सतत् प्रवाहमान धारा में बँधे हैं, अर्थात् प्रत्येक क्षण का वास्तव में कोई अलग अस्तित्व है ही नहीं।

यह दावा कि ये सब क्षणिक प्रासंगिक अस्तित्व एक दूसरे से पैदा होते हैं, को सह-उत्पत्ति आश्रित सिद्धान्त (dependent co-arising—प्रतीत्य-समुत्पाद जिनमें पहला कारण या मूल कारण अथवा अकारण कारण का न होना हो) के नाम से जाना जाता है। क्योंकि क्षणिक घटनाएँ टिकती नहीं हैं इसलिए प्रत्येक क्षण एक अलग इकाई है। भूतकाल, वर्तमान और भविष्य के सभी क्षण इन्द्रजाल के रूपक की तरह एक दूसरे पर अनजाने में ही आश्रित हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक पल बाकी सभी पलों के कारण हैं और इसीलिए किसी भी क्षण का अपना कोई अलग अस्तित्व नहीं है। सभी घटनाएँ, क्षण और वस्तुएँ इसी तरह से जुड़ी हुई हैं और सभी घटना-क्रम एक-दूसरे को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं, भले ही वे समय या स्थान की दृष्टि से

कितने ही समीप या दूर क्यों न हों। कोई भी पृथक वस्तुएँ या प्रक्रियाएँ सम्भव नहीं हैं, इसलिए वस्तुओं का अलग अस्तित्व नहीं है।

प्रत्येक व्यक्ति का हर अनुभव कार्य-कारण रूप में समूचे ब्रह्माण्ड से जुड़ा हुआ है और इस प्रकार सभी जीव आपस में जुड़े हुए हैं। सह-उत्पत्ति आश्रित सिद्धान्त की परिकल्पना दो प्रतिमानों से की जा सकती है—अनन्त रेखीय श्रृंखलाबद्ध प्रतिक्रियाएँ और परस्पर चक्राकार श्रृंखलाबद्ध प्रतिक्रियाएँ। दोनों ही प्रतिमानों में सब कुछ एक दूसरे पर निर्भर हैं। बुद्ध ने घोषित किया था कि सभी अस्तित्वों को कार्य-कारण की प्रक्रियाओं से परस्पर जोड़ने की अवधारणा ही एकमात्र सच्चा सार्वभौम नियम है और यह बिना किसी शासक के स्वतन्त्र रूप से स्वचालित है। किसी बुद्ध ने अवतार ले कर ऐसा कहा हो या नहीं, पर यह सार्वभौम नियम है।

यह परम सत्य की बौद्ध अभिव्यक्ति है। यह ब्रह्म जैसी अवधारणा पर आधारित नहीं है क्योंकि बौद्ध धर्मावलम्बी किसी व्यक्तिगत अथवा अवैयक्तिक ईश्वर को नहीं मानते जो सचमुच ही सभी से अपना पृथक अस्तित्व रखता हो। 'परम सत्य' क्षणिक प्रकरणों का यही विराट नृत्य है।

जिसे हम सामान्य तौर पर 'संसार' कहते हैं और जिसे दार्शनिक 'सांसारिक अस्तित्व' कहते हैं वह बौद्ध धर्म में भी 'संसार' के नाम से जाना जाता है और यह मात्र घटनाओं की ऐसी धारा है जहाँ किसी भी घटना का कोई अलग अस्तित्व नहीं है। इसका अर्थ है कि किसी भी वस्तु का अस्तित्व या आत्म-प्रकृति नहीं है, यहाँ तक कि कोई भूमिका भी नहीं जो 'परम सत्य' को आधार देता हो। इसलिए मूल-माध्यमिका-कारिका (नागार्जुन रचित एक प्रमुख बौद्ध ग्रन्थ जिन्हें बुद्ध के बाद सबसे अग्रणी दार्शनिक माना जाता है) के सबसे पहले श्लोक में कहा गया हैं—''न तो स्वयं से, न किसी दूसरे से, न ही दोनों से और न बिना किसी कारण के कुछ भी उत्पन्न होता है।''[7]

'कर्म और फल' का कर्म सिद्धान्त बिना किसी सृष्टिकर्ता या इस परस्पर निर्भरता के जाल के बाहर की किसी इकाई के सहारे ही संचालित होता है। प्रत्येक प्रकरण कारणों के इसी जाल के अन्दर से ही उत्पन्न होता है, इसलिए कोई भी पृथक अथवा अप्रासंगिक (स्वतन्त्र) प्रकरण सम्भव नहीं है। यहाँ तक कि 'परम सत्य' शब्द का उपयोग भी मैं केवल इस परस्पर-निर्भरता के अनन्त जाल की ओर इंगित करने हेतु कर रहा हूँ, क्योंकि बौद्ध ज़ोर देते हैं कि परम सत्य अपने-आप में सर्वथा रिक्त (अर्थात् स्व-अस्तित्व से रहित) है। अन्यथा इसे एक तरह से अव्यक्तिगत ईश्वर के रूप में उपयोग किया जा सकता और यह पृथक अस्तित्व वाला बिना-कारण कारण बन सकता है।

सभी मानसिक प्रक्रियाएँ भी परस्पर-निर्भरता की वास्तविकता में सम्मिलित रहती हैं। शान्त एवं स्थिर मन से आत्म-निरीक्षण का अभ्यास (विपासना) बौद्ध योगी को मानसिक तत्वों के प्रवाह और उनकी परस्पर क्रियाओं को देखने में सक्षम बनाता है।

स्पष्ट समझ (सांप्रजन्य) से मानसिक प्रक्रियाओं का तटस्थ अवलोकन और आत्मनिरीक्षण सम्भव हो पाता है। अपने से ही अस्तित्व में दिखते हुए आन्तरिक और बाहरी प्रकरण जब गहरी अन्तर्दृष्टि से देखे जाते हैं तब वे मिश्रित (अंशों से बने) और कारणात्मक (अन्तर्निहित कारण-युक्त) पाये जाते हैं। इसका अर्थ है कि वे स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में नहीं हैं। फिर यह प्रक्रिया विभिन्न अंशों के परीक्षण के लिए प्रयोग की जाती है और वही मिश्रित प्रकृति पाई जाती है। योगी की अन्तर्दृष्टि किसी भी प्रकार की अन्तिम मूलभूत ईकाई (अणु) नहीं दिखाती, चाहे वह भौतिक, मानसिक अथवा भावनात्मक हो। प्रत्येक ऐसी अणुरूप ईकाई में अन्य इकाइयाँ एवं प्रक्रियाएँ निहित हैं जो क्रमश: दूसरों पर निर्भर रहती हैं। इकाइयों पर निर्भरता की यह अनन्त श्रृंखला किसी भी स्वतन्त्र अस्तित्व (जैसे ईश्वर) पर समाप्त नहीं होती।

इस रिक्तता को बहुधा-उद्धरित बौद्ध कहावत में अभिव्यक्त किया गया है—''सभी प्रकरण स्व-रहित, रिक्त और सार-रहित होते हैं।'' एक अन्य कथन इस विचार को विस्तारपूर्वक बताता है—''जो भी निर्भरता में उत्पन्न हुआ है वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता। और क्योंकि सभी परतन्त्र हैं इसलिए किसी का स्व-अस्तित्व नहीं है।''[10] शून्यता और सह-उत्पत्ति समकक्ष माने जाते हैं।

नागार्जुन ने 'अ-तात्विक' और 'अ-सार' के बौद्ध सिद्धान्त को पदार्थ (द्रव्य), अस्तित्व (सत), आत्म-प्रकृति या सार (स्व-भाव), विशेषता (लक्षण) और कारणत्व की समीक्षा की अवाधारणा के साथ-साथ अपनी भाषात्मक समालोचना द्वारा आगे बढ़ाया। उन्होंने निम्नलिखित सिद्धान्तों की स्थापना की।

> पहला, उन दार्शनिकों ने जिन्होंने कुछ मान्यताओं और पूर्वधारणाओं को अनदेखा किया है, उन्होंने मौलिक रूप से सार-रहित और अस्तित्व की कारणात्मकता की निर्भर प्रकृति पर पर्दा डाला है। मुख्य अपराधी व्यक्तियों की आत्म-प्रकृति और प्रकरणों की अवधारणा है।
>
> दूसरा, 'अस्तित्व, अस्तित्व-विहीन, दोनों अथवा एक भी नहीं' के चार विकल्पों (चतुष्कोटि) के तर्क को सभी प्रकरणों और इकाइयों पर—यहाँ तक कि बुद्ध और निर्वाण पर भी—समान रूप से लागू करके नागार्जुन ने सभी अवधारणाओं की विरोधाभासी प्रकृति और भाषा की सीमाओं को उजागर किया।
>
> तीसरा, 'खालीपन (शून्यता) सभी इकाइयों को नकारती है' की प्रचलित अवधारणा के विपरीत उन्होंने प्रस्तावित किया कि शून्यता सभी अस्तित्वों की प्राकृतिक स्थिति है क्योंकि वे परस्पर निर्भरता से सह-उत्पन्न होते हैं और इसलिए स्व-अस्तित्व-विहीन हैं।

अन्त में, यहाँ तक कि शून्यता और सह-उत्पत्ति निर्भरता की अवधारणाओं को भी उसी समालोचना से गुजरना पड़ेगा, नहीं तो वे स्वतन्त्र अस्तित्व जैसा मूर्तरूप ले लेंगे।

उन्होंने शून्यता को सभी दृष्टिकोणों के प्रतिकार के रूप में प्रस्तावित किया, न कि दूसरों के ऊपर एक श्रेष्ठ स्व-अस्तित्व सिद्धान्त के रूप में। शून्यता स्व-प्रकृति से रिक्त है जिसमें शून्यता-सिद्धान्त जैसे विचार और नियम भी सम्मिलित हैं।

उन आलोचकों को जिन्होंने उन पर शून्यतावाद का आरोप लगाया, नागार्जुन ने इंगित किया कि यदि वस्तुएँ वास्तविक रूप से अस्तित्व में होतीं तो वे आपस में क्रियाशील नहीं हो सकती थीं। केवल शून्यता और सह-उत्पत्ति निर्भरता के सन्दर्भ में ही पारस्परिक क्रिया और परस्पर-निर्भरता सम्भव है (इस बारे में विस्तृत स्पष्टीकरण आगे दिये गये उपशीर्षक 'मध्यम मार्ग' (The Middle Path) में देखें)।

बुद्ध और नागार्जुन का अभिप्राय: शून्यता की अवधारणा के अस्तित्व को स्थापित करना नहीं, अन्यथा वह अपने स्व-अस्तित्व वाली एक 'वस्तु' हो जायेगी। इसलिए वे ज़ोर देते हैं कि 'शून्यता रिक्त है,' अर्थात् शून्यता की अवधारणा ही अपने-आप में स्वतन्त्र अस्तित्व-विहीन है। दूसरे शब्दों में, शून्यता कोई ऐसी ईकाई नहीं है जिसे एक प्रकार के असाधारण परलोक की तरह संसार से ऊँचा माना जाये, बल्कि यह तो केवल प्रकरणों की परम प्रकृति है। इस पर पारम्परिक बौद्ध दृष्टिकोण इस प्रकार है—''शून्यता प्रकरणों को रिक्त नहीं करती, क्योंकि प्रकरण स्वयं ही रिक्त हैं।''[11] 'परम सत्य' परस्पर निर्भरता के जाल के बाहर के कार्यक्षेत्र की कोई अन्य वास्तविकता नहीं है, बल्कि सार और तत्वों सम्बन्धी प्रचलित बोधात्मक सोच को शनैः शनैः ऐसी सोच में बदलने वाला सिद्धान्त है जिसमें ऐसी कोई भी इकाइयाँ अपने से ही अस्तित्व में नहीं हैं।[12]

बुद्ध बताते हैं कि सभी शिक्षाएँ मुक्ति का द्वार खोलने के लिए हैं, न कि ग्रहण करने के लिए और इन्हें अपरिवर्तनशील नहीं बनाना चाहिए।[13] एक प्रसिद्ध कथन है कि ''अधर्म का तो क्या कहना व्यक्ति को धर्म का भी परित्याग कर देना चाहिए।'' मुक्ति के विचारों को भी उसी तरह छोड़ देना चाहिए जिस प्रकार उद्देश्य की पूर्ति के पश्चात बेड़े को छोड़ दिया जाता है। नागार्जुन कहते हैं—''जिनमें शून्यता के सहज अस्तित्व का विचार हावी है वे असाध्य हैं।''[14] दूसरे शब्दों में, शून्यता को एक तरह की 'चैतन्य स्थिति' या एक वस्तु जो स्वयं अस्तित्व में है, मान कर उससे चिपके रहना एक प्रकार से झूठ से चिपके रहने जैसा है।

'दुःख' शब्द को सामान्यतः पश्चिमी अर्थ में 'पीड़ा' के रूप में गलत अनुवादित किया जाता है। यह अनुवाद अपर्याप्त है। दुःख वह मानवीय स्थिति है जिसमें व्यक्ति संसार और स्वयं को स्व-अस्तित्व इकाइयों के रूप में देखता है। इस संज्ञानात्मक दोष के कारण हम वस्तुओं से आसक्त हो कर उन्हें पाने की इच्छा करते हैं। इन इच्छाओं की पूर्ति असम्भव है, क्योंकि (तृप्ति के लिए) जिन्हें हम पाने का प्रयत्न करते हैं वे अस्तित्व में हैं ही नहीं। क्योंकि प्रत्येक वस्तु जिसका हमें भान होता है वह सबके साथ परस्पर आश्रित है, इसलिए किसी वस्तु को पृथक करके प्राप्त करना असम्भव है। यहाँ तक कि अस्मिता जिन वस्तुओं को पाने की लालसा करती है वे भी

अन्ततोगत्वा अस्तित्वहीन हैं और इसलिए उसको सन्तुष्ट करने का प्रयास व्यर्थ है। प्रबुद्ध व्यक्ति त्रुटिपूर्ण विचारों से उत्पन्न हुईं कष्टकर भावनाओं और दुःखों से मुक्त रहता है।

दो सत्य और सन्दर्भ

सभी प्रकरण परस्पर निर्भरता में उत्पन्न होते हैं और इसलिए सारतत्व से रहित हैं; वे केवल सापेक्ष्य रूप से अस्तित्व में हैं। अन्तिम अर्थ में ये समझ से बाहर हैं क्योंकि स्व-प्रकृति का अभाव इन्हें सभी व्यक्तिगत विशेषताओं से रहित बनाता है। यह यथास्थिति ही वैचारिक वर्णनों से रहित परम वास्तविकता है। इसलिए सापेक्ष्य अस्तित्व को समझने के लिए तथ्यों को दो वास्तविकताओं (सापेक्ष्य और अन्तिम) के सन्दर्भ में समझना होगा। ‘‘धर्म इन दो वास्तविकताओं पर आधारित है— सांसारिक परम्परागत वास्तविकता तथा श्रेष्ठ परम वास्तविकता।’’[15] सापेक्ष्य वास्तविकता का क्षेत्र भाषा और अवधारणा का क्षेत्र है जोकि मूल रूप में अस्तित्वहीन है और परस्पर निर्भरता की अनन्त श्रृंखला का विषय है। परम सत्य ‘‘शान्तिपूर्ण है, मानसिक संरचनाओं द्वारा गढ़ा हुआ नहीं, न ही सोचा हुआ और न ही विशिष्टताओं के साथ’’।[16] इसलिए विवरणों के सन्दर्भों की पहचान करना महत्वपूर्ण है जो सापेक्ष्य या परम वास्तविकताओं से सम्बन्ध स्थापित कर पायें। यदि ऐसा नहीं किया गया तो फिर भ्रम और विरोधाभास उत्पन्न होगा।

मध्य मार्ग

रिक्तता ही परिवर्तन और क्रिया को सम्भव बनाती है। नागार्जुन इस बात को समझाते हुए कहते हैं कि सार के होते हुए अस्तित्व अर्थहीन है क्योंकि तब परिवर्तन असम्भव होगा। अनिवार्यतावादियों की सत्ता मीमांसा में क्रियाएँ सम्भव नहीं हैं क्योंकि वस्तुओं के स्वाभाविक व्यक्तिगत अस्तित्व की अवधारणा उन्हें सम्भव बनाने वाली परस्पर क्रियाओं और निर्भरता को रोकेगी। दूसरे शब्दों में, यदि प्रकरण रिक्त न हो कर स्वाभाविक रूप से विद्यमान होते तो परिवर्तन की कोई सम्भावना न होती और ब्रह्माण्ड स्थायी रूप से जड़ और अपरिवर्तनशील होता। अत: रिक्तता और सह-उत्पत्ति निर्भरता ही प्रकरणों के अस्तित्व की सच्ची कसौटी हैं, न कि उनका स्व-अस्तित्व। वे कहते हैं, ‘‘यदि सार होगा तो समूचा संसार अजन्मा, अचल और जड़ ही रह जायेगा। पूरा संसार अपरिवर्तनीय होगा।’’ नागार्जुन का सभी कृत्रिम एकताओं के लिए यह बड़ा झटका है, क्योंकि वे पृथक तत्वों को ले कर एकता को खोजते हैं।

उन अनिवार्यवादियों के लिए जो रिक्तता को भूल से शून्यवादी और उसे क्रियाशीलता का अन्त मानते हैं, नागार्जुन यह खण्डन प्रस्तुत करते हैं—‘‘यदि रिक्तता को अस्वीकार कर दिया जाये तो कोई भी क्रिया उपयुक्त नहीं होगी। तब कोई भी क्रिया जो प्रारम्भ न हुई हो नहीं हो सकेगी और बिना क्रिया के कारक प्रस्तुत रहेगा।’’[17]

और फिर यदि (यह संसार) रिक्त न होता तब क्रिया बिना किसी लाभ के होती। ऐसी स्थिति में दु:ख को समाप्त करने और क्लेश तथा अपवित्रता को मिटाने का कार्य ही नहीं हो सकेगा।[18]

नागार्जुन स्पष्ट करते हैं कि 'अन्य इकाइयों पर निर्भरता से जो भी सृजन होता है उसे हम रिक्तता के रूप में समझ सकते हैं। यह नाममात्र का अस्तित्व है और यही वास्तव में मध्यमार्ग है'।[19] मध्य अवस्था का अर्थ है कि प्रकरण नाममात्र को अस्तित्व में है और न तो अस्तित्व की और न ही अस्तित्वहीनता की अवधारणा वस्तुओं की वास्तविकता पर लागू होती है। वे संक्षेप में कहते हैं—''ऐसा कहना कि 'यह है,' स्थिरता को पकड़ने जैसा है। जबकि ऐसा कहना कि 'यह नहीं है,' शून्यवाद के दृष्टिकोण को अपनाने जैसा है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति ऐसा नहीं कहता कि 'अस्तित्व है' अथवा 'अस्तित्व नहीं है'।''[20]

अपने पहले प्रवचन में बुद्ध ने मध्यमार्ग के नैतिक तात्पर्यों की व्याख्या करते हुए बताया था कि यह मार्ग सुख सम्बन्धी कामुक आत्म-भोग तथा स्व-पीड़नयुक्त आत्म-पीड़ा की पराकाष्ठाओं के बीच का रास्ता है।[21] इस सिद्धान्त का दार्शनिक प्रतिरूप समर्थन और असहमति के छोरों को त्यागता है, एक स्थायित्व के दृष्टिकोण की ओर जाते हुए है जबकि दूसरा शून्यवादी दृष्टिकोण की ओर।[22] यह मध्यमार्ग का तर्क है जो चरम स्थितियों को टालता है। अत: 'दु:ख' क्या है, इसका कारण क्या है और इसे समाप्त करने का मार्ग क्या हो, यह समझ दार्शनिक सूत्र नहीं बल्कि व्यावहारिक है, अर्थात् परिवर्तन के उद्देश्य के लिए है।

सनातन अस्तित्ववादी इकाइयाँ और शून्यवाद की दो चरम अवस्थाएँ मनुष्य के मानस में जड़ें जमाये हुए हैं। वे अपने को केवल सामान्य जीवन में ही व्यक्त नहीं करते बल्कि होने और न होने की दार्शनिक अवधारणाओं में भी करते हैं, जैसे 'है' और 'नहीं है।' बुद्ध अज्ञानियों के अन्तर्निहित मनोविज्ञान को सम्बोधित करते हैं जो हैरानी और सन्देह से उस समय भ्रमित होते हैं जब अस्तित्व और अस्तित्वहीनता की अवधारणाओं के अनुसार वस्तुएँ अन्ततोगत्वा वास्तविकता के अनुरूप नहीं होतीं। अतिवादी दृष्टिकोण की कठिनाइयों से बचने के लिए व्यक्ति को सभी प्रकरणों की सह-उत्पत्ति निर्भरता की प्रकृति को समझना चाहिए।

कुशल साधन—सन्दर्भों का व्यावहारिक उपयोग

दो सच्चाइयों के होते बौद्ध मार्ग की सन्दर्भशील प्रकृति 'कुशल साधन' नामक एक व्यावहारिक विधि को इंगित करती है।[23] बुद्ध बताते हैं कि उपदेशों को व्यक्ति की बुद्धि और योग्यता तथा समय, स्थान और परिस्थिति की प्रकृति के अनुरूप निर्धारित किया जाता है। उदारता, नैतिकता और धर्म के क्रमिक निर्देश की अध्यापन-कला का उपयोग व्यक्ति के स्तर के अनुरूप अध्यापन के कई स्तरों से गुजरता है।

क्योंकि मोक्ष की आशा रखने वाले चेतन प्राणियों की संख्या अनन्त है, इसलिए मोक्ष के साधन भी अनन्त होने चाहिए और जब जीवों का स्वभाव, क्षमता, योग्यता और भ्रम भी अनन्त रूप से विविध हैं तो बोधिसत्व को भी प्रत्येक मामले के लिए उपयुक्त व्यक्तिगत साधन पर विचार करना होगा। यह बोधिसत्व के सामने एक कठिन चुनौती प्रस्तुत करता है जो एक प्रबुद्ध गुरु हैं, जिन्होंने यह वचन दिया है कि जब तक प्रत्येक जीव दुखों से मुक्त नहीं हो जाता तब तक वे जन्म लेते रहेंगे। मात्र सार्वभौमिक करुणा पर्याप्त नहीं है जब यह केवल भावनाओं और आवेगों पर उतर आती है।

व्यक्तियों और प्रकरणों की आत्म-प्रकृति की रिक्तता के विषय में बोधिसत्व को अपने विवेक का प्रयोग करना चाहिए। अन्ततः कुछ व्यक्तियों का उद्धार नहीं होना है क्योंकि स्वयं, व्यक्ति और जीवन सभी वैचारिक सृजन हैं जो प्रक्रियाओं को जड़ बना कर स्थायी तत्व बनाने के परिणाम हैं। फिर भी चेतनशील जीवों के दुखों के प्रति अपनी महान करुणा के कारण वे एक भी प्राणी का परित्याग नहीं करते, यद्यपि सभी जीव सत्य के सापेक्ष्य स्तर पर ही अस्तित्व में हैं। यदि वे 'चेतनशील जीव' की अवधारणा को लक्षित करते तो वह उन की सहायता करने में एक बाधा बन जाता। 'जीवों का अस्तित्व नहीं है' के परम सत्य को उन्हें अपनी महान करुणा के सापेक्ष्य सत्य से लगातार सन्तुलित करना पड़ेगा। प्रत्येक व्यक्ति के सन्दर्भ में उन्हें व्यक्तिगत रूप से उचित उपचारों का उपयोग करना पड़ेगा।

तर्क की चतुष्कोटी

अपने गहन दार्शनिक कौशल और तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा नागार्जुन ने एकता सम्बन्धी समस्या के प्रति अपना स्वयं का दृष्टिकोण विकसित किया और भिन्नता तथा समानता को कैसे ठीक से समझा जाये के प्रति गहरी समझ की दृढ़ नींव रखी। वास्तविकता को पर्याप्त रूप से किसी आंशिक दृष्टिकोण से बताया या समझा नहीं जा सकता और समग्र ज्ञान के लिए विविध दृष्टिकोणों पर विचार करना आवश्यक है, यद्यपि वास्तविकता अन्ततः किसी भी चरित्र-चित्रण से परे है। तर्क के ये सभी रूप केवल ग़ैर-अनिवार्यतावाद तथा ग़ैर-विशिष्टतावाद की चौखट के अन्तर्गत ही समझे जा सकते हैं। भारतीय तर्कशास्त्र में विरोधाभास और (अरस्तुवादी) बहिष्कृत मध्य के सिद्धान्त केवल समयानुसार और सन्दर्भशील स्थितियों में ही लागू किये जाते हैं, न कि पश्चिमी दर्शन के पूर्ण-निर्धारित और निरंकुश तरीके की तरह। दूसरे शब्दों में, अस्मिता-सम्बन्धी प्रत्येक शिक्षा के लिए समय, स्थान, परिस्थिति और मध्यस्थ के प्रति संवेदनशीलता आवश्यक है।

बुद्ध के 'अनात्म' के मूलभूत सिद्धान्त की शिक्षा के विषय में नागार्जुन एक चौंकाने वाला वक्तव्य देते हैं कि "अस्मिता के होने के बारे में शिक्षा दी गई और बुद्ध के अनात्म सिद्धान्त के साथ-साथ न ही आत्म और न ही अनात्म की भी शिक्षा दी गई

है।''[24] इस प्रकार ऐसा लगता है कि जो बिलकुल विरोधाभासी सिद्धान्त हैं उन्हें सिखाया जाता है। व्यक्ति की अवस्था के अनुसार विरोधाभास के चरम छोरों में से प्रत्येक छोर का उपयोगी स्थान हो सकता है और किसी छोर को भी सभी परिस्थितियों में पूर्ण रूप से ख़ारिज नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक भौतिकवादी जैसे अतिवादियों के लिए जो अस्मिता के प्रति शून्यवादी दृष्टिकोण रखते हैं, आत्म-अवधारणा की पारम्परिक उपयोगिता पर ज़ोर देना 'कुशल साधन' है। आधुनिक मनोविज्ञान इसे अस्मिता के संज्ञानात्मक बेसुरेपन और उसके विखण्डन को रोकने के लिए अहम के सकारात्मक विकास के रूप में मानता है जो आगे चल कर मानसिक बीमारी बन सकती है। इसके विपरीत जो आत्मा को मूर्त रूप देना चाहते हैं उन्हें उनकी अनिवार्यतावादी सोच के प्रतिकार के लिए अनात्म के सिद्धान्त की शिक्षा दी जाती है। नागार्जुन इंगित करते हैं कि आत्म अथवा अनात्म की धुरियों से भी अधिक गहरा सत्य विद्यमान है। यदि किसी को आश्चर्य हो कि ऐसा कैसे तर्कसंगत हो सकता है तो उसे यह समझने के लिए सही/गलत के उस द्वि-आधारी तर्क के परे जाना होगा जिससे हम परिचित हैं।

अधिकांश भारतीय धार्मिक दर्शनों में भारतीय शास्त्रीय तर्क, विशेषकर नागार्जुन से जुड़े सम्प्रदायों में, किसी भी प्रस्ताव को चार सम्भावनाओं अथवा चरम छोरों के एक चौखट के रूप में देखता है (पूर्व उल्लिखित चतुष्कोटि)। चार सम्भावनाएँ हैं— सत्य (और झूठ नहीं); असत्य (और सच नहीं); दोनों सत्य और असत्यय और न ही सत्य है और न ही झूठ। भारतीय तर्कशास्त्र एवं तत्व-ज्ञान प्रणालियाँ प्रत्येक समस्या को इन चार विकल्पों में विभाजित करती हैं, न कि केवल सही/गलत में। इन चारों सम्भावनाओं को स्वीकार या अस्वीकार करने से पहले प्रत्येक का विश्लेषण करने की आवश्यकता पड़ती है। बौद्ध धर्म ने इन सदियों पुरानी चार-वैकल्पिक प्रणालियों को परिष्कृत करके औपचारिक रूप दिया।[25] इसे व्यावहारिक परिस्थितियों में सन्दर्भशीलता उत्पन्न करने में प्रयोग किया जाता है। सभीतार्किक विकल्पों को समाप्त करने के किये तर्क-शास्त्रीय यन्त्र के रूप में बौद्ध धर्म की इस चतुष्कोटि का उपयोग किया जाता है। यह दृष्टिकोण शून्यता की रिक्तता के सिद्धान्त से जुड़ा हुआ है, अर्थात् शून्यता की अवधारणा का भी अमूर्तिकरण। क्योंकि अस्मिता और अनात्म दोनों ही व्यावहारिक उपाधियाँ हैं, अत: उनसे जो कुछ भी सम्बन्धित होगा वह भी व्यावहारिक होगा।

तत्व-ज्ञान के चरम दृष्टिकोणों के प्रतिकार के लिए अस्मिता के चारों विकल्पों का प्रत्येक सिद्धान्त विश्लेषणात्मक और व्यावहारिक रूप से लागू किया जा सकता है। हालाँकि इनमें से कोई भी दृष्टिकोण किसी वास्तविक ईकाई को सन्दर्भित नहीं करता जो विश्लेषण द्वारा दिख सकता हो।

हिन्दू और बौद्ध धर्म में अस्मिता की अवधारणाएँ

ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म में व्यक्तिपरकता और चेतना की अवधारणा को समाप्त करने के लिए अस्मिता को पाँच समूहों में विखण्डित किया गया—आकार (रूप), भावना (वेदना), संज्ञान (संजना), मानसिक संरचना (संस्कार) और चेतना (विजनान)। इसके 'अनात्म' के सिद्धान्त को हिन्दुओं के भारी प्रतिरोध का सामना करना पड़ा क्योंकि यह ग़ैर-बौद्ध अस्मिता (आत्मा) और पुरुष (परमात्मा) के भारतीय दार्शनिक विचारों से पूर्णतया भिन्न है और उनका खण्डन करता है। इस परिप्रेक्ष्य में तीखी बहस के केन्द्र सार (स्वभाव) तथा अस्तित्व (सदभाव) सम्बन्धी प्रश्न थे। आत्मनिरीक्षण और विश्लेषण द्वारा बौद्धों ने तर्क दिया कि अस्मिता मिश्रित है और निर्भरता से उत्पन्न हुई है और इसलिए एक आकस्मिक और क्षणिक घटना है।

परन्तु भारतीय दर्शन में दूसरी प्रणालियाँ भी हैं जो मनोवैज्ञानिक अहम् (अहंकार) के लिए इसी तरह के अवास्तविक तर्क देती हैं, यद्यपि तत्व-ज्ञान विषयक अहम् के लिए नहीं। उदाहरण के लिए पतंजलि अनुभवजन्य चेतना के मनोवेगीय सिद्धान्त (केवल संरचनात्मक नहीं) को प्रतिपादित करते हुए यह तर्क देते हैं कि मन और मानसिक प्रक्रियाएँ उस समय रुक (चित्त-वृत्ति-निरोध) जाती हैं जब दृष्टा (पुरुष) और दृष्टि की शक्ति (दृग-दृष्य-विवेक) को अलग किया जाता है। विचार (जिन्हें वृत्ति कहा गया है) उस समय समाप्त हो जाते हैं जब पुरुष की शुद्ध चेतना स्वयं में ही समा जाती है। यह अवधारणा बौद्ध धर्म के उस दृष्टिकोण के समरूप है जिसके अनुसार बुद्धि की वास्तविक प्रकृति निष्कलंक और चमकीली होती है, परन्तु आकस्मिक प्रदूषण के कारण धुँधली पड़ जाती है।

वेदान्त में भी मनोवैज्ञानिक अस्मिता गलत पहचान से उत्पन्न प्रकरण है; जब सही ज्ञान प्राप्त होता है तब रस्सी को साँप समझने जैसा भ्रम समाप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त आत्मा के पंचकोष में होने के वेदान्त-सिद्धान्त के समकक्ष पाँच समूहों (पंच-स्कंध) से बना तथाकथित बौद्ध सिद्धान्त है।

जैन धर्म—परस्पर सम्मान के विविध दृष्टिकोण

जैन धर्म की गहरी जड़ें प्राचीन भारत में हैं और इसने कई शताब्दियों तक अपना महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है। हालाँकि इसका वैश्विक दृष्टिकोण अन्य भारतीय धार्मिक परम्पराओं से भिन्न है, फिर भी हिन्दू और बौद्ध सम्प्रदायों में पायी जाने वाली अभिन्न एकता इसमें भी पाई जाती है।

जैन धर्म का एक प्रमुख सिद्धान्त यह कहता है कि वास्तविकता व्यक्तिपरक है, क्योंकि यह सापेक्ष्य न कि स्थिर दृष्टिकोणों द्वारा समझी जाती है। इसे 'नयस का सिद्धान्त' कहा जाता है। 'नय' वह सन्दर्भ बिन्दु है जिस से निर्णय किये जाते हैं। कुल सात प्रकार के 'नय' हैं और किसी एक वस्तु के गुणों को चिह्नित करने के लिए इन सभी का उपयोग किया जाता है।[26] यह 'अनेकान्तवाद' के सिद्धान्त की ओर ले जाता

है जिसके अनुसार निष्कषों को विविध दृष्टिकोणों को ध्यान में रख कर निकलना चाहिए।

इनमें से प्रत्येक दृष्टिकोण सन्दर्भ और व्यक्ति की पृष्ठभूमि से निर्धारित होता है। इसलिए जैन धर्म का एक और महत्वपूर्ण सिद्धान्त कहता है कि समस्त ज्ञान केवल सम्भावित (शायद-वाद) या आंशिक है। जिसे हम पूर्ण सत्य अथवा व्यावहारिक ज्ञान मानते हैं, उसके आरम्भ में आवश्यक रूप से 'शायद,' 'सम्भवत:,' 'कारणवश' जैसी अवधारणाएँ जोड़नी पड़ेंगी। यहाँ निहितार्थ यह है कि समस्त ज्ञान दृष्टा के सन्दर्भ में सापेक्ष्य या आकस्मिक होता है जिससे पूर्ण विवरण देना असम्भव है।

'शायद-वाद' और 'अनेकान्त-वाद' के ये विचार जैन धर्म की प्रासंगिक एवं ग़ैर-निरंकुशतावादी दृष्टिकोण के आधार हैं। अत: जैन धर्म उस दृष्टिकोण की प्रणालियों का विरोध करता है जो वास्तविकता को केवल एक निश्चित प्रकृति का होने का दावा करते हैं। ऐसी प्रणालियों को 'एकान्तवाद' नाम से सन्दर्भित किया गया। अरस्तूवादी (Aristotelian) तर्क तथा बाइबल की अद्बितीयता इस प्रकार की निश्चित प्रकृति के मुख्य उदाहरण हैं। 'नय' सिद्धान्त में वर्णित वास्तविकता के अनेकों रूप किसी के बारे में भी स्पष्ट समर्थन या असहमति व्यक्त करने नहीं देते, क्योंकि वास्तविकता की प्रकृति इतनी जटिल है कि उसे किसी एक परिभाषा या विशेषण में नहीं बाँधा जा सकता। 'परम सत्य' को उसी मुक्त आत्मा द्वारा समझा जा सकता है जो सभी सम्भावनाओं पर एक साथ विचार करने की क्षमता रखता हो।

आलोचकों ने तर्क दिया है कि इस सिद्धान्त से किसी एक प्रकरण के बारे में विरोधाभासी परिणाम मिलते हैं। जैनियों का उत्तर है कि इन विरोधाभासों से केवल तभी बचा जा सकता है जब विवरणों को विविध दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया जाये जिससे किसी एकतरफ़ा या विशेषाधिकार प्राप्त दृष्टिकोण के बजाय व्यापक परिदृश्य प्राप्त हों। जैन तर्क यह मानता है कि एक ही वस्तु, एक ही अर्थ, एक ही स्थान और समय के बारे में विरोधाभासी विवरण अस्वीकार्य हैं। दिये गये सन्दर्भ में किसी वस्तु के बारे में विसंगतियाँ केवल विभिन्न दृष्टिकोणों के विचारों में ही हो सकती हैं। जैन तर्कशास्त्री इस पूर्वधारणा पर टिके हैं कि कोई 'परिशुद्ध सारतत्व' नहीं है और विरोधाभास सम्बन्धी आरोप उस पर लगाते हैं जो यह दावा करता है कि उसी का दृष्टिकोण सन्दर्भ-मुक्त और परिशुद्ध है।

इस प्रकार जैन तर्कशास्त्र, बौद्ध धर्म का माध्यमिका तर्कशास्त्र तथा विभिन्न हिन्दू धर्म तर्क-प्रणालियाँ उस सन्दर्भ पर बल देती हैं जिसमें वास्तविकताओं को जाना जा सकता है। प्रत्येक प्रणाली योग, ध्यान और उनसे जुड़ी हुई साधनाओं द्वारा इन सन्दर्भों के बन्धन से पार होने का मार्ग भी प्रस्तुत करती हैं। जहाँ तक इन्हें 'परम और पूर्ण सत्य' जैसा प्रस्तुत करने का प्रश्न है, अरस्तूवादी के बहिष्कृत मध्य के सिद्धान्त और बाइबल की अद्बितीयता की तानाशाही को धार्मिक तर्क स्पष्ट रूप से अस्वीकार करते हैं।

परिशिष्ट ख

धार्मिक एवं इब्राहमी परम्पराओं की पद्धतियों का प्रणालीय ढाँचा

भारतीय धार्मिक तत्वमीमांसा को वास्तुकला के एक ऐसे ढाँचे की तरह माना जा सकता है जिसमें समान सिद्धान्तों, प्रतीकों तथा तकनीकों को मानने वाले उन विभिन्न सम्प्रदायों को समाया हुआ देखा जा सकता है जो चेतना के उच्च स्तरों तक पहुँचने के लिए रचे गये हैं। इसकी कोई सटीक परिभाषा देना निःसन्देह ही असम्भव है, क्योंकि भारतीय धर्म सिद्धान्तों एवं योग की तकनीकों का वृहत समूह है।

यह पुस्तक मेरे पिछले दो दशकों की जिज्ञासा का परिणाम है जिसके द्वारा मैंने भारतीय धार्मिक संरचना को उसके लचीलेपन और विविधता के साथ न्याय करते हुए परिभाषित करने और उसकी विशिष्टता को नकारने वाले समानतावादी दृष्टिकोण से बचने का प्रयास किया है।

कोई भी बहुत प्रकार के संघटक जैसे डिस्क ड्राइव, स्क्रीन, ऑपरेटिंग सॉफ़्टवेयर, मेमोरी कार्ड, प्रिण्टर इत्यादि को चुन कर विभिन्न प्रकार के संगणकों (computers) का निर्माण कर सकता है। प्रत्येक प्रकार का संघटक विभिन्न विशेषताओं के साथ विविध विक्रेताओं से उपलब्ध है, उदाहरण के लिए विभिन्न प्रकार की स्क्रीन। इसलिए संघटकों का मेल करके कोई भी अनगिनत सम्भावित तरीकों से पूर्ण रूप से व्यवस्थित तन्त्र-प्रणालियों का निर्माण कर सकता है, हालाँकि सभी निर्धारित समान मानक और संरचना से युक्त हैं। उदाहरण के लिए किसी निर्माता की स्क्रीन को दूसरे के की-बोर्ड से मिलाया जा सकता है।

कुछ 'अपने से करने वाले' कर्मठ प्रबुद्ध उपभोक्ता ऐसे भी हैं जो संघटकों का चयन करके संगणक बना लेते हैं। दूसरे लोग विश्वसनीय विक्रेता—सिस्टम इंटीग्रेटर— द्वारा बने-बनाये संगणक पर निर्भर रहने को अधिक पसन्द करते हैं जो अपने उपभोक्ता के अनुकूल संघटकों का चयन करके पूरी प्रणाली तैयार करता है।

'सिस्टम इंटीग्रेटर' एक मध्यस्थ है जो अपने ग्राहकों के बहुत से जटिल विकल्पों की चयन प्रक्रियाओं और दुविधाओं को सरल बनाता है। उसकी भूमिका तिहरी होती है : (1) संघटकों का चयन करके पूरी प्रणाली का निर्माण करना, (2) प्रणाली को स्थापित करना, और (3) उसकी पहचान के लिए एक व्यापारिक नाम देना।

हिन्दू सम्प्रदाय अथवा कोई व्यक्तिगत गुरु प्रणालियों को जोड़ने वाला (systems integrator) है जो किसी भक्त के आध्यात्मिक जीवन के उपयुक्त विभिन्न संघटकों का चयन करके उन्हें 'समाधान-परक पूर्ण तन्त्र' (total system solution) के रूप में संयोजित करता है। वह दीक्षा एवं प्रशिक्षण द्वारा ऐसा करता है और सहयोग जारी रखता है। बहुत से सम्प्रदाय व्यापारिक नामों (brand name) जैसे हैं, क्योंकि वे

निश्चित प्रतीकों, पोशाक के तरीके आदि से चित्रित और पहचाने जाते हैं। इस नमूने के आधार पर हम भारतीय धर्म-परम्परा को इस प्रकार दिखा सकते हैं—

(क) व्यक्ति के सांसारिक जीवन हेतु मार्गदर्शन के साथ-साथ आध्यात्मिक खोज के लिए खुली संरचना—नये आपूर्तिकर्ताओं द्वारा समय के साथसाथ बहुत सारे और नये विकल्प जोड़े जाते हैं।

(ख) व्यक्तिगत पसन्द पर आधारित विविध प्रकार के संघटक, जो संरचना के अनुरूप हैं, का जोड़ा जाना। व्यक्ति अपने 'इष्टदेवता' और अन्य देवताओं, कर्म-काण्ड, सप्ताह में किस दिन व्रत रखना है (यदि रखना चाहे तो), तीर्थस्थलों, उत्सवों, पवित्र ग्रन्थों, ब्रह्माण्डीय दृष्टिकोण इत्यादि का चयन कर सकता है। विविध प्रकार के संघटक जो इस संरचना के अनुरूप होते हैं, बहुलता प्रदान करते हैं और प्रत्येक सामाजिक सन्दर्भ एवं काल के अनुसार बहुत से संघटक निर्मित किये जाते हैं।

(ग) सम्प्रदायों द्वारा उपलब्ध 'पहले से ही तैयार' (pre-packaged) धार्मिक प्रणालियाँ जिनमें से प्रत्येक सम्पूर्ण-जीवन का समाधान प्रदान करती हैं। यह उस साधक के लिए है जो उपलब्ध विकल्पों में से स्वयं का आध्यात्मिक मार्ग नहीं चुनना चाहता या चुन ही नहीं सकता।

(घ) प्रबुद्ध साधक के लिए 'अपने से करो' (do-it-yourself) वाला विकल्प जो सभी आपूर्तिकर्ताओं से परहेज करता है। इस विकल्प के साथ काम करने के लिए इस साधक को अपनी साधना में परिपक्व होना पड़ेगा।

(च) विविध शोध एवं विकास प्रतिष्ठान (व्यक्तिगत या सम्प्रदाय) समय-समय पर नये विचार और पद्धतियों को सामने ला कर सबके लिए उपलब्ध करवाते हैं। बहुत से नवाचार असफल हो जाते हैं जबकि कुछ सफल भी होते हैं।

(छ) अन्तर्जाल (Internet) की तरह इस धर्म प्रणाली का कोई केन्द्र, मालिक या संस्थापक नहीं है और वैकल्पिक प्रस्ताव सदैव तर्क-वितर्क और परिवर्तन से गुजरते रहते हैं। यहाँ ऐसा कोई भी शक्ति-केन्द्र नहीं है जिसने सभी भारतीय धार्मिक साधकों के लिए कभी भी 'क्या सही है' का निर्णय किया हो। कोई भी अन्य विकल्पों को ख़त्म करने में सक्षम नहीं हो सका है। अस्वीकृत अवयवों को नष्ट करने (जैसे पुस्तकों को जलाने) का कोई इतिहास नहीं रहा है; जब साधकों द्वारा नये अवयवों को अपना लिया जाता है तो पुराने अपने आप ही धुँधले पड़ जाते हैं। उपभोक्ताओं और आपूर्तिकर्ताओं का बाज़ार हमेशा सक्रिय रहा है और धार्मिक शासकों द्वारा निरंकुश शक्ति के प्रयोग से कुछ भी नहीं सुलझाया जा सका है।

(ज) इस खुली संरचना वाली प्रणाली का सफलता से उपयोग करने के लिए उसके इतिहास का अध्ययन करना आवश्यक नहीं है, वैसे ही जैसे अन्तर्जाल (Internet) किसने बनाया और इसके प्रारम्भ होने की दूसरी सामान्य बातें।

ऐसी संस्कृति का बहुत से नवाचारों द्वारा सतत् पुनर्निमाण होता रहता है जो अप्रत्याशित तरीकों और स्थानों में प्रकट होते रहते हैं। यह प्रणाली स्वयं-संशोधित और अनुकूलित होती रहती है और किसी इतिहास-विशेष की अनिवार्यता तथा दीर्घकालिक अद्वितीयता की समस्याओं से बची रहती है। जटिल प्रश्नों के सम्भव एवं विविध उत्तरों के प्रति खुलेपन की भावना के कारण ही भारतीय धर्म की अवधारणा में बहुलतावाद की जड़ें गहरी समायी हुई हैं।

यहूदी-ईसाई मतों में मौलिक शोध एवं विकास-प्रक्रिया के अभाव के कारण इस हद तक बदलने की और इसी तरह के विकल्प और खुलापन प्रदान करने की क्षमता नहीं है। जैसा कि हमने देखा है, वे यह विश्वास नहीं करते कि सत्य के प्राथमिक सिद्धान्तों की खोज व्यक्ति स्वयं कर सकता है; इसीलिए विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाओं के दावे करने की उनकी विवशता है।

अपनी इस संकीर्ण मनोवृति के कारण वे बल देते हैं कि उनके उत्पाद के अतिरिक्त बाकी सब अनुचित हैं, एक एकाधिकारवादी व्यवहार। उनके पास वैसे साधन और तकनीकें नहीं हैं जैसी कि भारतीय धार्मिक परम्पराओं ने कई शताब्दियों के प्रयासों से विकसित की हैं। जहाँ एक ओर भारतीय धार्मिक परम्पराएँ अमरीका-स्थित सिलिकॉन वैली (Silicon Valley) की नवीनता और स्वतन्त्रता लिए हुए हैं, वहीं यहूदी-ईसाई मत नियन्त्रित और सरकार द्वारा चलाये जाने वाले एकाधिकारवादी चलन जैसे प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार सोवियत संघ एक ही हवाई कम्पनी (airline), एक ही प्रकार की कार, एक ही दन्तमंजन इत्यादि की अनुमति देने पर विश्वास करते थे (जबकि असलियत यह है कि उपभोक्ता की कई आवश्यकताएँ होती हैं) उसी प्रकार अधिकांश ईसाई लोग पन्थ को एक ही पद्धति से जानने की अनुमति देने पर विश्वास करते हैं; बहुत-सी यहूदी परम्पराएँ भी ऐसा ही करती हैं। जिस प्रकार ईसाई संस्थानों ने आध्यात्मिक साधकों (अर्थात शोध एवं विकास-प्रक्रिया की प्रयोगशालाएँ जहाँ नई पद्धतियों की खोज होती है और पुरानी को चुनौती दी जाती है) पर एक-तरफ़ा प्रतिबन्ध लगाये हैं, उसी प्रकार सोवियत शासकों ने उद्योग उपक्रम की अनुमति नहीं दी, क्योंकि इससे उनके एकाधिपत्य को ख़तरा पैदा होता।

लचीलापन गम्भीर चुनौतियों का सामना करके आता है। हिन्दू और बौद्ध धर्म में एक नहीं बल्कि अनेकों ग्रन्थ हैं और प्रत्येक एक ही प्रश्न का अलग-अलग समाधान प्रस्तुत करते हैं। तो यह प्रश्न खड़ा होता है—जब यहाँ ऐसे मामलों में मध्यस्थता करने और निर्देश देने के लिए कोई एक आधिकारिक सत्ता नहीं है तो फिर साधक सही

पुस्तक का चुनाव या सही साधना करने का निर्णय कैसे करे? इसका उत्तर यह है कि धार्मिक परम्पराओं में कम-से-कम तीन विकल्प हैं जिनमें से साधक विशेष परिस्थिति के लिए 'नैतिक क्या है' का निर्णय कर सकता है—ये हैं शास्त्र, साधना-परम्परा (सम्प्रदाय अथवा गुरु) और अपनी साधना से चेतना के उच्च स्तर को प्राप्त करना। धार्मिक परम्पराओं में ऐसे कोई नैतिकता के स्थापित सूत्र नहीं है जिन्हें बिना देखे-समझे 'सार्वभौमिक' माना जा सके।

हिन्दू नैतिकता के इस प्रासंगिक आधार (अत्यधिक उत्तर-आधुनिक विचार) को स्थापित करना बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि ईसाई मत-प्रचारकों की मुख्य आलोचना यह है कि हिन्दू धर्म नैतिक सापेक्ष्यवाद (moral relativism) से पीड़ित है। सापेक्ष्यवाद के इस आरोप को प्राय: ऐसे तरीकों से व्यक्त किया जाता है जिससे वह गलतफ़हमी में वास्तविक लगे, जैसे लाखों देवता, ढेर सारे शास्त्र, बहुत से गुरु, पूर्ण स्वतन्त्रता इत्यादि। धर्म की प्रासंगिक प्रकृति की चर्चा अध्याय चार में की गई है।

NOTES

Introduction

1 The term ‘Abrahamic religions’ is often used when Judaism, Christianity and Islam are all to be referred to as a group.

1: The Audacity of Difference

1 (Friedman 2005).

2 As a recent example of such views, here is what the New York Times wrote: ‘… culture … has only atomized lately as a consequence of the very same globalizing forces that purportedly threaten to homogenize everything. […] Nationalism, regionalism and tribalism are all on the rise. Societies are splitting even as they share more common goods and attributes than ever before. Culture is increasingly an instrument to divide and differentiate communities.’ (Kimmelman 2010: 19).

3 (Weiming n.d.). Also see (Liu 2003).

4 The scholar was Jay Garfield, and we had this discussion at the Vedanta Congress in the summer of 2009 at the University of Massachusetts, Dartmouth. A concrete example showing the importance of preserving difference is that of healing systems throughout the world. Each brings something useful to the table because of its distinct models and approaches. Western medicine, Indian Ayurveda and yoga, and Chinese medicine and acupuncture all provide unique solutions for certain types of diseases and wellness management. Yet none can be properly mapped onto another’s framework without compromise. What is needed is not a cut-and-paste insertion of these practices into a Western model of medicine but an understanding of the integrity and utility of each system’s own model and the philosophy behind it, so as to give it a place alongside Western systems.

5 Tolerance became a serious topic of discussion in Christianity only in the sixteenth and seventeenth centuries in response to the Wars of Religion, which started following the Protestant Reformation.

6 (Ratzinger 2000).

7 For details on the Emory Inter-Religious Council, see: (Emory InterReligious Council n.d.).

8 She was joined by Prof. Deepika Bahri, who had recently been appointed director of the Asian Studies Program. This was Emory’s response to severe criticism of its Hindu-phobia, offered in the hope that Bahri’s soft-spoken nature, Indian language skills, and Hindu name would placate Hindu parents who had protested against Emory. (Ramaswamy, Nicolas and Banerjee 2007).

9 For instance, when asked about what happened to Mahatma Gandhi after his death, theologians of some Christian denominations insist that Gandhi went to Hell because he was not Christian. For examples of such interpretations, see: (Weiss 2007).

10 The other question I asked the dean was: ‘How would you balance between respect for a religion on the one hand and academic freedom on the other, especially when a professor at your university claims that Ganesha’s trunk symbolizes “a limp phallus”, that he has “an appetite for oral sex”, and that Shiva is a “notorious womanizer”?’ (For details on this anti-Hinduism scandal at her university, see: www.invadingthesacred.com.) The dean was pleasant but evasive, remarking that these important questions had to be ‘considered’ but that there were ‘no easy answers’.

11 (Haag 2008, Oct/Nov, 2-3).

12 To take only one example, Christians, from the Spanish conquistadores to the Protestant Puritan settlers, supported and even encouraged the genocide of Native Americans. The conquistadores believed that the Native Americans were related to them in the same way that children were to adults, women were to men, and savages or wild beasts were to civilized people. Since their weakness led them to worship 'false gods' and promote heathen practices, they had to be either forcibly converted or killed outright. These projects of eradication resulted in the elimination of whole cultures. Slavery and colonization were sometimes rationalized by church officials, though, of course, economic motives were always present. Such practices are deplored today in politically correct circles, and yet the underlying religious and philosophical rationales for them remain, for the most part, unchallenged and unchanged.

13 (Balslev 1991).

14 (Balslev 1991).

15 Rorty claims that 'freedom and equality are the West's most important legacy', to which he arrogantly adds: 'I do not have philosophical backup for this claim, and do not feel the need of any.' The West, Rorty writes, 'has created a culture of social hope' which makes it 'a culture of experimentation' for bringing about 'drastic change in the way things are done'. In other words, it is politically progressive. This he contrasts with India's 'consensus that the conditions of human life are and always will be frustrating and difficult.' He goes on to describe India in patronizing tones as the 'high culture of a peaceful society' that wants to remain stuck under 'priests' and 'sages.' A visit to India convinces him that India is 'a country whose native traditions have little to do with the Western hopes of freer and more equal future generations.' (Balslev 1991: 17–25).

16 For a detailed discussion on how Indian philosophy has been marginalized in the American academy, see: (Shruti 2005).

17 Concerning Indian contributions to mathematics, Albert Einstein, a great admirer of Indian scientific achievements, philosophy and spirituality, is quoted as saying: 'We owe a lot to Indians who taught us how to count, without which no worthwhile scientific discovery could have been made.' In a similar vein, the British historian of India Grant Duff says: 'Many of the advances in the sciences that we consider today to have been made in Europe were in fact made in India centuries ago.' The influential American writer Mark Twain travelled extensively in India and spoke broadly about the achievements of ancient India. He said: 'India is the cradle of the human race, the birthplace of human speech, the mother of history, the grandmother of legend, the great grandmother of tradition. Our most valuable and most constructive materials in the history of man are treasured up in India only.' The popular American historian Will Durant echoes Mark Twain's admiration for Indian achievements in his Story of Civilization: 'India was the mother of our race and Sanskrit, the mother of Europe's languages. India was the mother of our philosophy, of much of our mathematics, of the ideals embodied in Christianity, … of self-government and democracy. In many ways India is the mother of us all.' For these and other quotations on the same theme, see: (sciforums.com 2001).

18 (Balslev 1991: 53).

19 (Todorov 1999: 308).

20 Even today the Catholic Church sees itself as the new embodiment of Israel, the chosen people, with a mandate to establish the kingdom of heaven worldwide, even though this mandate is currently understood to recognize the separation of church and state. Furthermore, the Catholic Church has a history of violent, as well as non-violent, repression of heresy. The political dimension inherent in such evangelizing is especially apparent in the intimate and ongoing collusion between the churches and secular state power.

21 The Vatican Directive Prot. N. 802/69 dated 25 April 1969, Twelve Points of Inculturation, applies officially in India. The Kerala church has a new curriculum in every seminary for training its clergy which includes symbolic use of the Hindu tradition of sanyas, bhajans, the gurukul system and Varnashram. The church calls this 'Indianization' (Anathkrishnan 2007).

22 (Pearson 1990: 123).

23 In his Annual Letter of 1651, Father Antony Proenca pleaded with his readers: 'Among my readers, there will surely be some who could procure for us some lotion or ointment which could change the colour of our skin so that just as we have changed our dress, language, food and customs, we may also change our complexion and become like those around us with whom we live, thus making ourselves "all to all", Omnia Omnibus factus. It is not necessary that the colour should be very dark; the most suitable would be something between black and red or tawny. It would not matter if it could not be removed when once applied; we would willingly remain all our lives the "negroes" of Jesus Christ, A.M.D.G. [to the greater glory of God].' (Shourie n.d.).

24 (Samuel 2008). This Bible is called the New Community Bible.

25 (Malhotra and Neelakandan, Breaking India, 2011: 111–124).

26 There are many examples in popular culture of Indian mimicry due to inferiority complexes. The Times of India did a survey on the level of sexual satisfaction among its readers. Interestingly, the results were expressed in terms of 'world standards' on such things as frequency and ways of having sex. In their radio discussion on the survey, one female anxiously asked, 'Sir, how are we doing compared to world standards?' Critics have pointed out that auto manufacturers in India use Western anthropometric data, including details such as height, weight and key physical specifications of people who are likely to drive, or be driven around in, a car. In the absence of gathering Indian population data, car makers such as Maruti Suzuki India, Mahindra and Mahindra and Tata Motors rely on mannequins based on US, Japanese, European or Korean specifications. The American size of 6 ft and 75 kg does not suit Indian drivers in terms of brake and clutch operations. Women's dress size standards in Indian metropolitan cities are European or American sizes, and likewise for shoe sizes. Even in describing weather, many Indians writing in English refer to hot sunny days as 'nice days' and rain as 'bad weather', an attitude reflecting the context in England where it is often rainy and the sun hardly shines, but out of context for hot climates where rain is a blessing and a celebration by nature and culture alike. The use of first, middle and last names by Indians of today has replaced the traditional use of village name or jati name. The adoption of the Western calendar has similarly undermined the native festivals that corresponded to the Indian seasons and the agricultural roles performed, such as planting and harvesting. The lure of Hollywood Oscars overrides native criteria for popularity and success among many new elite movie producers of India. This follows the trend in written works by Indian authors who often cater to Western tastes and stereotypes about Indians. Organizations such as the South Asian Journalists Association (SAJA) cater to Indians' complex of feeling ignored. They make a big thing of Indians being invited by, included in, and even investigated by the American establishment as a mark of 'having arrived on the world stage'. I have discussed this issue of whiteness complexes among Indians in various articles, and there is extensive literature on the wider subject of whiteness written by American scholars, both black and white. See (Malhotra, Whiteness Studies and Implications for Indian-American Identity 2007). Many Indian intellectuals have a Hegelian fear of being left out of history, an issue taken up in Chapter 4. Later on, Karl Marx modified this linear history into stages defined by class structures. To qualify for the revolutions leading to utopia, his system demanded that the starting point be a feudal system, and from there his class struggle system would move

society forward. This led many Indian historians and social scientists to work hard at characterizing Indian society as feudal, in order not to be left out of history.

27 In a separate volume titled U-Turn Theory, I cite numerous examples of this kind of digestion of Indian civilization into the West and illustrate the effect of such a process over time.

28 There are numerous examples where the conquering civilization gets significantly modified. Early Christianity digested pagan and pre-Christian traditions, and this brought Christmas and the mother/son icon and various other rituals and symbols into Christianity. The conquest of the Native Americans by Europeans introduced new agricultural foods into the rest of the world, including potatoes, tomatoes and corn. Similarly, Islam's expansion into India allowed it to serve as the bridge between India and Europe, because Islamic scholars translated major treatises on Indian mathematics, astronomy and botany and retransmitted these to Europe, adding fuel to the scientific revolution. European colonization of India brought cross-cultural fertilization, as the Europeans learned steel and textile manufacturing, agriculture, medicine and shipbuilding from India.

29 Hegel is a good example of such a thinker, as explained in Chapter 4.

30 It is interesting to note that in the early UN debates on the legal definition of genocide, the notion of cultural genocide was proposed initially but then dropped, and only physical genocide was declared a crime. See Article 7 of the 1994 draft (later this article was deleted): (Draft United Nations Declaration on the Rights of Indiginous Peoples 1994).

31 Readers who need a brief overview of the dharma philosophies mentioned in this section might benefit by reading Chapter 3 first and, for a deeper look, Appendix A.

32 Besides the US and the European Union, jurisdictions which remain highly nationalistic include Russia, China, Japan and the Arab states. Each has an overriding grand narrative rather than multiple competing narratives, as in the case of India.

33 (Sardar 1998).

34 (D. Horowitz 1967).

35 (Malhotra and Neelakandan, Breaking India, 2011) For a short article, see: (Malhotra, We, the Nation(s) of India, 2009).

36 The same scholars promote the divisive and separatist movements on behalf of Dalits, Dravidians and minority religions by constructing elaborate histories, religions, linguistic models and political identities for them. The methodology is not being used to deconstruct minority identities in the same way. For instance, one could question whether a genuine Dalit identity exists at all, given that this is a recent category and those said to belong to it are from thousands of separate jatis across hundreds of miles of distance, with little if any historical contact and no commonality of religion, language or customs. In other words, contrary to the ideals of deconstructing boundaries, in the case of Dalits, Dravidians and certain other groups, their boundaries have been recently constructed using imported theories. This practice is rife in the field known as subaltern studies.

37 (Said 1979).

38 (Marriott 1990).

39 (Ramanujan 1990).

40 (Fox 1986: 20). Subjecting Western epistemologies to the scrutiny of Western viewpoints and ways of knowing introduces what sociologist Richard Fox has called a measure of 'epistemic parity'.

2. Yoga: Freedom from History

1 (Sri Aurobindo: 'On Himself ', SABCL Vol.26, p.68). This is true even of Sikhism, which has a defined historical lineage of gurus but which does not claim that they are intermediaries in the individual practitioner's self-realization of liberation.

2 For example, ethnographic studies in Nepal, Orissa and other regions reveal that Puranic stories served as generic templates, which were localized for each place, time and context. Into these, tribal deities were incorporated, thus becoming part of the Hindu–Buddhist mainstream. These deities had narratives, songs and rituals, and a special relationship with each locality. This assimilation of communities respected cultural specificities and was never just a ploy to gain a foothold so as to erase local traditions later.

3 (Lannoy 1971: 292).

4 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: Essays on the Gita, 1997: 15).

5 This occurred around Diwali, after the events of 11th September 2001, as part of the state governor's programme to give state employees exposure to the major religions being practised in New Jersey. I was the featured speaker on Hinduism ('Diwali Celebration', 2001).

6 In Hinduism, for instance, the loss of history would never be permanent, as time is cyclical. The narrative goes as follows: After the dissolution of the universe, a new universe is manifested, and the first living being, Brahma, is self-born from a lotus flower which grows out of Vishnu's navel. After meditation for 1,000 celestial years, there manifests in his heart the Vedic knowledge and the knowledge for recreating the universe. This is when creation takes shape. Thus, the highest knowledge is again recoverable (but, it should be stressed, only by qualified persons).

7 An excellent example is the 'Pratyabhijna' doctrine of 'self-recognition' which its Kashmiri founder, Utpaladeva (early tenth century ce), promulgated explicitly as a new and easy method open to all (despite its hidden philosophical sophistication and claims to fulfil all the doctrines that came before). There was thought to be no contradiction between its being revealed by a human being for the first time in a specific place and the timeless validity of its core insights and teaching. Nor is there an undue sense of catastrophe over a particular tradition being irremediably lost over time.

8 (The New Oxford Annotated Bible with Apocrypha: New Revised Standard Version, 2010).

9 Ronald Inden wrote a book to illustrate that Indian history can be accurately discovered in reliable records. (Inden, Walters and Ali, Querying the Medieval: Texts and the History of Practices in South Asia, 2000).

10 In contrast to the approach to Indian antiquity, the West has a well-established discipline of biblical archaeology in the academy, and in the popular imagination, history is propagated in such places as the History Channel on television. For decades, serious scholarship has been seeking physical evidence to match biblical references. In the West, this endeavour is highly respected, whereas in India comparable efforts tend to get dismissed as chauvinism.

11 (Aurobindo, Letters on Yoga, 1970: 425–27). He is referring to the popular stories about Krishna, saying that these do not occur in space time and that they are always occurring and available for us to actualize on earth.

12 Sri Aurobindo wrote on the historicity of Krishna and Jesus as follows: 'The historicity of Krishna is of less spiritual importance and is not essential, but it has still a considerable value. It does not seem to me that there can be any reasonable doubt that Krishna the man was not a legend or a poetic invention but actually existed upon earth and played a part in the Indian past. Two facts emerge clearly, that he was regarded as an important spiritual figure, one whose spiritual illumination was recorded in one of the Upanishads, and that he was traditionally regarded as a

divine man, one worshipped after his death as a deity; this is apart from the story in the Mahabharata and the Puranas. There is no reason to suppose that the connection of his name with the development of the Bhagavata religion, an important current in the stream of Indian spirituality, was founded on a mere legend or poetic invention. The Mahabharata is a poem and not history, but it is clearly a poem founded on a great historical event, traditionally preserved in memory. Some of the figures connected with it, Dhritar Parikshit, for instance, certainly existed and the story of the part played by Krishna as leader, warrior and statesman can be accepted as probable in itself and, to all appearance, founded on a tradition which can be given a historical value and has not the air of a myth or a sheer poetical invention. That is as much as can be positively said from the point of view of the theoretical reason as to the historic figure of them, but in my view there is much more than that in it and I have always regarded the incarnation as a fact and accepted the historicity of Krishna as I accept the historicity of Christ' (Aurobindo, Letters on Yoga, 1970: 425–27).

13 Raimundo Panikkar (1918–2010), a recognized authority on both Hindu traditions and Roman Catholic theology, provides a perspective on the relationship of time, history and culture different from that proposed in Judeo-Christian religions. The vision that a people has of its own history, argues Panikkar, suggests how their tradition understands their past and assimilates it into the present. But a people's attitude to its history is determined less by written interpretations of that past than by their ways of life and how they relive or revisit it. India, for instance, has lived her memories of the past more through her epics than through the written records or documents of history. The lack of interest in literal historiography can be frustrating and upsetting to the Western mind. But the same Western mind, retorts Panikkar, fails to see that its own myths precisely are taken as history. (Panikkar 1979).

14 An award-winning book, Lies My Teacher Told Me: Everything Your American History Textbook Got Wrong (Loewen 1995), gives numerous examples of outright fallacious history which is taught in US schools and accepted as true by the public, especially as it pertains to centuries of encounters with Native Americans and African–Americans.

15 (M. King 1964: 147).

16 An arguable exception would be the Western 'stages' of civilization, such as archaic, magical, primitive, traditional, medieval, modern, and so on. These may not even be accurate in understanding Europe, yet they are being universalized and applied to all other civilizations. India does not neatly fit into these stages; it always has had many of the qualities of all such stages. For instance, Auguste Comte's Law of Three Stages of Knowledge states that knowledge in all branches necessarily passes through theological (animistic), philosophical (speculative) and scientific ('positive') stages. Each subsequent stage is superior, and old knowledge is always obsolete. He concludes that the West is ahead of, and superior to, all other civilizations. For more analysis, see the following article available on the Internet: 'Word as Weapon: The Polemically Charged Use of Terminology in Euro-American Discourse on Hinduism' (Morales 2002).

17 (Guha 2002: 71-72).

18 Not all Christians believe in this part of the Bible, which was controversial even when the canon was formed. Although it seemed a genuine vision from a highly authoritative source (John of Patmos), it inflamed dangerous sentiments and was susceptible to misapplications.

19 (Gibbs 2002: 46-47). Also see: (Biema 2002).

20 (Gibbs 2002: 42). Also see: (Biema 2002).

21 (Thurman, Inner Revolution 1999).

22 (Ibid.: 211-212).

23 (Ibid.: 275-277).

24 (Ibid: 176).

25 Avidya should not be equated with original sin in Abrahamic traditions. Avidya implies no particular failure of morality or disobedience to an external deity, but rather a cognitive limitation, to be overcome by each individual even if it takes many lifetimes to do so; sin is a state of moral corruption which does indeed lead to moral blindness but needs to be addressed by repentance in the practitioner and forgiveness from the divine.

26 Anindita Balslev refers to this form of scientific inquiry as 'second-order empiricism', a unique achievement of Indic traditions. (Private communication).

27 (Wallace 2002: 12).

28 (Wallace 2002: 13-14). Another Western scholar who has specialized in bringing dharmic principles and meditation to modern cognitive psychology is Eleanor Rosch Heider, professor of psychology at the University of California, Berkeley. For an overview by her, see: (Rosch 1997).

29 The insistence on apostolic succession in the Church is supposed to guarantee transmission directly from person to person back to the first disciples of Christ, and this may appear to be an exception here. But in fact it functions more as a support for institutional claims than as a way of guaranteeing an embodied transmission of spiritual experience.

30 The Indian notion of body is that it is the integral being: the physical, emotional, mental, psychic and spiritual bodies and many intermediate pranic bodies or parts and planes of the being, all interlinked with each other, with the atman seen as both transcendental and immanent in the self.

31 Initially, there were seven rishis known traditionally as belonging to the 'Northern list' (possibly referring to the stars in the northern constellation of Ursa Major): Gautama, Bhardwaja, Vishvamitra, Vashishtha, Kashyapa, Angiras and Jamadagni. Later, another list of seven rishis evolved, which is known as the 'Southern list' (possibly referring to the stars in the southern constellation of Carine): Bhrugu, Angiras, Marichi, Pulastya, Pulaha, Kratu and Atri.

32 Dattatreya is an interesting example of someone who combines many subtypes. He is worshipped as a supreme deity by millions of Hindus. Originally a semi-divine rishi, he is ascribed great integrative force in the Markandeya Purana where he figures as the essence of Brahma, Vishnu and Shiva. His enormous fame as a great guru and yogi establishes links with Buddhism (identified as Devadatta in the syncretic milieu of Nepal) and Jainism (as Digambara; identified with Tirthamkara Neminatha). Dattatreya co-mingles even with popular Sufi saints from the medieval period onwards. The three-faced Dattatreya icon of the guru, yogi and avatar (divine incarnation) stands as an impressive paradigm of the eclectic and integrative quality of dharma and its ahistorical quality.

33 Anguttara Nikaya (1.18).

34 Digha Nikaya (1.3).

35 This is also different from the Western secular notion of a set of propositions based solely on reason, which exist independently of any consciousness. In Indian thought, the possibility of truth being ultimately independent of consciousness and separable from it does not arise. Everything that appears to be unconscious is also only a form of consciousness and is situated within consciousness itself and is not apart from it.

36 Certain Indian ascetic groups also treat the body in a similar manner, but this is seen as a means to transcendence, not an innate evil caused by something akin to original sin.

37 The foundational texts of Indian ethics involve animal stories (the original source of Aesop's fables and later those of Lafontaine) taught to children to illustrate simple moral precepts within concrete pragmatic contexts. What is particularly striking is that there are often tales that illustrate diametrically opposite moral lessons. For example, one demonstrates that even an injured tiger cannot change its carnivorous nature, whereas another shows how a crow is able to overcome its nature in order to befriend a mouse. Indian children were thus taught contextual ethics without being forced to assimilate rules of moral conduct by catechism.

38 Furthermore, these transgressions may be contrasted with the rigid unforgiving (but nevertheless often transgressed) morals prevalent in Judeo-Christian ethics, as well as with the nihilistic relativism of postmodern ethics.

39 Modern Bible scholarship amply demonstrates this. A major example is what is called the 'Johanine comma', an emendation in the text of one of the New Testament letters to emphasize the doctrine of the Trinity, which was known but went unremarked for years until the Higher Criticism (the school of Bible interpretation generated by German historicism) discovered it and made a point of it in the nineteenth and twentieth centuries.

40 Textual hermeneutics and the intellectual discrimination it fosters ('bauddha-jnana' in Kashmir Shaivism) operate within the context of the transmission ('from mouth to mouth' or 'mukhat mukham') of embodied knowledge ('paurusha-jnana').

41 In certain Christian understandings, especially that of Vatican II, the Church is absolutely and unconditionally the embodiment of Christ. See the work of the great Jesuit theologian, Henri De Lubac (Lubac 1988).

42 The Shankaracharya mathas are a rare exception of institutionalization that succeeded for a long time. But the Shankaracharya institutions do not control Hinduism in the same manner that the various churches may be said to control Christianity.

43 Actually, Abhinavagupta turns this insight on its head and treats the founders of the various traditions, including the Buddha, as not mere persons ('paurusheya') but as embodiments of such eternal knowledge.

44 I am indebted to William Pinch for reviewing an early version of my history-centrism thesis and sending me the following counter-example in an email in 2004: 'I am in general agreement with your emphasis on historicity in the Judeo-Christian-Islamic traditions … But I see historicity as emerging in Indic traditions as well, particularly among the bhakti saints – and I don't see this as a response of Western impact. You say that "Indians who claimed enlightenment using the ahistorical methods were glorified and honored as spiritual leaders during their lives, and often developed massive followings", and then turn to the bhakti saints and more recent figures as examples. A look at the Ramanandi sampraday, arguably the largest ascetic/monastic community in India (and certainly the largest Vaisnava order) and the crucible of most north-Indian bhakti hagiography, would appear to undercut this assertion, as would the Dasnami, the Saiva counterpart to Ramanandis. Both communities developed mass followings well after the samadhis of their founders – the Ramanandis in the sixteenth/seventeenth century, the Dasnamis in the fourteenth/fifteenth century. Those texts (Sankaradigvijayah and Bhaktamala) are fundamentally historical narratives. This is not to say that the method of enlightenment is not at work as well in these communities, but it is to say that history matters in a serious way to them.' In response to Pinch, I maintain that these examples merely show a history of lineages. They are not history-centric, because they do not claim God's unique intervention for all humanity through their specific lineages.

45 Among other things, because Vedic cosmology has always been much more time-and-space-oriented than Western cosmology (at least until recent science extended the vision of the latter), the

dharmic sense of what constitutes an epoch or period in time – a 'kalpa' – is much greater. Human events are often dwarfed in this expanded view.

46 A few examples will make this clear: (i) Gödel's theorems demonstrate that all the truths of common mathematical systems cannot be written in any language. Linguistic expression, including statements made in mathematics, is limited in the set of truths it could possibly state. (ii) Wittgenstein's theory of language as a game is built on problematizing the meanings of sentences and the limits of what may be represented. (iii) The quantum uncertainty principle applies to the uncertainty built into the state of all physical systems. (iv) Kant considered his transcendental realm and the notion of the noumenon to be outside the mind's capacity. (v) Various postmodernist philosophers refute any mental representation of an objective ultimate reality.

47 (Wallace 2002: 11-12).

48 Christianity's direct experience of God is called the 'beatific vision', which can only be achieved after death. The Catholic Encyclopedia defines it as: 'The immediate knowledge of God which the angelic spirits and the souls of the just enjoy in Heaven. It is called "vision" to distinguish it from the mediate knowledge of God which the human mind may attain in the present life. And since in beholding God face to face, the created intelligence finds perfect happiness, the vision is termed "beatific".' The vision implies a parent–child relation to God – not the classic dharma notion that we are God playing this human role. Besides, this beatific vision is available only after one dies and goes to heaven, not before. The Bible says God 'dwells in unapproachable light, whom no one has even seen or can see' (1 Timothy 6:16). Only in heaven does he reveal himself to us face to face (1 Corinthians 13:12; Matthew 5:8; Psalm 17:15).

49 (Wallace 2002: 3) cites the following: (Butler 1967, Burnaby 1991, Eckhart 1979).

50 (Wallace 2002: 3-4).

51 (Ibid.: 4).

52 (Wallace 2002: 12) cites the following: (James 1950, 416–24).

53 (Wallace 2002: 5-6).

54 The nature of this atonement is expressed in Bible verses such as: 'He himself bore our sins in his body on the tree, that we might die to sin and live to righteousness' (1 Pet 2:24) and 'For Christ also died for sins once for all, the righteous for the unrighteous, that he might bring us to God' (1 Pet. 3:18). There are variations of substitutionary theory, but they generally hold that atonement in Christ's death occurs in place of some consequence for humanity.

55 In the Judeo-Christian religions, every person can, to some extent, gain access to and know God. But the historical prophets' unique and extraordinary role is unavailable, which renders their historicity critical. There are many other (lesser) prophets who continue to emerge, but these do not create or alter the mandatory canons on which authority is based.

56 Jesus does say to those who claim superior knowledge of God through their biological and historical connection to Abraham: 'Do you not realize that God can raise up children to Abraham from these stones.' However, it is not the same thing as saying that yoga by itself (i.e., human 'purushartha', or effort) suffices. In other words, the dependence on God to do it would remain even after considering Jesus' remark.

57 A prominent theoretical physicist at Princeton's Institute for Advanced Studies made the counter-argument to me that the Big Bang was a unique event in which physicists believe, thereby making physics also history-centric. However, this argument is flawed: physicists believe in the Big Bang Theory not as a premise of physics (in the sense that Christians believe in Jesus' historicity as the premise for Salvation). Rather, the Big Bang Theory is a conclusion which is scientifically

derived, based on physical laws and empirical evidence which is verifiable today. Hence, the Big Bang Theory does not make physics history-centric: it is a result of physical theory and not a prerequisite belief or cause of it. Those who regard it as evidence of history-centrism are mixing causes and effects. However, the religious historicism that defines the individual's mission in the world in relation to God has in many ways been transposed onto, and still propels, the evolutionary approach to life on earth within a cosmic history extending from the Big Bang to some unknown destination.

58 In the context of his elaborate discussion of the nature and meaning of tradition ('agama'), Abhinavagupta, who is a great Hindu admirer of the Buddha, claims that the Buddha is ultimately not a historical person but rather a perennial ('a-paurusheya') spiritual principle which anyone can become, as it were, with proper effort. We see here the de-historicizing thrust deliberately at work within the core of the dharmic tradition.

59 This is a 1975 ecumenical version. (Creeds n.d.).

60 At least since the second Vatican Council (1962–65), official Catholic doctrines has held that God operates through every spiritual tradition, though not with the fullness found in Jesus (cf. the official conciliar document Lumen Gentium, Chapter II, Article 19). So one can tolerate other faiths, even respect them to some extent, but eventually they serve merely as preparation to become Christians in order to be saved.

61 A good example would be the split between the Roman Catholic and Orthodox Churches regarding the proper date of Easter, perhaps the most important liturgical event in the Christian calendar.

62 See especially the various works of René Guénon (1886–1951) which focus on aspects of initiatory paths and transmission and examine the problems posed by Christianity. These differences in tradition and context have been typically ignored or downplayed by Indic scholars, who have devoted entire theses to developing and emphasizing the similarities between, say, Shankara and Meister Eckhart.

63 Meister Eckhart, an exemplar of Christian mysticism, was not in any way interested in politics or the acquisition of power, unlike the more worldly priests. His one idea was the unity of the divine and the human, which seems natural from the dharma perspective but which was a threat to the church's dogma of a strict dualism between the human and the divine (a dogma which justifies a hierarchical ecclesiastical power structure). Eckhart was declared a heretic and persecuted by the church. At some point between 1327 and 1329, he died mysteriously while in church custody (Blakney 1941: xxiv).

64 For examples of how the West's claims to mysticism, inner sciences and spirituality in general have benefited from Indian influences, see the following works: (U. King 1980: Bruteau 1974; Overzee 1992; Coward, Jung and Eastern Traditions 1985; Coward, Yoga and Psychology 2002; Clarke 1997; Olson 2002; McEvilley 2001; Federici 1995; Kearns 1987). Also, (Roy, Pothen and Sunita 2003; Parkes 1987; Rajasekharaiah 1970; Wolters 1982; Pai 1985).

65 Here is how Eugene Taylor of Harvard describes Western mysticism: 'Indeed there is an unbroken tradition of mysticism which can be said to embody forms of meditative practice in the West – from the NeoPlatonists such as Plotinus, through the medieval mystics both early and late – Johannes Erigena, St. Bonaventure, John of the Cross, St. Teresa, St. Bernard of Clairvaux – followed by such personalities as Robert Parsons, Margaret Mary Alacoque, and Emanuel Swedenborg, to modern Christian contemplatives such as Teilhard de Chardin and Thomas Merton, and now Shlomo Carlbach, Bede Griffiths, and David Steindl-Rast.' Taylor then explains that the kind of meditation that is now spreading in America is distinctly Asian: '[M]editation per se should

be taken as a uniquely Asian phenomenon which, wholesale, has only recently come to the attention of the West. In its new Western context, particularly in the United States, however, it has undergone significant reformulation. In the U.S. it has become indigenized, so that now one can say that Asian forms of meditation have become thoroughly Americanized. (E. Taylor n.d.). Because of the weakness of an indigenous discourse of spiritual exploration in the West, Indian yoga and adhyatma, or the body of yogic techniques of spiritual realization of oneness with God, have had a major impact on contemporary Western paradigms, a matter I discuss extensively in my forthcoming book on the 'U-Turn Theory'.

66 For example: (a) The notion of the stream of consciousness in James's psychology is derived from the Buddhist characterization of consciousness metaphorically styled as a stream ('sota'). James's notion of a psychodynamic constellation of mind and mental states is patently the Buddhist conception of a central mental event ('mano, citta') accompanied by satellite mental states in ever-changing configurations. The Buddhist conception of mind and mental events posits (based on introspection, not speculation) a solar-system model of mind.

(b) Furthermore, James's signature idea of pragmatism, especially as applicable to metaphysics, is borrowed from the very anti-speculative methodology which is a cardinal and signature Buddhism. James's pragmatic axiom is closest to the Buddhist notion of 'artha-kriya', elaborated on by the Buddhist logic school of Dignaga and Dharmakirti. This is the central deconstructionist tenet of the Madhyamika school. James was under the tutelage of the Sri Lankan Buddhist scholar Anagarika Dharmapala (see note on Anagarika Dharmapala) and acknowledges his debt to him openly, though accounts of this are rarely acknowledged by present-generation biographers of James or historians of philosophy.

67 Anagarika Dharmapala (1864–1933) was a Sri Lankan (then Ceylonese) lay Buddhist who founded the Mahabodhi Society in 1891 to recover Buddhist management of the site of the Buddha's enlightenment at Bodh Gaya. He worked diligently for the revival of Buddhism in India and the restoration of its sacred sites. He has the distinction of being the first Buddhist scholar to teach on four continents: Asia, Europe, North America and Australia. He shared the honour of being invited to the World's Parliament of Religions in Chicago in 1893 with Swami Vivekananda, a watershed event in the introduction of Buddhism and Hinduism to the West. As a visiting scholar at Harvard during James's tenure, he exercised a significant influence over James, who acknowledged as much on a number of occasions in his article 'Yoga Psychology in the Schools: Some Insights from the Indian Tradition' (Salmon n.d.).

68 A compelling argument can be made that the system (theory-praxis) found in Patanjali's Yoga-Sutra offers greater depth and consistency than the tenets of Husserl's phenomenology. Also, Husserl's notion of 'lifeworld' may simply be equivalent to atman (god as embedded in the individual self) as understood in Dvaita Vedanta. Westerners like to describe it as a 'fundamental [belief] uncovered by Husserl', simply ignoring Indian traditions (Husserl 1999). These two systems are appropriately contrasted because they are comparable in their claims to have developed theories and methodologies, specifically epistemologies and praxes, adequate for grounding and comprehending all common sense and third-person scientific knowledge on one hand, and on the other, all metaphysical knowledge. Therefore, one should acknowledge Patanjali as one of the world's earliest systematic scholars of the mind sciences. His Yoga Sutra contains an elaborate theory and framework for understanding the mind, various practices for achieving specific states, and descriptions of what the practitioner experiences at each stage. But even prior to Patanjali, many Indian texts were based on the systematization of extensive inner experiences resulting from disciplined practices. Subsequently, many traditions emerged, each based on a systematic exploration of the mind.

69 Much of this resistance takes the form of what I have called the U-Turn, an initial immersion in one or another dharmic perspective followed by a relapse into more familiar contexts.

70 Many dharmic traditions, including primarily Hindu ones, stress the purity of the body and the need for cleansing. For the most part, however, this purity does not have to do with any imputed original sin, or indeed sin of any kind.

71 The Pratyabhijna school of bhakti mysticism, for example, explicitly justifies image worship as a deliberate projection of the creative Self onto an external support to facilitate meditation and inner transformation. See Chapter 5

on the difference between images in dharma and idolatry.

72 (Second Hindu–Jewish Leadership Summit Declaration, Israel 2008).

73 Ethnographic reports, especially those by Christian missionaries in India, of involuntary 'possession' during village festivals and other religious occasions, have served only to reinforce such stereotyped perceptions of Hindu spirituality as a whole, even of yogic techniques which are a mode of self-purification.

74 In Judaism, the Shekinah is the female principle of God, but the elaborate philosophy, practice and lineages of this spiritual practice and tradition are lost. At the same time, it is to be acknowledged that the dharma ideal is too often not implemented by society, as for instance, when women are not allowed in certain temple spaces.

75 Susan Jeffords has argued that American notions of masculinity have remained opposed to femininity, and hence the feminine qualities are to be discarded or at least contained in order for the masculine qualities to manifest properly (Jeffords 1989: xii).

76 There are other body fetishes peculiar to Christianity. In many biblical interpretations, the human body is to be resurrected at the End Times and shall live forever in Heaven along with one's family and friends. The resulting cohesiveness within a given group and anxiety towards others have perhaps been a factor in the scandalous fact that the American church remains far more racially segregated even today than businesses, government or schools. Also, many Christians believe that fixing up the body before burial, locating the dead body in a good cemetery, etc., are all worth the effort because we will all live happily forever in Heaven in these bodies. Bereavement often entails accepting that one's departed relative has entered Heaven where he waits for the rest of the family to rejoin him – sort of like one member of a tour group going ahead of the others to make the arrangements and then wait for the rest to join up. A relative of mine who converted to Mormonism is desperately trying to convert not only his children in the US but also his parents and relatives back in India, as he is convinced that this will ensure that the family is joined happily in Heaven.

3. Integral Unity and Synthetic Unity

1 (Organ 1970: 339).

2 Translation: 'That is purna. This is purna. Purna comes from purna. Take purna from purna, still purna remains' (Brihadaranyaka Upanishad, 5.1.1).

3 The Australian philosopher David John Chalmers refers to the 'hard problem of consciousness', which raises the question of how consciousness can arise out of inanimate processes comprising the chemistry of the brain. This question has persisted despite numerous speculative theories.

4 David Loy also explains that the differences between Advaita Vedanta and Madhyamika Buddhism are not of such a kind as to make them incompatible. (Loy, Nonduality: A Study in Comparative Philosophy, 1988).

5 It is important here to underscore panentheism (with the en in the middle) which is not to be confused with 'pantheism' (without the 'en' in the middle). The former signifies the immanent nature of God without a transcendent spirit, whereas the latter is nature worship characteristic of many pagan faiths, at least as characterized by their opponents. Panentheism refers to the world as God and at the same time God remaining transcendent. This dual character of God is central to integral unity. God is the unchangeable transcendent and also everything that exists, and hence ever in flux. Charles Hartshorne, a prominent philosopher and theologian, introduced the term 'panentheism' into the Western lexicon after his detailed study of Hindu metaphysics in the 1930s (especially Ramanuja and Sri Jiva Goswami).

6 Mahayana Buddhism denies any such bifurcation: 'There is no specifiable difference whatever between nirvana and the everyday world; there is no specifiable difference whatever between the ever yday world and nir vana.' (Mulamadhyamikakarika, 25:19)

7 (Organ 1970: 104).

8 Christian theologians hold that immanence was always there; the essence of Jesus as immanent pre-exists his incarnation as one member of the eternal trinity of God. His incarnation merely manifested it. In mainstream Judaism and Islam, God is most often seen as transcendent but not immanent.

9 Sri Aurobindo writes: 'The pairs of opposites successively taken up by the Upanishad and resolved are, in the order of their succession: 1) the Conscious Lord and phenomenal Nature, 2) renunciation and enjoyment, 3) action in nature and freedom in the soul, 4) the one stable Brahman and the multiple movement, 5) being and becoming, 6) the active Lord and the indifferent Akshara Brahman, 7) vidya and avidya, 8) birth and non-birth, 9) works and knowledge.' (The Collected Works of Sri, Aurobindo: Isha Upanishad, Vol. 17, 2003, p. 85)

10 The West's synthetic unity may be linked to the premise of nominalism as conceived by William of Ockham (1288–1348), one of the church's major figures of medieval thought. The theologian Servais Théodore Pinckaers (1925– 2008) explains: 'For Ockham, there is absolute separation between God and the world. God created the world, but he remains a stranger to it. There is no symbiosis between the world and God. The two realities are isolated in their respective existence. Moreover, this is nothing but the consequence of the radical insularity of all beings' (Pinckaers 2005: 141).

11 The mantra is: 'brihaddhi jaalam brihatah shakrasya vaajinivatah' (8.8.6). 'ayam loko jaalamaasit shakrasya mahato mahaan' (8.8.8). It was later adopted by the Mahayana Buddhists in the third-century scriptures of the Avatamsaka Sutra to illustrate the principle of mutual interrelatedness and interpenetration of parts and wholes. The formal logic of this principle was further worked out between the sixth and eighth centuries in the Huayan school of Chinese Buddhism known as Kegon in Japan.

12 Michael Talbot started as a science fiction writer who later integrated many Indian ideas which he had learned via the works of other westerners such as physicist David Bohm, neurophysiologist Karl H. Pribram, and psychologist Stanislav Grof. All three had studied Indian thought for decades and later claimed originality in their 'independent' discovery of the nature of reality. Grof termed this 'holographic'. Talbot's most influential non-fiction books were Mysticism and the New Physics (1993), Beyond the Quantum (1988) and the Holographic Universe (1992).

13 (Hofstadter 1999).

14 'Purusha evedam sarvam yad bhutam yacca bhayam' – 'Purusha is all this, all that was, and all that shall be' (Rig Veda III.90.2). 'Pado asya vishva bhutani tripadasya'mritam divi' – 'He is

immanent in all this creation and yet he transcends it' (Rig Veda X.90.3).

15 According to some systems, there are 8,400,000 forms of flora and fauna, yet the emphasis is on the sense that one living unity comprises all these multiple living forms.

16 (Vatsyayan, The Square and the Circle of Indian Arts,1997).

17 For instance, the number 360, the nominal day count of the year, shows up as the 360 bones of the infant (which later fuse into the 206 bones of the adult); and various multiples of 360 include the Garbha Upanishad's statement that the body has 180 sutures and 900 sinews, and the Brihadaranyaka Upanishad's mentioning that the number of 'nadis' (subtle nerves for the flow of prana) is 72,000. Another central Vedic number is 108: The chain of 108 links is held together by 107 joints, which is the number of marmas, or weak spots of the body in Ayurveda. The Natya-Shastra speaks of the 108 karanas (movements of hand and feet in the vocabulary of dance.) There are 108 beads of the rosary ('japamala'), a tradition of the 108 names of divinity, and the number 108 appears in many other settings in the tradition, including temple architecture (Kak, 'Ritual, Masks, and Sacrifice', 2004).

18 (Kak, The Gods Within, 2002, 100-101).

19 In their book The Complementary Nature, J.A. Scott Kelso and David A. Engstrom compile numerous instances of complementarity across the sciences, humanities and arts, all the while referring to recent Western discoverers as 'pioneers' and to earlier Western thinkers as 'originators'. There is scarce mention of dharmic sources apart from vague and superficial references to 'eastern wisdom'. The authors do not bother to cite instances of Western thinkers (such as T.S. Eliot) who, by their own admission, were clearly influenced by dharmic culture or philosophy. Moreover, the terminology used is a combination of new-age and archaic Greek/biblical jargon (Kelso and Engstrom 2006).

20 Writing in (Dehejia 1996: vii).

21 (Tripurari 1998: 20-21). A different perspective is offered by Harsha Dehejia, a scholar who interprets Indian art as a non-devotional means for transcendence, calling this the advaita (non-dualism) of art (Dehejia 1996). He distinguishes between art as an expression of devotion to a personal God (that is to say, the artist as 'bhakta') and art that uses rasa as an expression of the movement toward transcendence (the artist as 'rasika'). Bharata, the ancient writer of Natya-Shastra, made this distinction implicitly between art in devotional and non-devotional ways, and later on, Abhinavagupta made it explicit. Thus, it can be said that classical Indian texts do not require worship as a criterion for attaining 'ananda', or the bliss of transcendence. In the sixteenth century, Sri Jiva Goswami introduced the category of 'bhakti-rasa' to clarify the distinction by emphasizing devotion to a personal deity. Thus, the equivalent of the secular/sacred distinction is available in the distinct approaches to ananda via art and devotion. The key point of difference with the West is that in dharma both art and devotion are based on common notions of integral unity with bandhus linking the manifest and unmanifest. This is why I disagree with Harsha Dehejia when he calls Indian aesthetics 'secular', for what is lost in secularism is the principle that all rasas are forms of one rasa and the ultimate rasa is a state of unity-consciousness, and also the related idea that all 'rupas' (forms) are a concretization of 'purusha'; in other words, the integral unity of forms that is accessible as rasa is lost in the strictly secular model. Western secularism lacks the un-manifest/manifest cosmological principle that makes the advaita of art possible. What happens is that the bandhu principle is compromised by many westerners who decontextualize the dharmic source and relocate it in a secular frame.

22 (Organ 1970: 172).

23 In Sanskrit grammar, temporal connectives and the dynamic relation of acts are seldom linearly articulated. A sequence of connected events, while it may be perceived linearly, is not valued in the same way as a non-linear pattern outside history (Lannoy 1971: 289).

24 In Samkhya theory, effects are latent in the cause. In Vedanta, Brahman becomes the world through a process of self-emanation. In the Buddhist doctrine of 'dependent arising', all effects are traced to prior causes, and the infinite series of prior causes consists of interdependent entities, each with momentary existence only.

25 Each Hindu deity is not an isolated, localized historical person but is present here and now as well. The rishis discovered these deities as cosmic intelligences and also discovered (or programmed) the mantras that allow humans to become quantum-entangled with them. Humans are linked with devatas; our unconscious and conscious layers are linked with one another. The genders, varnas, ashrams and jatis are templates which are interconnected in this way. Mantras are programs which tap into the cosmic memory, as it were. Rishis have done a lot of intense spiritual practice called 'tapasya' to uncover the reality and then develop a path through which we can link up to it as well.

26 Houses (containers) have mood and character and affect the fortune and moods of the dwellers. The village soil produces crops for the people but also affects their character. Richard Lannoy, a scholar of Indian civilization, explains: 'Food is believed to transmit certain qualities in the nature of the donor and the cook, besides (in the case of meat) "toxic" essences passed on from the psychophysiological system of an animal violently killed. Westerners, even when vegetarian, are regarded by the inmates of Brahman ashrams as not only polluting because of their imperfect dietary system, but [as] spiritually "retarded", because they have absorbed "toxic" substances through heredity, "bad" karma …' (Lannoy 1971: 151).

27 (Ramanujan 1990: 51). Also, musical instruments such as the veena have to be made on an auspicious day by members of a particular jati or family after observing certain austerities; the gourd from which it is made must come from specific places. The gunas of the substances affect the quality of the instrument, and hence of the music (Ramanujan 1990: 52-53).

28 (Ramanujan 1990: 52-53).

29 This idea is also admirably articulated in Twenty Stanzas on Mere-Representation (Vijnaptimatrata-Siddhi Vimsika) by the Buddhist philosopher Vasubandhu (Anacker 2002).

30 In Nagarjuna's system, logic has four modes, each of which qualifies and extends the other. Starting with the classical dharmic technique of negation that ultimate reality is 'not this/ not that', Nagarjuna adds that it is also 'not not this/ not not that'. This aphorism points to a subtle yet spiritually potent way of understanding at once the relativism of phenomena and their non-trivial status, both the absoluteness of the divine and its resistance to reification.

31 (A Concise Sanskrit-English Dictionary, 1990).

32 (Infinity Foundation n.d.).

33 Hence, the history of Western science and religion is filled with allegations of fraud. Narasimha writes: 'As an aside, we may note that strong belief in models has an interesting concomitant, namely the notion of fraud. The history of Western science is shot through with the idea of theories and models and of fraud. Ptolemy himself was accused of fraud; so, in more recent times, were Galileo, Newton, Mendel, Millikan and a great variety of other, lesser known figures. I believe the reason for this can be traced to faith in two-valued logic, namely the idea that answers to questions have to be either yes or no; models have to be true or false: there are no other options. Scientists often encounter situations where there may be discrepancies between model and

observation. If the discrepancies are large, the theory would of course be quickly rejected, but the crucial cases are those in which the discrepancies are small but not negligible. If the scientist falls in love with the model, he is tempted to ignore inconvenient observations which do not agree (as many of the names mentioned above did at one time or the other) or else stretch the model in bizarre ways (as Newton did with the speed of sound). If, on the other hand, observation is the starting point and one has no great faith in any particular physical model (which was the prevailing norm of Indian scientific thought), the question of fraud does not arise. Indian scientists, even classical ones, do not appear to have accused each other of fraud. This could not have been mere politeness, as they did make charges of ignorance and even stupidity against each other (as Brahmagupta did against Aryabhatta, for example). We could say that fraud is the besetting sin of a model-making scientific culture' (Roddam Narasimha, 'The Revolution of Modern Science,' a presentation at a symposium in Delhi).

34 (E. Schrödinger 1992: 87).

35 Moore, Walter J., Schrödinger: Life and Thought Cambridge University Press (1992). pp.170-73.

36 As quoted in 'The Mystic Vision' as translated in Quantum Questions: Mystical Writings of the World's Great Physicists (1984) edited by Ken Wilber, Shambala Publications, Boston.

37 'The Mystic Vision' as translated in Quantum Questions: Mystical Writings of the World's Great Physicists (1984) edited by Ken Wilber, Shambala Publications, Boston.

38 See (E. Schrödinger 1964).

39 In a foreword to (Jitatmananda 1986).

40 (Organ 1970).

41 The slaughter of the horse in the Ashvamedha Yajna was interpreted allegorically in the Aranyaka texts. There was to be no actual sacrificing of the horse: each limb of the horse became an allegory of meditation upon nature. He who mediated on the dawn was, as it were, meditating upon the head of a horse; the sun worshipper was, as it were, adoring the eye of the horse; the air was the life of the horse, etc.

42 For example, Sri Jiva Goswami's Vedanta is called 'achintya-bheda-abheda', meaning inconceivability of difference/non-difference. This expresses the impossibility of reducing the ultimate truth to fit within the limits of human knowledge. Jain 'syadvada' logic and Buddhist 'catuskoti' logic make these presuppositions much more explicit.

43 'Ekam sad vipra bahudha vadanti' (Rig Veda, 1:164.46).

44 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: The Human Cycle,The Ideal of Human Unity, War and Self-Determination, 1997: 423-425). The practical situation today is such that Sri Aurobindo advocates applying 'the minimum of uniformity which is sufficient', until such time as individuals have evolved to make any external imposition unnecessary. In the same writing, he says: 'We shall find that a real spiritual and psychological unity can allow a free diversity and dispense with all but the minimum of uniformity which is sufficient to embody the community of nature and of essential principle. Until we can arrive at that perfection, the method of uniformity has to be applied, but we must not over-apply it on peril of discouraging life in the very sources of its power, richness and sane natural self-unfolding.'

45 For example, some Hindu philosophical systems describe three levels of Reality as material ('adhibhautika'), deity ('adhidaivika') and transcendent ('adhyatmika'). Using these levels, the river Ganga is considered holy, and the way it presents itself to one's senses is at the adhibhautika level. But Ganga is also Ganga Devi (Goddess Ganga), a deity worshipped in temples, and this is at

the adhidaivika level of experience. Beyond both these is the adhyatmika, or spiritual, form of Ganga as Lord Vishnu's consort and yet non-different from Vishnu. This last level is beyond our ordinary sensory realm.

46 Sri Ganesha is the deity of categories and also the deity of auspicious beginnings, implying that categories emerge in a fresh beginning and are not preset absolutes. In the beginning come the categories; this is why Ganesha is worshipped at the start of any new activity.

47 In Chapter Eleven of the Bhagavadgita, Krishna grants Arjuna's request to see His universal form. Krishna states that it is not possible to see it with ordinary eyes, and thus He confers divine vision on Arjuna to enable him to see the universal form.

48 When a treatise attempts to find shortcomings in an opposing view, it does so authentically, without unfair allegations or misrepresentations, unlike what frequently happens in modern fights between rivals. Thus, even when an original text has become lost, one can recover its positions because of the way opposing treatises have depicted it in their purva paksha. Such a tradition, without purging anything along the way, becomes increasingly more complex as it proceeds.

49 For example, Sarva-darshna-sangrahah, a text written in the traditional style, depicts all the darshanas in an ascending order, each leading on to the next as a more sophisticated version, without absolutely falsifying what has been superseded.

50 (Organ 1970: 90).

51 In response to such allegations, one must point out that a famous intellectual of the Advaita Vedanta tradition, Madhavacharya, played a key role in establishing the Vijaynagar kingdom and created a strong ground for the Hindu dharma in the face of the Islamic invasion, and he was helped by his brother, Sayabacharya.

52 Although this is true, by and large, of the Indian spiritual systems, there are others, such as Nyaya, which find delight in speculation for its own sake. Karl Marx also criticized philosophers for being too theoretical; he thought the purpose ought to be to change the world. However, his was strictly an external pursuit which did not offer the means to enhance the inner being.

53 Sikhism does have a single book, but its worldview is not closed as this is not a history-centric book but rather a book of inspirations and principles. Sikhism does not claim historical uniqueness of its ten gurus and respects the legitimacy of other religions' exemplars. Sikhs openly acknowledge their borrowings from Hinduism and Islam.

54 The Veda was restricted from being written down. Only in modern times has it been published in book form.

55 'Man represents the point at which the multiplicity in the universe becomes consciously capable of this turning and fulfillment' (Aurobindo, The Upanishads, 1996).

56 (Organ 1970: 93).

57 (Aurobindo, Indian Spirituality and Life 1919).

58 The Western ones were vigorously challenged, too. The Reformation challenged the whole concept of priesthood and abolished its establishment, eventually separating it from state power completely for its followers. But these challenges have been rarer and involved immense violence and struggle. Such movements did not overturn the heavily institutionalized structure.

59 In this respect, Jewish monotheism differs from Christian and Islamic versions. Jews regard the commandments from God as second-person speech, i.e., directed specifically at them, and hence particular to them. But Christians and Muslims claim the instructions delivered to them via prophets to be third-person speech and hence universal commands for all humanity. While the commands

apply universally, the ‘adhikara’, or authority, to propagate and enforce them was given specifically to Christians and Muslims, respectively. So the adhikar was handed down in second-person speech specifically to them, directing them to serve as God’s agents for enforcing the universal edicts.

60 ‘Shramanas’ were itinerant ascetics and free-thinkers who pursued the quest for liberation and enlightenment (moksha-marga) without acknowledging the supremacy of Vedic revelation. The founders of Jainism and Buddhism were styled ‘shramanas’. In Buddhist discourses (‘sutras’), non-Buddhists often refer to the Buddha as the ‘shramana’ (Pali: ‘samana’) Gautama. Sometimes ‘shramanas’ and ‘brahmanas’ are contrasted; however, the shramana ranks included many free-thinking ‘brahmanas’.

61 Even when Indian thought differentiates between, on the one hand, Veda-based (‘astika’) mystical and proto-scientific empirical systems (such as Vaisheshika and Samkhya), and on the other, the non-Vedic based (‘nastika’) systems of Jainism and Buddhism, the underlying ethos is to try to integrate old tenets into the new ideas and in the worst case to leave them alone rather than abolishing them.

62 Augustine Aurelius, Bishop of Hippo (354 ce–430 ce), is considered the most influential early Christian theologian after St. Paul. He was one of the most prolific Church writers and dealt with a vast range of theological issues facing the Church in his day, and this had a big influence on the politics of Rome. He started out as a well-known orator who had studied the philosophies of Plato and who was also heavily influenced by Plotinus. Augustine then became a Christian at age 32. Eight centuries later came the next big leap in theology from Aquinas. It is widely accepted that Aquinas used Aristotle to formulate his entire Christian theology. Jewish scholars in Toledo, Spain, under Islamic rule, had translated Aristotle’s works, and this triggered a need for a Christian response. Aquinas’s theory of knowledge is not a vision of divine truth (contrary to what one expects from a rishi) but rather a Christianized revision of Aristotle’s philosophy. It is ironic that Christian Rome contributed to the destruction of the Greek libraries. These documents were preserved by Islamic scholars, and it was these old Greek manuscripts that became available to Europe at the end of the Crusades. Thus began the appropriation of Greek pagan intellectual works to construct what is now called Christian theology. While scholars know all this and write about it, the common westerner is shielded from these facts and taught that Christian theology is internally inspired.

63 Thomas McEvilley has explained the likely Indian origins of some aspects of Greek thought. For instance, he says the Western intellectuals’ cover-up of the likely Indian origins of Plotinus protects Western identity and historicity: ‘Translations of his work may have a churchy kind of ring. The view of Plotinus as a kind of proto-Christian theologian may express, at least in part, a dread of finding possible Indian origins for the texts whose influence was to contribute to shaping the thought of Thomas Aquinas, Nicolas of Cusa, Meister Eckhart, and many later Western thinkers. So it is not only that “to admit oriental influences on [Plotinus] was tantamount to besmirching his good name,” but even more, it would also besmirch that whole aspect of the Western tradition that flowed from him. If Plotinus had passed massive Asian influence into the Western tradition, there would be little point to calling it Western tradition’ (McEvilley 2001: 550).

64 For a harrowing account of the violent conquest of paganism by Christianity in the early medieval period, see: (MacMullen 1999). Paganism is a general term for the earth-based and shamanistic religions that lie at the ancient base of many societies. These religions typically engage with what they see as many spirits and energies, not all of them necessarily divine in the absolute sense. They tend to worship nature. These faiths became the target of aggressive Christianity after Constantine.

65 Although conquest and conflict are by no means absent from dharmic traditions, these conflicts stemmed from an entirely different psychology and political programme than did the huge colonial endeavours of the West.

66 For an extended view of this analysis, see the work of cultural historian David Loy's A Buddhist history of the West.

67 A good discussion of these ideas, from a Buddhist point of view, may be found in (Loy, A Buddhist History of the West : Studies in Lack, 2002). David R. Loy analyses this Western penchant for solving deep internal divisions by projecting itself on to the external world.

68 One such typically self-congratulatory account is Orlando Patterson's statement that the West's value of freedom is 'superior to any other single complex of values conceived by mankind' (Patterson 1992, 402-403).

69 (Loy, A Buddhist History of the West : Studies in Lack).

70 The dharma traditions are not free from ideological tensions, but it is unthinkable to imagine a 'war' between science and dharma; the underlying cosmologies and paradigms would embrace and enable both.

71 (Arnold 1869: 94). This was Arnold's influential analysis of the deep conflict between the biblical and Greek traditions.

72 (Arnold 1869: 94-95).

73 (Arnold 1869: 95).

74 Even the development of modal logic touted as an exclusively Western breakthrough in philosophy has failed to mitigate this pervasive categorical thinking. With the recent development of many-valued logics in the West, attributed to such figures as Lucasiewicz and Lobochevsky, the view that Aristotelian logic is the only valid logic is no longer universally held among academics. However, Aristotelian logic continues to exert influence on the Western mentality. Even the earlier influence of Kant's deontological ethics reflects the Judo-Christian theological decrees mandating an inflexible morality regardless of context.

75 James Carroll's book Constantine's Sword explains how institutionalized Christianity emerged in the fourth century after Jesus (Carroll 2001).

76 Carroll writes: 'The emperor constantly made use of this sign of salvation as a safeguard against every adverse and hostile power, and commanded that others similar to it should be carried at the heads of all his armies, (Carroll 2001: 175).

77 (V.A. Smith 2009: 171).

78 (Wells 1922).

79 (sciforums.com 2001).

80 (Robinson 1976: 249).

81 (W.T. Jones 1969: 176).

82 Kant's transcendental ego caused further harm by removing the spiritual self and making it inherently inaccessible and impossible ultimately to know.

83 Not only were such famous scientists as Issac Newton, Francis Bacon and John Locke profoundly and explicitly Christian and deeply influenced by Christian worldviews, notions of time and the like, but the new secular giants, Freud, Marx and Darwin, were implicitly Judeo-Christian in their history-centrism, their sense of time as linear, and their assumption that the Western ego is the normative paradigm for all.

84 Some examples of secularism disguising biblical assumptions and ideas are: Francis Bacon (1561–1626), considered the prophet of modern Western science, sought 'a return to the state of Adam before the Fall, a state of pure and sinless contact with nature and knowledge of her powers … a progress back to Adam' (Loy, A Buddhist History of the West : Studies in Lack, p. 59). Newton was a fervent believer in the millennium and spent much of his time interpreting biblical prophecy. Thomas Hobbes' (1588–1679) state of nature is a secularized version of Calvin's 'natural man', without God being mentioned, and in his Leviathan, the Bible is cited 657 times; there is a similar trend in his other major political works (Loy, A Buddhist History of the West : Studies in Lack, 127). Many European socialist critiques of private property originated in interpretations of Adam's Fall and God's curse upon him. John Locke's (1632–1704) theory of individual rights is rooted in the Protestant understanding of man's relationship with God. The unique civic society of the USA evolved out of the Puritan ambitions to create another empire for God in a new Promised Land by means of strict laws and suppression of dissent. Even Marxism, while attacking Western religion, implicitly borrowed its underlying structures and 'grand narrative', and these have become unstated assumptions in the secular worldview. See: (Eliade 1987: 206-207) and ('Eschatology' 1992).

85 (Toulmin 1990: 211-212).

86 (Camilleri 1994: 24).

87 See (Schwab 1984).

88 (Loy, A Buddhist History of the West : Studies in Lack, 109).

89 (Malhotra, 'American Exceptionalism and the Myth of the Frontiers', 2009).

90 In 1452, forty years before Columbus's historic voyage, Pope Nicholas V issued to King Alfonso V of Portugal the 'bull' (i.e., an edict with the legal authority of the Vatican) known as Romanus Pontifex, in which he declared war against all non-Christians throughout the world and specifically sanctioned and promoted the conquest, colonization and exploitation of non-Christian nations and their territories. Since non-Christians were considered less than human (and hence lacking souls), even wholesale genocide was condoned. In this edict, the Pope directed Portugal's king to 'invade, search out, capture, vanquish, and subdue' all those who the King's men saw as 'pagans … and other enemies of Christ'. The Pope's directive was to 'reduce their persons to perpetual slavery, and to apply and appropriate … [their] possessions, and goods, and to convert them …' This doctrine was subsequently reinforced by a later Pope in order to legitimize Columbus's conquests. European nations upheld and implemented the doctrine as the legal and moral basis for colonialism (Davenport 1917: 20-26). When Columbus first arrived on Guanahani Island, he performed a ceremony in order to take possession of the natives' land for the king and queen of Spain. Pope Alexander IV issued a new bull, Inter caetera, of 3 May 1493, reinforcing this doctrine of discovery. Like the judgments of the US Supreme Court, these papal bulls stand to this day despite the attempts of the North-American Indians who have been agitating against them and trying to have them repealed.

91 (Newcomb n.d.).

92 (Loy, A Buddhist History of the West: Studies in Lack, 59)

4. Order and Chaos

1 'The Indian idea of oneness of life leads to an open-ended sense of perfectibility, to less anguish in the face of time and a less fanatical will to achieve everything in a single lifetime' (Lannoy 1971: 227).

2 Gambling, like many other expressions of chaos, is frowned upon as a vice in the disciplined life of a normal Hindu, and this is why Yudhishthira is severely castigated, even by his own wife, Draupadi, for this otherwise inexplicable addiction. Nevertheless, the Diwali tradition is for everyone to play dice and other games of chance, even gamble with money. Such days of exception, inserted into the calendar of Hindu festivals, are also part of Holi. What is destructive, threatening and to be avoided in 'normal' life is nevertheless to be integrated into the larger cultural framework, drawing on ritual and myth. Also, the Bhagavadgita (16.6 and 18.40) explains that everything is composed of the three gunas (i.e., not good/evil). 3 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aur obindo: The Renaissance in India,1997:191).

4 (Rudolph and Rudolph 1967: 9). Rudyard Kipling, a great lover of India's wilderness and native culture, wrote sarcastically, mimicking the fantasies of his ignorant British audience: 'India, as everyone knows, is divided equally between jungle, tigers, cobras, cholera, and sepoys' (Kipling 1987). Regardless of what he intended, such images travel over time and get re-contextualized and reconfigured by others into the stereotypes we are describing here.

5 (Rotter, Comrades at Odds: The United States and India, 1947-1964, 2000: 35)

6 Scratches on Our Minds came out in 1958. Paperback editions of the book, re-titled Images of Asia, were published in 1962 and 1972. M.E. Sharpe did a paperback version with the original title restored in 1980. It is now out of print (Isaacs 1980). I have summarized and excerpted from Andrew Rotter's comments on the book. See (Rotter, 'In Retrospect: Harold R. Isaacs's Scratches on Our Minds', 1996: 177-88).

7 Quoted in (Rotter, Comrades at Odds: The United States and India, 1947-1964, 2000: 10).

8 (Mayo 1935). Mayo influenced several generations of American policy makers when she wrote that the Muslim 'is the purest of monotheists … He worships One God and Him only, Omniscient, Omnipresent, Omnipotent … and the Ten Commandments of Moses are embedded in his law.' The Hindu, by contrast, 'is the most elaborate of Polytheists. He worships millions of gods, some by acts that are cardinal offenses against any moral code of civilized humanity.' Another sensational novel in America depicted 'barbaric India, land of languor, intrigue, strange appetites, exotic women, cruel and scheming men'! In the Hollywood movie, Gunga Din, the thugs do horrible atrocities in Kali's name, and Steven Spielberg's blockbuster movie Indiana Jones and the Temple of Doom features Hindu worshippers eating monkey brains, having male-slaves, and drinking Kali's blood (Rotter, Ibid.:201-04).

9 (Rotter, 'In Retrospect: Harold R. Isaacs's Scratches on Our Minds', 1996: 177-88).

10 (Rotter, Comrades at Odds: The United States and India, 1947-1964, 2000).

11 (Ibid.: 8).

12 (Ibid.: 12).

13 (Ibid.: 18).

14 'Americans held gendered stereotypes of Hindu men and women: Men … were weak. They were also cowardly, treacherous, emotional, flighty, and given to talk rather than action. They refused to stand up to evil, preferring to compromise with it, mediating disputes instead of taking the one right side in them, failing utterly to behave like … "true men". Hindu men, Americans concluded, were effeminate. Not so Hindu women, who had admirable backbone, but with it the less admirable quality of ruthlessness and a regrettable penchant for emasculating men' (Ibid.: 191).

15 (Rotter, Ibid.: 191).

16 (Rotter, Ibid.: 192). This view was also echoed by Abbe Dubois, who wrote extensively on Hindus' lack of aesthetics, morality and courage: 'Their [Hindus'] want of courage almost amounts to deliberate cowardice. Neither have they that strength of character which resists temptation and leaves men unshaken by threats or seductive promises, content to pursue the course that reason dictates. Flatter them adroitly and take them on their weak side, and there is nothing you cannot get out of them' (Dubois 2002, 188).

17 (Rotter, Ibid.:, 194).

18 (Rotter, Ibid.: 22).

19 (Rotter, Ibid.: 238-239).

20 (Rotter, Ibid.: 235-236).

21 Harrison, Selig S., quoted in (Rotter, Ibid.: 220).

22 (Rotter, Ibid.: 229).

23 (Bhushan 2003).

24 (Rotter, Ibid.: 219).

25 For a fuller analysis of the history of this mindset, see (Malhotra, 'American Exceptionalism and the Myth of the Frontiers', 2009).

26 (Associated Press 2005).

27 (Lannoy 1971: 280).

28 (Ibid.: 422).

29 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: The Human Cycle,The Ideal of Human Unity, War and Self-Determination, 1997: 423).

30 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: The Life Divine, 2005, 353355).

31 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: The Human Cycle,The Ideal of Human Unity, War and Self-Determination, 1997: 423).

32 (Dabbawala n.d.).

33 Personal email communication from Dr Rajan Parrikar.

34 (Organ 1970: 18-19). The following two excerpts from Troy Wilson Organ's, The Hindu Quest for the Perfection of Man, explain how dharma is expressed in music: 'It would be a great mistake to dwell upon the multiform nature of Hindu philosophy and miss the common theme running through the systems. Indian music is a helpful analogy of Hindu philosophy. In classical Indian music the musicians start with a raga, i.e., a melody composed of notes in a specific order and with specific emphases, and a tala, i.e., an organized group of beats on which the rhythm structure is based. Raga corresponds approximately to scale in Western musical theory; tala corresponds to measure. The musicians are challenged to weave a woof consistent with the given melodic and rhythmic pattern. Whereas a concert of Western music is a re-creation of an original creation, a concert of Indian music is a creation within the framework of the raga and the tala. Raga and tala constitute the invariable; the musicians supply the variable. Indian music thus is a revealing of the pluralities within oneness; it is the manifold manifesting of the Cosmic Oneness. So is Indian philosophy. The primary texts of Hinduism, the Vedas and the Upanishads, supply the raga and the talas. This is the speculative insight that Reality is the integration of values.' Organ goes on to say, 'In Indian music creativity demands the deliberate variegation of the effects of beauty within raga and tala: variety within structure, freedom within law, liberation within discipline, plurality within unity, many-ness within one, diversity within simplicity, many-foldness within the single,

finite within the infinite, relative within the Absolute, the informal within the formal, particularity within universality, unpredictability within predictability, pluralism within monism, variegation within evenness, creativity within staticity, difference within sameness, change within the unchanging, flux within stability, novelty within the established, movement within the unmoved, alternation within the unalterable, jiva within atman!'

35 'Vaccination, unknown to Europe before the eighteenth century, was known in India as early as 550 A.D.' (Durant 1997: 531-32). Also: 'The ancient Chinese knew of preventive inoculation against smallpox, which they probably got from India' (Garrison 1913: 52).

36 (Zimmermann 1999: 128-129).

37 Swami Kripalu (after whom the Kripalu Yoga Center in Massachusetts was named) was videotaped many times in such spontaneous flows of asanas.

38 For example, a technique called 'chaotic breathing' is meant to break mental patterns. Some mantra techniques use the principle that vak (sound/ thought) has four levels, and silent inner speech (madhyama) can lead spontaneously to pashyanti, wherein the patterned mind is deconstructed and one experiences a heightened state of alertness without content or sense of time or self.

39 (Lannoy 1971: 194).

40 (Shulman 1985: 3-4).

41 (Doniger 2009: 682).

42 Doniger is placating the lobby that does not want Hindus to reclaim their temples (taken over by invaders) by arguing that such a demand is somehow un-Hindu. Of course, as a proud collector of Indian art, Doniger would not want to allow her own vast collection to be re-appropriated on the same basis. Nor would she want her intellectual property taken over without recourse in this way.

43 Nyaya Shastra's five steps to establish a thesis are: pratijna (hypothesis), hetu (causal element), udaharana (data or example in support), upanaya (verification or experiment), nigamana (conclusion). The Mimamsakara's principles for framing a problem are: upakrama (introduction), upasamhara (hypothesis), abhyasa (general outline of the hypothesis), apurvata (indication of originality), phala (purpose behind this framing), arthavada (argument in support of the solution or refutation of opponent), and upapatti (establishing the conclusion). The tantrayuktis are enumerated in various texts such as Arthashastra of Kautilya (third century bce), Sushrutasamhita of Sushruta (fifth century bce), Charakasamhita of Charaka (second century bce), Ashtangahridaya of Vagbhatta (third century ce) and Vishnudharmottara purana (fourth or fifth century ce). In addition to these ancient texts, there is another, titled Tantrayuktivicara, which exclusively deals with thirty-six devices for presenting scientific texts. A work called Anvikshiki has been attributed to Medhatithi Gautama and was preserved in Charaka schools. It deals with three themes, one of which is sambhasha or vadavidhi (methods of debate). One such system included: pratijna (issue or proposition to be debated), sthapana (the case including reason, example, application and conclusion), pratisthapana (a counter-propositions or 'holes' in the case), hetu (sources of knowledge), upanaya (application); nigamana (conclusion), uttara (rejoinder), siddhanta (tenet established after examination by experts), and samshaya (doubts and uncertainty).

44 This analysis is based on (B.K. Smith, 1989: 51-54).

45 The crisscrossing between the two sides has been interpreted by some with the theory that asuras as a whole were more ancient divinities that had somehow fallen from grace (like the Titans

of ancient Greece) with the rise of the devas. In early Iranian religion, their roles are reversed, with the devas becoming the 'demons', or rather the gods of a hostile civilization.

46 Some examples: (1) Brihaspati, the purohita (ritual performer) and guru of the devas constantly competes with his counterpart among the asuras, Shukrachraya, but it is the latter alone who holds the key to the secret of immortality. Thus Brishaspati's own son, Kacha, has to become Shukra's disciple and trick him into revealing the secret for the benefit of the devas. (2) Some of the most revered father-figures (the brahmin preceptor Drona, the wise Vidura, the patriarch Bhishma, et al.) in the Mahabharata all remain in the camp of the demoniac Kauravas. Ultimately, Krishna instructs Arjuna to seek spiritual wisdom and instruction in statecraft from the dying Bhishma even after having facilitated the slaying of the latter. Conversely, Bhima, who is Arjuna's elder brother, betrays many savage and demonic traits which the epic highlights by having his birth coincide with that of the villain, Duryodhana. (3) Sri Rama has to perform penance for his slaying of Ravana, who is not only a brahmin but a great devotee of Shiva.

47 (Lannoy 1971: 294).

48 (B.K. Smith, 1989: 220). The ritual includes the sprinkling of sand (representing chaos) around patterned baked bricks (representing order) and the murmuring of inarticulate (anirukta) sounds amidst the well-articulated (nirukta) speech and chants. The finite thus remains grounded in the un-manifest and non-ordered potentialities of the infinite. The syllable Aum is considered anirukta par excellence, signifying everything by signifying nothing.

49 'At that time, there was neither existence nor non-existence, neither the worlds nor the sky. There was nothing that was beyond. There was neither death nor immortality. There was no knowledge of the day or night' (Rig Veda, X. 129).

50 Much of the Judeo-Christian myth of the Devil is not biblical but a reflection of the influence of folklore and earth-based religions. The myth does reinforce the inherent dualism, however.

51 For example, Ravana was very knowledgeable, wise, and a worshipper of Shiva, and he achieved great spiritual powers, but he is classified as asura because his ego and arrogance took over and led him to adharmic conduct.

52 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: The Renaissance in India, 1997: 148).

53 (Ramanujan 1990: 44-47).

54 (Ibid.: 52-53).

55 The West has also developed 'situational ethics' at certain points. Wittgenstein's notions of meaning against class-logic, searches for 'native categories' in anthropology, and holistic medicine, are also akin, in varying degrees, to Indian perspectives. Postmodern thought in the West has gone to great lengths to deconstruct normative categories, but in the absence of the notion of purna (or Brahman), the end-result, as I have said elsewhere, is narcissistic and nihilistic, or leaves a vacuum that is eventually appropriated into some normative framework.

56 (Ramanujan 1990: 54)

57 Universal Western ethics also tend to be abstract and therefore difficult to put into practice. Kant's categorical imperative is an example: one teaches a child to say 'please' and 'thank you' rather than the abstract principle of 'be polite'. The process of learning does not depend on apprehending universal categories.

58 However, smritis cannot be rewritten by just anybody, as this requires authority. There are people called 'shastrakara', or people who write shastra, but that is a high platform on which to be. The ordinary man does not have the adhikara, or authority, to produce shastra. What is more

realistic in the modern era is that existing dharma shastras should be adapted by practitioners to modern circumstances. No new smritis need to be written from scratch, but commentaries on existing ones could proliferate and create change.

59 The four varnas are the spiritual and intellectual leaders (brahmana), leaders of governance (kshatriya), those engaged in commerce (vaisya), and workers (shudra). The four asramas are: student in youth (brahmacharya), householder in adult life (grihasth), the transitional stage of pre-retirement (vanaprastha), and renunciation in old age (sannyasa).

60 Various smriti texts were used by kings as guidelines for the judicial systems in their kingdoms. In the late 1700s, the British, in order to rule in India, applied their penchant for canonized, universal laws and devised normative laws for India, which they termed 'Hindu Laws'. They became the first in India's long history to try to homogenize Hindu laws across the vast land. While these Hindu laws were derived from various Indian smritis, the latter, by their very nature, were always intended to be flexible, context-sensitive and open to revision and rewriting. By canonizing (as it were) the smritis at a particular moment in history and by presuming certain contexts to be universal, the British not only grossly misinterpreted the essence of Hinduism but stymied its social evolution as well. Unfortunately, even after independence, the same static Hindu laws have prevailed and hardened into what is now commonly accepted as Hindu laws. The British put great effort into this project; they made a number of attempts to engage the assistance of teams of pandits. They were simply unable to accept the contextual nature of laws, as that notion of contextuality was alien to their own ethos of uniformity and because it would not enable them to control the Indian public. The British-developed Indian criminal code is based on Roman and British traditions, but their judicial system followed the guidelines of the smritis in civil matters such as succession, adoption, marriage and divorce, and so on. Muslims, Christians and tribal communities were allowed to follow their respective traditions in such civil matters. The notion of a uniform civil code in Indian law would, under a system similar to Manu's, have to be limited to certain types of laws that are general but would have to allow jati-specific laws for affairs that are internal to a given jati.

61 (Manusmriti, 7.41).

62 (Scharfe 1989: 221-22).

63 (Kane 1930: 882).

64 For example, Taittiriya Upanishad (1.11) says: 'Speak the truth. Practice virtue (dharma) ... Let there be no neglect of study and teaching. Let there be no neglect of the duties to the devatas and the fathers ...'

65 cf. (Chakravarti 2006).

66 For example, in the Discourse to Abhaya (Abhaya-Kumara-Sutta) there are statements classified according to their truth-value, utility (non-utility) and pleasantness (or unpleasantness). The intention is to ascertain what kinds of propositions are approved or asserted by the Buddha. In terms of the possibilities of being true (bhutam, taccam) or untrue (abhutam, ataccham), useful (atthasamhitam) or useless (anatthasamhitam), pleasant for others (paresam piya manapa) or unpleasant for others (paresam appiya amanapam), we get the eight following possibilities: (1) true useful pleasant; (2) true useful unpleasant; (3) true useless pleasant; (4) true useless unpleasant; (5) false useful pleasant; (6) false useful unpleasant; (7) false useless pleasant; and (8) false useless unpleasant. It is worthwhile quoting the text in order to get the context of this teaching: 'The Tathagata does not assert a statement which he knows to be untrue, false, useless, disagreeable or unpleasant to others (no. 8). He does not assert a statement which he knows to be true, factual, useless, disagreeable and unpleasant to others (4). He would assert, at the proper time, a statement

which he knows to be true, factual, useful, disagreeable and unpleasant to others (2). He would not assert a statement which he knows to be untrue, false, useless, agreeable and pleasant to others (7). He would not assert a statement which he knows to be true, factual, useless, agreeable and pleasant to others (1).' For an extensive discussion of this topic, see (Kalupahana, 1992: 45-52). For an even more technical exposition, see (Jayatilakee, 2004: 338-68).

67 (Lannoy 1971: 96, 227)

68 S.N. Balagangadhara has extensively argued for this non-normative nature of dharma and its difference from Western religion. Sarvepalli Radhakrishnan (1888–1975) points out that 'the human race is not divided into the kingdom of Ormuzd and the kingdom of Ahriman [the good spirit and the evil spirit in the Zoroastrian religion]. In each man are these two kingdoms of light and darkness' (Radhakrishnan, The Bhagavad Gita,1948: 335).

69 The oft-made parallel between the yamas and niyamas in Hinduism and Buddhism and the Ten Commandments is inappropriate for precisely these reasons. A better parallel might be made with Jesus' Sermon on the Mount, which is more like a discourse on dharma than a set of codified laws.

70 (Lannoy 1971: 85).

71 (Ramanujan 1990; Marriott 1990: 44-47).

72 For instance, in Manusmriti the morality prescribed for all people includes 'contentment, forgiveness, self-control, abstention from impurity, control of the sense-organs, wisdom, knowledge of the Self, truthfulness, controlling anger, cultivation of curiosity, and abstention from injuring creatures'. These are clearly universal principles or ideals (called samanya-dharma). The text then details the implementation of the samanya-dharma tailored to a variety of contexts, rather than applied homogeneously: A teacher and priest must not kill, but a soldier or policeman is allowed to do so under the right circumstances (i.e., in the line of duty, to protect society). The injunction to non-injury is specified for the brahmana as well as for the student (Manusmiriti 7.41), and for the ascetic forest-dweller (vana-prastha) this is likewise enjoined (75), as well as the practice of friendship and compassion towards all living creatures, and liberality to all (8). Furthermore, although there is an explicit preference expressed for adhering to one's own svadharma, a crossover is explicitly recommended under certain circumstances, if the overarching universal principle calls for it. For example, in chapter 4 of Manusmriti, a brahmana or kshatriya is permitted to engage in trading in certain situations but must avoid agriculture since this involves an unacceptably high degree of harm to animals and insects. The universal ethic of compassion to all living beings is repeatedly emphasized, even in times of distress, i.e., when the context does not override it. A vaishya may, in times of distress, adopt a shudra's mode of life on a temporary basis and relinquish it as soon as possible.

73 Here are some examples of universal dharma: 'Abstention from injury, truthfulness of speech, justice, compassion, self-restraint, procreation with one's own wife, amiability, modesty, patience – the practice of these is the best of all religions as taught by … Manu himself ' (Santiparva, 21.11-12). 'Refusal to appropriate what is not given, charity, study (of the scriptures), penance (tapas), abstention from injury (ahimsa), truth, freedom from wrath, and worship of the gods in sacrifices – these are the characteristics of virtue' (Santiparva, 37.10). 'Abstention from injury, by act, thought and word, in respect of all creatures, compassion, and charity, constitute behavior that is praiseworthy. That act or exertion by which others are not benefitted or that consequence of which one has to feel shame should never be done' (Santiparva, 124.65-6). 'Righteousness (dharma) was declared for the advancement and growth of all creatures. Therefore, that which leads to the advancement and growth of all creatures is righteousness. Therefore, that is

righteousness which prevents injury to creatures' (Santiparva, 109.9-11). '… I know morality, which is eternal, with all its mysteries. It is nothing else than that ancient morality which is known to all, and which consists of universal friendliness, and is fraught with beneficence to all creatures.' 'That mode of living which is founded upon a total harmlessness towards all creatures or (in the case of actual necessity) upon a minimum of such harm, is the highest morality' (Santiparva 262.5-6). The following are some examples of contextual dharma: 'That which is virtue may, according to time and place, be sin. Thus, appropriation (of what belongs to others), untruth, and injury and killing, may, under special circumstances, become virtue. Acts that are (apparently) evil, when undertaken from considerations connected with the gods, the scriptures, life itself, and the means by which life is sustained, produce consequences that are good' (Santiparva, 37.14). 'Might is not always meritorious and forgiveness also is not always meritorious…Therefore, men should never exhibit might in excess or forgiveness in excess' (Vanaparva, 6.8 ff). 'There where falsehood would assume the aspect of truth, truth should not be said. There again, where truth would assume the aspect of falsehood, even falsehood should be said' (Santiparva, 109. 4-5). 'It is always proper to speak the truth. It is better again to speak what is beneficial than to speak what is true. I hold this is the truth which is fraught with the greatest benefit to all creatures' (Santiparva, 329.13). 'In seasons of distress, a person, by even speaking an untruth, acquires the merit of speaking the truth, even as a person who accomplishes an unrighteous act acquires, by that very means, the merit of having done a righteous act. Conduct is the refuge of righteousness. You should know what righteousness is, aided by conduct' (Santiparva, 259.6). As may be evident from these quotations, the absolute standard of morality and righteous conduct must be moderated or compromised at times, depending on emergency, exigency and necessity (as in distress), and in the service of an even higher standard of truth than relative truth and untruth. That higher standard accords with universal compassion and non-injury. Thus: 'That mode of living which is founded upon a total harmlessness to all creatures (or in the case of actual necessity) upon a minimum of such harm, is the highest morality' (Santiparva, 262.4-5). See: (Radhakrishnan, A Source Book in Indian Philosophy 1957).

74 For example, in the Buddhist Dhammapada, the Buddha makes the following universalist credo of Dharma: 'Hatred ceases by non-hatred, not by means of hatred. This is an eternal law (sanatana dharma)' (Dhammapada,1,v). The emphasis on the eternality of the ethical principle of not opposing hatred with hatred is a patently universalist ethical principle.

75 Ramanujan elaborates on this: 'Where kama, artha and dharma are all relational in their values, tied to place, time, personal character and social role, moksha is the release from all relations. If brahmacharya (celibate studentship) is preparation for a fully relational life, grhasthasrama (householder stage) is a full realization of it. Vanaprastha (the retiring forest-dweller stage) loosens the bonds, and sannyasa (renunciation) cremates all one's past and present relations. In the realm of feeling, bhavas are private, contingent, context-roused sentiments; vibhavas are determinant causes; and anubhavas, the consequent expressions. But rasa is generalized; it is an essence. In the field of meaning, the temporal sequence of letters and phonemes, the syntactic chain of words, yields finally a "sphota", an explosion, a meaning which is beyond sequence and time' (Ramanujan, 1990: 54).

76 (de Nicolas 1986).

77 (Ibid.: 1986).

78 (Ibid.: 1986).

79 Furthermore, the Western scholars engaged in this are not formally qualified as psychologists, and there is inadequate due diligence and supervision of their work by psychology

experts. There has often been an 'anything goes' Wild West attitude of using pop psychology in interpreting Tantra. The licence to 'tantricize' Hinduism as a whole, and in a cavalier manner to boot, is more common among American than European scholars. It is natural for certain well-placed and influential American scholars to champion their own hermeneutics, because this empowers them as the new authorities on the vast theatre of Hinduism. The more esoteric, sensational and complex their theories become, the more their role as intermediaries in the cross-cultural encounter becomes secured. Other academicians have gone to the extent of claiming that the traditional Tantra practitioners' view is ill-conceived and obsolete, and does not correspond to any reality. André Padoux, French specialist on Kashmir Shaivism and Abhinavagupta's tantric works, makes this type of claim in his opening essay in the collective volume The Roots of Tantra (Padoux, 2002: 23-24).

80 Although the Vedic sacrifice is performed by brahmins typically for the upper strata, tantric sadhana (practice) is an individual discipline of the mind-body and its transmission has been available to everyone irrespective of caste. Certain tantricized sects, such as the Pashupatas and Kapalikas, were composed of those who had renounced worldly pursuits; however, they were not averse to the cultivation of siddhi (power) and even espoused radical sensuality. Tantra's worship of deities is not a subservient prayer to an external God but rather a pursuit to gain personal access to the deities' powers. At the level of the Tantra adept, the cosmic symbolism holds esoteric meaning within one's inner experiences. But, for Indian householders, the same symbolism pervades popular festivals and pilgrimages without necessarily having the same esoteric meaning that it has in Tantra (i.e., it has more popular significance). In Srimad Bhagavata, Lord Krishna recommends a blend of both in Kaliyuga (Srimad Bhagavata, 11.2749, 11.1137).

81 There are stringent moral standards to maintain self-discipline, conquer selfish desires and egotism, and prevent cruelty and exploitation of others in Buddhist Tantra or vajrayana as well as in Shaiva Tantra. These codes are the root and branch vows which enjoin a morality grounded in a compassionate motivation (bodhichitta) to cherish others more than oneself. Tantric morality is premised on the balance of wisdom and compassion (prajna-karuna), or alternatively, wisdom and skilful means (prajna-upaya). In the traditionalist Tantric worldview, only the most disciplined and unselfish are really qualified for the higher practices. A dissolute and licentious tantric practitioner is pejoratively called a 'beast' (pashu) in the Shaiva-Shakta tantric schools.

82 (Hiltebeitel 1989).

83 Thus André Padoux, who did his doctoral research under his personal guru, Lilian Silburn, refers to Abhinavagupta as being unaware of his contradictions, because he is an Indian (i.e., caught up within the very system he is attempting to describe objectively). This remark was apparently not intended for Indian audiences, for it was removed from the subsequent English translation of his French thesis.

84 As a result of this, Indian narratives are filled with what Westerners would consider ethical and ontological contradictions. Dharma, or right action, is a domain of its own, and is not necessarily related to aesthetics or even necessarily to conventional morality. It is interesting that the aesthetics of the king are glorified as rupa (good-looking), whereas the sadhu/tantrika is another kind of exemplar, who is not a-rupa (neutral looks) but vi-rupa (bad looks). Dharma is not related to rupa (aesthetics) but a separate domain. Indian logicians and grammarians do not bring in beauty or morality.

85 Origen of Alexandria (185–254 ce), one of the founding fathers and prominent theologians of the early Church, wrote that the Egyptians went into bondage because 'Egyptians are prone to degenerate life' and sinking to vices. 'Look at the origin of the race and you will discover that their father, Ham, who had laughed at his father's nakedness deserved a judgment of this kind and that

his son, Chanaan, should be servant to his brothers, in which case the condition of bondage would precede the wickedness of his conduct.'

86 Kant, Immanuel. 'Observations of the feeling of the Beautiful and Sublime'. Quoted in (Eze 1997: 55).

87 Ibid. Kant made sati seem like a normative practice which could be used as the basis for making sweeping conclusions: 'The despotic sacrifice of the wives in the very same funeral pyre that consumes the corpse of husband is a hideous excess' (Eze 1997: 55).

88 I remember a local Princeton policeman, originally from India, giving advice to some Indian teenagers to stay out of trouble by avoiding drugs, gangs, etc. One of the kids avoided direct eye contact with him, and the policeman reprimanded him, 'When stopped by a police officer, make sure you look directly and confidently at his eyes and with complete certainty in your tone. If you don't do this, police officers are trained to suspect that you have something to hide.' He explained that it was important to have a strong and positive body language, with chest out and not hunching or looking scared. He pointed out that Indians are often misunderstood, because they have a very different body language than white Americans.

89 This is not to say that Indians are not corrupt. The point is that in India there is not the same kind of conflation of morality, aesthetics and reason, and hence one finds a wider spectrum of each independently of the other two.

90 In the 1930s, when Theodor Adorno criticized whites for defining jazz as black music, the prevailing white-dominated discourse did view jazz as 'primitive and perhaps even dangerous, its refinement best left to whites' (Steinman 2005: 117). Record companies forced black groups to adopt frontier names such as 'The Jungle Band' and 'Chocolate Dandies', and they were given labels like 'Ethiopian Nightmare'. Mainstream critics described jazz as degenerate and something of which to be wary. Only when practised and marketed by whites did it become mainstream.

91 Adorno explained capitalism's appropriation of black music into 'commodities' and 'confusing parodies' which were 'manufactured by the fashion industry' (Steinman 2005: 118).

92 See (Kagan 2006; Slotkin 1985).

93 I have discussed this syndrome more widely in various articles. See, for instance: (Malhotra, 'Whiteness Studies and Implications for Indian-American Identity', 2007).

94 Goldenberg explains the use of the term 'discolored' in this passage by analysing Origen's approach to skin colour: 'One must ask why Origen chose to mention the Egyptians' skin color while describing their bondage … The answer I think can be deduced from Origen's extensive exegetical treatment of dark skin elsewhere in the Bible. He explains the dark color of the maiden of Son 1:5, saying darkness is due to prior sinful condition … "black because of the ignobility of birth", (Haynes 2002: 68).

95 Haynes further explains: 'For over two millennia, Bible readers have blamed Ham and his progeny for everything from the existence of slavery to serfdom to the perpetuation of sexual license and perversion to the introduction of magical arts, astrology, idolatry, witchcraft and heathen religion. They have associated Hamites with tyranny, theft, heresy, blasphemy, rebellion, war and even deicide'

(Haynes 2002: 67).

96 (Haynes 2002: 68).

97 (Haynes 2002: 2). Also see: ('What's up with the Biblical Story of Drunken Noah?', 2005).

98 As Haynes points out, for tax purposes, slaves were counted as property along with domestic animals. The US Congress passed a bill asking the US Census Bureau to count each slave as three-fifths of a person. Indeed, by the eighteenth century, as slavery became a central institution of the European economy, the Hamitic myth was entrenched and governed the discourse on race relations and justification of slavery. The advocates of slavery included respected professionals such as doctors, lawyers, politicians, clergymen and professors who based their position on the Curse of Ham as historical fact (Haynes 2002: 66). Some extreme pro-slavery advocates went to the extent of tracing the black race as descendants of the cursed Cain, the first murderer in Biblical mythology. More importantly, even converted Africans themselves accepted this version of their history as taught to them by Europeans. Thus, the slave and black poetess Phyllis Wheatley wrote in 1773: 'Remember Christians, Negroes black as Cain/May be refined and join the angelic train' (Goldenberg 2003: 178).

99 (Haynes 2002: 107).

100 (Priest 1852: 94) cited in (Haynes 2002: 247). This book was reprinted three times in New York, from 1843 to 1845 and had six editions in Kentucky from 1852 to 1864 (Haynes 2002: 247). The book was called The Bible Defense of Slavery and its author was venerated. Troup Taylor, another Christian, wrote a pamphlet that also became famous and saw many reprints. Titled The Prophetic Families, the Negro: His Origin; Destiny and Status (T. Taylor 1895), it explained how the curse on Ham was passed on through Canaan to the entire negro race: 'Canaan who is certainly the father of the negro family, was adapted to a destiny suited only to an inferior people. The prophecy begins by saying "Cursed be Canaan; a servant of servants shall he be unto his brethren"… Let us see how literally the prophetic law embraced in this verse has been fulfilled by the negro and negro alone' (T. Taylor 1895: 20-21).

101 Earlier Islamic scholars had concluded that Indians were black descendants of Ham but that they were the first nation to have cultivated the sciences, and hence Allah ranked them above some white and brown peoples. See, for instance: (i) The eleventh-century work translated in (Andalui 1991). (ii) Shem is named as the ancestor of Arabs and Persians; Ham, as the ancestor of Indians; and Japhet, as the ancestor of Turks, Chinese and Russians, in the 1768 work by Muhammad Qasim Hindu Shah Firishta (Firishtah n.d.). (iii) A later work places Akbar in the lineage of Japhet, whom it regards as the most just of Noah's sons, while Ham had sons named Hind and Sindh. (Beveridge 1902, Reprint 2010).

102 (Sugirtharajah 2005: 148, 150).

103 (Newton 2009). Later, Bryant (in 1774-76) evolved this further in his three-volume series titled Analysis of Ancient Mythology (Byrant 2003). The sons of Ham included Egyptians, Greeks, Romans and Indians. These descendants of Ham had invented the arts but then declined into idolatry.

104 (Slotkin 1985).

105 From the Egyptian paintings to the Ajanta caves, art history shows a diversity of ideas about human beauty, reflecting the prevailing view of that time and place. When one examines the women models in the Renaissance paintings, most of them are pale, overweight by today's standards, and without cosmetics or jewellery. By today's standards of Madison Avenue fashion, few of the Renaissance models would get jobs even as ordinary models. The dominant culture during the Renaissance did not exert much physically, as that was a marker of the labour class, whereas the elite today espouse exercise as a value. The European elite in prior centuries avoided the sun, while the poor worked in the fields, but today the rich boss is out playing golf and getting tanned or going to beach resorts, and it is the blue-collar worker who is indoors in a sweatshop.

106 A very early Greek text by John Chrysostom has Jesus with dark blue eyes, though this depiction did not become popular in the mainstream until relatively recently.

107 (Trautmann 2004: 42).

108 Trautmann explains the Hindu images which are so prominent on Sir William Jones's statue in St Paul's Cathedral: 'The scene as a whole, therefore, is presented not under the aspect of a depiction of pagan idolatry but as a benign, independent record of the truth of the Biblical story of the universal flood' (Trautmann 2004: 80).

109 The Divine Comedy, 'Inferno', Canto 1

110 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: The Renaissance in India 1997: 186). I am indebted to Dr Lokesh Chandra who, during our conversations in the 1990s, suggested the terms 'forest civilization' and 'desert civilization'.

111 The jati called baniya, prevalent in northern India, often sold groceries and other merchandise under such a tree, and British writers of the seventeenth century started to refer it as 'banyan', naming it after the community conducting its business underneath its shade. The traditional Indian school was often held under a banyan tree, and this is still the case in remote areas.

112 F.B.J. Kuiper's magnum opus Varuna and Vidûshaka: On the Origin of the Sanskrit Theater argues for the (asura) Varuna-identity of the Hindu joker. It grew out of his primary work on the centrality of balance between order/chaos, gods and demons, in Vedic religion (Kuiper 1979).

113 It is important to bear in mind that the Hindu sages were keenly aware of these connections and theorized them in multiple ways.

114 (Lannoy 1971: 399). Lannoy argues that this art form usually conforms to a tragicomic mould in keeping with the conception of the Hindu universe as a conjunction of complementary forces morally opposed to each other.

5. Non-translatable Sanskrit versus Digestion

1 Katyayana, the Sanskrit grammarian and mathematician of the third century bce, stated that shabda (speech), artha (meaning) and their mutual relation are eternal (nitya). He believed that the word-meaning relationship was not a result of human convention but was eternal. Although the object that a word refers to is non-eternal, the substance of its meaning remains unchanged, like a lump of gold used to make different ornaments, and is therefore permanent. According to Patanjali, spotha (meaning) is the permanent aspect, while dhvani (sound) is its temporary aspect. The Sanskrit author Bhartrihari, on the other hand, regarded shabda as indivisible, unifying cognition and linguistic usage, and ultimately identical with Brahman. Shabda-Brahman is both the underlying cause of the articulated sounds and the linguistic expression of their meaning. Language philosophy was debated between the naturalists of the Mimamsa school led by Kumarila, who held that shabda designates the actual phonetic utterance, and the Sphota school, led by Mandana Mishra, who identified sphota and shabda as a mystical 'indivisible word-whole'.

2 The Indian conception of the relation of the macrocosm to the microcosm is also expressed in the tantric system as the four layers of vak (vibration) which comprise a tangled web. From the grossest to the subtlest, these are as follows: (1) Vaikhariis what we conventionally experience externally. Here things are separate and relate as independent entities. For example, verbalizing a mantra as audible sound is at the vaikhari level. (2) Madhyama is the subtler level of cognition, where the mantra is in the mind as a thought but not verbalized aloud. (3) The next more subtle level is pashyanti, which is in the subconscious mind where these entities are inter-contained and

inter-defined and not really separable at all. This is when the mantra disappears, leaving only a very mild presence but without form. (4) Para is the ultimate reality, where there are no separate entities and only an ocean of possibilities from which the aforementioned levels arise to manifest difference. The mantra is absent and there is silent but heightened awareness.

3 (Kak, The Gods Within, 2002: 151).

4 SrimadBhagavatam 12.6: Verses (40-41). The Supreme Self perceives this unmanifest, subtle sound outside of the physical sense of hearing and power of vision. The complete Vedic sound one employs is an elaboration of the 'omkara', which appears from the soul in the ether. Of the self-originating Brahman and Paramatman, it is the direct expression. It is the eternal seed of the Vedas that is the secret of all mantras. (42) The three sounds [A, U and M] of the alphabet beginning with A originated from that sound. They are fundamental to the threefold aspect of material existence, namely, the gunas, as well as to the names of the Vedas, destinations of lokas, and states of consciousness [avasthatraya]. (43) The mighty unborn Lord Brahma created from it the different sounds of the total collection of vowels, sibilants, semivowels, and consonants as they are known by their short and long measures.

5 Patanjaji's Yoga-Sutra (I.48-51). Such enlightenment/understanding is saturated with harmony, order and righteousness. Whatever one has learned or heard from external sources is outside of the consciousness, but this special realization is of a different category. This spontaneous self-awareness completely transmutes the entire being and there is total change. All other habits and tendencies are overcome by it. When even this special realization (with the seed of fragmentation still present in it) gets transcended, everything is transcended, and the seeker has, as it were, come full circle. The Reality realizes itself, without the need for the separate individual even in his subtlest state. This indeed is the enlightenment in which there is no seed at all for the manifestation of duality.

6 (Lannoy 1971: 273-74).

7 (Ibid. 275).

8 Pure, ecstatic contemplation of phonetic sounds reverberating on the ether in the sacred chant is comparable to the contemplation of geometrical forms and mathematical laws by the Pythagoreans. 'Only the Pythagorean master can hear the music of the spheres: only the perfect Hindu sage can hear the primordial sound – nada. One system exalted numbers, and the other, words'(Lannoy 1971: 276).

9 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: The Future Poetry, 1997: 38).

10 An example of such a study was reported in the article titled 'Physiological patterns during practice of the Transcendental Meditation technique compared with patterns while reading Sanskrit and a modern language', published by the Psychology Dept., Maharishi University of Management, Fairfield, Iowa. It claims: 'This study tested the prediction that reading Vedic Sanskrit texts, without knowledge of their meaning, produces a distinct physiological state. We measured EEG, breath rate, heart rate, and skin conductance during: (1) 15-min Transcendental Meditation (TM) practice; (2) 15-min reading verses of the Bhagavad Gita in Sanskrit; and (3) 15-min reading the same verses translated in German, Spanish, or French. The two reading conditions were randomly counterbalanced, and subjects filled out experience forms between each block to reduce carry-over effects. Skin conductance levels significantly decreased during both reading Sanskrit and TM practice, and increased slightly during reading a modern language. Alpha power and coherence were significantly higher when reading Sanskrit and during TM practice, compared to reading modern languages. Similar physiological patterns when reading Sanskrit and during practice of the

TM technique suggests that the state gained during TM practice may be integrated with active mental processes by reading Sanskrit' (Travis, et al. 2001).

11 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: The Future Poetry, 1997: 313). This is a paraphrase of Anjali Jaipuria, 'Mantric Poetry', presented at National Seminar on Philosophy of Indian Poetics & Value-Oriented Education, 24-26 January 2003, Sriperumbudur, India.

12 In texts such as Sringaraprakasha of Bhoja (Chapter 7) and Durghatavritti of Sharanadeva, the authors declare that intonation has an important role to play in revealing the intention of the speaker, and it helps in the interpretation of texts in the right manner. Bhoja has given several divisions and subdivisions of intonation and their importance. In Sringaraprakasha, each category of intonation has been illustrated with examples from Sanskrit literature.

13 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: The Synthesis of Yoga, 1999, 11-12).

14 Dr Sampadananda Mishra of the Sri Aurobindo Society, Pondicherry, India, has theorized that reciting certain Sanskrit alphabets gives an experience of pranayama.'It is as if the alphabet is breathing,' he remarks.

15 (Aurobindo, Hymns to the Mystic Fire, 1996: 449).

16 For example, the word ushas in the Vedas has both light and darkness as its meanings. The experience of light is not complete without the experience of darkness, and so the word meaning 'light' also expresses the sense of 'darkness'.

17 I am indebted to Dr Sampadananda Mishra of the Sri Aurobindo Society, Pondicherry, for providing this example.

18 For more details, see: Sanskrit and the Evolution of Human Speech by Dr Sampadananda Mishra, pp. 119-124 (unpublished).

19 Again, I am indebted to Dr Sampadananda Mishra of the Sri Aurobindo Society, Pondicherry, for providing this example.

20 (Ramanujan 1990: 48).

21 The correct method is prescribed by the Vedanga called Siksha, which covers enunciation (ucharana), tone (swara), duration (maatra), pitch (balam), evenness (samam) and compounding (santhanam). These rules, designed to ensure clear, lucid and effective pronunciation of mantras, require that the sounds be properly audible and not mumbled or overemphasized; nor should they be uttered in a casual manner or in a staccato fashion, nor delivered too fast or too slow or with a shaking of the head. The sounds should have been orally learnt from a teacher and should be orally chanted with concentration and understanding and never read from a written script.

22 In his Mahabhashya (1.1.1), Patanjali gives a beautiful example to illustrate this point. Indra killed Trishira, the son of Tvashta. This enraged Tvashta, who set about avenging his son's death. For this he conducted a sacrifice with the intention of bringing into life a powerful being that could kill Indra. He had recited repeatedly 'indrasatrurvarddhasva', meaning 'may the killer of Indra grow stronger'. But, unfortunately,Tvashta recited the mantra with the wrong accentuation. As a result, the word indrashatru, meaning 'the killer of Indra' ('indrasya shatruh') gave the sense 'he whose killer is Indra' ('indrahyasya shatruh') and ultimately the being that came out of the sacrificial urn was killed by Indra. Tvashta could not get the desired result, and all his efforts proved futile because he accented incorrectly. Erroneous intonation or accentuation, then, can bring harmful results or no result at all.

23 See (Ramaswamy, Nicolas and Banerjee 2007), for details on this example and the controversy surrounding it.

24 (Sullivan 1994: 377-401).

25 (Ramanujan 1990: 50).

26 Epistemologically, there are many theories in Indian philosophy which emphasize the contextual nature of subject–object relationships. One sophisticated theory is propounded in the Vijnaptimatrata philosophy of the Yogachara school of Buddhism, according to which all erroneous cognitions are said to arise in the form of bifurcation of subject and object (grahya-grahaka-vikalpa) in what is more fundamentally a non-dual experience (advaya-vijnaptimatrata) in which duality discrimination (dvaya-vikalpa) is introduced as an inveterate tendency to dichotomize. The general Buddhist theory of 'dependent arising' ('pratityasamutpada') also emphasizes the mutually dependent nature of the subject-object (nama-rupa) relation.

27 (Ramanujan 1990: 50).

28 These three 'das' comprise a model conversation policy, an intense desire to preserve the equilibrium, and a subsistence ethic designed not to upset the social ecology. This institutional framework is rooted in the exchange of services and social reciprocity called the 'jajmani' system wherein the law of karma operates as the ethical correlative. See: (Lannoy 1971: 194-95).

29 (W. Jones 1795: 237-312). Westerners consider Carolus Linnaeus (1707– 78) to be the father of modern taxonomy.

30 This method was also used by The Mother, Sri Aurobindo Ashram, to give spiritual names to hundreds of flowers. She explained how she discovered the significance of a given flower 'by entering into contact with the nature of the flower, its inner truth. Then one knows what it represents' (Mother 2003: 230).

31 Dr Sampadananda Mishra of the Sri Aurobindo Society, Pondicherry, has provided the following examples to show how the various names of a plant reveal the different aspects of its truth. The modern botanical description of guduchi or tinosporacordifolia is that it is a climber with long offshoots; rich in foliage, in sap; the leaves of which are used as vegetables; its mature stem is black green in colour; it has no thorns; it has a bitter taste; it promotes good health and imparts longevity and is benevolent in action; cattle love to eat its leaves; it is capable of rejuvenating itself from the cut bits of the stem; and its fibrous shoot was used in surgery for suturing. Now let us look at the different names of this plant given by the ancient Indian Acharyas. The very name guduchi is derived from the root gud, which means 'to guard or protect or preserve'. This indicates the high potentiality of the plant. The names amritavalli, amritavallari, amritalata, somavalli and somaltika indicate that this is a weak-stemmed plant. The name mandali indicates that the stems of this plant entwine in a circular fashion; kundali indicates that the stem gets entangled while it twines; nagakumari indicates that the stem has a twining nature comparable to that of young snakes; tantrika points out the spreading nature of the plant; tantri indicates the tough rope-like nature of the plant; chadmika refers to its thick foliage; vatsadini indicates that its leaves are eaten by the calves; shyama refers to the black green colour of its stem; dhara indicates that the young stems of this have slight longitudinal grooves; chakralakshana indicates the appearance of the stem in cross-section; vishalya indicates that the plant has no thorny or irritant appendages; the names china, chinnaruha, chinnodbhava and chinnangi refer to the undying nature of the stem or stem bits; abdhikahvaya refer to the richness of sap in its stem and leaves; amrita indicates that the persons using this plant would live a long and healthy life; soma refers to the powerful action of the plant as an elixir; the names rasayani, vayastha and jivanti refer to the rejuvenating nature of the plant; jvarashini and jvarari refer to the specific use of the plant in fevers; bhishakpriya and bhishakjita signify that this plant is the favourite of the physicians; vara indicates that it is the best among medicines; soumya and chandrahasa indicate its nature of benevolence in action; devanirmita,

amritasambhava and surakrita indicate the divine origin of the plant. These examples show that the ancient Indian rishis did not create multiple names for one plant just out of their fanciful imaginations; the names corresponded to their various experiences in the process of discovering the complete nature or truth of a plant.

32 Richard Lannoy, who researched this history, points out that Indians were structuralists several thousand years before Claude Lévi-Strauss lost all sense of time and became totally absorbed in tracing the labyrinthine geological strata of the Cévennes and long before structuralist physics was developed with the aid of non-numerical, computerized pattern-recognition (Lannoy 1971, 280).

33 (Eliot 1964: 118-19). Kearns explains that Eliot's use of 'shantih shantih shantih' to end The Waste Land showed his deep appreciation of the sound and breath effects involved, and that the closest Christian equivalent, 'the peace that passeth understanding', would be a feeble translation. Yet Eliot omits aum at the end. This was the final threshold dividing Indic and Western tradition which Eliot did not want to cross (Kearns 1987: 228-29).

34 (Lannoy 1971: 166).

35 (Ibid).

36 (Nath 2001).

37 (Ibid.: 98).

38 (Eck 1982: 69).

39 According to Skanda Purana (II.8.6.81-84), by taking a bath in the place where Sarayu and Ghaghara meet, the pilgrim receives punya (merit) equivalent to a thousand Ashvamedha Vedic rituals, etc.

40 For example, the Linga Purana (I.77.8-25) refers to different styles of temple architecture.

41 For example, in the Markandeya Purana (XIX.10), drinking liquor is not disapproved of, and meat and liquor are mentioned as acceptable offerings to Lord Dattatreya.

42 (Lannoy 1971: 193).

43 (Lamb 1975: 442-43).

44 As quoted in (Bhattacharjee 1981: 199-200).

45 (Bhattacharjee 1981: 1-3).

46 There is synergy between Sanskrit and Prakrit. A tinge of Prakrit added to Sanskrit brought Sanskrit closer to the language of the home, while a judicious Sanskritization made Prakrit into a language of a higher cultural status. Both processes were simultaneous and worked at conscious as well as subconscious levels. As an example of this symbiosis, one may point to various Sanskrit texts in medieval India which were instruction manuals for spoken or conversational Sanskrit by the general public.

47 For examples of such projects, read (Malhotra and Neelakandan 2011)

48 There can certainly be abusive practices in pull marketing; the mere fact that the buyer takes the initiative does not preclude unethical conduct on the part of the seller. Likewise, not all push marketing is unethical but can be easily coopted by the aggressive ego.

49 (Lamb 1975).

50 Another distortion in translation is the loss of families of words. We have seen that the synonyms for a given object are like a family. But when these are separately mapped on to another language they no longer comprise a family.

51 Monier Williams gives 'in whom all things lie' as the primary meaning of Shiva, derived from the root œi. Other important meanings of the word are 'auspicious', 'kind', and so on. Shiva is also 'a-kala', i.e., beyond time, and 'sadashiva', the eternal who stays on despite and beyond destruction.

52 The Vedic term ritam means truth defined as a repeated pattern of events, something like universal laws of science. This is distinguished from satyam, which is absolute truth. While empirically observed patterns of repeated events are open to verification, as well as falsification, satyam, based on transcendental experience, is absolute and independent of contingencies of empirical observation (which David Hume spoke of in the eighteenth century).

53 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: Essays on the Gita, 1997: 4).

54 (A Concise Sanskrit-English Dictionary 1990). In specific systems there are also other meanings, such as, for instance, in Jaimini's Mimamsa aphorisms (1.1.2).

55 It has been pointed out that the Hindu school of Purva Mimamsa does demand commandment-style obedience. This system consists of mechanical reciting of mantras in the right way so as to achieve the desired result, and it interprets the Vedas as including 'vaidhi' (commandments) among its verses. Jaimini originated the Purva-Mimamsa school by compiling earlier interpretations, the main thrust of which was that the slightest deviation from the correct procedure of the yajnas (temple ritual) would not only be futile but counterproductive. Language had to be purposeful, and purely descriptive language was worthless. In his book Vidhi Viveka, the eminent scholar Mandana Misra discusses the Purva-Mimamsa claim that dharma is to be known only from the Vedic injunctions. See: (Natrajan 1995). However, it is refuted by Vedanta and Tantra and replaced by what is called Uttara Mimamsa. Buddha, Mahavira and Krishna were all opposed to the purva-mimamsa way. Krishna (in Gita 2. 42-6) criticizes the 'veda-vada-ratahs', or the persons who have superficial knowledge of the Vedas, and for having the wrong bhava. He emphasizes the importance of knowing the higher purpose of rituals as opposed to the mechanical performance of them. Sri Jiva refers to two kinds of bhakti: vaidhi-bhakti is based on scriptural compliance whereas raganuja-bhakti is based on feelings of love from the heart. The latter is far superior. Thus, Purva Mimamsa is seen as having a role for beginners and is superseded by Uttara Mimamsa. Also, even at the Purva Mimamsa stage, vaidhi was never a set of commandments against others but was intended as a set of instructions to help the individual raise his or her own consciousness in order to transcend, as it were, the need for commandment.

56 Interestingly, these laws do not pertain to jatis, varnas, etc., in other words there are no civic or criminal laws as such pertaining to castes.

57 For a detailed account on why Dharma is not law, see: (Sharma 2005).

58 See, for example, Sharma 2005.

59 Some examples from the Vedas are as follows: Chandogya Upanishad (2.23.2-3): 'As leaves are held together by a spike, so all speech is held together by Aum. Aum is the world-all.' Taittiriya Upanishad (1.8): 'Aum is Brahman. Aum is the whole world.' Katha Upanishad (2.15-17): 'The word which all the Vedas rehearse, and which all austerities proclaim, desiring which men live the life of religious studentship – that word is Aum. That syllable is Brahman. That syllable indeed is the supreme. Knowing that syllable, whatever one desires is his.' Mandukya Upanishad (1-12) explains that Aum is divided into four components: 'A', 'U' and 'M' correspond to the three states of consciousness, namely and respectively, waking, sleeping and deep-sleep. The fourth is the 'turiya' state, which transcends all these. Thus Aum is the Self (Atman). Maitri (Maitrayaniya) Upanishad (6.22) explains that Aum is both the way to understand Ultimate Reality as well as the means to transcendence in order to attain it. Aum is equated with 'Shabda-Brahman'. Maitri Upanishad (6.28)

compares Aum with the raft for crossing to the other side of the space in the heart. Svetasvatara Upanishad (1.13-14) explains the use of Aum as sound for meditation. 'Both the universal and the individual Brahman are to be found in the body by the use of Aum. By combining one's body and the Aum sound for practising dhyana, one may see the deva within oneself.'

60 (G. Joseph 2007).

61 (Loy, A Buddhist History of the West : Studies in Lack 2002).

62 (Patterson 1992: 402-03).

63 (Loy, A Buddhist History of the West : Studies in Lack 2002, 9).

64 (de Nicolas 1986).

65 Ibid.

66 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: Essays on the Gita, 1997: 13-14).

67 Ibid.

68 This is based on the Bhagavadgita's view. The Puranas and some other Vaishnava traditions do not make a clear distinction between vibhuti and avatara, and there is a tendency to apply the name 'avatar' to anyone who has risen above the ordinary level of human consciousness or has some special divine power. But the Bhagavadgita is specific about avatars and says that there can be infinite numbers of vibhutis, or ones with special qualities and powers of the divine, but the Supreme descends in human form as an avatar for a specific purpose.

69 Kundalini Rising: Exploring the Energy Awakening, by Gurmukh Kaur Khalsa and Dorothy Walters. Sounds True, 2009.

70 The Virgin Mary has long been the object of both devotional and scholarly interest, and recent years have seen a proliferation of studies on traditions of worship of Hindu goddesses. Despite the parallels between the two, however, no one has yet undertaken a book-length comparison of these traditions. In Divine Mother, Blessed Mother, Francis Clooney offers the first extended comparative study of Hindu goddesses and the Virgin Mary (2005). Clooney is almost unique in the field of Hindu studies as a Christian theologian with the linguistic and philosophical expertise necessary to produce sophisticated comparative analyses. Building on his previous work in comparative theology, he sheds new light not only on these individual traditions but also on the nature of gender and the divine.

71 (Aurobindo, The Mother 1995, 54).

72 'The Gods are born from Aditi in the supreme Truth of things, the Dasyus or Danavas from Diti in the nether darkness; they are the Lords of Light and the Lords of Night fronting each other across the triple world of earth, heaven and mid-air, body, mind and the connecting breath of life' (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: The Secret of the Veda 1998, 232). Also: 'Aditi is the infinite Light of which the divine world is a formation and the gods, children of the infinite Light, born of her in the Ritam, manifested in that active truth of her movement guard it against Chaos and Ignorance. It is they who maintain the invincible workings of the Truth in the universe, they who build its worlds into an image of the Truth' (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: The Secret of the Veda 1998, 475).

73 The names of these ten personalities appear differently in different Tantras, though the most popular and widely accepted names are: Kali, Tara, Tripurasundari, Bhuvaneshwari, Tripurabhairavi, Chhinnamasta, Dhumavati, Bagalamukhi, Matangi and Kamalatmika. At the start of each cycle of creation, Kali emerges as Time, and Bhuvaneshwari as Space; the flaming word supreme turned toward manifestation is Bhairavi; the perceiving word is Tara; the expressed word is

Matangi; the primordial luminous desire is Sundari; the delightful beauty is Kamala; Chhinnamasta combines light and sound in her thunderclap; and Bagalamukhi stifles the free flow of things.

74 Some linguists feel that it was an adaptation of Sanskrit 'santah', with the root word 'sat'. In Hindi it is 'sant'. In support of this, one notes that saints emerged prominently in Catholicism, and hence this was not something adopted from Judaism.

75 'Tat paramam Brahma-veda Brahma-ivabhavati' ('The knower of that ultimate Brahman becomes Brahman, nothing less'), Mundaka Upanishad, 3/2/9. There are seven types of rishis: srutarshi, kandarshi, paramarshi, maharshi, rajarshi, brahmarshi and devarshi.

76 (Aurobindo, The Hour of God: Selections from his Writings, 1995, 218).

77 An example of worshipping numerous devatas for specific qualities is the following aphorism by Sri Aurobindo: 'Be wide in me, O Varuna; be mighty in me, O Indra; O Sun, be very bright and luminous; O Moon, be full of charm and sweetness. Be fierce and terrible, O Rudra; be impetuous and swift, O Maruts; be strong and bold, O Aryama; be voluptuous and pleasurable, O Bhaga; be tender and kind and loving and passionate, O Mitra. Be bright and revealing, O Dawn; O Night, be solemn and pregnant. O Life, be full, ready and buoyant; O Death, lead my steps from mansion to mansion. Harmonise all these, O Brahmanaspati. Let me not be subject to these gods, O Kali' (Aurobindo, The Hour of God: Selections from his Writings, 1995, 85).

78 This view of the worship of images is consistent with the 'smarta' schools of Hinduism. This is distinct from Vaishnavism where the image is seen as a living being ('archa-vigraha') because the Lord has entered it after the necessary rituals, and hence it is not a mere symbol. But in either case, it is not an idol in the Western sense of that term.

79 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: Essays in Philosophy and Yoga 1998, 247).

80 (Aurobindo, The Upanishads 1996, 278).

81 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: The Renaissance in India 1997, 192).

82 (Kirsch 2004).

83 Ibid.: 108-109.

84 Ibid.: 115.

85 Ibid.: 15-16.

86 (Ibid. 2004: 113).

87 (Salisbury 2004).

88 See: Breaking India.

89 Rig Veda (I,164,35) says that yajna is the very navel of the universe. It was Lord Prajapati who first fashioned yajna, and through it he wove into one fabric the warp and weft of the three worlds (Rig Veda I,164,33-35).

90 One prominent incident in the sixteenth century is described as follows: 'For it is an Indian custom that when such a calamity has occurred, a pile is made of sandalwood, aloes, etc., as large as possible, and to add to this dry firewood and oil. Then they leave hardhearted confidants in charge of their women. As soon as it is certain that there has been a defeat and that the men have been killed, these stubborn ones reduce the innocent women to ashes…As many as three hundred women were burnt in the destructive fire of those refractory men' (Allami 1977, 472).

91 'Puputan' is a Balinese term that refers to a mass ritual suicide in preference to facing the humiliation of surrender … [In] 1906, an overwhelming Dutch force landed at Sanur beach … [and] the Raja, dressed in traditional white cremation garments [and] magnificent jewelry … [led a

procession of his] officials, guards, priests, wives, children and retainers [and] began killing themselves and others… the Dutch open[ed] fire with rifles and artillery. Women mockingly threw jewelry and gold coins at the troops … Approximately 1,000 Balinese died' ('Puputan' 2011).

92 While not linked to the concept of yajna, it has been suggested that the Bhagavadgita, too, incites violence, especially when Lord Krishna urges Arjuna to fight his close relatives in order to fulfil his dharma. But before rushing to declare these wars as equivalents, several critical differences must be noted. Arjuna declares his reluctance to fight as he has nothing to gain, whereupon and Krishna educates him on the inner state of the warrior – consisting of detachment, self-mastery, transcendence of ego, and devotion – as a critical prerequisite of action. In the Bhagavadgita it is dharma (as righteousness) and not one's specific brand of religion that is paramount and worth fighting for. In the Abrahamic traditions, the son, or the warrior, must be willing to die for the self-proclaimed 'true' faith, often in place, or on behalf, of his forefathers. This willingness could, of course, testify to a transcendence of ego, but that is not stressed in the usual transmission and teaching of this story in the Abrahamic traditions. While Hinduism has had its share of militant wars, immolations and sacrifices, it has nothing like the violent history of martyrdom which we see in early Judaism, Christianity and Islam. Nor does martyrdom offer the ticket to salvation or entry into paradise. Arjuna's liberation would depend, the Gita makes clear, on a lifelong treading on the path of dharma and not on a single act of self-immolation, no matter how worthy and defensible the cause.

93 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: Essays on the Gita 1997, 120).

94 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: The Secret of the Veda 1998, 278).

95 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: Essays on the Gita 1997, 119).

96 Hegel's philosophy of history is the self-conscious expression of an attitude that operates implicitly across the whole culture, and this remains Christian even when translated into secular theories regarding the end of history.

97 One person may, indeed, suffer from someone else's hatred or anger, or get a positive surprise from someone. But it is the recipient's own past karmic debt that has created such circumstances, and the other person doing the act is merely a vehicle for what was coming anyway through one means or another. So there are two separate accounts involved here: the person doing the act and the one to whom it is being done. The doer, by this act, is creating fresh karma in his account, as it were. The recipient suffers a consequence of past karma in his account. Each account is with the cosmos and not with another individual. The cosmos may deploy an individual as the vehicle or may bring about situations that are not directly brought about by any individual, say, an accident or earthquake or an epidemic.

98 Panchatantra is the Sanskrit collection of animal fables, probably compiled in the third century bce. Buddhist prose fables are interspersed with wise sayings in verse. The work is attributed to Vishnu Sharma.

99 The Biblical book of Revelation, Chapters 6–18, describes the End Times prior to the Second Coming of Christ. The world will be devastated, millions of people will perish, and the most evil person in all history will be ruler of the entire world. The Second Coming of Christ puts all this to an end.

100 The dialogues in Katha Upanishad explain the temporary nature of such stays in heaven/hell, and their difference from moksha, which is permanent.

101 The idea of rebirth is embedded in a hierarchy of innumerable forms of life. Some texts estimate 8.4 million forms of life all the way from 'Brahma the creator to a blade of grass'. Some

interpretations assume that the jiva-atman (soul) starts at the lowest forms of life and naturally evolves to the human form where it has the free will to be able to bring about progress.

102 The accumulated samskaras, or traces, that ripen across a series of life cycles are called samcitakarma.

103 There is nothing equivalent to the collective guilt, suffering and redemption found in Christianity.

104 In Hinduism, there is a similar concept of receiving grace from one's guru whereby a guru can diminish negative phala by assuming the negative karma of a disciple. However, such transfers are rare and local, and never on a universal scale such as the claim of Jesus transferring all karma of all humanity, including those born thousands of years after him.

105 The Bible speaks of Jesus' sacrifice as ongoing forever, a perpetual flow of blood until the end of time, which would have to be the case if his death on the cross were a metaphysical as well as physical one, and thus never really over as is insisted in the faith. So this discrepancy is not insurmountable theologically.

106 That the Indian spiritual traditions posit infinite time and finite karma does not mean that there is no sense of urgency to the spiritual quest or that that attitude is carefree or casual. Quite the contrary. The moksha-marga discourse which abounds in the spiritual literature of all dharma traditions includes urgent admonitions for those who are qualified by dint of discrimination (viveka) and detachment (vairagya) to strive for liberation in the present life (jivanmukti). In the Indian traditions, however, this urgency is within the context of individual sadhana and the realization that the liberation path (moksha-marga) may stretch over several lifetimes and the final goal not achieved in the present life. The efforts made toward the realization of the goal in anyone life persist as tendencies (samskaras) in the psyche (chitta) and their karmic potential will be activated in subsequent lifetimes.

107 According to Dante, the gates of Hell carry the message: 'Abandon hope, all who enter here' ('Lasciate ogne speranza, voi ch'entrate').

108 The Four Noble Truths are: (1) Dukkha is inherent in the ordinary human condition. (2) The cause of dukkha is attachment. (3) Cessation of suffering is attainable in human life. (4) The way to achieve this is through the eightfold path.

109 This is explicitly true of Catholics and Mormons, as well as Protestant evangelicals, Pentecostals and members of mainline denominations such as Baptists, Southern Baptists, Presbyterians, Methodists, Calvinists, etc.

110 The subject of Western appropriations of Indian spiritual traditions is covered in my forthcoming series of books on 'U-Turn Theory'.

111 (Malhotra, A Hindu View of Christian Yoga 2010).

112 This whole paragraph is based on (Aurobindo, The Mother 1995, 1-41).

113 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: Essays Divine and Human 1997, 18).

6. Contesting Western Universalism

1 Homer, for example, does this backward projection to construct Greek prehistory using civilizations that were non-Greek (such as Hittites, Anatolians, etc.). Similarly, the book Black Athena shows how African civilization was coopted in the Egyptian historians' workshop, and later this Egyptian civilization got co-opted into Greek civilization. What is called Roman Art was often the art of non-Roman peoples conquered by Imperial Rome and hence named after the new owners. Christianity selectively borrows from Judaism's Old Testament, and Islam selectively borrows from

the Bible. The ‘pagan’ category was created by collapsing immense diversity and context in pre-Christian Europe, Egypt, Greece, Persia, Hittite, India, Africa, Latin America, and just about everywhere else

2 The origins of the separation of East vs. West goes back to the truce called by the Pope in the fifteenth century between Spain and Portugal by legitimizing their right to plunder on either side of the longitude passing through the Azores islands in the Atlantic ocean.

3 Indian mimicry of British Victorian laws enacted under colonial rule has led to a contemporary controversy about gays. In traditional Indian society, there are no normative sexual categories of ‘gay’ and ‘straight’, and therefore being gay is neither banned nor formally sanctioned. It is simply left ambiguous and indeterminate for individuals to figure out for themselves in their own contexts. In the traditional Indian approach, the Western categories of gay/straight are not mutually exclusive, nor are they the permanent essences of a person. From such a perspective, questions such as whether a gay person is ‘allowed’ to be Hindu appear strange.

4 (Hegel, Lectures on the Philosophy of World History, 1982: 64).

5 Ibid.

6 (Hegel, Samtliche Werke, 1955: 243); quoted in (Dussel 1995: 20).

7 As Edward Said points out, Asia and Africa were often declared ‘static, despotic, and irrelevant to world history (Said, Culture and Imperialism, 1993: 198).

8 (Hegel, Lectures on the Philosophy of World History, 1982: 30).

9 Cited in (Dussel 1995: 24).

10 (Hegel, Enzyklopadie Der Philosphie, 1952: 151).

11 (Hegel, Lectures on the Philosophy of World History, 1982: 138).

12 (Schlegel 1859: 120).

13 (Hegel, The Oriental World: India, 1956: 140–41, 162–64).

14 See (Clarke 1997: 65–67).

15 (Hegel, The Oriental World: India, 1956: 109).

16 Ibid., 149.

17 Ibid., 150.

18 Ibid., 164. This series of quotes is paraphrased from (Kearns 1987, 92– 94).

19 (Hegel, Lectures on the History of Philosophy, 1995: 125–26).

20 From (Hegel, Lectures on the Philosophy of World History, 1982), Quoted in (Droit 1989: 189).

21 Hegel read translated works of India and sought advice from the noted Sanskrit linguist F. Bopp in Germany, but his most important references were the writings of British colonialists, such as William Jones, F. Wilford and J. Mill. Toward his final years, Hegel seemed to become more open to treating Indian philosophy as legitimate. Earlier he had claimed that India had to be ‘excluded from the history of philosophy’ because ‘real philosophy begins only in Europe.’ Hegel softened this stance somewhat after reading Colebrooke’s articles on Samkhya and Nyaya-Vaisesika, regretting that these systems had been misunderstood by Europeans as ‘religion’ rather than philosophy. But even after this new insight into India, he continued to insist that Indian philosophy was disconnected from the historical process of progress because it lacked the idea of the autonomous individual self as a concrete agent of historical change. He was emphatic that Indian thought is a generic and vague mysticism that annuls all individuality and discourages initiative. His

influence on other Enlightenment thinkers has been such that holistic ideas are dismissed as confusion. Although there is much talk currently of holism in philosophy and of a unified theory of knowledge, the binary dialectic using a sharp distinction of categories remains the predominant characteristic of Western thought.

22 (Halbfass 1988: 146).

23 (Marx 1853). This was the final article in a series on India. See: (Halbfass 1988: 137–38).

24 (Guha 2002: 44–45).

25 Ibid. Some other examples of social sciences propagating these same prejudices can be found in: Weber's The Religions of India; Karl Wittfogel's Oriental Despotism; modern psychoanalysis of India by Carstair's The twice born; Mussaief-Masson's The Oceanic Feeling. Indian culture is depicted as pathological under such theories.

26 (Guha 2002: 48–49).

27 (Hegel, Lectures on the Philosophy of World History, 1982: 142).

28 (Hegel, Aesthetics, 1975) quoted in (Guha 2002: 38).

29 (Hegel, Lectures on the Philosophy of World History, 1982: 131).

30 (Guha 2002: 40–41).

31 (Hegel, Lectures on the Philosophy of World History, 1982: 341).

32 (Halbfass 1988: 96).

33 'Arya' is often the first member in the appositionally defined compounds (karmadharaya-samasa) such as 'Arya-Dharma: Noble Dharma','Arya-Pudgala: Noble /Holy Person','Arya-Sravaka: Noble/Holy Disciple','Arya-Marga: Noble/ Holy Path', and 'Arya-Sangha: 'Spiritual Community'.

34 (Malhotra and Neelakandan, Breaking India, 2011).

35 Such notions are reinforced by studies such as (Radhakrishnan, Eastern Religions and Western Thought, 1997), the title of which reflects the emphasis.

36 Among the Indian champions were Sarvepalli Radhakrishnan and T.R.V. Murti. Radhakrisnan's An Idealist View of Life (2009), and Murti's transcendentalist interpretation of Nagarjuna's deconstruction philosophy in his translation of the Mula Madhyamika Karika in The Central Philosophy of Buddhism(1960), are typical examples of this emphasis.

37 Many other European philosophers began simply to ignore Indian thought or else dismiss it as trivial. Halbfass lists a representative sample of works on the history of philosophy which ignore Indian philosophy except perhaps for some short, dismissive remarks which are assumed to be self-evident (Halbfass 1988: 153-54). James Mill, whose multi-volume history of India became the defining work on India for half a century, Lord Risley who developed and enforced hierarchical caste categories in India through the census every decade, and Max Weber, the pre-eminent Western sociologist of his era, were each very heavily influenced by Hegel's views on India. The same mindset has persisted among Western intellectuals to this day. For instance, it is evident in the writings of Jean Gebser, a well-known twentieth-century thinker who is often cited by westerners claiming to be devotees of Sri Aurobindo and other Indian gurus. They have been pursuing what they regard as East–West integration but in a very Hegelian framework of world history, which enshrines the imperative of a Western-dominated future (Gebser 1985).

38 A similar failure to address the problem of false Western universalism accrues to the common notion among successful Westernized individuals that the forces of capitalism and globalization will eventually bring a level of economic prosperity that will make the question of

religious and cultural identities moot, a matter of fashion, as it were, or of personal preference that has little or no impact on the public sphere. This again is a dangerous form of denial, for as we have shown in the early chapters of this book, globalization is at base an imposition of Western values and modes of being in disguise; its very presuppositions – that the world is 'progressing' toward some millennial goal of prosperity, that rampant acquisition and expansion are the only possible engines of development, and that the world is a set of resources to be exploited purely for the good of humans – are all versions of Abrahamic myth of history and its secular scientific alternative. But what has never been addressed in a satisfactory manner is how the Western model of progress can be scalable to cover all seven billion humans on the planet without human or environmental exploitation.

39 Encyclopaedia Britannica explains how the secular West has incorporated certain biblical ideas: 'Western civilization, even in its modern secularized forms, is heir to a long tradition of Christian patterns of thought and sensibility…Both the 18th- and 19th-century Enlightenment and the Romantic versions of the idea of the progress of humanity to an ideal state of peace and harmony betray their descent from messianic-millenarian beliefs…'('Eschatology', 1992).

40 (Loy, A Buddhist History of the West : Studies in Lack, 2002: 59).

41 (Ibid.: 127). Similarly, Western theories of human rights in vogue today, including the doctrine enshrined in the UN charter on human rights, are based on the debates among Christians in prior centuries. When John Locke, a British philosopher, started talking about 'natural rights' in the eighteenth century, he was reflecting an earlier debate within Christianity. Thus, Christian ethics and other ideas got dressed up in secular language. In psychology, it could be argued, the notion of the development of the self is a complex secularization of the Christian notion of soul.

42 Mercea Eliade's deconstruction of modern Marxism as Judeo-Christian myth is very interesting: 'Marx enriched the venerable myth by a whole Judeo-Christian messianic ideology: on the one hand, the prophetic role and soteriological function that he attributes to the proletariat; on the other, the final battle between Good and Evil, which is easily comparable to the apocalyptic battle between Christ and Antichrist, followed by the total victory of the former. It is even significant that Marx takes over for his own purpose the Judeo-Christian eschatological hope of an absolute end to history;…' (Eliade 1987: 296-97). Similarly, The Encyclopaedia Britannica explains: 'Marxist Communism, in spite of its explicit atheism and dogmatic materialism, has a markedly messianic structure and message… Some of the analogies between Marxism and traditional Christian eschatology have been described, in a slightly ironical vein, by the English philosopher, Bertrand Russell, who contends that Marx adapted the Jewish messianic pattern of history to socialism in the same way that the philosopher-theologian St. Augustine (ad 354–420) adapted it to Christianity. According to Russell, the materialistic dialectic that governs historical development corresponds – in the Marxist scheme – to the biblical God, the proletariat to the elect, the Communist party to the church, the revolution to the Second Coming, and the Communist Commonwealth to the millennium… The similarities are founded on actual historical contacts… and also on the fact that they are variations of the same social dynamics and of a basic myth…'('Eschatology', 1992).

43 See (Tilak 2009).

44 Gopalrao Joshi was a Maharashtrian who converted to Christianity in the early twentieth century to get the benefit of sending his wife Anandi to the US for a master's degree in medicine. When asked to take oath as a witness in a court of law by placing his hand on a Bible, Gopalrao refused. He said that as a Hindu he can go to any temple; and starting to go to Jesus' temple makes no difference, and insisted on taking oath by placing his hand of the Gita. In other words, Christianity is a sect, a sampradaya, and he did not want to give up dharma even as a Christian.

45 (Chaudhuri 1987: 881).

46 (Inden, Imagining India, 1990: xii).

47 Personal communication. Some of the prominent names that come to mind are: Vinay Lal, Gayatri Chakravorty Spivak, Ramachandra Guha and Partha Chatterjee.

48 For a recent example of many such discussions among Westernized Indian youth and my response to them, see: (History-Centrism vs. Non-History-Centrism, 2010).

Conclusion: Purva Paksha and the Way Forward

1 Mahabharata, XII.72.20.

2 Scharfe 1989: 221.

3 Spivak, 2004.

Appendix A: The Integral Unity of Dharma

1 In Vedanta, as in Kashmir Shaivism, universals (samanya) and particulars (visesha) are inseparable – the universal serving as the unity view and particulars as the multiplicity view of the very same reality. The universal is seen in and as every particular, and each particular is nothing other than a mode of the universal.

2 To appreciate this, we must first understand that there are three types of differences possible: (i) differences between two objects belonging to the same category (sajatiya), (ii) differences between two objects belonging to different categories (vijatiya), and (iii) differences within the same object, either among its various parts or between its form and its essence (svagata). The impersonal school categorically denies all three differences in Brahman, and this makes Brahman devoid of all forms and attributes. Ramaanuja does not accept the first two differences but accepts the third one, since inherent in Brahman are form and attributes that are built into its unity and are not separate essences.

3 Although the complementarity of jnana and bhakti are generally advocated as the manifestations of the cit-shakti, there is a difference between Sankara's Kevala-advaita and the Vaishnava Vedanta schools in general as to the relative superiority of jnana and bhakti. For Sankara, bhakti is preparatory or prerequisite to jnana; i.e., bhakti leads to brahma-jnana or cognitive realization of the attributless (nirguna) Brahman. Thus, there is the popular saying bhakti jnanam mata, meaning 'bhakti is the mother of jnana'. In other words, devotion culminates in knowledge. On the other hand, the devotional schools of Vaisnava Vedanta, such as the Achintya-bheda-abheda of Sri Jiva Goswami, consider the personal (Bhagavan) as higher than the impersonal absolute (nirguna-brahman), and knowledge (jnana) may be said to culminate in bhakti. Jnana is not demeaned and is generally considered complementary to bhakti, and eventually jnana is superseded or sublated by bhakti (Bhagavadgita, 7.19).

4 Lower deities are functional and meant for managerial affairs of the universe.

5 According to Srimad-Bhagavatam (3.29.13), 'a pure devotee does not accept any kind of liberation – salokya, sarsti, samipya, sarupya or ekatva – even though it is offered by the Lord.'

6 Sri Aurobindo explains this as follows: 'The material existence has only a physical, not a mental individuality, but there is a subliminal Presence in it, the one Conscious in unconscious things, that determines the operation of its indwelling energies … We see then all the powers inherent in the original self-existent spiritual Awareness slowly brought out and manifested in this growing separative consciousness; they are activities suppressed but native to the secret and

involved knowledge by identity and they now emerge by degrees in a form strangely diminished and tentative.' (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: The Life Divine, 2005: 570-71).

7 (Aurobindo, Collected Works of Sri Aurobindo: The Life Divine, 2005: 277).

8 Ibid.: 150.

9 (Mula-Madhyamaka-Karika, 1, Pratyaya-Pariksha). Translation by Dr Laul Jadu Singh

10 Four Hundred Stanzas by Aryadeva (Catuh-Shataka-Shastra-Karika, XV1, 23).

11 Quoted from the Kasyapa Chapter of the Arya Ratnakuta Sutra in (Lopez 2004, 353). Also, the Essence of the Perfection of Wisdom (Prajna-Paramita-Hridaya Sutra) famously states this principle: 'Form (rupa) is emptiness (sunyata), emptiness is form, form is not different from emptiness nor emptiness from form. What is form, that is emptiness, what is emptiness, that is form, and so it is for feeling, perception, dispositions and consciousness (the remaining aggregates).'

12 To reify the two truths in terms of two different ontological orders (of existence as pertaining to phenomena and noumena) would be to err in the direction of essentialism. This makes Buddhism radically different than Kantian and other Western idealism. Seen from a Buddhist view, the Kantian blunder is to reify two distinct ontological orders of existence, phenomenal and noumenal.

13 This statement, found in many places in the Pali canon in the original Pali is: 'nissaarana atthaya, na gahahana atthaya'; in Sanskrit: 'nihsarana arthaya', 'nagrahana arthaya'.

14 (Mula-Mamadhyamika-Karika, XIII, 8). Translation by Dr Laul Jadu Singh.

15 (MMK, XX1V, 8). The worldly conventional truth is called samvrittisatya/ loka-vyavahara. The supreme ultimate truth is called paramartha-satya.

16 (MMK, Atma-Bhava-Pariksha 8).

17 (MMK, Arya-Satyani-Pariksha 38). Translated by (Garfield 1995: 317).

18 (MMK, XXIV, 37). Translated by (Garfield 1995: 72).

19 (MMK, XXIV, 39). Translated by (Garfield 1995: 72).

20 (MMK, Svabhava-Pariksha 10). Translation Dr by Laul Jadu Singh. Nominal existence is referred to as prajnapti-sat.

21 It opens on this very theme: 'These two extremes are not to be resorted to by one who has gone forth from the world. What are the two? That conjoined with the passions, low, vulgar, common, ignoble and useless, and that conjoined with self-torture which is painful, ignoble, and useless. Avoiding these two extremes, the Tathagata has gained knowledge of the Middle Way, which gives sight and knowledge and which tends toward calm, insight, enlightenment, nirvana' (Opening verse of Setting in Motion of the Wheel of Dharma [Dharma Chakra Pravartana Sutra]).

22 The Kaccayana Vacchagota Sutta presents concisely the principle of Dependent Arising as a philosophical Middle Path.

23 Skilful means is called upaya-kaushalya.

24 (MMK, Atma-Bhava-Pariksha). Translated by (Garfield 1995, 72).

25 Nagarjuna employs both positive and negative forms of the tetralemma. In this way, the positive-negative distinctions indicate the different perspectives of the two truths (relative-conventional and ultimate). An example of the positive tetralemma from the conventional perspective is the four alternative positions on the self. This is not an irrational exercise by Nagarjuna but simply an explanation of how, from the perspective of conventional truth, the self-notion is valid in a verbal-pragmatic way. However, from the perspective of the ultimate truth, the

self does not exist. The positions that (1) the self exists conventionally but is empty and (2) the self ultimately does not exist, are equivalent in meaning though apparently contradictory. Nagarjuna's negative tetralemmas are more complex since, by means of these, he explores the limits of expressibility and the paradox incurred when one attempts to characterize reality from the ultimate perspective. An example of the negative tetralemma is: '"Empty" should not be asserted; "nonempty" should not be asserted. Neither both nor neither should be asserted. These are only used nominally' (MMK, XXII, 11). In this example, Nagarjuna discusses what is inexpressible from the ultimate perspective: namely that nothing, even that phenomena are empty or its negation, can be asserted from the ultimate perspective. Ostensibly nothing 440 Being Different can be said, but skilfully Nagarjuna has the final word: he has characterized the ultimate reality in principle beyond characterization. That the relationship between the two kinds of tetralemmas may generate a higher order of paradox also means that the two truths, apparently contradictory, are ultimately equivalent and non-dual when duality discrimination (dvaya-vikalpa) ceases. See the discussion in (MMK), and (Chandrakirti 2004: 285–324).

26 Technically, these are called sapta-bhangi. The seven possible forms of statement which are formally expressed are: (1) a thing is, (2) it is not, (3) it is and is not, (4) it is indescribable, (5) it is and is indescribable, (6) it is not and is indescribable, and (7) it is, is not, and is indescribable.

Bibliography

———. Collected Works of Sri Aurobindo: The Secret of the Veda. Vol. 15. Pondicherry: Sri Aurobindo Ashram, 1998.

———. Collected Works of Sri Aurobindo: The Synthesis of Yoga. Vols 23-24. Pondicherry: Sri Aurobindo Ashram, 1999.

———. Hymns to the Mystic Fire. Twin Lakes: Lotus Light Publications, 1996.

———. 'Indian Spirituality and Life'. intyoga. 1919. http://intyoga.online.fr/ isl01.htm (accessed 4 April 2011).

———. Letters on Yoga. Twin Lakes: Lotus Light Publications, 1970.

———. 'Second letter in 'The Mother'.' intyoga. http://intyoga.online.fr/ mothr02.htm (accessed 4 April 2011).

———. The Hour of God: Selections from his Writings. Delhi: Sahitya Akademi, 1995.

———. The Mother. Twin Lakes: Lotus Light Publications, 1995.

———. The Upanishads. Twin Lakes: Lotus Light Publications, 1996.

Balslev, A.N. 'Cross-Cultural Conversation; Its Scope and Aspiration'. In Cross-Cultural Conversation, edited by A.N. Balslev. Atlanta: Scholars Press, 1996.

———. Cultural Otherness: Correspondence With Richard Rorty. Shimla: Indian Institute of Advanced Study and Munshiram Manoharlal, 1991.

'Beatific Vision.' The Catholic Encyclopedia. http://www.newadvent.org/cathen/ 02364a.htm (accessed 30 March 2011).

Beveridge, Henry. The Akbarnama of Abu'l-Fazl. Delhi: Low Price Publications, 1902, Reprint 2010.

Bhattacharjee, Arun. Greater India. New Delhi: Munshiram Manoharlal Publishers Private Limited, 1981.

Bhushan, Ranjit. 'Uncle's Grand Slam!' India Outlook. 16 June 2003. http://www.outlookindia.com/printarticle.aspx?220412 (accessed 10 April 2011).

Biema, David Van. 'The End: How It Got That Way'. Time, 1 July 2002, pp. 46-47.

Blakney, Raymond Bernard. Meister Eckhart, a Modern Translation. New York: Harper & Row, 1941.

Bruteau, B. Evolution toward Divinity: Teilhard de Chardin and the Hindu Traditions. Wheaton: Theosophical Publishing House, 1974.
Burnaby, John. Amor Dei: A Study of the Religion of St. Augustine. Norwich: The Canterbury Press, 1991.
Butler, Dom Cuthbert. Gregory and Bernard on Contemplation and the Contemplative Life. London: Constable & Co., 1967.
Byrant, J. New System or an Analysis of Ancient Mythology. Whitefish: Kessinger Publishing, 2003.
Camilleri, Joseph. 'Human Rights, Cultural Diversity and Conflict Resolution.' Pacifica Review 6, no. 2, 1994, pp. 17-41.
Carroll, James. Constantine's Sword: The Church and the Jews: a History. Boston: Houghton Mifflin, 2001.
Chakravarti, Sitansu. Ethics in the Mahabharata. Delhi: Munshiram Manoharlal, 2006.
Chandrakirti. Introduction to the Middle Way. Boston: Shambhala, 2004.
Chatterjee, A.K. The Cult of Skanda-Kartikeya in Ancient India. Calcutta: Punthi Pustak, 1970.
Chaudhuri, Nirad C. Thy Hand, Great Anarch!: India, 1921-1952. London: Chatto & Windus, 1987.
Clarke, J.J. Oriental Enlightenment. New York: Routledge, 1997.
Clooney, Francis X. Divine Mother, Blessed Mother : Hindu Goddesses and the Virgin Mary. Oxford: Oxford University Press, 2005.
'Congregation for the Doctrine of the Faith.' Wikipedia, the Free Encyclopedia. http://en.wikipedia.org/wiki/Congregation_for_the_Doctrine_of_the_Faith (accessed 4 May 2010).
Coward, Harold. Jung and Eastern Traditions. Albany: SUNY Press, 1985.
———. Yoga and Psychology. Albany: SUNY Press, 2002.
'Creeds'. Catholic W iki. http://www.catecheticsonline.com/wiki/ index.php?title=I_Believe (accessed 5 April 2011).
'Dabbawala'. Wikipedia, The Free Encyclopedia. http://en.wikipedia.org/wiki/ Dabbawala (accessed 28 April 2010).
Dallmayr, Fred, 'Modes of Cross-Cultural Encounter'. In Cross-Cultural Conversation, edited by A.N. Balslev, Atlanta: Scholars Press, 1996.
Davenport, F.G. European Treaties Bearing on the History of the United States and its Dependencies to 1648. Vol. 1. Washington, DC: Carnegie Institute of Washington, 1917.
de Nicolas, Antonio T. 'The Philosophical Foundations of Neoconservatism.' World & I, September 1986.
Dehejia, Harsha V. The Advaita of Art. Delhi: Motilal Banarsidas, 1996.
'Diwali Celebration'. State of New Jersey Department of the Public Advocate, 2001. http://www.state.nj.us/rpa/Diwali%20Celebration.htm (accessed 6 April 2011).
Doniger, Wendy. The Hindus: An Alternative History. New York: Penguin, 2009.
'Draft United Nations Declaration on the Rights of Indigenous Peoples'. United Nations High Comissioner for Human Rights, 1994. http://www.unhchr.ch/huridocda/huridoca.nsf/%28Symbol%29/ E.CN.4.SUB.2.RES.1994.45.En?OpenDocument (accessed 5 April 2011).
Droit, Roger-Pol. L'Oubli de L'Inde, Une Amnésie Philosophique. Paris: Presses Universitaires de France, 1989.
Dubois, A.J. Hindu Manners, Customs and Ceremonies: The Classic First-Hand Account of India in the Early Nineteenth Century. Mineola, NY: Dover Publications, 2002.
Durant, Will. The Story of Civilization: Our Oriental Heritage. New York: MJF Books, 1997.
Dussel, Enrique. The Invention of the Americas. New York: Continuum, 1995.
Eck, Diana. Banaras: City of Light. New York: Knopf, 1982.

Eckhart, Meister. Sermons & Treatises. Vols. I-III. Longmead: Element Books Ltd., 1979.
Eliade, Mircea. The Sacred and the Profane : The Nature of Religion. San Diego: Harcourt, Brace, 1987.
Eliot, T.S. The Use of Poetry and the Use of Criticism: Studies in the Relation of Criticism to Poetry in England. London: Faber & Faber, 1964.
Emory Inter-Religious Council. http://www.religiouslife.emory.edu/life/ council.cfm (accessed 29 April 2010).
'Eschatology'. In Encyclopedia Britannica. Chicago: Encyclopedia Brittanica, 1992.
Eze, E. C. Race and Enlightenment: A Reader. Hoboken: Wiley-Blackwell, 1997.
Fanon, Franz. The Wretched of the Earth. New York : Grove Press, 2004.
Federici, Silvia, ed. Enduring Western Civilization: The Construction of the Concept of Western Civilization and its 'Others'. Santa Barbara: Praeger, 1995.
Fox, R. Gandhian Utopia: Experiments with Culture. Boston: Beacon Press, 1986.
Friedman, Thomas L. The World is Flat : a Brief History of the Twenty-first Century. New York: Farrar, Straus and Giroux, 2005.
Garfield, Jay L. The fundamental wisdom of the middle way : Nagar juna's Mulamadhyamakakarika. New York: Oxford University Press, 1995.
Garrison, Fielding Hudson. An Introduction to the History of Medicine. Philadelphia: W.B. Saunders Company, 1913.
Gebser, Jean. The Ever- Present Origin. Athens: Ohio University Press, 1985.
Gibbs, Nancy. 'Apocalypse Now'. Time, 1 July 2002.
Goldenberg, D.M. The Curse of Ham: Race and Slavery in Early Judaism, Christianity, and Islam (Jews, Christians, and Muslims from the Ancient to the Modern World). Princeton: Princeton University Press, 2003.
Guha, Ranajit. History at the Limits of World-History. New York: Columbia University Press, 2002.
Haag, J. 'From Tolerance to Respect'. Sacred Journey,The Journal on Fellowship of Prayer, 2008, Oct/Nov: 2-3.
Halbfass, Wilhelm. India and Europe, An Essay in Understanding. Albany: SUNY Press, 1988.
Harris, R., ed. Neoplatonism and Indian Thought. Norfolk: SUNY Press, 1981.
Haynes, S. R. Noah's Curse: The Biblical Justification of Amercian Slavery. Oxford: Oxford University Press, 2002.
Hegel, G.W.F. Aesthetics. Oxford: Clarendon, 1975.
———. Einleitung in die Geschichte der Philosophie . Hamburg: F. Meiner, 1962.
———. Enzyklopadie Der Philosphie. Oxford: Clarendon Press, 1952.
———. Lectures on the History of Philosophy. Lincoln: University of Nebraska Press,1995
———. Lectures on the Philosophy of World History. Cambridge: Cambridge University Press, 1982.
———. Samtliche Werke. Hamburg: F. Meiner, 1955.
———. 'The Oriental World: India'. In The Philosophy of History. New York: Dover, 1956.
———. The Philosophy of History, rev. ed. New York: Colonial Press, 1900.
Hiltebeitel, A. Criminal Gods and Demon Devotees. Albany: SUNY Press, 1989.
'History-Centrism vs. Non-History-Centrism.' Nirmukta. 15 July 2010. http://nirmukta.net/Thread-History-Centrism-vs-Non-History-Centrism (accessed 29 March 2011).
Hodder, Alan D. Thoreau's Ecstatic Witness. New Haven: Yale University Press, 2001.
Hofstadter, D.R. Godel, Escher, Bach: An Eternal Golden Braid. New York: Basic Books, 1999.
Horowitz, David. Containment and Revolution: Western Policy towards Social Revolution: 1917 to Vietnam. London: Blond, 1967.
Horowitz, I. The Rise and Fall of Project Camelot: Studies in the Relationship between Social Science and Practical Politics. Cambridge: M.I.T Press, 1967.

Husserl, Edmund. The Essential Husserl : Basic Writings in Transcendental Phenomenology. Bloomington: Indiana University Press, 1999.
Inden, Ronald. Imagining India. Oxford: Blackwell, 1990.
Inden, Ronald, Jonathan Walters, and Daud Ali. Querying the Medieval: Texts and the History of Practices in South Asia. New York: Oxford University Press, 2000.
Infinity Foundation. 'Indic Mandala.' http://www.infinityfoundation.com/mandala/indic_mandala_frameset.htm (accessed 28 April 2010).
Isaacs, H.R. Scratches on Our Minds: American Views of China and India. Armonk: M.E. Sharpe, 1980.
James, William. The Principles of Psychology. New York: Dover, 1950.
Jayatilakee, J.N. Early Buddhist Theory Of Knowledge. Delhi: Motilal Banarsidas, 2004.
Jeffords, Susan. The Remasculinization of America : Gender and the Vietnam War. Bloomington: Indiana University Press, 1989.
Jitatmananda, Swami. Modern Physics and Vedanta. Mumbai: Paras Prints, 1986.
John Berkman and Craig Steven Titus, eds. The Pinckaers Reader: Renewing Thomistic Moral Theology. Washington D.C: Catholic University Press, 2005.
Jones, W.T. A History of Western Philosophy, 2nd ed. New York: Harcourt, Brace & World, 1969.
Jones, William. 'Botanical Observation of Select Indian Plants'. Asiatic Researches 4 (1795): pp. 237-312.
Joseph, George. 'Yoga has nothing to do with religion. It is not Hinduism'. Rediff. 17 July 2007. http://specials.rediff.com/news/2007/jul/17slide1.htm (accessed March 29, 2011).
Joseph, J. 'Of Insults, Obsessions and Distrust'. Rediff, India Abroad. 23 April 2003. http://www.rediff.com/news/2003/apr/23josy.htm (accessed 28 April 2010).
Jung, C. Memories, Dreams, Reflections. New York: Vintage Books, 1965.
Kagan, Robert. Dangerous Nation. New York: Alfred A. Knopf, 2006.
Kak, Subhash. 'Ritual, Masks, and Sacrifice'. Studies in Humanities and Social Sciences. Indian Institute of Advanced Study, 11 (2004).
———. The Gods Within. Delhi: Munshiram Manoharlal, 2002.
Kalupahana, D.J. A History of Buddhist Philosophy. Honolulu: University of Hawaii Press, 1992.
Kamat, J. Roman Catholic Brahmin! A Biography of Robert de Nobili. 'Kamat's Potpourri'. 2 October 2002. http://www.kamat.com/kalranga/people/pioneers/nobili.htm (accessed 4 May 2010).
Kane, Pandurang Vaman. History of Dharmasastra. Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute, 1930.
Kearns, Cleo McNelly. T.S. Eliot and Indic Philosophy. New York: Cambridge University Press, 1987.
Keesing, R. 'Exotic Readings of Cultural Texts'. Current Anthropology 30 (1989): p. 4.
Kelso, J.A. Scott, and David A. Engstrom. The Complementary Nature. Cambridge: MIT Press, 2006.
Kimmelman, M. 'D.I.Y. Culture'. New York Times, 14 April 2010: p. 19.
King, Magda. Heidegger's Philosophy: A Guide to His Basic Thought. New York: Macmillan, 1964.
King, Ursula. Towards a New Mysticism: Teilhard de Chardin and Eastern Traditions. London: Collins, 1980.
Kipling, R. 'Yoked with an Unbeliever'. In Plain Tales from the Hills. Oxford: Oxford University Press, 1987.
Kirsch, Jonathan. God Against the Gods. New York: Viking Compass, 2004.
Koestler, A. Darkness at Noon. New York: Macmillan, 1941.
Kuiper, F. Varuna and Vidûshaka: On the Origin of the Sanskrit Drama. Amsterdam: North Holland Publishing Co, 1979.

Lakoff, G., and M. Johnson. Philosophy in the Flesh: The Embodied Mind and Its Challenge to Western Thought. New York: Basic Books, 1999.

Lamb, Alastair. 'Indian Influence in Ancient South-East Asia.' In A Cultural History of India, ed by A.L. Basham. London: Oxford University Press, 1975.

Lannoy, R. The Speaking Tree: A Study of Indian Culture and Society. London: Oxford University Press, 1971.

Liu, Henry G.K. 'The Race Toward Barbarism'. Asia Times. 9 July 2003. http://www.atimes.com/atimes/China/EG09Ad01.html (accessed 3 April 2011).

Loewen, James. Lies My Teacher Told Me: Everything Your American History Textbook Got Wrong. New York: New Press, 1995.

Lopez, Donald S. Jr, ed. Buddhist Scriptures. London: Penguin, 2004.

Loy, D.R. A Buddhist History of the West : Studies in Lack. Albany: SUNY Press, 2002.

———. Nonduality: A Study in Comparative Philosophy. New Haven: Yale University Press, 1988.

Lubac, Henri de. Catholicism: Christ and the Common Destiny of Man. San Francisco: Ignatius Press, 1988.

MacMullen, R. Christianity and Paganism in the Fourth to Eight Centuries. New Haven: Yale University Press, 1999.

Malhotra, Rajiv. 'A Hindu View of Christian Yoga'. The Huffington Post. 8 November 2010. http://www.huffingtonpost.com/rajiv-malhotra/hindu-view-of-christian-yoga_b_778501.html (accessed 11 April 2011).

———. 'American Exceptionalism and the Myth of the Frontiers'. In The Challenge of Eurocentrism: Global Perspectives, Policy, and Prospects, edited by R.K. Kanth. New York: Palgrave Macmillan, 2009.

———. 'We, the Nation(s) of India'. Tehelka. 17 January 2009. http://www.tehelka.com/story_main41.asp?filename=Ne170109we_the.asp (accessed 5 April 2011).

———. 'Whiteness Studies and Implications for Indian-American Identity.' rajivmalhotra.sulekha.com. 26 April 2007. http://rajivmalhotra.sulekha.com/blog/post/2007/04/whiteness-studies-and-implications-for-indian-american.htm (accessed 5 April 2011).

Malhotra, Rajiv, and Aravindan Neelakandan. Breaking India. Delhi: Amaryllis, 2011.

Marriott, M., ed. India Through Hindu Categories. New Delhi: Sage Publications, 1990.

Marx, Karl. 'The Future Results of British Rule in India'. New York Daily Tribune, 8 August 1853.

Mayo, K. The Face of Mother India. New York: Harper & Brothers, 1935.

McEvilley, T. The Shape of Ancient Thought: Comparative Studies in Greek and Indian Philosophies. New York: Allworth Press, 2001.

Morales, Frank Gaetano. 'Word as Weapon: The Polemically Charged Use of Terminology in Euro-American Discourse on Hinduism'. International Forum for India's Heritage. 2002. http://ifihhome.tripod.com/articles/ fgm001.html (accessed 30 March 2011).

Mother, The. Complete Works of The Mother: Questions and Answers 1953. Vol. 5. Pondicherry: Sri Aurobindo Ashram, 2003.

Murti, T.R.V. The Central Philosophy of Buddhism. London : Unwin Hyman, 1960.

Nath, Vijay. Puranas and Acculturation. Delhi: Munshiram Manoharlal Publishers, 2001.

Natrajan, Kanchana. The Vidhi Viveka of Mandana Misra, Understanding Vedic Injunctions. Delhi: Indian Books Center, 1995.

Newcomb, Steve. 'Five Hundred Years of Injustice: The Legacy of Fifteenth Centur y Religious Prejudice'. Indiginous Law Institute. http:// ili.nativeweb.org/sdrm_art.html (accessed December 8, 2007).

Newton, Isaac. The Chronology of Ancient Kingdoms. Green Forest: New Leaf Publishing Group, 2009.
Nikam, N.A. Some Concepts of Indian Culture: An Analytical Interpretation. 2nd ed. Shimla: Institute of Advanced Studies, 1973.
Olson, Carl. Indian Philosophers and Postmodern Thinkers. Mumbai: Oxford University Press India, 2002.
Organ, T. W. The Hindu Quest for the Perfection of Man. Athens: Ohio University Press, 1970.
Overzee, Ann Hunt. The Body Divine: The Symbol of the Body in the Works of Teilhard de Chardin and Ramanuja. Cambridge: Cambridge University Press, 1992.
Padoux, A. 'Opening Essay'. In The Roots of Tantra, edited by R. Brown and K.A. Harper. Albany: SUNY Press, 2002.
Pai, P.S. T.S. Eliot, Vedanta and Buddhism. Vancouver: University of British Columbia Press, 1985.
Panikkar, Raimundo. Myth, Faith, and Hermeneutics : Cross-Cultural Studies. New York: Paulist Press, 1979.
Parkes, Graham, ed. Heidegger and Asian Thought. Honolulu: University of Hawaii Press, 1987.
Patterson, Orlando. Freedom. New York: BasicBooks, 1992.
Paul VI, Pope. 'Lumen Gentium'. The Holy See. 21 November 1964. http://www.vatican.va/archive/hist_councils/ii_vatican_council/documents/vat-ii_const_19641121_lumen-gentium_en.html (accessed 30 March 2011).
Pearson, M. The Portuguese in India. Hyderabad: Orient Longman, 1990.
Pinckaers, Servais. The Pinckaers Reader : Renewing Thomistic Moral Theology. Washington DC: Catholic University Press, 2005.
Priest, J. Bible Defense of Slavery: Or the Origin, Fortunes, and History of the Negro Race. Glasgow: Kessinger Publishing, 1852.
———. Slavery as It Relates to the Negro or the African Race. Albany: C. Van Benthuysen and Co, 1843.
'Puputan'. Wikipedia. 10 April 2011. http://en.wikipedia.org/wiki/ Puputan#cite_note-1 (accessed 11 April 2011).
Radhakrishnan, Sarvepalli. The Bhagavad Gita. New York: Harper & Brothers, 1948.
———, ed. A Source Book in Indian Philosophy. Princeton: Princeton University Press, 1957.
———. An Idealist View of Life. New York: HarperCollins, 2009.
———. Eastern Religions and Western Thought. Oxford: Oxford University Press, 1997.
Rajasekharaiah, T.R. The Roots of Whitman's Grass. Madison: Farleigh Dickinson University Press, 1970.
Ramanujan, A. 'Is there an Indian way of thinking? An informal essay'. In India through Hindu Categories, edited by M. Marriott. New Delhi: Sage Publications, 1990.
Ramaswamy, K., A.D. Nicolas, and A. Banerjee. Invading the Sacred: An Analysis of Hinduism Studies in America. Delhi: Rupa & Co, 2007.
Rao, Satyanarayana. Myths and Deities, Some Aspects of Hindu Iconographic Traditions. Madras: New Era Publications, 1993.
Ratzinger, Joseph Card. 'Dominus Iesus'. The Holy See. 6 August 2000. http://www.vatican.va/roman_curia/cong reg ations/cfaith/documents/rc_con_cfaith_doc_20000806_dominus-iesus_en.html (accessed 5 April 2011).
Robinson, D.N. An Intellectual History of Psychology. New York: Macmillan, 1976.
Rosch, Eleanor. Transformation of the Wolf Man. 1997. http://cogweb.ucla.edu/Abstracts/Rosch_97.html (accessed 8 September 2010).
Rosenberg, E.S. 'Gender'. Journal of American History (77), 1990: p. 119.

Rotter, A.J. Comrades at Odds: The United States and India, 1947-1964. Ithaca: Cornell University Press, 2000.
Rotter, A. J. 'In Retrospect: Harold R. Isaacs's Scratches on Our Minds'. Reviews in American History, 24, 1996: p. 1.
Roy, Sumita, Annie Pothen, and K.S. Sunita. Aldous Huxley and Indian Thought. New York: Sterling Publishers, 2003.
Rudolph, L., and S. Rudolph. The Modernity of Tradition: Political Developments in India. Chicago: University Of Chicago Press, 1967.
Said, Edward. Culture and Imperialism. New York: Vintage Books, 1993.
———. Orientalism. New York: Vintage Books, 1979.
Salisbury, Joyce Ellen. The Blood of Martyrs: Unintended Consequences of Ancient Violence. New York: Routledge, 2004.
Salmon, Don. 'Yoga Psychology In The Schools: Some Insights from the Indian Tradition'. Infinity Foundation. http://www.infinityfoundation.com/mandala/i_es/i_es_salmo_yoga_frameset.htm (accessed 30 March 2011).
Sampath, G. 'Why did Hinduism never become an "organised" religion like Christianity or Islam? - Interview with Wendy Doniger'. dnaindia. 4 October 2009. http://www.dnaindia.com/lifestyle/report_why-did-hinduism-never-become-an-organised-religion-like-christianity-or-islam_1294838 (accessed 4 May 2010).
Samuel, Dibin. 'Indian Bible Draws Fire Over Hindu References'. The Christian Post. 11 August 2008. http://www.christianpost.com/news/new-indian-bible-draws-fire-over-hindu-references-33769/ (accessed 5 April 2011).
Sardar, Ziauddin. Postmodernism and the Other: The New Imperialism of Western Culture. London: Pluto Press, 1998.
Scharfe, Hartmut. The State in Indian Tradition. Leiden: Brill, 1989.
Schlegel, F. The Philosophy of History in a Course of Lectures. London: Henry Bohn, 1859.
Schmidt, L.H. 'Commonness across Cultures'. In Cross-Cultural Conversation, edited by A.N. Balslev, Atlanta: Scholars Press, 1996.
Schrödinger, E. What Is life? with Mind and Matter, and Autobiographical Sketches. Cambridge : Cambridge University Press, 1992.
Schrödinger, Erwin. My View of the World. Cambridge: Cambridge University Press, 1964.
Schwab, Raymond. The Oriental renaissance : Europe's Rediscovery of India and the East, 1680-1880. New York: Columbia University Press, 1984.
'sciforums.com.' INDIA's contributions to the world. 13 November 2001. http://www.sciforums.com/India-s-contributions-to-the%20world-t-4567-html (accessed 4 May 2010).
'Second Hindu-Jewish Leadership Summit Declaration, Israel'. Hindu Dharma Achar ya Sabha. 2008. http://www.achar yasabha.org/ index.php?option=com_content&task=view&id=41&Itemid=41 (accessed 6 April 2011).
Sharma, Shashi S. Imagined Manuvad: The Dharmashastras and Their Interpreters. Delhi: Rupa & Co., 2005.
Shourie, A. 'The Roman Brahmin (n.d.)'. The Arun Shourie Site. http://arunshourie.voiceofdharma.com/articles/roman.htm (accessed 29 April 2010).
Shruti, ed. Indian Philosophy at University of Hawaii. Delhi: Vidhi Vedika Heritage, 2005.
Shulman, David. The King and the Clown in South Asian Myth and Poetry. Princeton: Princeton University Press, 1985.
Slotkin, Richard. The Fatal Environment: The Myth of the American Frontier in the Age of Industrialization, 1800-1890. Norman: Univrsity of Oklahoma Press, 1985.

Smith, Brian K. Reflections on Resemblance, Ritual, and Religion. New York: Oxford University Press, 1989.

Smith, V. A. Asoka, the Buddhist Emperor of India. Ithaca: Cornell University Library, 2009.

Spengler, O. The Decline of the West. Vol. I. New York: Oxford University Press, 1991.

Spivak, Gayatri Chakravorty. 'Righting Wrongs'. The South Atlantic Quarterly 103, no. Number 2/3, Spring/Summer (2004): pp. 523-581.

Steinman, Clay. 'Beyond Eurocentrism: The Frankfurt School and Whiteness Theory'. In Globalizing Critical Theory, edited by Max Pensky, pp. 115-137. Oxford: Rowman & Littlefield, 2005.

Sugirtharajah, R.S. The Bible and Empire: Postcolonial Explorations. Cambridge: Cambridge University Press, 2005.

Sullivan, Bruce M. ' The Religious Authority in the Mahabharata: Vyasa and Brahma in the Hindu Scriptural Tradition'. Journal of the American Academy of Religion 62 (1994): pp. 377-401.

Talbot, M. Mysticism and the New Physics. New York: Penguin Books, 1993.

———. The Holographic Universe. New York: Harper Perennial, 1992.

Taylor, Eugene. 'Mysticism'. Purify Mind. http://www.purifymind.com/ MeditationIntro.htm (accessed 5 April 2011).

Taylor, T. The Prophetic Families and the Negro: His Origin, Destiny and Status. Atlanta: The Foote & Davies Printing Co., 1895.

The New Oxford Annotated Bible with Apocrypha: New Revised Standard Version. New York: Oxford University Press, 2010.

Thurman, Robert. Inner Revolution. New York: Riverhead Trade, 1999.

Tilak, Shrinivas. Reawakening to a Secular Hindu Nation: M.S. Golwalkar's Vision of a Dharma-sapeksha Hindurashtra. Charleston: Booksurge, 2009.

Todorov, T. The Conquest of America. Norman: University of Oklahoma Press, 1999.

Toulmin, Stephen. Cosmopolis: the Hidden Agenda of Modernity. New York: The Free Press, 1990.

Trautmann, T.R. Aryans And British India. New Delhi: Yoda Press, 2004.

Travis, F., T. Olson, T. Egenes, and H.K. Gupta. 'Physiological patterns during practice of the Transcendental Meditation technique compared with patterns while reading Sanskrit and a modern language'. The International Journal of Neuroscience 109 (July 2001): pp. 71-80.

Tripurari, B.V. Aesthetic Vedanta: The Sacred Path of Passionate Love. Eugene: Clarion Call, 1998.

Vatsyayan, Kapila. The Square and the Circle of Indian Arts. New Delhi: Abhinav Publications, 1997.

Wallace, Alan. 'Why the West Has No Science of Consciousness: A Buddhist View'. Infinity Foundation. July 2002. http://www.infinityfoundation.com/ indic_colloq/persons/person_wallace_alan.htm (accessed 30 March 2011).

Weiming, Tu. Tu Weiming. http://www.tuweiming.net/ (accessed 5 April 2011).

Weiss, Jeffrey. 'Who goes to hell?'. The Ross Institute. 6 January 2007. http://www.rickross.com/reference/fundamentalists/fund211.html (accessed 10 January 2010).

Wells, H.G. A Short History of the World. New York: Macmillan, 1922.

'What's up with the Biblical Story of Drunken Noah?' The Straight Dope. 27 January 2005. http://www.straightdope.com/columns/read/2194/whats-up-with-the-biblical-story-of-drunken-noah-part-2 (accessed 9 April 2011).

Wolters, Albert M. 'A Survey of Modern Scholarly Opinion on Plotinus and Indian Thought'. In Neoplatonism and Indian Thought, edited by Baine R. Harris. Norfolk: International Center for Neoplatonic Studies, 1982.

Yogananda, P. The Second Coming of Christ. Los Angeles: Self Realization Fellowship, 2004.

Zimmermann, F. The Jungle and the Aroma of Meats: An Ecological theme in the Hindu Medicine. Delhi: Motilal Banarasidas Publishers, 1999.

विभिन्नता
पाश्चात्य सार्वभौमिकता को भारतीय चुनौती

राजीव मल्होत्रा एक भारतीय-अमरीकी शोधकर्ता और समसामयिकी, विश्व दर्शन, अन्तर्सभ्यता मुठभेड़ एवं विज्ञान के बुद्धिजीवी हैं। शिक्षा से एक वैज्ञानिक, पहले एक वरिष्ठ संयुक्त प्रबन्धक, नीति-निर्धारण परामर्शकर्ता एवं सूचना प्रौद्योगिकी एवं मीडिया के उद्यमी। वे 'ब्रेकिंग इण्डिया' (Amaryllis, 2011), 'इनवेडिंग द सेक्रेड' (रूपा एण्ड कं.) के प्रधान पुरुष और एक व्यवहारी लेखक एवं वक्ता हैं। वे यूनिवर्सिटी ऑफ़ मेसाच्यूसेट्स, डार्टमाउथ (University of Massachusetts, Dartmouth) के 'इण्डिया स्टडीज़ प्रोग्राम' के शासक मण्डल के अध्यक्ष हैं।

हमारे सांस्कृतिक ढाँचे हमारे जीवन, लोगों, वस्तुओं और स्थितियों के प्रति रवैये की अभिव्यक्ति हैं। यह विशिष्ट प्रवृति वेदों के आध्यात्मिक ज्ञान से विकसित हुई है। अत: हमारी संस्कृति धार्मिक है जो हमारे जीवन के प्रत्येक पहलू में व्याप्त है और वैदिक दूरदर्शिता से जुड़ी हुई है। वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार भगवान से कुछ भी अलग नहीं है और इसलिए सभी हमारे लिए पवित्र हैं। आज हमारी संस्कृति के आगे चुनौती खड़ी है क्योंकि वैश्विक संस्कृति सम्पर्क साधन, विश्व की अर्थव्यवस्था, और संगठित साम्प्रदायिक कार्यक्रमों द्वारा हमारी सांस्कृतिक सीमाओं को भेद रही है। हम विभिन्न संस्कृतियों और मान्यता प्रणालियों से प्रभावित हो रहे हैं। इस प्रकार जीवन विकल्पों से भरा पड़ा है। जब उनमें से किसी को चुनना पड़ता है तो चुनाव मित्रों के दबाव, सम्पर्क साधन, इत्यादि से प्रभावित हो सकता है। इस प्रकार ढाँचे की अनुरूपता ख़त्म हो जाती है और परम्परा समाप्त हो जाती है।

श्री राजीव मलहोत्रा की पुस्तक 'विभिन्नता' (Being Different) इन ढाँचों के प्रति समझ का एक प्रत्यक्ष ज्ञान प्रदान करती है। यह पुस्तक पश्चिमी प्रभाव द्वारा रचित गलत धारणाओं और विचारों को हटाने में सहायता करती है और यह अपने स्वयं के

सांस्कृतिक ढाँचों का समर्थन करने का दृढ़ विश्वास भी पैदा करती है। यह स्पष्टता पश्चिमी परम्पराओं को सही परिपेक्ष्य में देखने के लिए सहायक है।

विश्व भर में सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ अलग-अलग हैं और होनी ही चाहिए। प्रत्येक संस्कृति की अपनी स्वयं की मनोहरता है। यह पुस्तक विभिन्न परम्पराओं और सांस्कृतिक ढाँचों की सुन्दरता देखने का परिज्ञान भी प्रदान करती है। हमें लोगों के अपने सांस्कृतिक ढाँचों और परम्पराओं के प्रति समर्पण को समझना चाहिए। सांस्कृतिक ढाँचों को भिन्न देखते हुए व्यक्ति को दूसरों को उनकी परम्पराओं का पालन करने की स्वतन्त्रता का आदर करना आना चाहिए। मुझे विश्वास है कि यह आपसी सम्मान मानवता को एक सुव्यवस्थित समाज बनाने में सहायता देगा।

मैं श्री राजीव मलहोत्रा और उनके दल को इस विलक्षण कार्य करने के लिए बधाई देता हूँ। मैं उनसे ऐसे और शोध कार्य प्राप्त करने की प्रतीक्षा में हूँ।

स्वामी परमात्मानन्द सरस्वती

महासचिव, हिन्दू धर्म आचार्य सभा

''यह पुस्तक उन लोगों के लिए पढ़ना बहुत आवश्यक है जो भारत और उसके भविष्य के संरक्षण की चिन्ता करते हैं।''

मकरन्द परांजपे

अंग्रेज़ी प्राध्यापक, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली

विभिन्नता (Being Different) में मैं जो विशेषकर शिक्षाप्रद और मौलिक पाता हूँ वह यह है कि भारतीय समाज में अराजकता की जो सकारात्मक भूमिका है वह पश्चिम में इसके प्रति घृणा से अलग है। यह पुस्तक हेगेल (Hegel) के अराजकता और अनिश्चितता के प्रति गहरे पैठे हुए डर को बतलाती है। वे पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र, नैतिकता, पन्थ, समाज और राजनीति में व्यवस्था को गौरवांवित करते हैं और पूर्वी परम्पराओं को सर्वेश्वरवाद, बहुदेववाद और एकेश्वरवाद जैसी विश्व ऐतिहासिक श्रेणियों में वर्गीकृत करते हैं। हेगेल ने समानताओं की प्रणाली को विकसित करके प्रत्येक संस्कृति की मान्यताएँ और सापेक्ष्य अर्थ निरूपित किये। इस प्रकार उन्होंने 'पश्चिम' और 'बाकी लोगों' की रूपरेखाएँ परिभाषित कीं। व्यवस्था के नाम पर ये ग़ैर-पश्चिमी लोगों के ऊपर ज्ञानमीमांसिक दमन के वैचारिक हथियार बने। अराजकता के प्रति भारतीय धार्मिक विश्वदर्शन अधिक सहज है, जो इसे व्यवस्था के सन्तुलन के लिए ब्रह्माण्ड में स्थापित रचनात्मक उत्प्रेरक की तरह देखता है, नहीं तो यह कमज़ोर पड़ जायेगी।

श्रीनिवास तिलक

स्वतन्त्र विद्वान, माण्ट्रियल, कनाडा

यह पुस्तक भारतीय परम्पराओं की प्रामाणिक प्रस्तुति प्रदर्शित करने की आवश्यकता का एक प्रयास है, जो पश्चिमी परम्पराओं से इसकी बहुत-सी भिन्नताओं को भी दर्शाती है।

यह भारतीय परम्पराओं की मिथ्या प्रस्तुति को सुधारती है, जिन्हें पश्चिमी प्रतिमानों के परिपेक्ष्य में देखा जाता है। यह भारतीय परम्पराओं को पश्चिम द्वारा पचाने के ख़तरों से भी हमें सावधान करती है, जिसके पास इस सभ्यता को विकृत और कमज़ोर करने की क्षमता है। यह पुस्तक भारतीय परम्पराओं की सच्ची प्रस्तुति देते हुए और पश्चिमी ढाँचों एवं प्रयोजनों की मान्यता को चुनौती देकर उन अपरीक्षित अवधारणाओं की जाँच करती है जिन्हें दोनों ने अपने और एक-दूसरे के प्रति बना रखी है, और यह भिन्नताओं के साथ सीधे और सच्चे संघर्ष की माँग करती है।

मैं राजीव को इस गहरी पहुँच वाले कार्य के लिए बधाई देता हूँ, जोकि और अधिक विचारशील और शिक्षित संवाद को प्रज्वलित करेगा जिससे उचित सहमति स्थापित होगी।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

संयोजक, हिन्दू धर्म आचार्य सभा

भिन्नता को आपसी सम्मान के साथ बनाये रखने पर ज़ोर देने का, न कि केवल सहन करने के साथ, राजीव मलहोत्रा का आग्रह आज के युग में और भी अधिक प्रासंगिक है, क्योंकि केवल एक ही प्रकार की सार्वभौमिकता की अवधारणा प्रतिपादित की जा रही है। यदि यह दूसरी सभ्यताओं के तत्वों को आत्मसात भी कर ले, या लेखक के शब्दों में पचा भी ले, तब भी एक ही तरह की सार्वभौमिकता नहीं हो सकती।

कपिल वात्स्यायन

स्वतन्त्र विद्वान और राज्य सभा के सदस्य

यह पुस्तक भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति की धार्मिक व दार्शनिक विचारधारा के विश्लेषण का एक भावनात्मक प्रयास है। ऐसा सफल प्रयास इससे पूर्व किसी लेखक द्वारा नहीं किया गया। इस पुस्तक में उल्लेखनीय रूप से जो बात प्रशंसनीय है वह है ईमानदारी से भारतीय दर्शन विचार की युक्तिसंगत विवेचना व उसका पाश्चात्य विचारधारा पर प्रभाव। लेखक ने पाश्चात्य संस्कृति का भारतीय दृष्टिकोण से जो अवलोकन किया है वह सराहनीय है। अधिकतर भारतीय विचारक जो भारतीय सांस्कृतिक और दार्शनिक विचारधाराओं से अनभिज्ञ हैं, पाश्चात्य विचारधारा को अधिक सफल मानते हैं। इस पुस्तक में प्रस्तुत विश्लेषण ऐसी मानसिकता को उजागर करने का प्रयास करता है।

लेखक श्री राजीव मल्होत्रा ने जिस प्रकार महत्व देकर कहा है कि हमें आपसी वैचारिक मतभेदों व अन्तरों को आपसी सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिए, वह आज के युग में बहुत ही विवेकपूर्ण व व्यावहारिक है। यह पुस्तक अत्यन्त पठनीय है।

सेवानिवृत जनरल वी. के. सिंह

भूतपूर्व सेनाध्यक्ष

बहुत से भारतीय आध्यात्मिक गुरु जिनमें अपनी संस्कृति के गहन ज्ञान का अभाव है और जो अपने आप को पश्चिम से नीचा समझते हैं, पश्चिमी चुनौती के प्रति अपनी प्रतिक्रिया भारतीय और पश्चिमी मतों को समान दिखा कर व्यक्त करते हैं। श्री राजीव मल्होत्रा का कार्य एक यज्ञ की तरह है जो अवलोकन को उलट कर पश्चिम को भारतीय ज्ञान प्रणालियों के लेंस के द्वारा देखता है। इस प्रक्रिया को पारम्परिक रूप से पूर्वपक्ष कहा जाता है और राजीव जी के कार्य ने इसे एक नया मिशन दिया है। श्री राजीव मल्होत्रा ने पाचन के एक बहुत ही दिलचस्प रूपक द्वारा धार्मिक परम्पराओं को छोटे-छोटे भागों में तोड़ कर पश्चिमी संस्कृति के पेट में पचाये जाने को समझाया है। ''विभिन्नता'' बताती है कि इतिहास केन्द्रिकता किस प्रकार पश्चिम को विशिष्टता के दावों की ओर ले जाती है; इससे उन भिन्नताओं के प्रति व्यग्रता उत्पन्न होती है जिन्हें वह पाचन की परियोजनाओं द्वारा हल करने का प्रयत्न करती है, ताकि जो भी चुनौतीपूर्ण विचार दिखता हो वह मिट जाए।

सत्यनारायण दास

संस्थापक, जीव संस्थान (वेदिक अध्ययन)

अति प्राचीन काल से भारतीय अध्यात्मवेत्ता प्रतिस्पर्धी विचारधाराओं के गहन अध्ययन एवं विवेचन की सशक्त परम्परा का निर्वाह करते रहे हैं। किन्तु निकटकालीन (recent) नेतृत्व ने भारतीय दर्शन पद्धतियों के माध्यम से पाश्चात्य रिलीजन एवं दर्शन के गहन विश्लेषण एवं विवेचन को उपेक्षित किया है। फलस्वरूप पाश्चात्य मानकों (paradigm) ने इस परिसंवाद (discourse) पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और काल-क्रम में भारतीय दार्शनिक चिन्तन महत्वहीन सा होता चला गया।

महात्मा गांधी, श्री अरविन्द एवं सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने कुछ अर्थों में पाश्चात्य जगत के विश्लेषण एवं विवेचन पर दृष्टिपात (reverse the gaze) किया, जोकि औपनिवेशिक काल में भारतीय अस्मिता को सुदृढ़ करने हेतु महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। अब इक्कीसवीं सदी में `पूर्वपक्ष' की इस प्राचीन परम्परा को श्री राजीव मल्होत्रा ने पुनः

स्थापित किया एवं उनकी पुस्तक विभिन्नता (Being Different) धर्म-धारणा के दृष्टिकोण से पश्चिमी जगत का गहन निरीक्षण करती है।

धर्म-धारणा की विभिन्न विचार पद्धतियों एवं दर्शनों को एक दूसरे का संघर्षशील-प्रतिद्वन्द्वी स्थापित करने की अपेक्षा इस पुस्तक की विधा (methodology) भारतीय संस्कृति के हस्ताक्षर सिद्धान्तों को पाश्चात्य दर्शन के सापेक्ष तुलनात्मक रूप से रेखांकित करती है। विश्वविद्यालयीन पाठ्यपुस्तक के रूप में यह स्वीकार करने योग्य पुस्तक है, जोकि विचार क्रान्ति के पुरोधाओं की एक नई पीढ़ी में उत्साह का संचार कर सकती है।

अन्तर्सांस्कृतिक परिसंवाद की वृहद् पृष्ठभूमि में धर्म-धारणा की भूमिका के महत्व को परखने की दृष्टि से अध्यात्मिक नेतृत्व भी इस पुस्तक के अध्ययन से अवश्य लाभान्वित होगा। जिससे वे एक शक्तिशाली वैचारिक दृष्टिकोण के साथ वर्तमान बौद्धिक कुरुक्षेत्र में अपनी अहम भूमिका निभायेंगे, ऐसी मेरी अपेक्षा एवं आशा है।

प्रणव पंडया

अध्यक्ष, गायत्री परिवार